भारत की शासन व्यवस्था
और
नागरिक जीवन

सत्यकेतु विद्यालंकार

सरस्वती सदन, मसूरी

Approved by the Board of High School and Intermediate Education, U. P. for Civics, Paper II for Intermediate Examination vide Notification No. A (1)-2737/15 published in U. P. Gazette Extra-ordinary. Also approved by the Rajasthan Board and Nagapur University etc. for Intermediate Examination in Civics.

भारत की शासन व्यवस्था

और

नागरिक जीवन
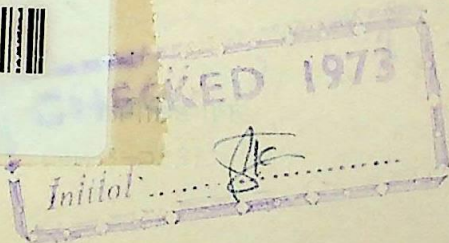
लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट्० (पेरिस)
(मंगला प्रसाद पारितोषिक विजेता)

सरस्वती सदन

मसूरी

मूल्य ४.२५

प्रकाशक :

सरस्वती सदन, मसूरी
उत्तर प्रदेश ।

नया संशोधित संस्करण
(१९५८-१९५९)

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दिल्ली ।

निवेदन

इस पुस्तक के नये संस्करण में उन सब संशोधनों का समावेश कर दिया गया है, जो भारत के संविधान में अब तक हुए हैं। १९५० में जब स्वतन्त्र भारत का नया संविधान लागू हुआ, तो भारत के विविध राज्यों को 'क', 'ख', 'ग', 'घ' इन चार वर्गों में विभक्त किया गया था। इन चार प्रकार के राज्यों की शासन व्यवस्था भी विभिन्न प्रकार की थी। पर १९५६ में राज्यों का नये सिरे से संगठन किया गया, और भारत में १४ राज्यों (States) और ६ संघक्षेत्रों (Union Territories) का निर्माण किया गया। साथ ही, देश की बदलती हुई परिस्थितियों व आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर संविधान में अनेक संशोधन भी किये गये। इस पुस्तक के नये संस्करण में इन सबका समावेश कर दिया गया है।

भारत की प्रथम पंचवर्षीय आयोजना का काल अब समाप्त हो चुका है, और द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना के अनुसार कार्य प्रारम्भ हो गया है। स्वराज्य की स्थापना को हुए अब ग्यारह वर्ष पूरे हो चुके हैं। इस स्वल्प काल में भारत ने आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में सन्तोषजनक उन्नति की है। इस पुस्तक के नये संस्करण में भारत की इस प्रगति पर भी समुचित रूप से प्रकाश डाला गया है। हमें पूर्ण आशा है कि विद्यार्थी और सर्वसाधारण पाठक इस ग्रन्थ को पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी पाएँगे, और इसे पढ़ कर भारत के संविधान और नागरिक जीवन के सम्बन्ध में सब आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

सरस्वती सदन, मसूरी

प्रस्तावना

सदियों की पराधीनता के बाद भारत अब स्वतन्त्र हुआ है। वह केवल राष्ट्रीय दृष्टि से सुसंगठित और स्वाधीन ही नहीं हुआ, अपितु उसमें सम्पूर्ण प्रभुत्त्व-सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य की भी स्थापना हुई है। संसार में कोई भी लोकतन्त्र गणराज्य ऐसा नहीं है, जिसकी जनसंख्या भारत से अधिक हो। चीन की जनसंख्या भारत से अधिक है, पर कम्युनिस्ट व्यवस्था के कारण वहाँ का लोकतन्त्रवाद भिन्न प्रकार का है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि सभी लोकतन्त्र राज्यों की जनसंख्या भारत से कम है। अतः यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत का महत्त्व बहुत अधिक हो, और शीघ्र ही वह संसार का अग्रणी बन जाए। एशिया का नेतृत्व तो अब भी उसके हाथों में है, और वह समय दूर नहीं है, जब कि उसे संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली, उन्नत और सभ्य देशों में गिना जाने लग जायगा।

पर यह तभी सम्भव है, जब कि भारत के नागरिक देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों को भली भाँति समझें। स्वतन्त्र भारत के संविधान का रूप अत्यन्त उन्नत व विकसित है। उस द्वारा नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है, और साथ ही उन सिद्धान्तों का भी निर्देश कर दिया गया है, जिनका भारतीय संघ और उसके अन्तर्गत राज्यों ने अनुसरण करना है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिये भी उसमें समुचित व्यवस्थाएँ कर दी गई हैं। स्वतन्त्र भारत की सरकार का संगठन किस प्रकार का है, उसके विविध क्षेत्र कौन-कौन से हैं, संघ सरकार व भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की सरकारों के अधिकारक्षेत्र क्या हैं, नागरिकों के मूलभूत अधिकार कौन से हैं—इन सब बातों का स्पष्ट ज्ञान प्रत्येक भारतीय के लिये बहुत उपयोगी है। साथ ही, यह जान लेना भी बहुत आवश्यक है कि भारत के नागरिक जीवन की प्रधान समस्याएँ क्या हैं। भारत में नवजागरण किस प्रकार हुआ, यहाँ कौन-कौन से विविध धार्मिक व समाजसुधार सम्बन्धी आन्दोलन चले, किस प्रकार कतिपय आन्दोलनों ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया, भारत की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का क्या रूप है, एशिया व संसार की राजनीति में भारत का क्या स्थान है और भारत अपनी चौमुखी उन्नति के लिये क्या प्रयत्न कर रहा है—इन सब बातों का ज्ञान किशोरवय युवकों व युवतियों को भारत का उत्तम नागरिक बनने में सहायक हो सकता है।

इस पुस्तक में इन्हीं सब बातों का सरल भाषा व रोचक शैली में परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। उत्तर प्रदेश, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि में इन्टरमीडियेट परीक्षा के लिये नागरिक शास्त्र के द्वितीय पत्र का जो पाठ्य-क्रम नियत किया गया है, उसके सब विषयों का समावेश इस पुस्तक में हो गया है। हमें आशा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

विषय-सूची

भारत की
शासन-व्यवस्था और नागरिक जीवन

पहला अध्याय

भारत के संविधान की पृष्ठ-भूमि

स्वतन्त्र भारत के संविधान का निर्माण नवम्बर, १६४६ में हुआ था, और वह २६ जनवरी, १६५० से प्रयोग में आने लगा था। इसे एक संविधान सभा (Constituent Assembly) ने बनाया था, जिसे अपना कार्य करने में तीन साल के लगभग लगे थे। भारत का यह संविधान संसार के अन्य किसी भी राज्य के संविधान की अपेक्षा अधिक बड़ा, विशद् व विस्तृत है। संविधान सम्बन्धी सब नये सिद्धान्तों व मन्तव्यों का इसके निर्माण में उपयोग किया गया है। यही कारण है कि यह संविधान जितना पूर्ण व विशद है, उतना किसी अन्य राज्य का संविधान नहीं है।

यद्यपि भारत का संविधान लिखित (Written) है, और इसे एक संविधान-सभा ने बहुत सोच-समझ कर बनाया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि यह ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। हमारा देश डेढ़ सदी के लगभग अंग्रेजों के अधीन रहा। संसार के इतिहास में यह काल बड़े महत्त्व का था। इस काल में संसार ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति की। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले बड़े-बड़े कारखाने इसी काल में खुले; रेल, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि का आविष्कार हुआ; और विज्ञान का सहारा लेकर मनुष्य ने प्रकृति के ऊपर अद्भुत विजय प्राप्त की। यह स्वाभाविक था कि भारत पर भी इस उन्नति का असर पड़े। अंग्रेजी शासन में भारत में भी नये-नये कारखाने खुलने शुरू हुए और रेल आदि बनाई गई।

पर पिछली डेढ़ सदी में मनुष्य ने केवल वैज्ञानिक क्षेत्र में ही उन्नति नहीं की, राजनीतिक क्षेत्र में भी वह पहले के मुकाबिले में बहुत आगे बढ़ गया। अठारहवीं सदी में यूरोप के प्रायः सभी देशों में ऐसे राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून मानते थे। ये मनमाने ढंग से अपने राज्य का शासन किया करते थे। इनकी शक्ति को नियन्त्रित करने वाली विधान-सभाओं का उस समय सर्वथा अभाव था। १७८६ ई० में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई। इस राज्यक्रान्ति ने इस विचार को जन्म दिया कि राजाओं के स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन का अन्त होकर जनता का शासन होना चाहिये, जिसे हम लोकतन्त्रवाद (Democracy) कहते हैं। उसका प्रादुर्भाव फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा अठारहवीं सदी के अन्त में हुआ था।

यह स्वाभाविक था कि शासनसम्बन्धी इस नये विचार का प्रभाव भारत पर भी पड़े। इसलिये भारत में भी ऐसे आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिनका उद्देश्य लोकतन्त्र शासन को स्थापित करना था। अंग्रेज शासक इन आन्दोलनों की उपेक्षा नहीं कर

सके । उन्होंने धीरे-धीरे भारत के शासन में भारतीय जनता का सहयोग लेना प्रारम्भ किया, और इस देश में भी लोकतन्त्र संस्थाओं का विकास होने लगा। यद्यपि भारत अगस्त, १९४७ में अंग्रेजी शासन की अधीनता से मुक्त हुआ, पर उससे बहुत पहले ही यहाँ विविध विधानसभाओं का निर्माण हो गया था, और विविध प्रान्तों में ऐसे मन्त्रिमण्डलों की रचना भी हो गई थी, जो जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते थे। जिस संविधानसभा ने स्वतन्त्र भारत के संविधान का निर्माण किया, उसने भारत के इस संवैधानिक विकास (Constitutional development) को दृष्टि में रखा। इसी कारण यह माना जाता है, कि भारत का संविधान ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, और हम इस संविधान को तभी भलीभांति समझ सकते हैं, जब कि हम इसके विकास-क्रम को दृष्टि में रखें। 'वर्तमान' भूतकाल पर आधारित होता है, और भविष्य वर्तमान से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। यह बात भारत के संविधान पर भी पूरी तरह से लागू होती है।

भारत में अंग्रेजों का आगमन—यूरोप के लोगों ने पन्द्रहवीं सदी के अन्त में भारत आना शुरू किया था। उस समय भारत आदि पूर्वी देशों के व्यापार से यूरोप के व्यापारियों को बहुत लाभ होता था, और व्यापार के उद्देश्य से ही यूरोप के लोग समुद्र के मार्ग से भारत आने-जाने लगे थे। सबसे पहले पुर्तगाल के लोग भारत आए और उन्होंने इस देश के व्यापार से लाभ उठाना शुरू किया। दिसम्बर, १६०० में लण्डन में एक कम्पनी खड़ी की गई, जिसका नाम 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' था। यह कम्पनी व्यापार के उद्देश्य से बनाई गई थी। पर भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठा कर इसने यहां के राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप करना प्रारंभ किया, और अठारहवीं सदी के मध्य भाग तक बंगाल व मद्रास के अनेक प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया। बादशाह औरङ्गजेब की मृत्यु (१७०७) के बाद मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था, और उसके खण्डहरों पर जो अनेक स्वतंत्र राज्य कायम हुए, वे प्रायः आपस में लड़ते रहते थे। इस दशा से लाभ उठाकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों ने भारत में अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया, और उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत का बड़ा भाग उनकी अधीनता में चला गया। १८५७ ई० तक यह स्थिति आ गई थी, कि अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

भारत में अंग्रेजों का शासन—यद्यपि भारत अंग्रेजों के अधीन हो गया था, पर यहां इङ्गलैण्ड की सरकार का शासन न होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था, जो एक व्यापारी कम्पनी थी। १८५७ ई० में भारत में अंग्रेजी शासन का अन्त करने के लिये विद्रोह हुआ, पर सफल नहीं हो सका। पर इस विद्रोह का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि इङ्गलैण्ड की सरकार ने भारत के शासन को अपने हाथों में ले लिया। १८५८ ई० में इङ्गलैण्ड की पार्लियामैण्ट ने एक कानून पास किया, जिसे 'गवर्नमैण्ट आफ इण्डिया एक्ट' कहते हैं। इसके द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनीतिक अधिकारों का अन्त कर दिया गया, और भारत का शासन महारानी विक्टोरिया (१८३७–१९०१) को दे दिया गया। इङ्गलैण्ड में इस समय तक लोकतन्त्रवाद का विकास हो चुका था, और राज्य कार्य ऐसे

मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहता था, जो पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हो । अब इङ्गलैण्ड के मन्त्रिमण्डल में एक मन्त्री की वृद्धि की गई, जिसे भारत का शासन कार्य सुपुर्द किया गया । यह भारतमन्त्री (Secretary of State for India) कहाया। इसी समय से भारत के गवर्नर-जनरल को साम्राज्ञी का प्रतिनिधि माना जाने लगा, और वह 'वायसराय' कहलाने लगा । भारत का शासन इसी गवर्नर-जनरल व वायसराय द्वारा किया जाने लगा, जो भारतमन्त्री के निरीक्षण में अपना कार्य किया करता था ।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा—१८५८ के 'गवर्नमैन्ट आफ इण्डिया एक्ट' के पास होने के बाद महारानी विक्टोरिया की ओर से एक घोषणा की गई, जिसमें यह कहा गया कि भविष्य में सम्पूर्ण प्रजा के साथ एक समान व्यवहार किया जायगा, किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं किया जायगा और राजकीय पदों पर नियुक्ति करते हुए जाति, रंग व धर्म का कोई भेद-भाव नहीं रखा जायगा ।

१८५७ ई० में भारतीय जनता अंग्रेजी शासन का अन्त कर देने के लिये उठ खड़ी हुई थी । इस दशा में अंग्रेज शासक यह अनुभव करने लगे थे कि भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है । इसी कारण महारानी विक्टोरिया की घोषणा में यह आश्वासन दिया गया कि भविष्य में भारत के लोगों को भी राजकीय पद दिये जायेंगे, और धर्म के मामले में सब को पूरी स्वतन्त्रता रहेगी ।

१८६१ का कौंसिल एक्ट—१८५८ ई० में विक्टोरिया ने जो घोषणा की थी, उसे क्रिया में परिणत करने के लिये १८६१ में इङ्गलैण्ड की पार्लियामैन्ट ने एक नया कानून पास किया, जिसे 'इण्डियन कौंसिल एक्ट' कहते हैं । इस कानून के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि कानून बनाने के कार्य में गवर्नर-जनरल की सहायता करने के लिये उसकी कौंसिल के सदस्यों में वृद्धि की जाए, और इन सदस्यों की संख्या ६ से कम व १२ से अधिक न हो। इनमें से कम से कम आधे सदस्य 'गैर सरकारी हों। ये गैर सरकारी सदस्य अंग्रेज भी हो सकते थे, और भारतीय भी । यह पहला अवसर था, जब कि भारत के शासन में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने की भी व्यवस्था की गई थी । इस दृष्टि से १८६१ ई० के 'इण्डियन कौंसिल एक्ट' का बहुत महत्त्व है। इसी कानून में यह भी व्यवस्था की गई, कि बंगाल, मद्रास आदि प्रान्तों के गवर्नरों की कौंसिलों में भी कतिपय सदस्य कानून बनाने के कार्य में सहायता देने के निमित्त लिये जाएं, और गैर सरकारी व्यक्तियों को भी इस कार्य के लिये कौंसिलों के सदस्य रूप से नियुक्त किया जा सके ।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना—१८६१ ई० में जो कानून ब्रिटिश पार्लियामैन्ट द्वारा स्वीकृत किया गया था, उससे भारत के लोगों को सन्तोष नहीं हुआ । इस समय तक भारत में राष्ट्रीय जागृति प्रारम्भ हो चुकी थी । १८५७ के स्वाधीनता युद्ध की स्मृति अभी ताजी थी ।साथ ही नई शिक्षा के प्रसार के कारण शिक्षित भारतीयों को यूरोप के स्वाधीनता आन्दोलन व लोकतन्त्रवाद के विचारों का भी भलीभांति ज्ञान था। वे चाहते थे कि भारत भी स्वाधीन हो, और यहां भी लोकतन्त्र शासन का विकास हो । अनेक समाचार-पत्र इस समय भारतीयों द्वारा प्रकाशित होने प्रारम्भ हो गये थे, और अनेक ऐसी सभाएं भी संगठित होने लग गई थीं; जिनका उद्देश्य भारत के शिक्षित वर्ग की आवाज

को अंग्रेजी सरकार तक पहुँचाना था। इनमें इण्डियन नेशनल कांग्रेस मुख्य थी, जिसकी स्थापना १८८५ ई० में हुई थी। साथ ही, कुछ देशभक्त लोग क्रान्तिकारी समितियों का संगठन कर शस्त्रों का उपयोग करके भी अंग्रेजी शासन का अन्त कर देने के लिये प्रयत्न करने लग गये थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में राष्ट्रीय चेतना भली-भांति विकसित होनी प्रारम्भ हो गई थी। १८८५ ई० में जब कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ, तो उसके सभापति श्री उमेशचन्द्र चक्रवर्ती ने उसके उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किये थे—

(१) ऐसे उपायों पर विचार करना, जिनसे भारत की शासन-पद्धति में सुधार हो।

(२) देश के शासन में भारतीयों को अधिक संख्या में नियुक्त कराने का प्रयत्न करना।

१८९२ का इण्डियन कौंसिल एक्ट—भारत में जो नई राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो रही थी, अंग्रेजी सरकार के लिये उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। इस कारण ब्रिटिश पार्लियामैन्ट ने १८९२ ई० में एक नया ऐक्ट पास किया, जिसके अनुसार केन्द्रीय विधान सभा (Supreme Legislative Council) के सदस्यों की संख्या कम से कम १० व अधिक से अधिक १६ होने की व्यवस्था की गई। विविध प्रान्तों की कौंसिलों की सदस्य संख्या भी बढ़ाई गई। बम्बई, मद्रास तथा बंगाल की कौंसिलों की अधिकतम सदस्य संख्या २०, संयुक्त प्रान्त की १५ व पंजाब और बरमा की कौंसिलों की सदस्य संख्या ९ कर दी गई। यह भी व्यवस्था की गई कि केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों में सरकारी बजट पर भी विचार किया जा सके, सदस्य लोग शासन सम्बन्धी मामलों पर प्रश्न भी पूछ सकें और अपनी ओर से कोई प्रस्ताव भी पेश कर सकें। पर ये अधिकार नाममात्र को ही थे, क्योंकि सदस्य लोग सरकारी बजट में न कोई कमी कर सकते थे, न कोई वृद्धि कर सकते थे, और न उनपर अपना वोट ही दे सकते थे। वे केवल उसपर अपने विचार ही प्रकट कर सकते थे। सरकार के लिये यह जरूरी नहीं था, कि वह सदस्यों के विचारों को स्वीकृत करे या उन्हें कोई महत्त्व दे। केन्द्रीय व प्रान्तीय कौंसिलों के गैर-सरकारी सदस्यों की नियुक्ति नामजद करके ही की जाती थी।

स्वाधीनता के लिए उग्र आन्दोलन—१८९२ में भारत के शासन में जो सुधार किये गये थे, उनसे जनता को जरा भी सन्तोष नहीं हुआ। इस असन्तोष के कारण उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही देश में ऐसे दलों का संगठन शुरू हो गया, जो क्रान्तिमय उपायों में विश्वास रखते थे, और शस्त्रों द्वारा विदेशी शासन का अन्त कर देने के लिये प्रयत्नशील थे। १९०४–५ में जापान और रूस में युद्ध हुआ, जिसमें जापान ने रूस को परास्त किया। एक एशियन देश द्वारा यूरोप के एक शक्तिशाली राज्य को पछाड़ देने का यह परिणाम हुआ कि सारे एशिया में स्वाधीनता के आन्दोलन को बल मिला। भारत के क्रान्तिकारी लोगों में भी इससे नई स्फूर्ति उत्पन्न हुई। बंगाल क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र था। वहां के देशभक्तों को निर्बल कर देने के उद्देश्य से लार्ड कर्जन ने, जो उस समय भारत का गवर्नर-जनरल था, यह निश्चय किया कि बंगाल के दो टुकड़े

कर दिये जाएं। इससे बंगाल के राष्ट्रवादी बहुत उद्विग्न हुए। उन्होंने स्वदेशी के प्रचार और अंग्रेजी माल के बहिष्कार का आन्दोलन शुरू कर बंगभंग का विरोध करना प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे यह आन्दोलन सारे भारत में फैल गया। इसी समय कांग्रेस में भी एक ऐसा दल संगठित हुआ, जो स्वाधीनता के लिये अधिक उग्र नीति का अनुसरण करने का पक्षपाती था। श्री बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाजपतराय इस दल के नेता थे। इसे 'गरम' दल कहा जाता था।

मिन्टो-मार्ले सुधार—भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन जिस ढंग से जोर पकड़ रहा था, उसकी उपेक्षा कर सकना अंग्रेजी सरकार के लिये सम्भव नहीं था। अत: विवश होकर उसे शासन में कुछ सुधार करने पड़े। ये 'मिन्टो-मार्ले सुधार' (१९०९) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अनुसार भारत में एक केन्द्रीय विधान सभा (Imperial Legislative Council) का निर्माण किया गया, जिसके सदस्यों की अधिकतम संख्या ६० नियत की गई। यह व्यवस्था की गई कि इनमें से ३३ सदस्य नामजद हों, और २७ निर्वाचित। नामजद सदस्यों में से २८ सरकारी और ५ गैर सरकारी हुआ करें। निर्वाचित सदस्यों के विषय में परोक्ष चुनाव (Indirect election) की प्रणाली अपनाई गई। ये निर्वाचित सदस्य म्युनिसिपल और जिला बोर्डों, विश्वविद्यालय, चेम्बर आफ कामर्स, जमींदार एसोशियेशन आदि संस्थाओं द्वारा चुने जाते थे। जनता के वोटों द्वारा प्रतिनिधियों का निर्वाचन होने की परिपाटी इस समय तक प्रारम्भ नहीं की गई थी।

प्रान्तों में भी इन सुधारों के अनुसार विधान सभाएं बनाई गईं। बंगाल, मद्रास और बम्बई की विधानसभाओं के सदस्यों की संख्या ५० और अन्य प्रान्तों की विधान-सभाओं की सदस्य संख्या ३० नियत की गई। इनमें भी नामजद और निर्वाचित दोनों प्रकार के सदस्य रखे गये। पर निर्वाचन का ढंग वही परोक्ष रूप से था। साथ ही, इन सुधारों द्वारा यह भी व्यवस्था की गई कि वायसराय की कार्यकारिणी समिति (Executive Council) में एक भारतीय को भी सदस्य के रूप में लिया जाए। शासन का असली कार्य इस कौंसिल के ही हाथों में था। उसमें एक भारतीय की भी नियुक्ति एक महत्त्व-पूर्ण बात थी।

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८)—मिन्टो-मार्ले सुधार इतने अपर्याप्त थे कि उनसे भारत के राष्ट्रीय नेता संतुष्ट नहीं हुए। इस कारण क्रान्तिकारी दलों की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई। १९१४ में यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसमें ब्रिटेन भी शामिल था। इस युद्ध में अंग्रेजों की तरफ से लड़ने के लिये ८ लाख सैनिक व युद्ध में सहायता देने के लिये ५ लाख मजदूर भारत से यूरोप, पश्चिमी एशिया आदि में भेजे गये। भारतीय सरकार ने करोड़ों रुपया युद्ध के लिये खर्च किया। भारत का इस युद्ध से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। पर इङ्गलैण्ड व उसके साथी राज्यों का कहना था कि वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के लिये युद्ध में शामिल हुए हैं। अंग्रेजों ने भारत को आश्वासन दिया कि युद्ध की समाप्ति पर यहां भी स्वराज्य की स्थापना कर देंगे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि अनेक देशभक्त नेताओं ने भी दिल खोलकर अंग्रेजों की सहायता की। महात्मा गांधी इस समय तक दक्षिणी अफ्रीका से भारत आ चुके थे,

और कांग्रेस में शामिल हो गये थे । उन्हें विश्वास था कि अंग्रेज अपने वायदों को अवश्य पूरा करेंगे । इसलिये उन्होंने भी युद्ध के लिये रंगरूट भरती करने का कार्य किया ।

✓ **मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार** (१९१९)––महायुद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने भारत के शासन में जो सुधार किये, वे मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के नाम से प्रसिद्ध हैं । मि० मांटेग्यू ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में भारतमन्त्री के पद पर थे, और लार्ड चेम्सफोर्ड भारत के वायसराय थे । उनके प्रस्तावों द्वारा जो सुधार भारत के शासन में हुए, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे––

✓(१) केन्द्र में एक सदन (Chamber) वाली इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के स्थान पर दो सदन बनाये गये । मुख्य सदन को विधान सभा (Legislative Assembly) नाम दिया गया, और दूसरे सदन (Second Chamber) को राज्य परिषद् (Council of State) । परिषद् के सदस्यों की संख्या ६० और विधान सभा के सदस्यों की संख्या १४४ नियत की गई । परिषद् के ६० सदस्यों में से ३४ निर्वाचित होते थे और शेष २६ नामजद । इन २६ नामजद सदस्यों में २० से अधिक सरकारी नहीं हो सकते थे । विधान सभा के १४४ सदस्यों में २६ सरकारी, १४ नामजद किये गये गैर-सरकारी और १०४ निर्वाचित सदस्य थे । निर्वाचन की प्रणाली प्रत्यक्ष (Direct) रखी गई, पर वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया । वोट देने के लिये सम्पत्ति आदि की ऐसी शर्तें रखी गईं, जिनके कारण सर्वसाधारण जनता इस अधिकार से वंचित रही । राज्य-परिषद् की अवधि पांच वर्ष और विधानसभा की तीन वर्ष रखी गई ।

केन्द्रीय व्यवस्थापन विभाग (Legislature) के अधिकारों में भी वृद्धि की गई । इस विभाग को अब यह अधिकार था कि वह कानून बना सके, सरकारी बजट पर विचार कर सके, और एक निश्चित सीमा के अन्दर उस पर मत भी दे सके, और सरकारी कार्यों व नीति के सम्बन्ध में प्रश्न भी पूछ सके । पर गवर्नर-जनरल के असीमित अधिकारों के कारण इन विधान सभाओं की शक्ति बहुत कम थी । गवर्नर-जनरल की इच्छा के खिलाफ ये सभाएं कुछ भी नहीं कर सकती थीं ।

✓(२) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी (Executive) समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ८ कर दी गई । इनमें से ३ सदस्य भारतीय हुआ करें, यह व्यवस्था भी की गई । इस समिति के सदस्यों के कार्य का विभाजन इस प्रकार किया गया––१. राजनीतिक सदस्य (गवर्नर जनरल), २. रक्षा सदस्य (प्रधान सेनापति), ३. आय-व्यय सदस्य, ४. व्यापार सदस्य, ५. कानून सदस्य, ६. व्यावसाय व श्रम सदस्य, ७. यातायात सदस्य, और ८. शिक्षा और स्वास्थ्य सदस्य ।

कार्यकारिणी समिति के निर्णयों को अस्वीकृत कर देने का अधिकार भी गवर्नर-जनरल को दिया गया, जिसके कारण शासन के क्षेत्र में भी उसकी शक्ति असीमित रही ।

(३) सरकारी विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया––केन्द्रीय और प्रान्तीय । देश की रक्षा, रेलवे, डाक और तार, मुद्रा पद्धति, बैंकिंग और इन्श्युरेन्स, आयातकर और निर्यात-कर जैसे विषयों को केन्द्रीय रखा गया और अन्य विषयों को प्रान्तीय । यदि कभी

इस प्रश्न पर विवाद हो कि कौन-सा विषय प्रान्तीय है और कौन-सा केन्द्रीय, तो उसके निर्णय का अन्तिम अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया।

(४) प्रान्तीय विषयों को भी दो भागों में विभक्त किया गया—रक्षित (Reserved) और हस्तान्तरित (Transferred)। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन, कृषि और व्यवसाय जैसे विषय हस्तान्तरित रखे गये, और राजकीय आय-व्यय, शान्ति और व्यवस्था कायम रखना, सिंचाई, मालगुजारी आदि विषय रक्षित रखे गये।

यह व्यवस्था की गई कि हस्तान्तरित मामले ऐसे मन्त्रियों के अधीन रहें, जो प्रान्तीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हों। विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों में से ही प्रान्तीय गवर्नर द्वारा इन मन्त्रियों को मनोनीत किया जाता था। रक्षित विषयों का शासन गवर्नर अपनी कार्यकारिणी समिति (Executive Council) की सहायता से करता था। कार्यकारिणी समिति के सदस्य विधानसभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। इस प्रकार प्रान्तों का शासन दो भागों में विभक्त था। इसी को द्वैध शासन (Dyarchy) कहा जाता है।

(५) प्रान्तीय विधानसभाओं के सदस्यों की संख्या भी बढ़ा दी गई। बंगाल की विधानसभा की सदस्य संख्या १३९, बम्बई की १११, मद्रास की १२७, संयुक्त प्रान्त की १२३, पंजाब की ९३, बिहार तथा उड़ीसा की १०३, मध्य प्रान्त की ८० और आसाम की ५३ नियत की गई। यह व्यवस्था की गई कि इनमें से कम से कम ७० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित हों, और सरकारी सदस्यों की संख्या २० प्रतिशत से अधिक न हो। निर्वाचन के लिये प्रत्यक्ष चुनाव की प्रथा को अपनाया गया, पर वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया। वोट के लिये सम्पत्ति, शिक्षा आदि की शर्तें होने के कारण सर्वसाधारण जनता इस अधिकार से वंचित रही।

जातिगत प्रतिनिधित्व (Communal Representation) की प्रथा का सूत्रपात मिन्टो-मार्ले सुधारों के समय में ही कर दिया गया था। इस प्रथा के अनुसार मुसलिम मतदाता अपने प्रतिनिधियों को अलग चुनते थे, और गैर-मुसलिम अलग। १९१९ के सुधारों में भी इस प्रथा को जारी रखा गया। मुसलमान लोग अन्य भारतीयों से पृथक् हैं, उनकी अपनी पृथक् राष्ट्रीयता है—इस विचार के विकास में इस प्रथा से बहुत सहायता मिली।

(६) स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के अधिकारों में इस समय अधिक वृद्धि की गई। नगरों की म्युनिस्पैलिटियों और जिला बोर्डों में निर्वाचित सदस्य बढ़ा दिये गये, और उन्हें चुनने का अधिकार भी अधिक लोगों को दिया गया।

(७) ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में भारतमंत्री का वेतन अब तक भारत के कोष से दिया जाता था। अब यह व्यवस्था की गई कि उसका वेतन ब्रिटेन के कोष से दिया जाया करे। भारतमन्त्री की कौंसिल के सदस्यों की संख्या भी पहले की अपेक्षा कम कर दी गई। इसी समय से ब्रिटेन में एक नये कर्मचारी की नियुक्ति की जाने लगी, जिसे 'हाई कमिश्नर' कहते थे। यह ब्रिटेन में भारत सरकार का एजेन्ट होता था। भारत

सरकार के लिए माल खरीदना, इङ्गलैंड में शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय विद्यार्थियों की देख-भाल करना व भारत के व्यापारिक हितों का ध्यान रखना इसके मुख्य कार्य थे। पहले ये कार्य भी भारतमन्त्री द्वारा किये जाते थे। अब ये हाई कमिश्नर को दे दिये गये।

असहयोग आन्दोलन—महायुद्ध के समय भारत से जो वायदे किये गये थे, मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा वे पूरे नहीं हुए। इससे जनता में बहुत असंतोष हुआ। इस कारण महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) सरकार की सेवा में जो भारतीय कार्य कर रहे हैं, वे त्यागपत्र दे दें, ताकि अंग्रेजों के लिये भारत पर शासन कर सकना सम्भव न रहे। (२) सरकारी स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार कर राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना की जाए। (३) स्वदेशी वस्तुओं और हाथ के कते व हाथ के बुने कपड़ों का व्यवहार किया जाए। (४) सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जाए।

कांग्रेस ने यह भी निश्चय किया कि कांग्रेस का उद्देश्य 'शान्तिमय व समुचित उपायों द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना' है। १९२०–२१ में असहयोग आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा। सरकार ने इसे कुचलने के लिये कोई कसर बाकी नहीं रखी। हजारों कांग्रेसी स्वयंसेवक और नेता गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिये गये। महात्मा गांधी को भी पकड़ लिया गया और उन्हें छः साल जेल की सजा दी गई।

स्वराज्य पार्टी—असहयोग आन्दोलन ने जनता में जागृति उत्पन्न करने का कार्य अवश्य किया, पर वह सफल नहीं हो सका। सरकार की दमन नीति इस आन्दोलन को दबा देने में सफल हुई। १९२२ ई० में श्री चितरंजन दास ने यह आन्दोलन शुरू किया कि कांग्रेस को मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना के अनुसार बनाई गई विधान सभाओं का बहिष्कार नहीं करना चाहिये, अपितु उनमें निर्वाचित होकर विधानसभाओं के अन्दर से सरकार के साथ संघर्ष करना चाहिये। चितरंजन दास और उनके साथियों ने कांग्रेस में एक नई पार्टी संगठित की, जिसे 'स्वराज्य पार्टी' कहते थे। धीरे-धीरे यह पार्टी बहुत प्रबल हो गई। १९२५ ई० में कांग्रेस ने चुनाव लड़कर विधानसभाओं में प्रवेश करने की नीति को स्वीकार कर लिया।

असहयोग आन्दोलन के विफल होने के कारण क्रान्तिकारी दल फिर जोर पकड़ने लगे। बंगाल, संयुक्त प्रान्त, पंजाब आदि में अनेक 'क्रान्तिकारी समितियाँ' संगठित हुईं।

साइमन कमीशन (१९२८)—भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन जिस प्रकार जोर पकड़ रहा था, उसे देखकर ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि नये शासन सुधार करना अनिवार्य है। इसलिये उसने सर जान साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसे भारत में शासन-सुधार के विषय में परामर्श देने का कार्य सुपुर्द किया गया। इस कमीशन के सब सदस्य अंग्रेज थे। उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भारतीय जनता की आकांक्षाओं को भलीभांति समझ सकेंगे। फरवरी, १९२४ में गांधी जी को रिहा कर दिया गया था। अब उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने साइमन कमीशन के बहि-

ष्कार का निश्चय किया। यह कमीशन जहां कहीं भी गया, जनता ने 'साइमन वापस जाओ' के नारों से उसका स्वागत किया।

नमक सत्याग्रह—कांग्रेस के नेता केवल साइमन कमीशन का बहिष्कार करके ही संतुष्ट नहीं हुए, महात्मा गांधी के नेतृत्व में उन्होंने सत्याग्रह करने का भी निश्चय किया। सबसे पूर्व नमक कानून को तोड़ने का निश्चय किया गया, क्योंकि नमक जैसी दैनिक आवश्यकता की वस्तु पर कर लगाना गरीबों के लिये बहुत ज्यादती की बात थी। गांधी जी के साथ सत्याग्रहियों की एक मण्डली सूरत जिले के समुद्र-तट पर स्थित दांडी नामक गांव में गई, और वहां जाकर उसने नमक कानून भंग किया। देश में अन्यत्र भी बहुत से स्थानों पर कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने कानून के विरुद्ध नमक बनाया, जिसके कारण हजारों नर-नारी गिरफ्तार किये गये। विदेशी माल के बहिष्कार और शराब की दुकानों पर धरना देने के आन्दोलन ने भी जोर पकड़ना शुरू किया, और कई स्थानों पर तो लोगों ने सरकारी लगान देना भी बन्द कर दिया।

प्रथम गोलमेज कान्फ्रेंस (१९३०-३१)—भारत में स्वराज्य आन्दोलन जिस ढंग से जोर पकड़ रहा था, उसे दृष्टि में रखकर ब्रिटेन की सरकार ने निश्चय किया कि एक गोलमेज (Round Table) कान्फ्रेंस लण्डन में बुलाई जाए, जिसमें भारत के प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के साथ बैठकर शासन सुधार के प्रश्न पर विचार करें। पर कांग्रेस ने इस कान्फ्रेंस का बहिष्कार किया। नवम्बर, १९३० में यह कान्फ्रेंस लण्डन में शुरू हुई, जिसमें रियासतों के १६ और ब्रिटिश भारत के ५७ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए।

जिन दिनों लण्डन में यह कान्फ्रेंस हो रही थी, भारत में सत्याग्रह आन्दोलन—जिसका हमने अभी ऊपर उल्लेख किया है, जोर पकड़ रहा था। हजारों सत्याग्रही जेल जा रहे थे और क्रान्तिकारी समितियां भी अपने कार्य में तत्पर थीं।

इस दशा में गोलमेज कान्फ्रेंस का सफल हो सकना सम्भव नहीं था। सर तेज-बहादुर सप्रू और श्री जयकर ने इस समय अंग्रेजी सरकार और कांग्रेस में समझौता कराने का प्रयत्न किया। भारत का वायसराय इस समय लार्ड इरविन (१९२६-३१) था, जो शान्ति का पक्षपाती था। उसने गांधी जी से समझौता कर लिया (मार्च, १९३१)। अब सत्याग्रही कैदियों को जेल से छोड़ दिया गया, और कांग्रेस ने गोलमेज कान्फ्रेन्स में अपने प्रतिनिधि भेजना स्वीकार कर लिया।

दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस (१९३१)—सितम्बर, १९३१ में दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्स लण्डन में हुई, जिसमें महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए। पर इस कान्फ्रेन्स में भारत की अन्य राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि भी शामिल थे। विशेषतया, मुसलिम लीग का एक प्रतिनिधि मण्डल भी वहां विद्यमान था, जिसके नेता श्री मुहम्मद अली जिन्ना थे। इस प्रतिनिधि मण्डल का दावा था, कि मुसलिम लीग ही मुसलमानों का प्रतिनिधित्त्व कर सकती है। साथ ही, हिन्दू महासभा, अछूत फिडरेशन आदि कितने ही अन्य जातिगत (Communal) दलों के प्रतिनिधि भी इस कान्फ्रेन्स में शामिल थे। गांधी जी की इच्छा थी कि सब भारतीय एकमत होकर

अपनी माँगों को पेश करें। पर वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए और दिसम्बर, १९३१ में वे भारत वापस लौट आए।

सत्याग्रह आन्दोलन—गोलमेज कान्फ्रेन्स में सफलता न मिलने पर कांग्रेस ने फिर से सत्याग्रह आन्दोलन शुरू करने का निश्चय किया। १९३१ में लार्ड इरविन की जगह पर लार्ड विलिंग्डन (१९३१–३६) भारत के गवर्नर-जनरल नियत होकर आए थे। उन्होंने सत्याग्रह को कुचलने के लिए कठोर उपायों का प्रयोग किया। महात्मा गांधी व अन्य नेता फिर से गिरफ्तार कर लिये गये, और जनता पर गोलियां भी चलाई गईं।

साम्प्रदायिक निर्णय (१९३२)—गोलमेज कान्फ्रेन्स की असफलता का मुख्य कारण यह था कि भारत के विविध धर्मों के लोग एकमत नहीं हो सके थे। हिन्दुओं और मुसलमानों में विरोध भाव इस समय निरन्तर बढ़ता जा रहा था, क्योंकि मुसलिम लीग यह प्रचार करने में तत्पर थी कि मुसलमान एक पृथक् जाति व राष्ट्रीयता हैं, और उन्हें विशेष अधिकार दिये जाने चाहियें।

जब गोलमेज कान्फ्रेन्स में भारतीय नेता आपस में कोई फैसला नहीं कर सके, तो ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री रामजे मैकडानल्ड ने अपनी ओर से एक साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) दिया, जिसमें मुसलमानों के समान अछूतों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। गांधी जी को यह बात बिल्कुल भी पंसद नहीं थी, क्योंकि इससे अछूत भी हिन्दुओं से पृथक् हो जाते थे। इस पर उन्होंने जेल में ही आमरण अनशन का व्रत लिया, जिसके कारण सरकार को इस निर्णय में संशोधन करने के लिये विवश होना पड़ा। साम्प्रदायिक निर्णय में यह संशोधन 'पूना समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार अछूत जातियों के प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ा दी गई, पर उनका चुनाव केवल अछूत मतदाताओं द्वारा न होकर सपूर्ण हिन्दू मतदाताओं द्वारा होने की व्यवस्था की गई।

तीसरी गोलमेज कान्फ्रेंस (१९३२)—साम्प्रदायिक निर्णय के बाद लण्डन में तीसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स हुई। पर इसमें कांग्रेस की ओर से कोई प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुआ। इस कान्फ्रेन्स की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने भारत में शासन-सुधारों के संबंध में एक श्वेत-पत्र (White Paper) प्रकाशित किया, जिसमें उन सुधारों की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई, जिनके लिये ब्रिटिश सरकार उद्यत थी। पर ये सुधार भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये बिल्कुल अपर्याप्त थे।

१९३५ का गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट—गोलमेज कान्फ्रेन्स और उनके प्रस्तावों पर विचार करने के लिये नियत 'संयुक्त पालियामैन्टरी कमेटी' की सिफारिशों के अनुसार अगस्त, १९३५ में ब्रिटिश पालियामैन्ट ने एक नया 'गवर्नमैन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट' स्वीकृत किया, जिससे भारत के शासन का नया रूप निर्धारित किया गया। इस ऐक्ट की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) भारत को एक संवर्ग (Federation) का रूप दिया जाय, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रियासतें दोनों शामिल रहें।

(२) संवर्ग सरकार (Federal Government) के व्यवस्थापन विभाग में दो सदन हों, राज्य परिषद् (Council of States) और संवर्ग सभा (Federal Assembly)। राज्य परिषद् की सदस्य संख्या २५० हो, जिन में से १०४ रियासतों द्वारा मनोनीत किये जाएं। शेष सदस्य निर्वाचित हुआ करें। संवर्ग सभा के सदस्यों की संख्या ३७५ हो, जिनमें १२५ रियासतों का प्रतिनिधित्व करें, और शेष को (चेम्बर आफ कामर्स, श्रमी संघ आदि द्वारा चुने जाने वाले कतिपय सदस्यों के अतिरिक्त) प्रान्तीय विधान सभाएं चुना करें।

पर भारत को संवर्ग का रूप देने की यह योजना क्रिया में परिणत नहीं हो सकी, क्योंकि बहुत-सी रियासतें संवर्ग में शामिल होने के लिये उद्यत नहीं हुईं। इस दशा में १९३५ के एक्ट के इस अंश को कार्यान्वित नहीं किया गया।

(३) प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली (Dyarchy) का अन्त करके रक्षित और हस्तान्तरित विषयों के भेद को मिटा दिया गया, और सब विषयों का शासन ऐसे मन्त्रियों के सुपुर्द किया गया, जो विधानसभा के प्रति उत्तरदायी थे। कुछ प्रान्तों में एक सदन के स्थान पर दो सदन भी बनाये गये। यद्यपि १९३५ के कानून के अनुसार प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन (Responsible Government) की स्थापना की गई थी, पर साथ ही गवर्नरों को ऐसे विशेष अधिकार भी दे दिये गये थे, जिनका उपयोग करके वे मन्त्रिमण्डल के कार्यों में मनमाना हस्तक्षेप कर सकते थे।

(४) शासन-सम्बन्धी विषयों को तीन भागों में विभक्त किया गया (क) वे विषय जो केन्द्रीय सरकार के हाथों में रहेंगे, (ख) वे विषय जो प्रान्तीय सरकारों के हाथों में रहेंगे, और (ग) वे विषय जो समवर्ती (Concurrent) रहेंगे। इन समबर्ती विषयों के सम्बन्ध में केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों सरकारों को कानून बनाने का अधिकार था।

(५) १९३५ के ऐक्ट द्वारा भारत में मताधिकार को पहले के मुकाबिले में अधिक विस्तृत किया गया। १९१९ के कानून के अनुसार भारत में केवल ३ प्रतिशत जनता को वोट का अधिकार प्राप्त था। अब वोट देने का अधिकार १३ प्रतिशत लोगों को दे दिया गया।

(६) बरमा को भारत से अलग कर दिया गया, और सिन्ध व उड़ीसा के दो नये प्रान्त बना दिये गये। अब भारत में प्रान्तों की कुल संख्या ११ हो गई। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रान्त भी रहे, जिनमें उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों का शासन नहीं था, अपितु चीफ कमिश्नर जिन पर शासन करते थे।

कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल——१९३७ ई० के शुरू में नये गवर्नमैन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव हुए। कांग्रेस ने भी इस चुनाव में भाग लिया। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश), बिहार, मध्यप्रान्त, मद्रास, बम्बई और उड़ीसा की विधानसभाओं में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। जुलाई, १९३७ में अनेक प्रान्तों में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल कायम हो गये। पर क्योंकि १९३५ के ऐक्ट द्वारा

जनता को वास्तविक शक्ति प्राप्त नहीं हुई थी, अतः कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल कोई विशेष उपयोगी कार्य नहीं कर सके ।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५)—१९३९ के सितम्बर मास में बीसवीं सदी का दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया । इस समय भारत का गवर्नर जनरल लार्ड लिनलिथगो (१९३६-४३) था । उसने प्रान्तीय सरकारों की अनुमति लिये बिना ही भारत को इङ्गलैण्ड के पक्ष में युद्ध में शामिल कर दिया । कांग्रेस के मन्त्रिमण्डलों ने इस पर त्यागपत्र दे दिये, और इन प्रान्तों का शासन गवर्नरों ने अपने हाथों में ले लिया, क्योंकि किसी अन्य राजनीतिक दल के लिये प्रान्तीय शासनों को चला सकना सम्भव नहीं था ।

भारत का स्वतन्त्रता संग्राम—भारत के अनेक देशभक्त नेताओं ने महायुद्ध को देश की स्वतन्त्रता के लिये सुवर्णीय अवसर समझा । इस समय स्वराज्य के लिये अनेक प्रयत्न प्रारम्भ हुए, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित थे—(१) गांधी जी के नेतृत्त्व में कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया, और १९४२ ई० में 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' के आन्दोलन का सूत्रपात किया । (२) श्री सुभाष चन्द्र बोस ने भारत से बाहर जाकर आजाद हिन्द सरकार का संगठन किया, और सेना द्वारा भारत को स्वतन्त्र कराने का उद्योग किया । (३) क्रान्तिकारी दल भी फिर से प्रबल हो गये ।

महायुद्ध में भारत के सहयोग की आवश्यकता को अंग्रेज लोग भलीभांति अनुभव करते थे । जब जापान भी जर्मनी और इटली के पक्ष में युद्ध में शामिल हो गया, और उसने बात की बात में सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया से यूरोपियन साम्राज्यवाद का अन्त कर दिया, तो अंग्रेज लोग बहुत चिन्तित हुए । १९४२ के शुरू में जापान ने बरमा की भी विजय कर ली थी, और उसकी सेनाएं भारत की सीमा तक आ पहुँची थीं । इस दशा में अंग्रेज लोग अनुभव करते थे कि भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण किये बिना जनता का सहयोग प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है । इसलिये उसने भारत को संतुष्ट करने के लिये अनेक प्रयत्न प्रारम्भ किये ।

क्रिप्स योजना—युद्ध में भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने मार्च, १९४२ में सर स्टेफर्ड क्रिप्स को एक योजना लेकर भारत भेजा । इस योजना के दो भाग थे—

(१) युद्ध के बाद भारत में एक संविधान सभा का संगठन किया जाएगा, जिसके सदस्य देश के लिये अपनी इच्छा के अनुसार संविधान बना सकेंगे ।

(२) युद्ध के दौरान में भी गवर्नर जनरल अपनी कार्यकारिणी समिति के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, यद्यपि भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व इस काल में भी गवर्नर-जनरल पर ही रहेगा ।

भारत के नेता इस योजना को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं हुए । कांग्रेस ने इसे पोस्ट डेटेड चेक (Post-dated Cheque) कहा, और इसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया ।

क्रिप्स से समझौता होने के प्रयत्नों के असफल हो जाने पर अगस्त, १९४२ में कांग्रेस ने 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन का प्रारम्भ किया, और भारत में सर्वत्र अशान्ति फैल

गई। बहुत से देशभक्तों ने तोड़-फोड़ के काम शुरू कर अंग्रेजी शासन को विफल कर देने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, और अंग्रेजों ने भी दमन नीति को अपना कर जनता पर अमानुषिक अत्याचार करने शुरू किये। श्री सुभाषचन्द्र बोस के प्रयत्न से भारतीय सेना में भी स्वदेश प्रेम और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भावना का प्रचार हुआ, और सेना भी विदेशी राज के खिलाफ खड़ी हो जाने को तत्पर हो गई।

कैबिनेट मिशन—१९४५ ई० में जब महायुद्ध समाप्त हो गया, तो भारतीय जलसेना में विद्रोह हुआ। भारत में अंग्रेजी शासन सेना की सहायता पर ही आश्रित था। जब सेना ही अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने लगी, तो ब्रिटिश सरकार को यह समझने में देर नहीं लगी कि अब उसके लिये भारत का शासन कर सकना सम्भव नहीं रह गया है। इस अनुभूति का यह परिणाम हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के नेताओं से समझौता करने का निश्चय किया। १९ फरवरी, १९४६ को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री श्री एटली ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि भारत जाकर वहां की समस्या को हल करेंगे। इस समय भारत के गवर्नर जनरल लार्ड वेवेल (१९४३–४७) थे। उन्होंने कांग्रेसी नेताओं को जेल से रिहा कर दिया। मार्च, १९४६ में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के तीन प्रतिनिधि भारत आए। इनमें सर स्टैफर्ड क्रिप्स भी थे। इनप्रतिनिधियों ने शिमला में भारत के नेताओं से बातचीत शुरू की। मुसलिम लीग अब इस बात पर जोर देने लगी कि जिन प्रदेशों में मुसलमानों की बहुसंख्या है, उन्हें भारत से पृथक् कर पाकिस्तान नाम से एक नये राज्य की रचना कर दी जाए। जब भारत के विविध नेता किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच सके, तो ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के प्रतिनिधियों ने अपनी ओर से एक निर्णय दे दिया (१६ मई, १९४६)। इस निर्णय की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) भारत को एक संघ राज्य बनाया जाए। संघ सरकार के हाथों में रक्षा, सेना, विदेशी नीति, यातायात (Transport) और संचार (Communication) के विषय रहें।

(२) शासन के अन्य सब विषय प्रान्तीय सरकारों और रियासतों की सरकारों के हाथों में रहें।

(३) एक संविधान सभा का संगठन किया जाए, जिसमें भारत के सब राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। यह सभा भारत का स्थायी संविधान तैयार करे।

(४) जब तक संविधान सभा अपना कार्य समाप्त न कर ले, मध्यवर्ती काल के लिये एक ग्रस्थायी सरकार बनाई जाए, जिसमें कांग्रेस, मुसलिम लीग व अन्य राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाए।

ग्रस्थायी सरकार—इस योजना के अनुसार जो अस्थायी सरकार बनी, पंडित जवाहर लाल नेहरू उसके प्रधानमन्त्री थे। पर इस सरकार के लिये देश का शासन कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि मुसलिम लीग इस समय पाकिस्तान के लिये घोर आन्दोलन करने में तत्पर थी। जिन प्रान्तों में मुसलमानों की बहुसंख्या थी, वहां विशेष रूप से ग्रौर अन्यत्र भी साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो गये थे। यद्यपि अस्थायी सरकार में मुसलिम लीग के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे, पर वे कांग्रेस के साथ सहयोग करने

के बजाय उसका विरोध करना ही अपना कर्त्तव्य समझते थे, और इस कारण अस्थायी सरकार के लिये अपना कार्य कर सकना बहुत कठिन था।

संविधान सभा का चुनाव--२ सितम्बर, १९४६ को उस अस्थायी सरकार का निर्माण हुआ था, जिसके प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरु थे। उसके पूर्व जुलाई मास में ही कैबिनट मिशन की योजना के अनुसार संविधान सभा का चुनाव कर लिया गया था। संविधान सभा में विविध राजनीतिक दलों की सदस्य संख्या निम्नलिखित प्रकार से थी--

कांग्रेस --	२०५
मुसलिम लीग--	७३
अन्य--	१८
	२९६

अन्य सदस्यों में ११ हिन्दू, ४ सिक्ख और ३ मुसलमान थे।

यद्यपि संविधान सभा का चुनाव हो गया था, पर मुसलिम लीग के सदस्य उसमें सम्मिलित होने के लिये तैयार नहीं हुए। इस समय मुसलिम लीग भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के लिये दृढ़ संकल्प किये हुए थी, और वह किसी ऐसी संविधान-सभा के साथ सहयोग करने को तैयार नहीं थी, जो सारे भारत के लिये संविधान बनाए। अस्थायी सरकार में भी उसके प्रतिनिधि केवल इस उद्देश्य से शामिल हुए थे, ताकि वे वहां रहकर कांग्रेसी मन्त्रियों के मार्ग में रोड़े अटका सकें। शुरू में (२ सितम्बर, १९४६ को जब पहले-पहल अस्थायी सरकार बनी) मुसलिम लीग इस सरकार में भी सम्मिलित नहीं हुई थी, पर कुछ समय बाद अक्टूबर, १९४६ में उसके प्रतिनिधि कांग्रेसी मन्त्रियों के कार्य में बाधा डालने के लिये ही उसमें सम्मिलित होने को तैयार हो गये थे।

भारत का संविधान--इधर मुसलिम लीग पाकिस्तान के लिये प्रचण्ड आन्दोलन करने में तत्पर थी, जिसके कारण भारत में साम्प्रदायिक दंगों ने जोर पकड़ना शुरू कर दिया था। इन दंगों के कारण स्थिति इतनी विकट हो गई कि २० फरवरी, १९४७ को ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री श्री एटली ने घोषणा की कि जून, १९४८ तक भारत को पूर्णतया स्वाधीन कर दिया जायगा। इसी समय लार्ड वेवल की जगह पर लार्ड लुई माउन्टबेटन को भारत का वायसराय व गवर्नर जनरल नियत किया गया, और उन्हें भारत की समस्या को हल करने के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार दे दिये गये।

लार्ड माउन्टबेटन ने भारत आकर महात्मा गांधी और श्री जिन्ना से बातचीत की। इस समय तक यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा था कि पाकिस्तान की मांग को स्वीकृत किये बिना भारत में शान्ति स्थापित रख सकना सम्भव नहीं है। विविध नेताओं से विचार-विनिमय के बाद लार्ड लुई माउन्टबेटन ने ३ जून, १९४७ को एक नई योजना प्रस्तुत की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं--

(१) भारत को दो भागों में विभक्त कर दिया जाए। इन विभागों को भारत और पाकिस्तान कहा जाए। दोनों की सीमाओं का अन्तिम निर्णय करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जाए।

(२) पाकिस्तान में उन प्रदेशों को शामिल किया जाए, जिनमें मुसलमानों की बहुसंख्या है। यद्यपि पंजाब और बंगाल में मुसलमान बहुसंख्या में हैं, पर पंजाब के पूर्वी जिलों और बंगाल के पश्चिमी जिलों में हिन्दू बहुसंख्या में निवास करते हैं। अतः इन दोनों प्रान्तों का भी विभाजन कर दिया जाए। १६४१ की मर्दमशुमारी के अनुसार पंजाब के निम्नलिखित जिलों में मुसलमानों का बहुमत था—

लाहौर, गुजरांवाला, शेखूपुरा, सियालकोट, गुरदासपुर, अटक, गुजरात, जेहलम, शाहपुर, रावलपिण्डी, मियांवाली, डेरा गाजी खां, झंग, लायलपुर, मिंटगुमरी, मुलतान और मुजफ्फरगढ़।

बंगाल के चटगांव, नोआखाली, तिपरा, बाकरगंज, ढाका, फरीदपुर, मेमनसिंह, जैसोर, मुर्शिदाबाद, नदिया, बोगरा, दीनाजपुर, माल्दा, पबना, राजशाही और रंगपुर जिलों में मुसलमानों का बहुमत था।

(३) उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त में मुसलमान बहुसंख्या में थे, पर वहां की विधान सभा में कांग्रेस का बहुमत था। क्योंकि कांग्रेस भारत के विभाजन के विरोध में थी, अतः इस प्रान्त के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि वहां की जनता का मत इस प्रश्न पर लिया जाए कि वह भारत में रहना चाहती है या पाकिस्तान में।

(४) आसाम के सिलहट जिले में भी मुसलमानों का बड़ी संख्या में निवास था, अतः उसके सम्बन्ध में भी लोकमत द्वारा यह निर्णय करने की व्यवस्था की गई, कि वहां की जनता पाकिस्तान में रहना पसंद करेगी या भारत में।

(५) सिन्ध में मुसलमानों की बहुसंख्या थी। वहां की विधानसभा यह निश्चय करे, कि सिन्ध को पाकिस्तान में रहना चाहिये या भारत में।

कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों ने लार्ड माउन्टबेटन की योजना को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भारत के विभाजन का सूत्रपात हुआ।

इण्डियन इन्डिपेन्डेन्स ऐक्ट (१६४७)—४ जुलाई, १६४७ को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में एक बिल पास किया गया, जिसका उद्देश्य माउन्टबेटन की योजना को क्रिया में परिणत करना था। यह बिल २८ जुलाई को स्वीकृत हो गया। इसी को भारतीय स्वाधीनता का कानून कहा जाता है। इस कानून की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) १५ अगस्त, १६४७ को दो नये औपनिवेशिक राज्यों की स्थापना की जाए, जिनके नाम भारत और पाकिस्तान हों।

(२) इन औपनिवेशिक राज्यों को यह अधिकार दिया जाए कि वे चाहें तो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहें या उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लें।

(३) जब तक ये राज्य अपने नये संविधान न बना लें, इनका शासन १६३५ के गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार किया जाए। पर इस ऐक्ट में कतिपय ऐसे संशोधन कर दिये गये, जिनके कारण गवर्नर जनरल व प्रान्तीय गवर्नरों के विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया गया और उनकी स्थिति संवैधानिक शासकों की रह गई। शासन की असली शक्ति उन मन्त्रियों के हाथों में आ गई, जो विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी रहेंगे।

(४) रियासतों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई, कि उन पर से ब्रिटिश सम्राट् के प्रभुत्त्व का अन्त कर दिया जाए, और उन्हें इस बात की स्वतंत्रता रहे कि वे भारत व पाकिस्तान में से किसी में भी सम्मिलित हो सकें।

(५) भारत और पाकिस्तान दोनों को यह अधिकार दिया गया कि उनके मंत्रि-मण्डल अपने गवर्नर-जनरल का स्वयं निश्चय कर सकें। इसके अनुसार भारत के गवर्नर जनरल के पद पर लार्ड माउन्टबेटन ही रहे, और पाकिस्तान के गवर्नर जनरल श्री जिन्ना नियुक्त किये गये।

स्वतन्त्र भारत का नया संविधान

१९४७ के इण्डियन इन्डिपेन्डेन्स ऐक्ट के अनुसार १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वाधीन हो गया। स्वतन्त्र भारत का संविधान क्या हो, इसका निश्चय उस संविधान सभा द्वारा किया गया, जिसका निर्माण इसी प्रयोजन से किया गया था। यह सभा १९४६ में बनाई गई थी। शुरू में इसमें सम्पूर्ण भारत के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये थे, पर पाकिस्तान के पृथक् हो जाने के कारण इसमें केवल वे ही प्रतिनिधि रह गये, जो कि उन प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते थे, जो पाकिस्तान में नहीं गये थे। पाकिस्तान के बन जाने के कारण संविधान सभा के ६९ सदस्य अलग हो गये थे, जिनमें ५० मुसलमान, २ सिक्ख व १७ अन्य धर्मों के अनुयायी थे। संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव निम्नलिखित ढंग से किया गया था---

(१) स्थूल रूप से १० लाख व्यक्तियों के पीछे एक प्रतिनिधि संविधान सभा में लिया गया।

(२) इन प्रतिनिधियों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर प्रान्तों की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा किया गया।

(३) किसी प्रान्त में हिन्दू, मुसलमान व अन्य धर्मों के अनुयायी किस संख्या में हैं, इस बात को आधार बना कर यह निश्चय किया गया कि उस प्रान्त से कितने मुसलमानों व कितने गैर-मुसलमानों को संविधान सभा में प्रतिनिधि के रूप में लिया जाए। इसके लिये भारत में तीन मुख्य वर्ग स्वीकृत किये गये—मुसलिम, सिक्ख और गैर मुसलिम।

(४) प्रान्तीय विधान सभाओं को अधिकार दिया गया कि इन तीनों जातियों के विधानसभाओं के सदस्य समानुपाती प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) की प्रणाली से संविधान सभा के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनें।

इस ढंग से १९४६ में संविधान सभा के जो सदस्य चुने गये थे, उन्होंने ही (पाकिस्तान के प्रदेशों में निर्वाचित प्रतिनिधियों को अलग करके) भारत के नये संविधान को बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। २६ नवम्बर १९४९ तक इस सभा ने अपने कार्य को समाप्त कर दिया, और इसने जो संविधान बनाया, वही २६ जनवरी, १९५० से लागू हो गया। इस समय भारत का यही संविधान है।

भारत के संविधान का ऐतिहासिक आधार

यद्यपि स्वतन्त्र भारत के संविधान को एक संविधान सभा ने बनाया है, पर उसके निर्माता भारतीय शासन के ऐतिहासिक विकास की उपेक्षा नहीं कर सके । अंग्रेजी शासन के समय देश की सरकार का जो ढांचा धीरे-धीरे विकसित हुआ था, उसीकी नींव पर उन्होंने स्वतन्त्र भारत के नये संविधान की इमारत खड़ी की । एक लेखक के अनुसार इस संविधान की लगभग ७५ प्रतिशत बातें १९३५ के गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट से ली गई है । ऐसा करना स्वाभाविक भी था, क्योंकि किसी भी देश की राजनीतिक संस्थाएं पूर्णतया नये सिरे से नहीं बनाई जा सकतीं । उनका विकास धीरे-धीरे होता है, और वे मनुष्यों के क्रमागत अभ्यासों पर आश्रित होती हैं । बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन अवश्य किया जाता है, पर उनको आमूल परिवर्तित कर देना सम्भव नहीं होता ।

भारत के नये संविधान में जो बातें ब्रिटिश शासन के सरकारी ढांचे से ली गई हैं, उनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) नये संविधान के अनुसार भारत राज्यों का एक संघ (Union) है । इससे यह प्रतीत होता है, कि भारत की स्थिति एक संवर्ग राज्य (Federation) की है । बंगाल, बिहार, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि पहले प्रान्त (Provinces) कहे जाते थे, पर अब उन्हें 'राज्य' (State) कहा जाता है । अब भारत राज्यों का एक संघ है । पर विविध राज्यों का यह भारतीय संघ संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस आदि के संवर्ग-राज्यों से भिन्न प्रकार का है । अमेरिकन संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्य पहले पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के रूप में विद्यमान थे । उन्होंने स्वयं अपनी इच्छा से कुछ विशेष प्रयोजनों के लिये अपने को एक संवर्ग में संगठित किया । संवर्ग-सरकार की क्या शक्ति व अधिकार हों, यह बात संविधान द्वारा निश्चित कर दी गई । जो शक्ति व अधिकार संवर्ग सरकार को नहीं दिये गये, वे संवर्ग के अन्तर्गत राज्यों के पास रहे । पर भारतीय संघ में सम्मिलित राज्यों की स्थिति पहले 'प्रान्तों' की थी । इन राज्यों के अधिकार संविधान में परिगणित कर दिये गये हैं । साथ ही, संघ के अधिकारों व विषयों का भी संविधान में उल्लेख कर दिया गया है । जिन विषयों का परिगणन नहीं किया गया, उन सबके संघ सरकार के हाथों में रहने की व्यवस्था की गई है । विविध राज्यों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे संघ द्वारा ही उन्हें दिये गये हैं । राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का, उन पर नियन्त्रण रखने का और संकटकाल में सब शक्ति अपने हाथ में ले लेने का संघ-सरकार को अधिकार है । इस दृष्टि से देखा जाए, तो भारतीय संघ में सम्मिलित राज्यों की स्थिति अब भी प्रान्तों के ही सदृश है, और यह बात भारतीय शासन के ऐतिहासिक विकास का ही परिणाम है ।

(२) संघ-सरकार और विविध राज्यों की सरकारों में विषयों का जो विभाजन नये संविधान में किया गया है, वह बहुत कुछ १९३५ के एक्ट के अनुसार है ।

(३) भारत का नया संविधान मन्त्रिमण्डल में अधीन व संसदात्मक प्रणाली (Cabinet system or Parliamentary system) के अनुसार बनाया गया है। उसमें

कार्यकारिणी विभाग व्यवस्थापन विभाग के प्रति उत्तरदायी है, और मन्त्रिपरिषदें तभी तक अपने पद पर रह सकती हैं, जब तक पार्लियामेन्ट व विधानसभाओं के बहुमत का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे। इस ढंग के संविधान जिन अन्य देशों में हैं, वहां राष्ट्रपति की स्थिति नाम-मात्र की ही होती है। पर भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। संविधान में भारत के राष्ट्रपति को अनेक एसे अधिकार व शक्तियां दी गई हैं, जो साधारणतया पार्लियामैन्टरी शासन वाले देशों में राष्ट्रपति को नहीं दी जातीं। इसमें भी १९३५ के एक्ट का प्रभाव है। उस एक्ट में गवर्नर-जनरल व प्रान्तीय गवर्नरों को जो अनेक विशेषाधिकार दिये गये थे, कुछ उसी ढंग के अधिकार भारत के राष्ट्रपति व विविध राज्यों के गवर्नरों को प्रदान किये गये हैं।

(४) सिविल सर्विस के सम्बन्ध में जो व्यवस्थाएं नये संविधान में की गई हैं, उनपर तो ब्रिटिश सरकार के ढांचे का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है।

(५) भारतीय संघ में जो विविध राज्य सम्मिलित किये गये, शुरू में उन्हें चार भागों में बांटा गया था। प्रथम वर्ग के राज्यों को शासन के सम्बन्ध में जो अधिकार दिये गये थे, वे अन्य वर्गों के राज्यों को प्राप्त नहीं थे। राज्यों को इन चार वर्गों में विभक्त करने का आधार केवल ऐतिहासिक था। युक्तियुक्तता की दृष्टि से इस विभाग को उचित नहीं माना जा सकता था। इसीलिये १९५६ में राज्यों का पुनःसंगठन करने पर इस विभाग का अन्त कर दिया गया।

संविधान सभा का कार्य

संविधान सभा का निर्माण किस प्रकार हुआ, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इससे पूर्व कि स्वतन्त्र भारत के संविधान पर विशद रूप से विचार किया जाए, संक्षेप में यह बताना भी उपयोगी होगा कि संविधान सभा ने अपना कार्य किस ढंग से किया था। इस सभा की प्रथम बैठक ९ दिसम्बर, १९४६ को हुई थी। तब तक सभा के अध्यक्ष का चुनाव नहीं हुआ था, अतः डा: सच्चिदानन्द सिन्हा को अस्थायी सभापति चुन लिया गया। ११ दिसम्बर के अधिवेशन में डा० राजेन्द्रप्रसाद संविधान सभा के स्थायी सभापति निर्वाचित हुए, और वे ही अन्त तक इस पद पर रहे। पं० जवाहर लाल नेहरू ने संविधान-सभा के सम्मुख एक प्रस्ताव रखा, जिसमें कि स्वतन्त्र भारत के संविधान के उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया था। ये उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(१) भारत एक पूर्णतया स्वतन्त्र और प्रभुत्त्व-सम्पन्न संघ-राज्य होगा।

(२) भारतीय संघ में जो राज्य व प्रदेश सम्मिलित होंगे, उनकी स्थिति स्वशासित व स्वतन्त्र (Autonomous) इकाइयों की होगी। शासन-सम्बन्धी जो अधिकार संघ सरकार को नहीं दिये जाएंगे, वे इन स्वशासित इकाइयों (Units) के हाथों में रहेंगे।

(३) भारतीय संघ और उसके अन्तर्गत राज्यों में समस्त राजशक्ति का मूलस्त्रोत जनता होगी।

(४) भारत के नागरिकों को अनेकविध मूलभूत अधिकार प्राप्त रहेंगे,

जैसे समता का अधिकार, विचारों को प्रकट करने का अधिकार आदि।

(५) अल्पसंख्यक जातियों (Minorities), पिछड़ी हुई जातियों व कबायली क्षेत्रों के निवासियों के संरक्षण व उन्नति के लिये समुचित व्यवस्था की जायगी।

यह प्रस्ताव २२ जनवरी, १९४७ को संविधान सभा ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया था। बाद में संविधान बनाते हुए इसे सदा दृष्टि में रखा गया। केवल इस विषय में कि अवशिष्ट शक्तियां (Residuary Powers) संघ सरकार के पास रहें या राज्यों की सरकारों के पास, संविधान सभा ने इस प्रस्ताव के विपरीत निर्णय किया। यह परिवर्तन शायद इसलिये उपयोगी समझा गया, क्योंकि देश के विभाजन के कारण जो परिस्थितियां उत्पन्न हो गई थीं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए संघ सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाना आवश्यक था।

संविधान सभा ने अपने कार्य को सुचारु रूप सम्पादित से करने के लिये अनेक समितियों का निर्माण किया। इनमें निम्नलिखित समितियाँ मुख्य थीं—

(१) संघ संविधान समिति (Union Constitution Committee)
(२) प्रान्तीय संविधान समिति (Provincial Constitution Committee)
(३) संघ शक्ति समिति (Union Powers Committee)
(४) अल्पसंख्यक जातियों के सम्बन्ध में परामर्शदात्री समिति (Adrisory Committee or Minorities)।

संविधान का मसविदा तैयार करने के लिये जो समिति संविधान सभा ने बनाई, उसके अध्यक्ष डा० अम्बेदकर थे। इस समिति ने जो मसविदा तैयार किया, उसे ५ नवम्बर, १९४८ को संविधोन सभा के सम्मुख पेश किया गया। एक साल तक संविधान-सभा इस पर विचार करती रही, और अन्त में २६ नवम्बर, १९४९ को उसे अन्तिम रूप में स्वीकृत यर लिया गया।

संविधान के निर्माण को कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ

स्वतन्त्र भारत के लिये संविधान बनाने का कार्य जिन लोगों के सुपुर्द था, उनके सम्मुख कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याएं थीं—

(१) **भारत की एकता की स्थापना**—भारत एक विशाल देश है। पाकिस्तान के पृथक् हो जाने पर भी भारत की जनसंख्या ३६ करोड़ के लगभग है। इस विशाल देश के निवासी अनेक भाषाएं बोलते हैं, अनेक धर्मों का अनुसरण करते हैं, और अनेक जातियों के हैं। बहुत से लोग यहां ऐसे भी हैं, जिन्हें 'अछूत' समझा जाता है। यह सच है कि भारत में एक आधारभूत एकता की सत्ता है; पर साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस देश के निवासियों में बहुत-सी विभिन्नताएं भी हैं। भारत के लिये ऐसा संविधान ही उपयोगी हो सकता है, जो जहां एक ओर राष्ट्रीय एकता का प्रतिपादक हो, वहां साथ ही जिसमें विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले लोगों की अपनी भाषा, संस्कृति व साहित्य की रक्षा की भी गुंजाइश हो। धर्म, भाषा आदि के कारण भारतीयों में जो अनेक विभिन्नताएं हैं, इन के आधार पर जो अनेक अल्पसंख्यक वर्ग यहां

बन गये हैं, उनके हितों की रक्षा करना भी बहुत आवश्यक है।

(२) **रियासतों की समस्या**—अंग्रेजों के शासन के समय भारत में बहुत-सी ऐसी रियासतें थीं, जिनमें वंशक्रम से आए हुए राजाओं का शासन था। ये राजा ब्रिटिश सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। जब अंग्रेजों ने भारत को छोड़ने का निश्चय कर लिया, तो इन रियासती राजाओं पर से भी ब्रिटिश सम्राट् के आधिपत्य का अन्त हो गया। अब इन रियासती राजाओं की स्थिति स्वतन्त्र व प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) राजाओं के सदृश हो गई। इन राजाओं को यह अधिकार था, कि वे चाहें पूर्णतया स्वतन्त्र रहें, चाहें भारतीय संघ में शामिल हों और चाहे पाकिस्तान के अन्तर्गत होकर रहें। रियासती राजाओं का यह अधिकार भारत की राष्ट्रीय एकता के लिये बहुत भयंकर था, विशेषतया उस दशा में जब कि इन रियासतों की संख्या ५५० से भी ऊपर थी, और उनमें से दो सौ से ऊपर रियासतें तो ऐसी थीं, जिनका क्षेत्रफल १० वर्गमील से भी कम था। इस दशा में संविधान के निर्माताओं को इस बात का भी ध्यान रखना था, कि ये रियासतें स्वतन्त्र न रहकर भारतीय संघ में शामिल हो जाएं, स्वेच्छापूर्वक अपने स्वतन्त्रता के अधिकार का परित्याग कर दें, भारत की अंग बनकर रहें, और भारत के संविधान के निर्माण में हाथ भी बटाएं। संविधान सभा में इन रियासतों के लिये स्थान भी सुरक्षित रखे गये थे। पर इनके प्रतिनिधि किस प्रकार नियुक्त होंगे, यह बात स्पष्ट नहीं की गई थी। संविधान सभा के नेताओं ने रियासतों को भारत का अंग बनकर रहने के लिये प्रेरत करने में बहुत योग्यता प्रदर्शित की। इस सम्बन्ध में सरदार वल्लभ भाई पटेल का कार्य बहुत महत्त्व का था। उनकी प्रेरणा से रियासतों के राजा न केवल भारतीय संघ में सम्मिलित होने को उद्यत हुए, अपितु उनके प्रतिनिधि भी संविधान सभा में सम्मिलित हुए। स्वतन्त्र भारत के संविधान द्वारा रियासतों की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हो गया है, और वे भारतीय संघ का अंग बन गई हैं।

(३) **साम्प्रदायिक समस्या**—भारत का विभाजन साम्प्रदायिक समस्या के कारण ही हुआ था। पर पाकिस्तान के निर्माण के कारण इस समस्या का अन्त नहीं हो गया, क्योंकि अब भी भारत में चार करोड़ के लगभग मुसलमानों का निवास है, और ईसाई, सिक्ख, पारसी आदि अन्य धर्मों के अनुयायी भी इस देश में अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। संविधान के निर्माताओं को इस बात को भी दृष्टि में रखना था, कि भविष्य में फिर कभी साम्प्रदायिक विद्वेष उत्पन्न न होने पाए। इसलिये उन्होंने साम्प्रदायिक व जातिगत पृथक् चुनाव का अन्त कर संयुक्त चुनाव की पद्धति को अपनाया, और भारत को एक धर्मनिरपेक्ष (Secular) राज्य बनाने का निश्चय किया। साथ ही, उन्होंने अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करने के लिये अनेक व्यवस्थाएं भी कीं।

(४) **अछूत व पिछड़ी हुई जातियों की समस्या**—भारत में कई करोड़ ऐसे लोग हैं, जिन्हें 'अछूत' माना जाता रहा है। उनके अतिरिक्त बहुत-सी जातियां ऐसी भी हैं, हैं, जो बहुत पिछड़ी हुई हैं। शिक्षा, आमदनी व सामाजिक स्थिति आदि सभी दृष्टियों से ये अछूत व पिछड़ी हुई जातियां अन्य भारतीयों के मुकाबिले में अत्यन्त हीन स्थिति रखती

हैं। संविधान के निर्माताओं को यह भी दृष्टि में रखना था कि वे ऐसे उपायों की व्यवस्था करें, जिनसे इन जातियों को अपनी उन्नति करने का विशेष रूप से अवसर मिले, और शीघ्र उनकी स्थिति अन्य भारतीयों के समकक्ष हो जाए।

इसमें सन्देह नहीं कि संविधान सभा ने स्वतन्त्र भारत का जो नया संविधान बनाया है, उसमें इन सब समस्याओं को सुचारु रूप से हल किया गया है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) भारत में अंग्रेजों का शासन किस प्रकार स्थापित हुआ? किस प्रकार भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटेन के सम्राट के हाथों में आया?

(२) १८५८ ई० से १९१९ ई० तक भारत की शासनव्यवस्था में किस प्रकार क्रमिक विकास हुआ, और किस प्रकार धीरे-धीरे भारतीयों ने भी शासन में हाथ बटाना शुरू किया?

(३) उन्नीसवीं सदी में स्वतन्त्रता के लिए भारत में कौन-कौन से प्रयत्न हुए?

(४) १९१९ ई० में हुए मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

(५) १९३५ ई० के गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट द्वारा भारत की शासन व्यवस्था में में कौन से महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए? इस एक्ट के अनुसार भारत के शासन का क्या स्वरूप हो गया?

(६) द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के काल में भारत की स्वाधीनता की आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा कौन-कौन सी मुख्य योजनाएँ प्रस्तुत की गईं?

(७) कैबिनेट मिशन की मुख्य सिफारिशें क्या थीं? कैबिनेट मिशन की योजना क्यों कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकी?

(८) स्वतन्त्र भारत के संविधान का निर्माण करने के लिए संविधान सभा का संगठन किस प्रकार हुआ? संविधान सभा के कार्य पर भी प्रकाश डालिए।

(९) स्वतन्त्र भारत के संविधान के ऐतिहासिक आधारों का उल्लेख कीजिए, और यह बताइए कि इस संविधान में कौन-कौन सी बातें ब्रिटिश शासन के सरकारी ढांचे से ली गई हैं?

(१०) निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए :—

साम्प्रदायिक निर्णय (कम्युनल अवार्ड), पूना पैक्ट, क्रिप्स योजना, भारत का विभाजन, गोलमेज कान्फरेन्स, महारानी विक्टोरिया की घोषणा।

दूसरा अध्याय

भारत के संविधान की विशेषताएँ

(Salient Features of Indian Constitution)

स्वतन्त्र भारत के संविधान की अनेक ऐसी विशेषताएं हैं, जिन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) व्यापक लेख्य (A Comprehensive Document)—

भारत का संविधान एक अत्यन्त विशाल व व्यापक लेख्य है। इसमें ३९५ धाराएं (Articles) और ९ अनुसूचियां (Schedules) हैं। यदि संसार के अन्य संविधानों से इसकी तुलना की जाए, तो ज्ञात होगा कि भारत का संविधान उनके मुकाबिले में बहुत बड़ा व व्यापक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधानमें केवल ७ धाराएं हैं, और अन्य प्रमुख राज्यों के संविधानों में धाराओं की संख्या इस प्रकार हैं—कनाडा १४७, आस्ट्रेलिया १२८, दक्षिणी अफ्रीका १५३ और चीन १०६।

भारत के संविधान की विशालता और व्यापकता के निम्नलिखित कारण हैं—

(क) इस संविधान में केवल संघ सरकार के विभिन्न अंगों—कार्यकारिणी, व्यवस्थापन और न्याय विभागों का ही प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपितु संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों के शासन का भी विशद रूप से उल्लेख किया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत जो विविध राज्य हैं, उनके अपने-अपने पृथक् संविधान हैं, और वे स्वयं ही उनमें परिवर्तन भी कर सकते हैं। पर भारत में न विविध राज्यों के अपने पृथक् संविधान हैं, और न उन्हें अपनी शासन-पद्धति में परिवर्तन कर सकने का ही अधिकार है। विविध राज्यों के शासन के ढंग का निश्चय भी भारत के संविधान द्वारा कर दिया गया है।

(ख) भारत के संविधान में नागरिकों के आधारभूत अधिकारों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। अन्य देशों के संविधानों में इन अधिकारों का इतने विशद रूप से प्रतिपादन नहीं हुआ है।

(ग) भारत के संविधान में उन सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया गया है, जिन्हें यहां की सरकार को अपनी शासन नीति का निर्धारण करते हुए सम्मुख रखना चाहिये। "सब नागरिकों को अधिकार है कि वे अपनी आजीविका कमाने के साधन प्राप्त कर सकें, आर्थिक उत्पादन के साधनों के स्वत्त्व पर इस ढंग से नियन्त्रण रखा जाए जिससे सार्वजनिक हित में बाधा न हो, प्रत्येक व्यक्ति को इतनी मजदूरी अवश्य मिले कि वह न केवल अपना भरण-पोषण भलीभांति कर सके, अपितु अपने रहन-सहन को समुचित स्तर पर रखते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी हाथ बटा सके—इस प्रकार के कितने ही

सिद्धान्त व आदर्श इस संविधान में प्रतिपादित किये गये हैं। संसार के अन्य देशों के संविधानों में इस प्रकार के आदर्शों व नीति का इस ढंग से प्रतिपादन किया नहीं गया है।

(घ) अछूत समझे जाने वाली, पिछड़ी हुई व कबायली जातियों के हित साधन के लिये व उन्हें उन्नत करने के लिये अनेक व्यवस्थाओं का समावेश इस संविधान में किया गया है।

(ङ) भारत के संविधान में अनेक ऐसी बातों का भी समावेश किया गया है, जिन का सम्बन्ध प्रशासन (Administration) से है। ये बातें संविधान के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं रखतीं।

(च) संकटकाल (Emergency) की दशा में सरकार क्या व्यवस्थाएं कर सकती है, इसका उल्लेख भी भारत के संविधान में है। अन्य देशों के संविधानों में इन व्यवस्थाओं का इतने विशद रूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है। विदेशी आक्रमण, युद्ध, किसी राज्य में संविधान के अनुसार शासन का न चल सकना, आर्थिक संकट आदि की दशा में शासन की जो विशेष व्यवस्थाएं की जाएं, उन सब का भारत के संविधान में विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है।

(२) **सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-संपन्न गणराज्य** (Sovereign Democratic Republic)--

भारत के संविधान के अनुसार भारत एक सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य है, जिसमें सम्पूर्ण राज्य शक्ति का मूलस्रोत जनता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि भारत अब भी ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (British Commonwealth) का सदस्य है, पर इससे उसकी प्रभुता (Soversignty) में बाधा नहीं पड़ती। इसका कारण यह है, कि भारत ने स्वेच्छापूर्वक ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य होना स्वीकार किया और उसे इससे पृथक् हो जाने का भी अधिकार प्राप्त है। भारत विदेशी और आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र है, और वह जिस नीति का चाहे अनुसरण कर सकता है। यह जरूरी नहीं कि ब्रिटेन और भारत की विदेशी नीति एक ही हो। ब्रिटेन उसे कोई आदेश नहीं दे सकता, और न अपनी इच्छा को मानने के लिये विवश ही कर सकता है। भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के राजा (Crown) का प्रतिनिधि नहीं है, जैसा कि पहले अंग्रेजी शासन के समय में वायसराय हुआ करता था। भारत का राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित होता है, ब्रिटेन के राजा द्वारा न उसकी नियुक्ति की जाती है, और न उसकी स्वीकृति ही ली जाती है।

प्रभुता की दृष्टि से भारत की स्थिति फ्रांस, रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, स्पेन, इटली आदि अन्य सम्पूर्ण प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्यों के ही समान है। भारत के संविधान का निर्माण लोकतन्त्रवाद (Democracy) के अनुसार किया गया है। शासन की अन्तिम सत्ता व शक्ति जनता के हाथों में रखी गई है, और भारतीय जनता अपने देश के संविधान में परिवर्तन भी कर सकती है।

भारत एक गणराज्य (Republic) है, क्योंकि यहां किसी वंशक्रम से आये हुए राजा का शासन नहीं है। यहां के शासन का प्रधान राष्ट्रपति है, जिसकी नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाती है।

इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर भारत को 'सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य' कहा जाता है।

(३) संवर्गात्मक या संघात्मक शासन (Federal Government)—

भारत के संविधान को संवर्गात्मक (Federal) बनाया गया है, जिसमें अनेक राज्य अन्तर्गत हैं। इसीलिये उसे संघ (Union) कहा गया है, और उसके संविधान की पहली धारा इस ढंग से शुरू की गई है—"भारत अर्थात् इण्डिया राज्यों का एक संघ होगा।" पर भारत का यह संघ-राज्य अन्य संघों व संवर्गों से अनेक प्रकार से भिन्न है। ये विभिन्नताएं निम्नलिखित हैं—

(१) भारत की केन्द्रीय सरकार बहुत अधिक शक्तिशाली है। अवशिष्ट अधिकार व शक्ति (Residuary power) संघ सरकार को दी गई है, राज्यों की सरकारों को नहीं।

(२) भारत के संघ-राज्य के अन्तर्गत विविध राज्यों का न कोई पृथक् संविधान है, और न उन्हें अपनी शासन-व्यवस्था में कोई परिवर्तन कर सकने का ही अधिकार है।

(३) संविधान के अनुसार समस्त भारत के लिये एक ही नागरिकता (Citizenship) की व्यवस्था की गई है। सब भारतीय एक ही देश के नागरिक हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के समान भारत की नागरिकता द्वैध नहीं है। यहां ऐसा नहीं है कि कोई व्यक्ति एक नागरिकता तो भारतीय संघ से प्राप्त करता हो. और दूसरी नागरिकता उस राज्य (बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि) से जहां का वह निवासी है।

(४) संकट काल के लिये भारत के राष्ट्रपति को ऐसे असाधारण अधिकार दिये गये हैं, जिनसे वह किसी राज्य के शासन को सीधा अपने हाथों में ले सकता है, और वहां संविधान की साधारण व्यवस्थाओं को स्थगित कर स्वयं उसके शासन की व्यवस्था कर सकता है। ऐसी दशा में भारत का शासन संघात्मक न रहकर बहुत कुछ एकात्मक (Unitary) बन जाता है।

पर इन विभिन्नताओं के बावजूद भारत का शासन संघात्मक (Federal) ही है। संवर्ग शासन की निम्नलिखित विशेषताएँ भारत में विद्यमान हैं—

(क) संघ सरकार के विषय कौन से हों, और विविध राज्यों के कौन से, इसका स्पष्ट रूप से प्रतिपादन भारत के संविधान में किया गया है।

(ख) भारत में एक ऐसे उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) की सत्ता है, जिसे उन विवादों के निर्णय का अधिकार दिया गया है, जो संघ और किसी राज्य के बीच में उत्पन्न हों, या जो दो या अधिक राज्यों के बीच में उत्पन्न हों।

(ग) संघ द्वारा भारत की राष्ट्रीय एकता की और विविध राज्यों द्वारा उसकी विभिन्नताओं की अभिव्यक्ति होती है। संविधान में इस बात की गुंजाइश रखी गई है

कि विविध राज्यों का पुनःनिर्माण भाषा, संस्कृति आदि के आधार पर किया जा सके, और ये राज्य अपने निवासियों की विशेषताओं का भलीभांति विकास कर सकें।

(४) **सांसद पद्धति** (Parliamentary system)—

यद्यपि भारत सरकार का प्रधान एक राष्ट्रपति है, और सब राजकीय आदेश उसीके नाम पर जारी किये जाते हैं, पर संविधान के अनुसार भारत का शासन 'मन्त्रिमण्डल के अधीन' व 'संसदात्मक' (Parliamentary) है। इस पद्धति में (क) राज्य के प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) की स्थिति नाममात्र की होती है, और (ख) शासन की वास्तविक शक्ति एक मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहती है, जो उस समय तक अपने पद पर रहता है, जब तक कि संसद (पार्लियामैन्ट) के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। यह मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी होता है, और मन्त्रियों की नियुक्ति संसद के सदस्यों में से ही की जाती है।

भारत के संविधान में इसी सांसद पद्धति को अपनाया गया है। यद्यपि राष्ट्रपति को अनेक विशेष अधिकार दिये गये हैं, पर इनके कारण भारत के शासन को 'राष्ट्रपति के अधीन' (Presidential) नहीं कहा जा सकता। भारत देर तक अंग्रेजों के अधीन रहा, इङ्गलैण्ड में शासन की सांसद पद्धति ही विद्यमान है, अतः जब भारत में लोकतन्त्र संस्थाओं का विकास होना शुरू हुआ, तो यहां भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया। १९३५ के गवर्नमैन्ट आफ इण्डिया एक्ट में प्रान्तों के शासन में यह पद्धति प्रयोग में भी आई थी। इस कारण जनता को इसका अनुभव भी था, और स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाते हुए इसी को अपनाया गया।

(५) **लिखित संविधान** (Written Constitution)—

भारत का संविधान लिखित (Written) और निर्मित (Enacted) है। जो संविधान पूर्णतया व अधिकांश रूप से लेखबद्ध हों, उन्हें 'लिखित' कहते हैं। इनका निर्माण प्रायः किसी संविधान सभा द्वारा किया जाता है। जिन संविधानों का निर्माण किसी खास समय में किया गया हो, जो धीरे-धीरे विकास के परिणाम न होकर किसी एक समय में बनाये गये हों, उन्हें 'निर्मित' कहते हैं। इस अंश में भारत का संविधान इङ्गलैण्ड के संविधान से बिलकुल भिन्न है। इङ्गलैण्ड का संविधान न लिखित है, और न उसका निर्माण किसी संविधान सभा द्वारा किया गया है। उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है, और उसकी बहुत-सी बातें अभी तक लेखबद्ध नहीं हुई हैं।

(६) **संविधान में परिवर्तन की सरलता**—

जिस प्रकार संविधानों का वर्गीकरण 'लिखित' और 'अलिखित' रूप से किया जाता है, वैसे ही कुछ संविधान सुपरिवर्तनीय या लचकीले (Flexible) होते हैं, और कुछ दुष्परिवर्तनीय (Rigid)। जिन राज्यों में संवैधानिक (Constitutional) और साधारण कानूनों में भेद नहीं किया जाता, जिनमें संवैधानिक कानून में परिवर्तन भी उसी प्रकार से किया जा सकता है, जैसे कि साधारण कानून में, उनके संविधान को 'सुपरिवर्तनीय' कहते हैं। इङ्गलैण्ड का संविधान इसी ढंग का है। वहां जो पार्लियामैन्ट साधारण कानून बनाती है, या साधारण कानूनों में परिवर्तन करती है, वही संवैधानिक

कानूनों में भी परिवर्तन कर सकती है।

जिन राज्यों में संवैधानिक और साधारण कानूनों में मौलिक भेद समझा जाता हो, जिनमें साधारण विधान सभा या पार्लियामैन्ट संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार न रखती हो, जिनमें संविधान में परिवर्तन व संशोधन करने के लिये पार्लियामैन्ट की अपेक्षा उच्चतर संस्था की आवश्यकता हो, उनके संविधान को दुष्परिवर्तनीय (Rigid) कहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान दुष्परिवर्तनीय है। वहां कांग्रेस (विधान-सभा) को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान में परिवर्तन कर सके या कोई ऐसा कानून बना सके, जो संविधान के अनुकूल न हो। अमेरिका के संविधान में परिवर्तन करने के लिये एक विभिन्न प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है, जो बहुत जटिल है।

भारत का संविधान न सुपरिवर्तनीय है, और न अत्यन्त दुष्परिवर्तनीय। यहां संविधान में परिवर्तन करने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि परिवर्तन-सम्बन्धी प्रस्ताव संसद् (पार्लियामैन्ट) के दोनों सदनों में पृथक्-पृथक् स्वीकृत हो, और प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य-संख्या का बहुमत व उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों का दो तिहाई भाग उसके पक्ष में मत दे। इस प्रकार भारत में संविधान में परिवर्तन करने और साधारण कानून में परिवर्तन करने की प्रक्रिया में केवल इतना अन्तर रह जाता है कि जहां साधारण कानूनों के लिये उपस्थित सदस्यों का बहुमत प्राप्त हो जाना पर्याप्त होता है, वहां संविधान सम्बन्धी परिवर्तन के लिये उपस्थित सदस्यों में से दो तिहाई का उसके पक्ष में मत देना व समस्त सदस्य संख्या के आधे से अधिक का उसके पक्ष में होना आवश्यक है। यदि संविधान की उन धाराओं में, जो संघ तथा राज्यों के बीच में अधिकारों के विभाजन के साथ सम्बन्ध रखती हैं, कोई परिवर्तन करना हो तो उसके लिये यह भी आवश्यक है कि आधे से अधिक राज्यों की विधानसभाओं ने भी उस परिवर्तन के पक्ष में अपना मत प्रगट किया हो।

पर भारत में संविधान में परिवर्तन करने की प्रक्रिया ऐसी कठिन नहीं है कि उसे दुष्परिवर्तनीय कहा जाए। उसमें परिवर्तन सुगमता से किया जा सकता है। आजकल के जमाने में मानव समाज बड़ी तेजी के साथ उन्नति कर रहा है। समाज संगठन व आर्थिक व्यवस्था के विषय में जनता के विचारों में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। अतः संविधान को दुष्परिवर्तनीय बनाना वर्तमान परिस्थितियों में उचित नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से भारत के संविधान का सुगमता से परिवर्तित किया जा सकना अच्छा ही है।

(७) धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State)—

संविधान के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। इसका अभिप्राय यह है, कि भारत में न किसी धर्म को राजकीय धर्म माना जाता है, और न किसी धर्म के प्रति पक्षपात ही किया जाता है। धर्म और राज्य का क्षेत्र अलग-अलग है, और राज्य को इस बात से कोई मतलब नहीं कि उसके निवासी किस धर्म का अनुसरण करते हैं। धर्म प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत मामला है। प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह जिस धर्म को चाहे माने। राज्य की दृष्टि में सब धर्म एक समान स्थिति रखते हैं। राज्य की ओर से किसी धर्म को विशेष सुविधाएं नहीं दी जा सकतीं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी स्वतन्त्रता के

साथ अपने धर्म का प्रचार भी कर सकते हैं। इसीलिये सरकारी शिक्षणालयों में किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती।

भारत में इसी नीति को अपनाया गया है। धर्मनिरपेक्षता (Secularism) का विचार बहुत नया है। अब से कुछ समय पूर्व तक यूरोप के प्रायः सभी देशों का एक न एक राजकीय धर्म हुआ करता था। इङ्गलैण्ड में रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायी राजकीय पद भी प्राप्त नहीं कर सकते थे। अब भी इङ्गलैण्ड के राजा को 'एंग्लिकन चर्च का संरक्षक' माना जाता है। पाकिस्तान ने अब तक भी धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। वहां के लोग 'इस्लाम के आदर्शों के अनुसार लोकतन्त्र शासन' स्थापित करने के प्रयत्न में लगे हैं। पर धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार कर भारत ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात की है। भारत में अनेक धर्मों की सत्ता है। यद्यपि इस देश के बहुसंख्यक निवासी हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं, पर मुसलमानों, ईसाईयों और सिक्खों की संख्या भी इस देश में कम नहीं है। धार्मिक विद्वेष के कारण ही भारत का विभाजन हुआ, और यदि भविष्य में भी यहां साम्प्रदायिक विरोध भाव कायम रहा, तो यह देश कभी उन्नति नहीं कर सकेगा। अतः धर्म के मामले में तटस्थ रहने और धार्मिक सहिष्णुता की वृद्धि से ही देश का कल्याण है।

पर धर्मनिरपेक्षता का मतलब यह नहीं है, कि भारत की सरकार जनता को नास्तिक या धर्म का विरोधी बनाना चाहती है। धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय केवल यह है, कि राज्य व सरकार धर्म के मामले में तटस्थ रहेंगे और किसी धर्म के साथ पक्षपात नहीं करेंगे। पर भारत में सब लोग अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म का अनुसरण कर सकते हैं, और अपने धर्म का प्रचार भी कर सकते हैं। लोगों को यह भी अधिकार है कि वे अपनी शिक्षा संस्थाएं खोल कर उनमें धर्म शिक्षा भी दे सकें। पर यदि आर्य समाज ने कोई शिक्षणालय खोला हुआ हो, तो उसमें पढ़ने वाले मुसलमान या ईसाई विद्यार्थियों को आर्य-धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिये विवश नहीं किया जा सकता। धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता को सरकार शान्ति और सुरक्षा (Law and order) की दृष्टि से नियन्त्रित भी कर सकती है। यदि किसी प्रचारक के धर्म प्रचार का ढंग ऐसा हो, जिससे देश में अशान्ति व अव्यवस्था फैलने का भय हो, तो सरकार ऐसे प्रचार को रोक सकती है।

(८) जनता के मूलभूत अधिकारों (Fundamental Rights) का प्रतिपादन—

भारत के संविधान में नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से भारत का संविधान बहुत ही पूर्ण है। भाषण, लेख आदि द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने की सबको स्वतन्त्रता रहेगी, धर्म व पूजा के मामले में सब लोग स्वतन्त्र होंगे, कानून की दृष्टि में सब नारिगक एक समान होंगे, धर्म, वंश, जाति, लिंग आदि के कारण किसी के साथ कोई भिन्न बरताव नहीं किया जायगा —आदि कितने ही मूलभूत अधिकार भारत के संविधान में प्रतिपादित किये गये हैं। इन सब पर हम अगले अध्याय में विस्तार के साथ प्रकाश डालेंगे। पर यहां यह भलीभांति समझ लेना चाहिये कि भारत के संविधान में इन अधिकारों का जितने विस्तार के साथ

उल्लेख है, उतना शायद ही किसी अन्य देश के संविधान में हो ।

(९) **शासन विषयक नीति के निर्देशक सिद्धान्त** (Directive Principles of State Policy)—

भारत के संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है, कि उसमें उन सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन कर दिया गया है, जिन्हें सरकार को अपनी शासन नीति का निर्धारण करते हुए सम्मुख रखना चाहिये । इस प्रकार के सिद्धान्त प्रायः अन्य संविधानों में नहीं पाये जाते । इनमें से कतिपय सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) आर्थिक संगठन इस प्रकार का न हो कि उसके कारण आर्थिक उत्पादन के साधन कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में संचित हो जाएं, और ऐसा होने से सार्वजनिक हित में बाधा पड़े ।

(ख) ग्राम पंचायतों का संगठन किया जाए, ताकि उनसे जनता को स्वशासन का अवसर मिले ।

(ग) प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह शिक्षा पा सके, काम प्राप्त कर सके और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी व अपाहिज होने की दशा में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सके । राज्य का कर्त्तव्य है कि अपनी आर्थिक दशा को दृष्टि में रखते हुए इन बातों की व्यवस्था करे ।

(घ) राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य ऐसी व्यवस्था करना है, जिससे लोगों को पुष्टिकर भोजन मिले और जनता का रहन-सहन अधिक ऊंचा उठ सके ।

इस ढंग के अन्य भी कितने ही सिद्धान्त भारत के संविधान में प्रतिपादित हैं । आजकल संसार में दो विचारधाराओं में जबर्दस्त संघर्ष चल रहा है । रूस, चीन आदि समाजवादी देश व्यवस्था के पक्षपाती हैं,और संयुक्त राज्य अमेरिका आदि समाजवाद के कट्टर विरोधी हैं । भारत में भी दोनों प्रकार के विचार विद्यमान हैं । अतः संविधान में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है कि आर्थिक संगठन व जनता के हित के लिये सरकार किस नीति का अनुसरण करे । यह नीति न पूर्णतया समाजवादी है, और न पूरी तरह से व्यक्तिवादी । यह मध्यमार्गी नीति है, जिसका उद्देश्य लोकहितकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना करना है ।

(१०) **अल्पसंख्यक जातियों के हित की रक्षा** (Protection of Minorities)—

भारत के संविधान की एक विशेषता यह है कि उसमें अछूत समझे जाने वाली, पिछड़ी हुई और कबायली जातियों के हितों की रक्षा के लिये विशेष रूप से व्यवस्था की गई है । अछूत समझे जाने वाले लोग शिक्षा, सम्पत्ति आदि में बहुत हीन हैं । यही बात उन पिछड़ी हुई जातियों के विषय में हैं, जिनको अनुसूचित जन-जातियां (Scheduled Tribes) कहा जाता है । इन लोगों के लिये यह सुगम नहीं है कि ये विधान-सभाओं में निर्वाचित हो सकें । अतः यह व्यवस्था की गई है कि विधान सभाओं में इनके लिये स्थान सुरक्षित (Reserved) रखे जाएं, यद्यपि इनका चुनाव संयुक्त (Joint) निर्वाचन प्रणाली द्वारा किया जायगा । इसी प्रकार सरकारी नौकरी प्राप्त

करने के लिये भी इन लोगों को कतिपय विशेष सुविधाएं दी गई हैं। इनमें शिक्षा का प्रसार करने और इनकी आर्थिक दशा को उन्नत करने के लिये भी संविधान में विशेष रूप से व्यवस्था की गई है। यद्यपि ऐंग्लो-इण्डियन लोग शिक्षा, सम्पत्ति आदि की दृष्टि से अन्य लोगों के मुकाबिले में हीन नहीं हैं, पर क्योंकि वे भारत में बहुत थोड़ी संख्या में हैं, अतः संविधान में उनके हितों की रक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। अल्पसंख्यक लोगों के हितों की रक्षा को भारत के संविधान में बहुत महत्त्व दिया गया है।

भारत में कतिपय ऐसे प्रदेश भी हैं, जहां जन-जातियों (कबीलों या Tribes) का निवास है। ये जातियां सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में बहुत पिछड़ी हुई हैं। इनकी कतिपय अपनी विशेषताएं भी हैं, और ये इन विशेषताओं को कायम भी रखना चाहती हैं। इस प्रकार की जनजातियां आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और मध्य भारत में अच्छी बड़ी संख्या में निवास करती हैं। इनकी भलाई के लिये यह व्यवस्था की गई है कि बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और मध्य भारत में एक ऐसे मन्त्री की नियुक्ति की जाए, जिसे इन जन-जातियों के हित व कल्याण का कार्य सुपुर्द हो। आसाम के जिन प्रदेशों में कबायली लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं, वहां स्वायत्त प्रादेशिक परिषदों के निर्माण की भी व्यवस्था की गई है, जिनके कारण ये लोग अपना शासन स्वयं कर सकेंगे।

(११) राज भाषा (Official Language)—

भारत में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। भारत जैसे विशाल देश के लिये यह स्वाभाविक भी है कि यहां अनेक भाषाओं की सत्ता हो। पर साथ ही यह भी आवश्यक है, कि इस देश में एक ऐसी राज्यसभा भी हो, जिसमें संघ सरकार अपना कार्य कर सके। अंग्रेजी शासन के समय में अंग्रेजी भारत की राजभाषा थी। पर कोई देश किसी विदेशी भाषा को अपने राजकीय कार्यों के लिये प्रयुक्त नहीं कर सकता। अतः नये संविधान में देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा को भारत की राजभाषा स्वीकार किया गया है। स्वतन्त्र भारत के संविधान की यह भी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। हिन्दी को राजभाषा स्वीकृत करने का परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे भारत में एक सर्व सामान्य (Common) राष्ट्रभाषा का विकास हो जायगा, और इससे भारत की राष्ट्रीय एकता के विकसित होने में बहुत सहायता मिलेगी।

पर साथ ही संविधान में यह भी स्वीकार किया गया है, कि हिन्दी भाषा तुरन्त अंग्रेजी का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। इसमें कुछ समय का लगना अनिवार्य है। अतः नये संविधान के लागू होने के पन्द्रह वर्ष बाद तक सरकारी कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग होता रह सकेगा। इस बीच में यह प्रयत्न जारी रहेगा कि नियत अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही राजकीय कार्यों में हिन्दी का प्रयोग निरन्तर बढ़ता जाए। पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लेने के कारण अन्य भारतीय भाषाओं को कोई हानि नहीं पहुँचेगी। संविधान की आठवीं अनुसूची (Schedule) में चौदह भाषाओं को गिनाया गया है, जो भारत में सरकारी कार्यों के लिये प्रयोग में लाई जा सकती है। भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्य इनमें से किसी एक भाषा को या एक से अधिक भाषा को प्रादेशिक भाषा के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं।

पर जहां तक संघ सरकार का प्रश्न है, उसके लिये हिन्दी को ही राजभाषा स्वीकार किया गया है।

(१२) न्याय विभाग की स्वतन्त्रता—

भारत के संविधान के अनुसार न्याय विभाग या न्यायपालिका (Judiciary) बिलकुल स्वतन्त्र है। वह न शासन विभाग के अधीन है और न व्यवस्थापन विभाग के। लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये न्याय विभाग का स्वतन्त्र होना बहुत उपयोगी होता है। यदि विधान सभा कोई ऐसा कानून बनाए, जो संविधान में स्वीकृत किये गये नागरिकों के मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध हो, तो न्यायालय में उसके खिलाफ अपील की जा सकती है, और यदि सर्वोच्च न्यायालय के मत में वह कानून संविधान के विरुद्ध हो, तो उसे प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। इसी प्रकार यदि सरकारी कर्मचारी किसी व्यक्ति को गिरफ्तार कर लें और उसपर मुकदमा चलाये बिना व न्यायालय से दण्डित हुए बिना उसे जेल में रखें, तो उसे व उसकी तरफ से किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह न्यायालय में, बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) का प्रार्थनापत्र पेश कर सके। इस प्रार्थनापत्र के पेश होने पर गिरफ्तार व्यक्ति को न्यायालय के सम्मुख पेश करना पड़ता है, और कानून के अनुसार मुकदमा चलाये बिना उसे बन्दी नहीं रखा जा सकता।

इस प्रकार न्यायालय जहां व्यक्तियों की सरकारी कर्मचारियों की ज्यादतियों से रक्षा करते हैं, वहां वे संविधान के संरक्षक (Guardian of the Constitution) का भी कार्य करते हैं। वे व्यवस्थापन और शासन विभागों को उच्छृंखल नहीं होने देते। पर न्यायालय अपने इन कर्त्तव्यों का पालन तभी कर सकते हैं, जब कि वे स्वतन्त्र हों। भारत के संविधान में न्यायालयों की स्वतन्त्रता की व्यवस्था सुचारु रूप से की गई है, और यह भी इस संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

(१३) अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और विश्वशान्ति का समर्थन—

भारत की विदेशी नीति क्या रहेगी, इस बात को भी संविधान द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। संविधान की इक्यावनवीं धारा में कहा गया है कि राज्य का यह यत्न होगा कि वह विश्व शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा (Security) का समर्थन करे और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का पंच-निर्णय (Arbitration) द्वारा फैसला करने की पद्धति को प्रोत्साहन दे। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में भी भारत की नीति का प्रतिपादन कर देना इस संविधान की विशेषता है।

(१४) सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र का प्रतिपादन—

राजनीतिक क्षेत्र में लोकतन्त्रवाद का सिद्धान्त आजकल सर्वमान्य है। सब विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि देश में किसी एक राजा या एक वर्ग का शासन न होकर सर्वसाधारण जनता का शासन होना चाहिये। कानून की दृष्टि में सब नागरिक एक बराबर होने चाहियें, और किसी को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये जाने चाहियें। पर वर्तमान समय के विचारक केवल राजनीतिक लोकतन्त्रवाद को पर्याप्त नहीं समझते। उनके मत में आर्थिक व सामाजिक लोकतन्त्रवाद के अभाव में कोरा राजनीतिक लोकतन्त्र शासन निरर्थक है। गरीब लोगों का पेट वोट के अधिकार से नहीं भर सकता। कानून

की दृष्टि में सब के एक समान होने से जनता में वास्तविक समानता स्थापित नहीं हो जाती। अतः लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये यह भी जरूरी है कि सामाजिक क्षेत्र में सब लोग एक समान स्थिति रखें, छूत-अछूत और ऊंच-नीच का भेद न रहे, और साथ ही अमीर गरीब के भेद का भी अन्त किया जाए और कोई किसी का शोषण न कर सके। जब तक किसान जमींदारों के और मजदूर पूंजीपतियों के वशवर्ती होकर रहेंगे, वोट के अधिकार द्वारा सर्वसाधारण जनता की समस्या हल नहीं हो सकेगी।

भारत के संविधान में इन्हीं विचारों को महत्त्व दिया गया है, और राजनीतिक लोकतन्त्रवाद के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्रवाद की स्थापना को भी आदर्श बनाया गया है। इसके लिये जो अनेक व्यवस्थाएं की गई हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(क) अछूत समझे जाने वाली और पिछड़ी हुई जातियों के साथ सामाजिक अन्याय नहीं होने दिया जायगा, और न कोई उनका शोषण कर सकेगा। संविधान के अनुसार न किसी को अछूत समझा जा सकता है, और न सामाजिक दृष्टि से किसी को मानव अधिकारों से वंचित रखा जा सकता है। सब लोग सार्वजनिक स्थानों (जलाशय, कुएं, पार्क आदि) का समान रूप से प्रयोग कर सकते हैं।

(ख) सब नागरिकों (स्त्रियों व पुरुषों) को आजीविका कमाने के अवसरों को प्राप्त करने का अधिकार है, और एक सदृश काम के लिये सब को (चाहे वह पुरुष हों या स्त्री) एक समान वेतन दिया जायगा।

(ग) देश के भौतिक साधनों (Material resources) का स्वत्त्व (Ownership) और नियन्त्रण इस ढंग से होगा, जिससे कि उनका उपयोग सार्वजनिक हित के लिये हो सके।

(घ) चौदह साल की आयु तक सब बालकों व बालिकाओं को निःशुल्क व अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जाए।

(ङ) आर्थिक संगठन इस प्रकार का हो, जिससे सम्पत्ति और आर्थिक उत्पादन के साधन कुछ थोड़े से लोगों के पास संचित न हो जाएं।

भारत के संविधान की ये ही मुख्य विशेषताएं हैं। इनके कारण हमारा संविधान बहुत ही पूर्ण बन गया है। अगले अध्यायों में संविधान का विशद रूप से विवेचन करते हुए हम इन विशेषताओं पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे। पर इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्र भारत का संविधान इस ढंग से बनाया गया है कि उसमें परिवर्तन किये बिना ही भारत की सरकार ऐसी नीति को अपना सकती है, जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार देश को उन्नति के मार्ग पर ले जा सके। आजकल भारत में कांग्रेस पार्टी का बहुमत है। सरकार भी उसी की है। कांग्रेस ने समाजवादी नमूने (Socialistic pattern) को अपना आदर्श बनाया है। संविधान को परिवर्तित किये बिना ही भारत शान्तिमय उपायों से समाजवादी व्यवस्था को कायम कर सकता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) आपकी सम्मति में भारत के नए संविधान की कौन सी मुख्य विशेषताएँ हैं ? (यू० पी० १९५२)

(२) 'भारत का संविधान संघात्मक भी है और एकात्मक भी' व्याख्या कीजिये। (यू० पी० १९५३)

(३) भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षणों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५४)

(४) भारतीय संविधान की कतिपय मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिये। (राजपूताना १९५४)

(५) भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है, स्पष्ट कीजिये। (अजमेर बोर्ड १९५२)

(६) धर्मनिरपेक्ष राज्य किसे कहते हैं ? हमारे संविधान द्वारा कहां तक ऐसे राज्य की स्थापना हुई है ? (यू० पी० १९५३)

(७) भारत के संविधान में किस प्रकार सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना का प्रयत्न किया गया है ?

तीसरा अध्याय

भारतीय संघ और उसके अन्तर्गत राज्य

वर्तमान समय में भारत के विविध राज्य

संविधान के अनुसार भारत "राज्यों का एक संघ" (Union of States) है। इस भारतीय संघ में जो राज्य (States) सम्मिलित हैं, उनकी कुल संख्या १४ है। इन १४ राज्यों के अतिरिक्त छः ऐसे क्षेत्र (Union Territories) भी भारत के संघराज्य के अन्तर्गत हैं, जिनका शासन संघ सरकार के अधीन है।

१९५६ ई० में भारत के संविधान में संशोधन करके राज्यों का पुनः संगठन किया गया था। उसके अनुसार जो राज्य व क्षेत्र इस समय भारतीय संघ के अन्तर्गत हैं, वे निम्नलिखित हैं—

	राज्य	राजधानी	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या
(१)	आन्ध्रप्रदेश	हैदराबाद	१,०५,९६२	३,१२,५९,८१५
(२)	आसाम	शिलाँग	८५,०१२	९०,४३,७०७
(३)	बिहार	पटना	६७,३००	३,८८,२७,५१७
(४)	बम्बई	बम्बई	१,९०,९१९	४,८२,६५,१२०
(५)	केरल	त्रिवेन्द्रम	१५,०३५	१,३५,४९,११८
(६)	मध्यप्रदेश	भोपाल	१,७१,२०१	२,६०:९५,६८०
(७)	मद्रास	मद्रास	५०,११०	२,९९,७४,९३६
(८)	माइसूर	माइसूर	७४,३४७	१,९४,०१,६१२
(९)	उड़ीसा	कटक	६०,१३६	१,४६,४५,९४६
(१०)	पंजाब	चण्डीगढ़	४७,४५६	१,६१,३४,८९०
(११)	राजस्थान	जयपुर	१,३२,०७८	१,५९,४६,७३१
(१२)	उत्तरप्रदेश	लखनऊ	१,१३,४०९	६,३२,१५,७४२
(१३)	पश्चिमी बंगाल	कलकत्ता	३३,८०९	२,६२,५८,६४७
(१४)	जम्मू और काश्मीर	श्रीनगर	९२,७८०	४४,००,०००
		योग	१२,३९,५५४	३५,७०,१९,४६१

इन १४ राज्यों के अतिरिक्त जो क्षेत्र (Territories) संघ सरकार के शासन में रखे गये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१)	दिल्ली	५७८	१७,४४,०७२
(२)	हिमाचल प्रदेश	१०,९०४	११,०९,४६६
(३)	मणिपुर	८,६२८	५,७७,६३५

(४)	त्रिपुरा	४,०३२	६,३९,०२९
(५)	अन्दमान-निकोबार द्वीप	३,२१५	३०,९७१
(६)	लवकदीप, मिनिकोय और अमिन्दवी द्वीप	१०	२१,०३५
	योग	२७,३६७	४१,२२,२०८
	सर्वयोग	१२,६६,९२१	३६,११,४१,६६९

भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों का पुनःसंगठन १९५६ ई० में किया गया था। उससे पूर्व जनवरी, १९५० में भारतीय गणराज्य का जो संविधान लागू किया गया था, उसमें राज्यों का विभाग एक अन्य ढंग से था। किन कारणों से भारत के राज्यों का पुनःसंगठन किया गया, इसे भलीभांति समझने के लिये यह जान लेना आवश्यक होगा, कि १९५० के संविधान में राज्यों का विभाग किस प्रकार से था।

१९५० में भारतीय संघ के राज्यों का विभाग

१९५० के संविधान के अनुसार भारतीय संघ में जो राज्य सम्मिलित थे, उनकी संख्या २८ थी। इन राज्यों को चार वर्गों में विभक्त किया गया था—क. ख. ग. और घ। राज्यों को चार वर्गों में विभक्त करने का कारण ऐतिहासिक था। जब भारत पर अंग्रेजों का शासन था, तब भी यह देश अनेक प्रान्तों और रियासतों में विभक्त था, और इन सबकी स्थिति एक समान नहीं थी। ब्रिटश युग में जो रियासतें थीं, उन्हें भी अब या तो पृथक् राज्यों में संगठित कर दिया गया, और या उन्हें अन्य राज्यों के साथ मिला दिया गया। राज्यों को चार वर्गों में इसी कारण बाँटा गया, क्योंकि भारत के सब प्रदेश राजनीतिक व आर्थिक उन्नति की दृष्टि से एक समान स्थिति नहीं रखते थे। अंग्रेजों के शासन के समय में जो 'गवर्नरों के प्रान्त' कहाते थे, उनमें विधान सभाएं विद्यमान थीं, और उनके मन्त्रिमण्डल इन विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी हुआ करते थे। इन प्रान्तों के निवासी लोकतन्त्र शासन से परिचित हो गये थे। उस जमाने में कुछ प्रान्त ऐसे भी थे, जिनका शासन चीफ कमिश्नरों के अधीन था। उनमें उत्तरदायी शासन का विकास नहीं हुआ था। रियासतों में तो बहुत कम ऐसी थीं, जहां लोकतन्त्र शासन विद्यमान था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि भारत के प्रान्तों को अनेक वर्गों में बांटा जाए, और उनकी शासन-व्यवस्था में भी कुछ भेद रखा जाए।

'क' (A) वर्ग के राज्य—इस वर्ग में वे राज्य थे, जो १९४७ ई० से पूर्व 'गवर्नरों के प्रान्त' कहाते थे। इनकी संख्या ९ थी। ये राज्य निम्नलिखित थे—आसाम, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, बिहार, उत्तरप्रदेश, पूर्वी पंजाब, बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश।

१९५३ ई० में मद्रास को दो भागों में विभक्त कर दिया गया, और आन्ध्र नाम के एक नये राज्य का निर्माण हुआ। इस प्रकार 'क' वर्ग के राज्यों की संख्या ९ के स्थान पर १० हो गई।

'क' वर्ग के राज्यों के प्रधान को 'राज्यपाल' (गवर्नर) कहा जाता था। इन राज्यों

में विधान सभाओं की सत्ता थी, और इनके मन्त्रिमण्डल विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी थे।

'क' वर्ग के राज्यों में कतिपय रियासतें भी सम्मिलित कर दी गई थीं। उत्तर-प्रदेश के क्षेत्र में पहले तीन रियासतें थीं, टिहरी, रामपुर और काशी। इन्हें उत्तर प्रदेश में शामिल कर दिया गया था। यही बात उड़ीसा आदि अन्य राज्यों के सम्बन्ध में भी की गई थी।

'ख' (B) वर्ग के राज्य—इस वर्ग में वे राज्य अन्तर्गत थे, जो पहले रियासत थे, या जिनका निर्माण अनेक रियासतों को संगठित करके किया गया था। इन राज्यों की संख्या ८ थी—हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर, माइसूर, त्रावन्कोर-कोचीन, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्यसंघ (Pepsu), राजस्थान, मध्यभारत और सौराष्ट्र।

इन राज्यों में हैदराबाद, जम्मू-काश्मीर और माइसूर पहले रियासतें थीं। इनकी जनसंख्या और क्षेत्रफल इतने वड़े थे कि इन्हें पृथक् राज्य का रूप दे दिया गया। इनके साथ किसी अन्य रियासत को सम्मिलित नहीं किया गया। राजपूताना में जो बहुत-सी छोटी-बड़ी रियासतें थीं, उन्हें संगठित कर 'राजस्थान' नाम के नये राज्य का निर्माण किया गया। इसी प्रकार मध्यभारत और पेप्सू नामक राज्यों में अनेक छोटी-बड़ी रियासतें संगठित की गईं। त्रावन्कोर-कोचीन राज्य का निर्माण इन्हीं दो नामों की रियासतों को मिला कर किया गया।

'ख' वर्ग के इन राज्यों के प्रधान को 'राजप्रमुख' कहते थे। ब्रिटिश युग में तो रियासतों में वंशक्रम से आये हुए राजाओं का शासन था। जब उन्हें इस बात के लिये प्रेरित किया गया, कि वे अपनी रियासतों को भारतीय संघ में सम्मिलित कर दें और अपने शासन सम्बन्धी अधिकारों का परित्याग कर दें, तो उन्हें कुछ सुविधाएं भी दी गईं। उनके निर्वाह के लिये एक वार्षिक रकम बांध दी गई, और कुछ बड़ी रियासतों के राजाओं को 'राजप्रमुख' का पद दिया गया। इसी कारण हैदराबाद, काश्मीर और माइसूर राज्यों में पुराने राजाओं को ही 'राजप्रमुख' बना दिया गया, और पेप्सू में पटियाला के महाराज को, और राजस्थान में जयपुर के महाराज को यह पद दिया गया। 'ख' वर्ग के अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार से पुराने राजाओं को 'राजप्रमुख' नियत किया गया।

'ख' वर्ग के राज्यों में भी विधान सभाएं थीं, और उनमें भी विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों का शासन था। इस दृष्टि से उनकी स्थिति 'क' वर्ग के राज्यों के ही सदृश थी। पर इनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था भी रखी गई थी कि संविधान लागू होने के दस साल बाद तक इन राज्यों की सरकारें राष्ट्रपति के साधारण नियन्त्रण में रहेंगी। भारत की पार्लियामैन्ट दस साल की इस अवधि को घटा-बढ़ा भी सकती थी। इन राज्यों के शासन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण इसलिये रखा गया था, क्योंकि ब्रिटिश युग में इनमें लोकतन्त्र संस्थाओं का भलीभांति विकास नहीं हुआ था, और इनकी जनता को उत्तरदायी शासन का पर्याप्त अनुभव नहीं था।

'ग' (C) वर्ग के राज्य—इस वर्ग के राज्यों की संख्या १० थी—अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा और विन्ध्य प्रदेश।

बाद में इस वर्ग के बिलासपुर राज्य को हिमाचल प्रदेश में सम्मिलित कर दिया गया, और इस वर्ग के राज्यों की संख्या १० के बजाय ९ रह गई। इस वर्ग के राज्य अनेक प्रकार के थे। इनमें से दिल्ली, अजमेर और कुर्ग ब्रिटिश युग में ऐसे प्रान्त थे, जिनपर गवर्नरों का शासन न होकर चीफ कमिश्नरों का शासन था। ये तीनों राज्य छोटे-छोटे थे और ब्रिटिश युग में इनमें उत्तरदायी शासन विद्यमान नहीं था। इनके प्रधान को अब भी चीफ कमिश्नर ही कहा गया। इनमें विधान सभाएं भी कायम कर दी गई, और उनके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों का भी निर्माण किया गया।

भोपाल, मणिपुर, त्रिपुरा और कच्छ पहले रियासतें थीं। अब उन्हें 'ग' वर्ग के राज्यों का रूप दे दिया गया। विन्ध्यप्रदेश और हिमाचल प्रदेश का निर्माण अनेक छोटी-छोटी रियासतों को संगठित करके किया गया था। ये दोनों राज्य क्षेत्रफल में अच्छे बड़े थे, अतः इनके प्रधान को 'लेफ्टिनेन्ट गवर्नर' कहा जाता था। इनमें भी विधान सभाओं और उनके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों की सत्ता थी। पर 'ग' वर्ग के इन राज्यों के शासन पर केन्द्रीय संघ सरकार का नियन्त्रण बहुत अधिक था। इस वर्ग के तीन राज्य—मणिपुर, त्रिपुरा और कच्छ तो ऐसे थे, जिनका शासन सीधा केन्द्रीय संघ सरकार के नियन्त्रण में था। वहां पर अभी उत्तरदायी शासन स्थापित नहीं किया गया था।

'घ' (D) वर्ग के राज्य—इस वर्ग में केवल एक राज्य था, जिसमें अन्दमान और निकोबार के द्वीप शामिल थे। ये द्वीप भारत के समुद्रतट से दूर हिन्द महासागर में हैं। अंग्रेजी शासन के युग में इनका उपयोग कालापानी के रूप में किया जाता था, और वहां आजन्म कैद की सजा पाये हुए अपराधियों को जेल भुगतने के लिये भेज दिया जाता था। अब इन्हें एक पृथक् राज्य बना दिया गया, जिसका शासन सीधे केन्द्रीय संघ सरकार द्वारा किया जाने लगा।

भारत के इन विविध प्रकार के राज्यों को इस तालिका द्वारा भलीभांति स्पष्ट किया जा सकता है—

'क' वर्ग के राज्य	'ख' वर्ग के राज्य	'ग' वर्ग के राज्य	'घ' वर्ग के राज्य
(१) आसाम	(१) हैदराबाद	(१) अजमेर	(१) अन्दमान और निकोबार द्वीप
(२) बिहार	(२) जम्मू और काश्मीर	(२) भोपाल	
(३) बम्बई	(३) माइसूर	(३) देहली	
(४) मध्यप्रदेश	(४) पटियाला व पूर्वी पंजाब राज्यसंघ	(४) कुर्ग	
(५) आन्ध्र	(५) राजस्थान	(५) कच्छ	
(६) उत्तरप्रदेश	(६) सौराष्ट्र	(६) हिमाचल प्रदेश	
(७) पूर्वी पंजाब	(७) मध्यभारत	(७) मणिपुर	
(८) पश्चिमी बंगाल	(८) त्रावन्कोर-कोचीन	(८) विन्ध्य प्रदेश	
(९) उड़ीसा		(९) त्रिपुरा	
(१०) मद्रास			

राज्यों की सीमा में परिवर्तन और नए राज्यों का निर्माण

भारतीय संघ के अन्तर्गत जो राज्य हैं, संघ की पार्लियामैन्ट उनकी सीमाओं में परिवर्तन कर सकती है। संविधान की तीसरी धारा में यह व्यवस्था की गई है कि भारत की पार्लियामैन्ट कानून द्वारा—

(क) किसी राज्य से उसका कोई प्रदेश पृथक् करके अथवा दो या अधिक राज्यों या राज्यों के भागों को मिलाकर नया राज्य बना सकेगी।

(ख) किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी।

(ग) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी।

(घ) किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी।

(ङ) किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी।

पर इस प्रकार का कोई परिवर्तन करने से पूर्व यह आवश्यक है, कि जिस राज्य से प्रस्तावित परिवर्तन का सम्बन्ध हो, उसकी सम्मति जान ली जाए, और राष्ट्रपति की सिफारिश उसके पक्ष में हो। राष्ट्रपति किसी परिवर्तन की सिफारिश तभी करेगा, जब वह सम्बद्ध राज्य की सम्मति जान लेगा।

हम पहले लिख चुके हैं, कि भारतीय संघ में जो राज्य इस समय सम्मिलित थे, उनका निर्माण ऐतिहासिक कारणों द्वारा हुआ था, उनका कोई वैज्ञानिक व युक्तिसंगत आधार नहीं था। जब भारत अंग्रेजो के अधीन हुआ, तो वे अपनी सुविधा के अनुसार प्रान्तों का निर्माण करते गये, और शासन की सुविधा की दृष्टि से ही उनकी सीमाओं में परिवर्तन करते रहे। स्वतन्त्र भारत के प्रान्तों का निर्माण भी इसी शासन सम्बन्धी सुविधा को दृष्टि में रखकर कर किया गया था। अनेक प्रान्तों की सीमाएं तो वे ही रहीं, जो ब्रिटिश युग में थीं। पर ये राज्य किसी वैज्ञानिक आधार पर निर्मित नहीं थे। इसी कारण संविधान में यह व्यवस्था की गई थी, कि केन्द्रीय पार्लियामैन्ट राज्यों का पुनः-निर्माण कर सके।

भाषा के अनुसार राज्यों के पुनःनिर्माण का प्रश्न

भारत में राज्यों का पुनः निर्माण होना चाहिये, यह मांग नई नहीं थी। कांग्रेस भाषाओं के अनुसार राज्य बनाने के सिद्धान्त को स्वीकार कर चुकी थी। जनता का लोकमत भाषा के अनुसार राज्यों के निर्माण के पक्ष में था। इसी कारण मद्रास राज्य के वे प्रदेश जिनमें तेलगू भाषा बोलने वालों का निवास है, मद्रास से पृथक् हुए और आन्ध्र नाम का एक नया राज्य बना। जो लोग भाषा के अनुसार राज्यों के पुनःनिर्माण के पक्षपाती थे, वे अपने पक्ष में निम्नलिखित युक्तियां देते थे—

(१) भारत उन अर्थों में एक राष्ट्र नहीं है, जिनमें फ्रांस, इटली या इङ्गलैण्ड एक राष्ट्र हैं। यहां अनेक जातियों का निवास है, अनेक भाषाएं बोली जाती हैं, और विविध प्रदेशों की संस्कृति में भी अन्तर है। यदि भारत के विविध राज्यों का निर्माण भाषा के अनुसार किया जाए, तो एक भाषा बोलने वाले लोग एक राज्य में रहकर

अपनी भाषा, साहित्य व संस्कृति का भलीभांति विकास कर सकेंगे। भारत के निवासियों में जो अनेक विभिन्नताएं हैं, उन्हें विकसित होने का इससे समुचित अवसर मिलेगा। भारत राष्ट्रीय दृष्टि से एक अवश्य है, पर यह राष्ट्र फ्रांस व इटली के समान न होकर चीन या रूस के समान है। जिस प्रकार इन विशाल देशों में विभिन्न भाषाएं बोलने वाले लोगों को अपने-अपने क्षेत्र में अपनी विशेषताओं के विकास का पूरा अवसर है, वैसा ही भारत में भी होना चाहिये। रूस में उजबक, ताजिक आदि कितनी ही भाषाएं बोली जाती हैं। इन भाषाओं के प्रदेश उजबकिस्तान, कजाकिस्तान आदि पृथक् राज्यों के रूप में हैं।

(२) यदि भाषाओं के अनुसार राज्यों का पुनःनिर्माण हो जाए, तो अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं को राजभाषा के रूप में प्रयुक्त कर सकना सुगम हो जायगा। हिन्दी भाषा बोलने वाले लोग भारत में बहुसंख्या में अवश्य हैं, पर उनकी संख्या ५० फीसदी से कुछ ही अधिक है। मद्रासियों के लिये हिन्दी उतनी ही विदेशी भाषा है, जितनी कि अंग्रेजी या चीनी। यह कदापि सम्भव नहीं है, कि सारे भारत की एक भाषा हो सके। इस दशा में यही उचित होगा कि राज्यों का निर्माण भाषा के अनुसार हो जाए, और प्रत्येक राज्य अपना सारा राजकीय कार्य अपनी भाषा में ही करे। राज्यों में यूनिवर्सिटी स्तर तक सब शिक्षा अपनी प्रादेशिक भाषा दी जाए, हाईकोर्ट के स्तर तक न्यायालयों में भी प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग हो, और राज्यों की सरकारें अपना सब काम प्रादेशिक भाषाओं में किया करें। केवल संघ सरकार का कार्य हिन्दी में हो। जिन राज्यों की भाषा हिन्दी है, वे तो अपना कार्य हिन्दी में करेंगे ही। इस व्यवस्था द्वारा भारतीय भाषाएं अंग्रेजी का स्थान सुगमता से ले सकेंगी। यदि राज्यों का निर्माण भाषा के अनुसार नहीं होगा, तो उनमें भी अंग्रेजी से पिण्ड छुड़वा सकना सुगम नहीं होगा। १९५० ई० में बम्बई का राज्य जिस ढंग से बना हुआ था, उसमें मराठी, गुजराती और कन्नड इन तीन भाषाओं के प्रदेश सम्मिलित थे। इस दशा में बम्बई की विधान सभा अपना कार्य किसी एक भारतीय भाषा में कैसे कर सकती थी? यही बात हैदराबाद आदि कितने ही अन्य राज्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती थी। पर यदि गुजराती, मराठी और कन्नड के क्षेत्रों को अलग कर गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक राज्यों का निर्माण कर दिया जाए, तो इन राज्यों की सरकारों के लिए अपना सब कार्य अपनी भाषाओं में कर सकना सम्भव हो जायगा।

(३) इस समय एक ही भाषा बोलने वाले लोग अनेक राज्यों में बटे हुए थे। मराठी भाषा बोलने वाले लोग तीन राज्यों में थे, बम्बई, मध्यप्रदेश और हैदराबाद। इस दशा में मराठी भाषा, साहित्य और संस्कृति का विकास हो सकना सुगम नहीं था। कन्नड बोलने वाले लोगों का भी कोई एक राज्य नहीं था। माइसूर की भाषा कन्नड है, पर बम्बई और हैदराबाद में भी ऐसे प्रदेश शामिल थे, जिनकी भाषा कन्नड थी। यदि इन सब को मिलाकर कर्नाटक राज्य बना दिया जाए, तो कन्नड भाषा और साहित्य भलीभांति विकसित हो सकेंगे।

(४) प्रत्येक मनुष्य को अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति से स्वाभाविक

रूप से प्रेम होता है। वह अपना सब कार्य अपनी भाषा में ही करना चाहता है। हिन्दी के अतिरिक्त भारत में अन्य भी अनेक ऐसी भाषाएं हैं, जिनको बोलने वाले लोगों की संख्या करोड़ों में है। उनकी यह आकांक्षा सर्वथा स्वाभाविक है कि उन्हें अपनी भाषा के विकास का अवसर मिले, और इसके लिये यह जरूरी है, कि उनका अपना पृथक् राज्य भी हो। भारतीय संघ के अन्तर्गत रहते हुए ये राज्य अपने-अपने क्षेत्र में अपनी भाषा, साहित्य आदि का विकास करेंगे, और इनके कारण भारतीय संघ सबल ही होगा, निर्वल नहीं। जब लोगों की समुचित आकांक्षाओं को पूरा होने का अवसर नहीं मिलता, तभी उनमें पृथक्करण की भावनाएं (Seperatist tendencies) उभड़ती हैं।

पर अनेक विचारक भाषा के अनुसार राज्यों के निर्माण की वात को अधिक उपयोगी नहीं मानते। वे अपने पक्ष में निम्नलिखित युक्तियां देते हैं—

(१) भारत में पृथक्करण (Seperation) की प्रवृत्ति सदा रही है, और यह प्रवृत्ति देश की राष्ट्रीय एकता के लिये घातक भी सिद्ध होती रही है। भारत का विभाजन इसी कारण हुआ। मुसलमानों ने अपने को एक पृथक् राष्ट्रीयता (Nationality) समझना शुरू किया, और उन्होंने पाकिस्तान की मांग करनी प्रारम्भ कर दी। यदि भाषा के अनुसार राज्यों के निर्माण के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए, तो उससे इसी प्रवृत्ति को बल मिलेगा, और तामिल, तेलगू, कन्नड आदि भाषाओं को बोलने वाले लोग अपने को एक भारतीय राष्ट्र का अंग न समझकर पृथक् मानने लगेंगे। यह वात देश की एकता के लिये घातक सिद्ध होगी।

(२) राज्यों के निर्माण में केवल भाषा को ही आधार नहीं बनाया जा सकता। भाषा के अतिरिक्त कितनी ही अन्य वातें भी हैं, जिन्हें राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करते हुए दृष्टि में रखना चाहिये। हमें यह भी दृष्टि में रखना होगा कि राजकीय आमदनी की दृष्टि से कौन-सा प्रदेश पृथक् राज्य वन सकता है। छोटे-छोटे राज्यों के लिये अपना खर्च पूरा कर सकना सम्भव नहीं होता। शासन की सुविधा को भी राज्यों का पुनः निर्माण करते हुए निगाह में रखना जरूरी है।

(३) वर्तमान युग की प्रवृत्ति वड़े राज्य बनाने की है। वड़े राज्य ही आजकल के युग में उन्नति कर सकते हैं। यदि भाषा के अनुसार भारत को छोटे-छोटे राज्यों में बांट दिया जाए, तो ये राज्य अपना आर्थिक विकास कर सकने में कभी सफल नहीं होंगे।

(४) भारत में बहुत से प्रदेश ऐसे हैं, जहां अनेक भाषाएं बोलने वाले लोग साथ-साथ रहते हैं। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि बड़े नगरों में अनेक भाषाओं को बोलने वाले लोगों का निवास है। कितने ही जिले भी ऐसे हैं, जिनमें अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। यदि भाषा के अनुसार राज्यों का पुनःनिर्माण शुरू किया जाए, तो इन प्रदेशों में कितने ही झगड़े खड़े हो जाएंगे। पंजाब में हिन्दी और पंजाबी दोनों भाषाएं बोली जाती हैं। जब से पंजाबी भाषा का अलग राज्य बनने का सवाल उठा है, पंजाब में झगड़े बहुत बढ़ गये हैं। बम्बई जैसे नगर को महाराष्ट्र में रखा जाए या

गुजरात में—यह प्रश्न भी विवाद का है। इन झगड़ों को न उभाड़ना ही अच्छा है। इन झगड़ों के उभड़ने से भारत की राष्ट्रीय एकता को अवश्य धक्का लगेगा।

(५) भाषा के अनुसार राज्यों का निर्माण करने पर भारत में प्रान्तीयता और फटाव की भावना बहुत बढ़ जायगी। बंगाली लोग यह पसन्द नहीं करेंगे कि मारवाड़ी और पंजाबी कलकत्ता में कारोबार करें या बिहार व उड़ीसा के लोग वहां मजदूरी करने के लिये आएं। यही बात अन्य राज्यों में भी होगी। इस समय सब भारतीय जहां चाहें आ-जा सकते हैं, जहां चाहें कारोबार या मजदूरी कर सकते हैं। प्रान्तीय भावना के बढ़ जाने पर यह बात सम्भव नहीं रह जायगी।

(६) भाषा, साहित्य व संस्कृति के विकास के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि भाषाओं के अनुसार राज्यों का पुनःनिर्माण किया जाए। भारत के संविधान में प्रत्येक भाषा व संस्कृति के विकास की पूरी गुंजाइश रखी गई है।

इसमें सन्देह नहीं, कि इन युक्तियों में काफी बल है। पर साथ ही, यह भी स्वीकार करना होगा कि भारत में राज्यों का जिस ढंग से निर्माण हुआ था, उसे युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता था।

राज्यों के पुनःसंगठन की समस्या

१९५० में लागू किये गये भारत के संविधान में इस बात की गुंजाइश रखी गई थी कि राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन किया जा सके, व राज्यों को मिलाकर एक नये राज्य का निर्माण किया जा सके। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनः निर्माण की मांग को दृष्टि में रखकर सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष श्री फजल अली थे। इस कमीशन ने जो रिपोर्ट तैयार की, उसकी मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं—

(१) भारतीय संघ के विविध राज्यों को जो 'क' 'ख' 'ग' और 'घ' वर्गों में विभक्त किया गया है, वह विभाग नहीं रहना चाहिये। संघ के अन्तर्गत कुल मिलाकर १६ राज्य हों, जिन सब की स्थिति एक समान हो, और जिन सब की शासनपद्धति भी एकसदृश हो। इन १६ राज्यों (States) के अतिरिक्त ३ क्षेत्र (Territories) भी हों, जिनका शासन संघ सरकार के अधीन रहे।

(२) भारतीय संघ में सम्मिलित १६ राज्य निम्नलिखित हों—मद्रास, केरल, कर्नाटक, हैदराबाद, आन्ध्र, बम्बई, विदर्भ, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, आसाम, उड़ीसा और जम्मू-काश्मीर। इन १६ राज्यों के अतिरिक्त तीन संघ क्षेत्र (Union Territories) देहली, मणिपुर और अन्देमान-निकोबार हों।

इन राज्यों के निर्माण के कारण राज्योंके स्वरूप में जो परिवर्तन आता, उसमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(क) उड़ीसा, जम्मू-काश्मीर और उत्तर प्रदेश की सीमाएं प्रायः वे ही रहतीं, जो पहले थीं।

(ख) पंजाब, पेप्सू और हिमाचल प्रदेश राज्यों को मिला कर एक राज्य बन जाता, जिसका नाम पंजाब होता। पेप्सू ('ख' वर्ग का राज्य) और हिमाचल प्रदेश ('ग' वर्ग का राज्य) की पृथक् सत्ता न रहती।

(ग) बिहार राज्य के कुछ भाग, जिनमें बंगला भाषा बोलने वाले लोग अधिक संख्या में निवास करते हैं, बंगाल में मिला दिये जाते। इस प्रकार बिहार के क्षेत्रफल में कुछ कमी हो जाती, और बंगाल के क्षेत्र में कुछ वृद्धि।

(घ) मध्य प्रदेश के कुछ जिलों की भाषा हिन्दी थी, और कुछ की मराठी। मराठी भाषा-भाषी जिलों (नागपुर, वर्धा, अमरावती आदि) का एक पृथक् राज्य बना दिया जाता, जिसका नाम विदर्भ होता।

(ङ) मध्यभारत ('ख' वर्ग में) और विन्ध्यप्रदेश ('ग' वर्ग में) दो पृथक् राज्य थे। इन्हें मध्य प्रदेश के हिन्दी भाषा-भाषी (जबलपुर, रायपुर आदि) जिलों के साथ मिला कर एक नया राज्य बना दिया जाता, जिसका नाम मध्यप्रदेश होता।

(च) 'ग' वर्ग के राज्य अजमेर को राजस्थान में सम्मिलित कर दिया जाता।

(छ) हैदराबाद राज्य में तीन भाषाएं प्रधान थीं, तेलगू, मराठी और कन्नड। तेलगू भाषा के जिलों की आबादी ५१ प्रतिशत के लगभग थी। जिन जिलों में मराठी और कन्नड बोली जाती थीं, उन्हें हैदराबाद से पृथक् कर दिया जाता, और हैदराबाद राज्य में केवल वे जिले रहते, जिनकी भाषा तेलगू है। इस प्रकार तेलगू भाषा-भाषी दो राज्य हो जाते, आन्ध्र और हैदराबाद।

(ज) माइसूर 'ख' वर्ग का एक राज्य था, जिसकी भाषा कन्नड है। इसमें बम्बई राज्य और हैदराबाद राज्य के कन्नड भाषा-भाषी जिलों और कुर्ग ('ग' वर्ग का राज्य) को सम्मिलित कर कर्नाटक नाम के नये राज्य का निर्माण कर दिया जाता।

(झ) त्रावन्कोर और कोचीन के तामिल भाषा-भाषी क्षेत्रों को मद्रास में मिला दिया जाता, और त्रावन्कोर-कोचीन का नाम 'केरल' हो जाता।

(ञ) कच्छ और सौराष्ट्र राज्यों को बम्बई में सम्मिलित कर दिया जाता। बम्बई राज्य के कन्नड भाषा-भाषी क्षेत्र तो उससे पृथक् हो जाते, पर उसमें ये नये प्रदेश शामिल कर दिये जाते—कच्छ, सौराष्ट्र और हैदराबाद राज्य के मराठी भाषा-भाषी जिले।

(ट) त्रिपुरा ('ग' वर्ग के राज्य) आसाम में सम्मिलित हो जाता।

कमीशन की रिपोर्ट पर लोकमत—राज्यों के पुनः निर्माण कमीशन की रिपोर्ट से जनता को सन्तोष हुआ। पर इसकी सिफारिशों के विरुद्ध देश के कुछ भागों में असन्तोष भी था।

(१) महाराष्ट्र के लोग इस बात से असंतुष्ट थे, कि बम्बई राज्य के दो विभाग नहीं किये गये। वे यह चाहते थे, कि बम्बई राज्य के उन जिलों को, जिनकी भाषा मराठी है, विदर्भ के साथ मिलाकर 'महाराष्ट्र राज्य' का निर्माण किया जाए, जिसकी राजधानी बम्बई नगरी हो। गुजराती भाषा का कोई पृथक् राज्य नहीं है। गुजरात राज्य का पृथक् रूप से निर्माण किया जाए, और महाराष्ट्र को उससे पृथक् रखा जाए।

(२) अकाली लोग चाहते थे कि एक पृथक् पंजाबी सूबा बनाया जाए, जिसकी भाषा पंजाबी हो। हरियाना और हिमाचल प्रदेश के लोग भी पंजाब के साथ शामिल होना पसन्द नहीं करते थे। विशेषतया, हिमाचल प्रदेश के निवासी कमीशन की सिफारिशों से बहुत असन्तुष्ट थे।

(३) तेलगू भाषा-भाषी लोगों की इच्छा थी कि हैदराबाद को एक पृथक् राज्य न रखकर उसे आन्ध्र के साथ सम्मिलित किया जाए।

राज्यों का पुनःसंगठन—भारत सरकार ने फजल अली कमीशन की रिपोर्ट पर गम्भीरता के साथ विचार किया। संविधान के अनुसार विविध राज्यों की सरकारों से भी इस प्रश्न पर परामर्श लिया गया। जनता की सम्मति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद सरकार ने अन्तिम रूप से राज्यों का जो पुनःसंगठन किया, उसमें फजल-अली कमीशन द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये—

(१) विदर्भ को पृथक् राज्य न रखकर बम्बई राज्य के अन्तर्गत कर दिया गया।

(२) हैदराबाद को आन्ध्र के साथ मिला दिया गया, जिसके कारण वे सब प्रदेश एक राज्य में सम्मिलित हो गये, जहां तेलगू भाषा बोली जाती है।

(३) हिमाचल प्रदेश को पंजाब से पृथक् रखा गया।

(४) त्रिपुरा को आसाम के अन्तर्गत न करके पृथक् रखा गया।

राज्यों के नये पुनःसंगठन से असन्तोष—इसमें सन्देह नहीं कि भारत सरकार ने जिस ढंग से राज्यों का पुनः संगठन करना तय किया, उसमें भाषा के अनुसार राज्यों के निर्माण के सिद्धान्त को बहुत हद तक स्वीकार कर लिया गया है। इस सिद्धान्त के केवल दो अपवाद रखे गये हैं, बम्बई और पंजाब। केवल इन दो राज्यों का निर्माण भाषा के अनुसार नहीं हुआ है। बम्बई में—गुजराती और मराठी दो भाषाओं की सत्ता है, और इसी प्रकार पंजाब में हिन्दी और पंजाबी की। यदि भाषा के अनुसार बम्बई के प्रदेशों का पुनःसंगठन किया जाता, तो दो राज्यों का निर्माण होता, महाराष्ट्र और गुजरात। पर ऐसा करने में दिक्कत यह पेश आती थी कि बम्बई नगरी को किस राज्य के अन्तर्गत किया जाए। भौगोलिक दृष्टि से बम्बई नगरी को महाराष्ट्र के अन्तर्गत होना चाहिये। वहां के निवासियों में भी मराठी बोलने वाले ही सबसे अधिक संख्या में हैं। पर बम्बई एक ऐसी नगरी है, जिसमें गुजराती बोलने वाले भी बहुत बड़ी संख्या में निवास करते हैं। आर्थिक दृष्टि से इस नगरी का बहुत अधिक महत्त्व है। यदि इसे महाराष्ट्र के अन्तर्गत कर दिया जाता, तो गुजराती लोगों को बहुत असन्तोष होता। एक बार यह प्रस्ताव भी किया गया कि बम्बई नगरी को एक पृथक् राज्य बना दिया जाए। पर महाराष्ट्र के लोग इसे मानने के लिये उद्यत नहीं हुए। विवश होकर अन्त में भारत सरकार ने यह तय किया कि महाराष्ट्र, बम्बई और गुजरात को मिलाकर एक राज्य बनाया जाए, जिसकी राजधानी बम्बई नगरी हो। पर इस निर्णय से मराठे और गुजराती दोनों ही असंतुष्ट रहे। अब तक इन प्रदेशों में यह आन्दोलन जारी है कि महाराष्ट्र और गुजरात—दो पृथक् राज्य बनने चाहियें। पर बम्बई नगरी की समस्या के कारण कोई ऐसा निर्णय नहीं होने पाता, जो सब पक्षों को स्वीकार्य हो।

बम्बई के समान पंजाब राज्य की समस्या भी महत्त्वपूर्ण है। इस राज्य में दो भाषाओं की सत्ता है, हिन्दी और पंजाबी। हरियाने की भाषा हिन्दी है, जहां के निवासियों में यह विचार विद्यमान है, कि उनके प्रदेश को पंजाब से पृथक् किया जाना चाहिये। कुछ लोग पंजाबी भाषा का एक पृथक् सूबा बनाने के भी पक्ष में हैं। दूसरी ओर पंजाब के हिन्दुओं में यह आन्दोलन भी चल रहा है कि हिमाचल प्रदेश को पंजाब के साथ सम्मिलित कर महापंजाब का निर्माण किया जाए।

भारतीय संघ-राज्य के अन्तर्गत राज्यों का नया संगठन—१९५६ में भारत के संविधान में संशोधन कर राज्यों का जिस ढंग से पुनः संगठन किया गया है, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। इन राज्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) दक्षिणी भारत की भाषाएं निम्नलिखित हैं—तामिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड। इन चारों को ही द्रविड़ भाषाएं कहा जाता है। दक्षिणी भारत में चार ऐसे राज्य बना दिये गये हैं, जो इन चार भाषाओं के क्षेत्र हैं। मद्रास राज्य की भाषा तामिल है। पुराने त्रावन्कोर-कोचीन राज्य के जिन प्रदेशों की भाषा तामिल थी, उन्हें अब मद्रास राज्य में शामिल कर दिया गया है। आन्ध्र राज्य की भाषा तेलगू है। हैदराबाद को पृथक् राज्य न रखकर उसके उन सब जिलों को अब आन्ध्र में सम्मिलित कर दिया गया है, जिनकी भाषा तेलगू है। हैदराबाद नगर को ही इस राज्य की राजधानी भी बनाया गया है। पुराने त्रावन्कोर-कोचीन और मलयालम को मिलाकर केरल राज्य बनाया गया है, जिसकी भाषा मलयालम है। माइसूर राज्य में वे सब प्रदेश सम्मिलित कर दिये गये हैं, जिनमें कन्नड भाषा बोली जाती है। पुरानी माइसूर रियासत में हैदराबाद और बम्बई के राज्यों के उन जिलों को अन्तर्गत कर नये माइसूर का निर्माण किया गया है, जिनकी भाषा कन्नड है।

(२) बम्बई का राज्य भाषा के आधार पर नहीं बनाया गया। उसमें दो भाषाओं के क्षेत्र अन्तर्गत किये गये हैं—मराठी और गुजराती। बम्बई राज्य क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का सबसे बड़ा राज्य है। जो नये प्रदेश उसमें सम्मिलित किये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं—सौराष्ट्र, विदर्भ (पुराने मध्य प्रदेश के वे जिले जिनकी भाषा मराठी है) और मराठावाड़ा (पुराने हैदराबाद राज्य के वे जिले, जिनमें मराठी भाषा बोली जाती है।)

(३) पुराने मध्य प्रदेश के साथ पुराने मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश और भोपाल राज्यों को मिलाकर नये मध्यप्रदेश का निर्माण किया गया है। पर इस नये राज्य में पुराने मध्यप्रदेश के उन जिलों को शामिल नहीं किया गया, जिसकी भाषा मराठी है, और जिन्हें 'विदर्भ' कहते हैं।

(४) अजमेर राज्य को राजस्थान के साथ मिला दिया गया है।

(५) पंजाब और पेप्सू को मिलाकर एक नया राज्य बनाया गया है, जिसका नाम पंजाब है। इस राज्य में भी दो भाषाओं के क्षेत्र हैं, हिन्दी और पंजाबी।

(६) उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम राज्यों में विशेष परिवर्तन

नहीं हुआ। बिहार के कुछ क्षेत्र, जिनकी भाषा बंगला है, बंगाल में मिला दिये गये हैं। इसी तरह का कुछ परिवर्तन उड़ीसा आदि में भी किया गया है।

(७) १९५० में लागू हुए संविधान के अनुसार राज्यों के जो चार वर्ग क, ख, ग और घ बनाये गये थे, उस वर्गीकरण को अब हटा दिया गया है। अब केवल दो वर्ग हैं, राज्य और संघ द्वारा शासित क्षेत्र। दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, अन्दमान-निकोबार द्वीप और लक्कद्वीप-मिनिकोय-अमिण्दवी ऐसे क्षेत्र हैं, जिनका शासन संघ सरकार के अधीन है।

भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से केरल भारत का सबसे छोटा राज्य है, और बम्बई सबसे बड़ा। जनसंख्या की दृष्टि से उत्तरप्रदेश सबसे बड़ा है, जम्मू-काश्मीर सबसे छोटा। सबसे अधिक सघन आबादी केरल की है, जहां प्रतिवर्ग मील ९०१ व्यक्तियों का निवास है। सबसे अधिक विरल आबादी काश्मीर की है, जहां एक वर्ग मील में केवल ४७ आदमी रहते हैं। राजस्थान और मध्यप्रदेश की आबादी भी बहुत विरल है, जहां क्रमशः १२१ और १५२ व्यक्ति एक वर्ग मील में निवास करते हैं। आर्थिक दृष्टि से अभी मध्यप्रदेश और उड़ीसा अधिक उन्नत नहीं हैं, पर उनका भविष्य बहुत उज्ज्वल है, क्योंकि खानों और जंगलों में उत्पन्न होने वाले पदार्थों की वहीं प्रचुरता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्य कौन-कौन से हैं। राज्यों के साथ-साथ संघ द्वारा शासित होने वाले क्षेत्रों (Territories) का भी उल्लेख कीजिए।

(२) क्या आप भाषाओं के अनुसार राज्यों के पुनःसंगठन को उपयोगी समझते हैं? अपने मत का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन कीजिए।

(३) भारत में राज्यों के पुनःनिर्माण के प्रश्न पर विचार करने के लिये जो कमीशन सरकार द्वारा नियुक्त किया गया था, उसकी मुख्य सिफारिशों का उल्लेख कीजिए। इनमें से किन सिफारिशों को सरकार ने स्वीकृत किया, और किन्हें नहीं।

(४) १९५० में भारत के राज्यों का निर्माण किस ढंग से किया गया था? अब उसमें कौन-कौन से परिवर्तन किये गये हैं?

चौथा अध्याय

भारतीय नागरिकता और नागरिकों के मूलभूत अधिकार

केवल एक नागरिकता—यद्यपि भारत राज्यों का एक संघ है, पर यहां केवल एक ही नागरिकता है, दोहरी या द्वैध नागरिकता नहीं है। भारत में यह नागरिकता केवल संघ की है, उसके अन्तर्गत राज्यों की नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि सब भारतीय नागरिक भारत-संघ के नागरिक हैं, बंगाल, उत्तरप्रदेश, पंजाब, राजस्थान आदि राज्यों के नहीं। कोई भी भारतीय नागरिक किसी भी राज्य में जाकर रह सकता है, वहां कारोबार व मजदूरी आदि कर सकता है, और सब सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों का उपभोग कर सकता है। भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्य अपने क्षेत्र के निवासियों को कोई ऐसे पृथक् नागरिकता के अधिकार प्रदान नहीं करते, जो अन्य राज्यों के निवासियों को प्राप्त न हों।

क्योंकि भारत ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य है, अतः इस देश के नागरिकों को ब्रिटिश कामनवेल्थ की नागरिकता के अधिकार भी प्राप्त हैं।

भारतीय नागरिकता

संविधान द्वारा भारतीय नागरिकता के कानून का विशद रूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है। उसमें केवल यह बताया गया है कि संविधान के लागू होने के समय (२६ जनवरी, १९५० को) किस प्रकार के व्यक्ति भारत के नागरिक थे। संविधान द्वारा यह नहीं बताया गया, कि भारत की नागरिकता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, और किस प्रकार उसका अन्त हो सकता है। इस विषय में संविधान ने यह व्यवस्था की है, कि भारत की पार्लियामैन्ट को नागरिकता-सम्बन्धी कानून बनाने का अधिकार है।

संविधान के लागू होने के समय तीन प्रकार के व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना गया था—

(१) संविधान के लागू होने के समय जो भारत में बसे हुए थे।

(२) भारत के विभाजन के कारण जो पाकिस्तान से भारत आए।

(३) विदेशों में बसे हुए भारतीय।

इन तीनों प्रकार के भारतीय नागरिकों के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

(१) संविधान के लागू होने के समय जो व्यक्ति भारत में बसे हुए थे, उनको उस दशा में भारत का नागरिक स्वीकार किया गया, जब कि वे इन शर्तों को पूरा करते हों—

(क) उनका जन्म भारत के राज्यक्षेत्र में हुआ हो, या

(ख) उसके माता-पिताओं में से एक का जन्म भारत में हुआ हो, या

(ग) वे संविधान के लागू होने से कम से कम पांच साल पहले से साधारणतया भारत के राज्यक्षेत्र के निवासी रहे हों।

इस प्रकार भारतीय नागरिकता के तीन आधार संविधान द्वारा स्वीकार किये गये हैं, जन्म, वंश और अभिजन या निवास। जिन व्यक्तियों का जन्म भारत में हुआ हो, वे भारत के नागरिक हैं। इस कारण ऐसे व्यक्तियों को भी भारत की नागरिकता का अधिकार प्राप्त है, जिनके माता-पिता चाहे भारतीय न भी हों, पर जिनका जन्म भारत में हुआ हो। जिन व्यक्तियों के माता-पिता में से कोई एक भारत में उत्पन्न हुआ हो, और जो संविधान के लागू होने से पूर्व भारत में बसे हुए थे, वे भी भारत के नागरिक माने गये हैं। इस व्यवस्था के कारण वंश को भी भारतीय नागरिकता का आधार माना गया है। संविधान के लागू होने से पांच साल पहले से जो लोग भारत में निवास कर रहे थे, उन्हें 'निवास' के कारण भारत का नागरिक मान लिया गया है।

(२) द्वितीय श्रेणी के नागरिक वे हैं, जो पाकिस्तान से भारत आये हैं। इन्हें निम्नलिखित शर्तों को पूरा करने की दशा में भारतीय नागरिकता के अधिकार प्रदान किये गये है—

(क) वे शरणार्थी (Refugees) जो १९ जुलाई, १९४८ से पुर्व पाकिस्तान से भारत आ गये थे, और भारत आ जाने के बाद साधारणतया इसी देश में निवास करने लगे थे।

(ख) वे शरणार्थी जो १९ जुलाई, १९४८ के बाद पाकिस्तान से भारत आए, पर जिन्होंने भारत-सरकार द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को आवेदनपत्र देकर २६ जनवरी, १९५० से पूर्व अपना नाम भारत में रजिस्टर्ड करा लिया हो। पर ऐसे व्यक्तियों की रजिस्ट्री उसी दशा में की जा सकती थी, जब कि वे आवेदन-पत्र देने की तिथि से कम से कम ६ मास पूर्व भारत में रह रहे हों।

जो लोग १ मार्च, १९४७ के बाद भारत के राज्यक्षेत्र से पाकिस्तान चले गये थे, उन्हें संविधान द्वारा भारतीय नागरिकता के अधिकार से वंचित रखा गया है। पर यह नियम उन व्यक्तियों पर लागू नहीं होता, जो पाकिस्तान से फिर भारत वापस आए हैं, और जिन्होंने भारत सरकार से भारत में स्थायी रूप से निवास करने की अनुज्ञा (Permit) प्राप्त कर ली है। १९४७ के पूर्वार्ध में जिन दिनों भारत में साम्प्रदायिक दंगों ने बहुत जोर पकड़ लिया था, अनेक मुसलिम परिवार सामयिक रूप से पाकिस्तान चले गये थे। बाद में जब शान्ति हो गई, तो उनमें से बहुत से भारत लौट आए। उन्हीं की सुविधा के लिये यह नियम बनाया गया था।

(३) बहुत से भारतीय व्यापार, मजदूरी, नौकरी आदि के लिये अन्य देशों में बसे हुए हैं। हांगकांग, मलाया, सिंगापुर, थाइलैण्ड, अफ्रीका आदि में लाखों भारतीय निवास कर रहे हैं। इनकी नागरिकता के सम्बन्ध में संविधान द्वारा यह व्यवस्था की

गई है कि इन्हें भारत का ही नागरिक माना जायगा, बशर्ते कि ये जहां निवास कर रहे हैं; वहां के भारतीय राजदूत के दफ्तर में आवेदनपत्र देकर अपने नाम की रजिस्ट्री करा लें। राजदूत के दफ्तर का अभिप्राय भारत के कूटनय सम्बन्धी (Diplomatic) और वाणिज्य सम्बन्धी (Consuler) प्रतिनिधियों के दफ्तर से है। इन भारतीयों के लिये यह आवश्यक है कि या तो इनका अपना जन्म भारत में हुआ हो, या इनके माता-पिता, दादा-दादी या नाना-नानी में से किसी एक का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो।

भारतीय नागरिकता के लिये यह भी आवश्यक है कि भारत का नागरिक किसी अन्य देश का नागरिक न हो। यदि किसी व्यक्ति ने किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त कर ली हो, तो उसे भारत का नागरिक नहीं माना जायगा। विदेशों में बसे हुए जो भारतीय उन देशों के कानून के अनुसार वहां की नागरिकता प्राप्त कर चुके हैं, वे भारतीय नागरिक नहीं माने जा सकते।

संविधान द्वारा भारत की नागरिकता के सम्बन्ध में जो व्यवस्थाएं की गई हैं, वे पूर्ण नहीं हैं। उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि यदि कोई विदेशी भारत की नागरिकता प्राप्त करना चाहे, तो वह उसे कैसे प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की अन्य भी कितनी ही बातें हैं, जो संविधान द्वारा स्पष्ट नहीं होतीं। इन सब बातों के विषय में भारत की पार्लियामैन्ट को कानून बनाने का अधिकार दिया गया है।

नागरिकों के मूलभूत या आधारभूत अधिकार
(Fundamental rights of citizens)

आधुनिक काल के लोकतन्त्र राज्यों के संविधानों में उन मूलभूत अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया जाता है, जो नागरिकों को प्राप्त होते हैं। अधिकार उन सुविधाओं को कहते हैं, जो मनुष्य के व्यक्तित्त्व के विकास के लिये आवश्यक होती हैं। सरकार किसी व्यक्ति के इन अधिकारों का अपहरण न कर सके, इसलिये इनका उल्लेख संविधान में कर दिया जाता है। लोकतन्त्र शासन का अभिप्राय होता है, बहुसंख्या का शासन। विधानसभाएं जो कानून बनाती हैं, वे बहुमत द्वारा ही पास होते हैं। विधानसभा में जिस पार्टी का बहुमत हो, वह जो कानून चाहे पास करा सकती है। इस दशा में यह भय बना रहता है, कि कोई कानून ऐसा भी पास हो जाए जिससे कुछ लोगों का अहित होता हो, और जो इन लोगों को उन सुविधाओं से वंचित कर देता हो जो उनके व्यक्तित्त्व के विकास के लिये आवश्यक हैं। इसलिये संविधान में मूलभूत अधिकारों का प्रतिपादन कर दिया जाता है, जिनका कोई सरकार या विधानसभा अपहरण नहीं कर सकती। विधान सभा में चाहे किसी भी पार्टी का बहुमत हो, सरकार चाहे किसी भी पार्टी की हो, उसे यह अधिकार नहीं कि वह नागरिकों के इन मूलभूत अधिकारों का अपहरण कर सके। यदि कोई ऐसा कानून पास हो जाए, जो मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध हो, तो न्यायालय में उसके खिलाफ अपील की जा सकती है, और वहां उसे असंवैधानिक (Unconstitutional) घोषित

कराया जा सकता है। न्यायालय द्वारा किसी कानून के संविधान-विरुद्ध घोषित हो जाने पर उसे प्रयोग में नहीं लाया जा सकता।

इस बात को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। भारत के संविधान में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार को स्वीकृत किया गया है। इसके कारण मनुष्य जमीन, मकान, कल-कारखाने आदि को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाकर रख सकते हैं। पर साथ ही संविधान में यह व्यवस्था भी की गई है कि सार्वजनिक हित की दृष्टि से सरकार किसी सम्पत्ति को ले सकती है, बशर्ते कि वह उसके लिये समुचित मुआवजा (Compensation) प्रदान कर दे। मान लीजिए, भारत की पार्लियामैन्ट में किसी ऐसे समाजवादी दल का बहुमत हो जाए, जो व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोध में हो। वह कोई ऐसा कानून पास कर दे, जिसके द्वारा सब जमीन, मकान आदि को राज्य की सम्पत्ति बना दिया जाए, और उनके मालिकों को कोई मुआवजा देने की व्यवस्था न की जाए। क्योंकि ऐसा कानून संविधान में प्रतिपादित मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध होगा, अतः उसके खिलाफ न्यायालय में अपील की जा सकेगी, और यदि न्यायालय ने उसे संविधानविरुद्ध घोषित कर दिया, तो उसे प्रयोग में नहीं लाया जा सकेगा।

इस प्रकार के कानून को पास करने के लिये यह आवश्यक होगा, कि पहले संविधान में परिवर्तन करा लिया जाए। पर यह स्पष्ट है, कि संविधान में प्रतिपादित मूलभूत अधिकारों के कारण सरकार और विधानसभा की शक्ति बहुत कुछ मर्यादित हो जाती है।

भारत के संविधान में नागरिकों के मूलभूत अधिकार

स्वतन्त्र भारत के संविधान में नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। इन अधिकारों के कारण भारत की जनता को वे सब सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं, जो उसकी उन्नति व विकास के लिये आवश्यक हैं। ये अधिकार दो प्रकार के हैं—एक वे जिनके विषय में न्यायालय में कार्रवाई की जा सकती है। इन्हें न्यायालयाधीन (Justiciable) कहते हैं। दूसरे प्रकार के अधिकार वे हैं, जिनके सम्बन्ध में न्यायालय में कार्रवाई नहीं की जा सकती। सरकार यह प्रयत्न अवश्य करेगी, कि जनता को ये अधिकार प्राप्त हों, पर इन्हें प्राप्त करने का दावा न्यायालय में नहीं किया जा सकता। न्यायालयाधीन अधिकार का एक उदाहरण कानून की दृष्टि में सबका बराबर होना है। यदि सरकार लिंग, जाति, रंग, धर्म आदि के कारण कोई भेदभाव करे, किसी को वोट देने आदि के राजनीतिक अधिकार से वंचित करे, तो वह मनुष्य न्यायालय में मामले को पेश कर अपने इस अधिकार को प्राप्त कर सकता है। पर हमारे संविधान में नागरिकों का एक अधिकार यह भी स्वीकृत किया गया है, कि वे आजीविका प्राप्त कर सकें। पर कोई बेकार व्यक्ति न्यायालय के सम्मुख यह दावा नहीं कर सकता कि मैं बेकार हूँ और संविधान के अनुसार मुझे नौकरी व आजीविका कमाने का अवसर

दिया जाना चाहिये। इस प्रकार के अधिकारों को Non-justiciable कहा जाता है।

संविधान के अनुसार भारतीय नागरिकों को जो मूलभूत अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) समानता का अधिकार।
(२) स्वतन्त्रता का अधिकार।
(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार।
(४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार।
(५) संस्कृति और शिक्षा का अधिकार।
(६) सम्पत्ति का अधिकार।
(७) संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

इन सातों प्रकार के अधिकारों पर अब हम विस्तार के साथ विचार करेंगे।

समानता का अधिकार

संविधान की दृष्टि में सब नागरिक एक समान हैं। राज्य किसी के साथ भेद-भाव का बरताव नहीं कर सकता। धर्म, कुल, जन्म, नसल, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के कारण किसी के साथ किसी प्रकार का भेदभाव करना संविधान के विरुद्ध है। लोकतन्त्र शासन में समानता के अधिकार का बहुत अधिक महत्त्व है। इसके बिना लोकतन्त्र शासन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। समानता के अधिकार में निम्नलिखित अधिकारों का समावेश हो जाता है—

(१) कानून के सम्मुख सब नागरिक समान हैं। सब के साथ एक जैसे कानून लागू होते हैं। कानून की दृष्टि में न कोई छोटा है न कोई बड़ा, न कोई छूत है न कोई अछूत, न कोई कुलीन है न कोई नीच। सब को कानून का एक समान रूप से संरक्षण प्राप्त होता है, और न्यायालय द्वारा सबके मुकदमों का एक ही तरह से निर्णय किया जाता है। अपराध करने पर सब को एक ही कानून के अनुसार दण्ड दिया जाता है।

(२) राजकीय पदों व नौकरियों को प्राप्त करने का सब को एक समान अधिकार है। धर्म, जाति, कुल आदि के भेद के कारण किसी को सरकारी नौकरी प्राप्त करने के अवसर से वंचित नहीं रखा जायगा। इस विषय में स्त्री और पुरुष में भी कोई भेद नहीं किया जायगा। संविधान में इस सम्बन्ध में एक अपवाद भी किया गया है। वह यह है कि पिछड़ी हुई जातियों के लिये सरकारी नौकरियों में कुछ स्थान रिजर्व भी रखे जा सकते हैं। भारत में अनेक जातियां ऐसी हैं, जो शिक्षा आदि में पिछड़ी हुई होने के कारण अब तक सरकारी नौकरियों में समुचित रूप से हाथ नहीं बटा सकी हैं। इनके लिये सरकार कुछ स्थान सुरक्षित रख सकती है, ताकि इन्हें अपनी उन्नति करने का अवसर मिले।

(३) सब लोग सार्वजनिक स्थानों का समान रूप से उपयोग करने का अधिकार रखते हैं। सार्वजनिक भोजनालय (रिस्तोरां आदि), दूकान, सिनेमा, सार्व-

जनिक मनोरंजन के स्थान (पार्क, उद्यान आदि), सड़क, कुएं, तालाब, होटल, स्नान के घाट आदि का सब लोग समान रूप से उपयोग कर सकते हैं। इन सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने से किसी व्यक्ति को केवल इस आधार पर नहीं रोका जा सकता, क्योंकि वह किसी विशेष कुल या जाति में उत्पन्न हुआ है या किसी विशेष धर्म का अनुयायी है।

(४) संविधान द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है, और कानून की दृष्टि में छूत-अछूत के भेद को मिटा दिया गया है। यदि कोई मनुष्य किसी को अछूत समझे और इस कारण उसे सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने में रुकावट डाले, तो उसे सरकार द्वारा दण्ड दिया जा सकता है।

(५) सामाजिक समानता की स्थापना के लिये यह व्यवस्था भी की गई है कि सरकार द्वारा किसी मनुष्य को कोई खिताब न दिया जाए और न भारत का कोई नागरिक कोई विदेशी खिताब ही स्वीकार कर सके। अंग्रेजी शासन के समय में लोगों को रायबहादुर, सर, खां साहब, राजा आदि अनेक खिताब दिये जाते थे। अब उनका अन्त कर दिया गया है। विद्या, सैनिक योग्यता या सार्वजनिक सेवा के कारण अब भी सरकार कुछ उपाधियां प्रदान करती हैं, पर इनका प्रयोजन केवल यह है कि लोगों को लोकसेवा के लिये प्रोत्साहन दिया जाए।

स्वतन्त्रता का अधिकार

स्वतन्त्रता के अधिकार में निम्नलिखित अधिकार शामिल किये गये हैं—

(१) भाषण और विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता—भारत के सब नागरिक भाषण, लेख, मुद्रण व अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रकट कर सकने की स्वतन्त्रता रखते हैं। पर यह स्वतन्त्रता अमर्यादित नहीं है। इस मूलभूत अधिकार के होते हुए भी भारत में कोई ऐसा क़ानून बनाया जा सकता है, जिसका प्रयोजन राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध व सदाचारपूर्ण वातावरण को बनाये रखने के लिये भाषण, लेख, मुद्रण आदि की स्वतन्त्रता पर रोक लगाना हो। भाषण, लेख आदि की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग भी किया जा सकता है। कोई नागरिक ऐसे व्याख्यान दे सकता है, या ऐसे लेख लिख सकता है, जो देश की सुरक्षा के लिये विघातक हों, विदेशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध में रुकावट डालते हों, या अनाचार का प्रचार करते हों। इस प्रकार की स्वतन्त्रता को कानून द्वारा मर्यादित व नियन्त्रित किया जा सकता है। भाषण और लेख की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर कोई नागरिक दूसरों की मानहानि भी नहीं कर सकता। यदि कोई मनुष्य किसी की मानहानि करे, तो उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है, और न्यायालय से उसे दण्ड दिलाया जा सकता है।

(२) शान्तिपूर्वक व निःशस्त्र होकर एकत्र होने और सभाएं करने की स्वतन्त्रता का अधिकार—भारत में नागरिकों को यह अधिकार है कि वे शान्तिपूर्वक व निःशस्त्र होकर एकत्र हो सकें, जुलुस निकाल सकें और सभाएं कर सकें। पर इस स्वतन्त्रता को भी सार्वजनिक हित की दृष्टि से और अमन-चैन को कायम रखने के लिये मर्यादित व

नियन्त्रित किया जा सकता है।

(३) समुदाय और संघ बनाने की स्वतन्त्रता—भारत के नागरिक स्वतन्त्रतापूर्वक अपने को विविध समुदायों व संघों में संगठित कर सकते हैं। पर वे ऐसे समुदाय नहीं बना सकते, जिनका प्रयोजन राज्य की सुरक्षा में बाधा डालना हो, सार्वजनिक हित का विरोध करना हो, तथा किसी प्रकार से शान्ति और व्यवस्था को भंग करना हो। अतः ऐसे कानून बनाये जा सकते हैं, जिनसे इन अधिकारों को मर्यादित व नियन्त्रित किया जा सके।

(४) भारत के राज्यक्षेत्र में सब जगह बे-रोक-टोक घूमने व आने-जाने की स्वतन्त्रता।

(५) भारत के राज्यक्षेत्र में किसी भी जगह निवास करने व बस जाने की स्वतन्त्रता।

(६) सम्पत्ति कमाने, रखने व उसे व्यय करने या दूसरों को दे सकने की स्वतन्त्रता।

(७) किसी भी पेशे, कारोबार, व्यापार व कार्य को कर सकने की स्वतन्त्रता।

इन सात प्रकार की स्वतन्त्रताओं के अतिरिक्त संविधान द्वारा भारत के नागरिकों को स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अन्य भी अनेक अधिकार दिये गये हैं—

(१) किसी मनुष्य को यदि गिरफ्तार किया जाए, तो यह आवश्यक है कि उसे गिरफ्तार करने का कारण बताया जाय। बिना कारण बताये किसी को हवालात में बन्द नहीं रखा जा सकता। गिरफ्तार करने के बाद यह भी जरूरी है कि २४ घण्टे के अन्दर गिरफ्तार व्यक्ति को मजिस्ट्रेट के सम्मुख पेश किया जाए, और मजिस्ट्रेट की अनुमति के बिना उसे बाद में हवालात में न रखा जाए।

(२) न्यायालय से दण्डित हुए बिना किसी व्यक्ति को अपराधी नहीं माना जा सकता। अपराधियों को कानून के अनुसार ही सजा दी जा सकती है। एक अपराध के लिये एक से अधिक बार दण्ड नहीं दिया जा सकता। किसी अभियुक्त को इस बात के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता कि वह अपने खिलाफ खुद गवाही दे।

नजरबन्दी का कानून—इसी प्रसंग में 'बिना मुकदमा नजरबन्दी कानून' (Preventive Detention Act) के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उपयोगी होगा। संविधान द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह बिना मुकदमा चलाये किसी व्यक्ति को तीन महीने तक नजरबन्द रख सके। पर इस प्रकार नजरबन्द करने पर सरकार को तुरन्त यह बताना पड़ता है कि उस व्यक्ति के विरुद्ध क्या अभियोग है। तीन महीने तक की नजरबन्दी की इस अवधि को दो प्रकार से बढ़ाया जा सकता है—(१) नजरबन्दी के मामले में परामर्श देने वाली समिति (Advisory Board) की यदि यह सम्मति हो कि यह अवधि बढ़ा दी जानी चाहिये। इस समिति के सदस्य ऐसे ही व्यक्ति हो सकते हैं, जो या तो हाईकोर्ट के न्यायाधीश रह चुके हों या न्यायाधीश होने की योग्यता रखते हों। (२) भारत की पार्लियामैन्ट को भी यह अधिकार दिया गया है कि वह कानून

बनाकर किसी व्यक्ति की नजरबन्दी की अवधि को तीन मास से अधिक समय के लिये बढ़ा सके। इस दशा में एडवाइजरी बोर्ड की सम्मति की आवश्यकता नहीं होगी।

बिना मुकदमा चलाये किसी व्यक्ति को नजरबन्द कर सकने के इस कानून के औचित्य के सम्बन्ध में मतभेद की गुंजाइश है। इस कानून के अनुसार सरकार जिस व्यक्ति को चाहे नजरबन्द कर सकती है, और उस पर मुकदमा चलाये बिना व न्यायालय से दण्डित हुए बिना ही उसे कैद में रख सकती है। अनेक विचारकों का कहना है कि यह कानून लोकतन्त्र शासन के लिये सर्वथा अनुचित है। संविधान द्वारा नागरिकों को स्वतन्त्रता सम्बन्धी जो भी अधिकार दिये गये हैं, उन सब पर इस कानून द्वारा पानी फिर जाता है। इसका प्रयोग कर सरकार अपने राजनीतिक विरोधियों को नजरबन्द कर सकती है, और जितने समय तक चाहे उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकती है। अंग्रेजी शासन के समय में विदेशी शासकों ने भारत के स्वातन्त्र्य आन्दोलन को कुचलने के उद्देश्य से इस प्रकार के कानून बनाये थे। स्वतन्त्रता के बाद भी भारत में इस प्रकार के कानून की सत्ता और उसका संविधान द्वारा अनुमत होना लोकतन्त्रवाद के एकदम विरुद्ध है। अन्य लोकतन्त्र राज्यों के संविधानों में इस प्रकार के कानून की कहीं भी गुंजाइश नहीं रखी गई है।

पर अन्य विचारक भारत की वर्तमान परिस्थितियों में इस प्रकार के कानून की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। भारत को स्वाधीन हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ है। अभी देश में ऐसे लोगों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है, जो ऐसे कार्यों को करने में संकोच न करें, जिनसे देश की स्वतन्त्रता व सुरक्षा में बाधा पहुँचती हो। ऐसे देश-द्रोही लोगों के नाशकारी कार्यों को रोकने के लिये इस प्रकार के कानून की अभी कुछ समय के लिये आवश्यकता रहेगी ही। पर सरकार इस कानून का दुरुपयोग नहीं कर सकती, क्योंकि सरकार के लिये पहले तो यह आवश्यक है कि इस कानून के अनुसार नजरबन्द किये गये व्यक्ति को यह बताये कि उसे किन कारणों से नजरबन्द किया गया है। इसके बाद सरकार के लिये यह भी जरूरी है कि वह नजरबन्दी के सब मामलों को एक परामर्श समिति (Advisory Board) के सम्मुख पेश करे। इस समिति के तीन सदस्य होते हैं, जो या तो हाईकोर्ट के न्यायाधीश रह चुके हों, या न्यायाधीश पद पर नियुक्ति की योग्यता रखते हों। परामर्श समिति के लिये यह आवश्यक है कि वह नजरबन्दी के मामले के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दस सप्ताह की अवधि तक सरकार के पास भेज दे। यदि परामर्श समिति की राय में किसी व्यक्ति को पर्याप्त कारण के बिना नजरबन्द किया गया हो, तो सरकार उसे रिहा कर देने के लिये विवश होगी।

अब (यह संशोधित कानून १९५१ ई० में बना था) बिना मुकदमा चलाये नजरबन्दी का कानून बहुत कुछ निर्दोष हो गया है। अब सरकार के लिये यह सुगम नहीं रह गया है कि वह किसी व्यक्ति को बिना पर्याप्त कारण के नजरबन्द रख सके और इस प्रकार नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर सके।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

भारत के संविधान में यह व्यवस्था की गई है, कि कोई मनुष्य किसी दूसरे का शोषण न कर सके। इस सम्बन्ध में की गई व्यवस्थाएं निम्नलिखित हैं—

(१) १४ वर्ष से कम आयु के बालकों व बालिकाओं को कारखानों में काम करने के लिये नहीं रखा जा सकता। कम आयु के व्यक्तियों को कम मजदूरी देनी पड़ती है, अतः कारखानों के मालिक बालक-बालिकाओं को नौकरी में रखना अधिक पसन्द करते हैं। पर अब संविधान द्वारा १४ वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों को कारखानों में काम करने के लिये नहीं रखा जा सकता।

(२) मनुष्यों (स्त्री, पुरुष व बच्चे) का क्रय-विक्रय करना अपराध माना जायगा, और इस अपराध के लिये कानून द्वारा सजा दी जायगी।

(३) कोई किसी से बेगार नहीं ले सकता, और न कोई किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध श्रम करने के लिये विवश कर सकता है। ब्रिटिश युग में भारत में बेगार लेने की प्रथा प्रचलित थी। न केवल जमींदार अपितु सरकारी अफसर भी देहात के गरीब लोगों से समय-समय पर बेगार लेते रहते थे। पर अब इस प्रथा को कानून के विरुद्ध घोषित कर दिया गया है।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये कि भारत में राज्य को यह अधिकार है कि वह सार्वजनिक प्रयोजनों से लोगों को बाधित रूप से कार्य करने के लिये विवश कर सके। उदाहरण के लिये युद्ध के समय या किसी अन्य राष्ट्रीय विपत्ति के अवसर पर सरकार लोगों को विविध प्रकार के कार्यों के लिये विवश कर सकती है। वह ऐसे कानून बना सकती है या ऐसे आदेश दे सकती है, जिससे युवकों को बाधित रूप से सेना में भरती किया जा सके, या किसी व्यक्ति की सेवा को सरकारी कार्य के लिये प्राप्त किया जा सके।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

संविधान द्वारा भारत के सब नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है कि वे अपने विश्वासों के अनुसार किसी भी धर्म को मान सकें, उसके विधि-विधानों का अनुसरण कर सकें, और उसका प्रचार कर सकें। लोग अपनी धार्मिक संस्थाओं का भी संगठन कर सकते हैं, और ये संस्थाएं सम्पत्ति भी रख सकती हैं। अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिये ये संस्थाएं स्कूल, कालिज, अस्पताल, अनाथालय आदि भी खोल सकती हैं।

पर धार्मिक स्वतन्त्रता पूर्णतया अमर्यादित व अनियन्त्रित नहीं है। अनेक बार लोगों की धार्मिक स्वतन्त्रता सार्वजनिक अमन-चैन में बाधक हो सकती है। कोई मनुष्य अपने धर्म का प्रचार इस ढंग से कर सकता है, जिससे अन्य धर्मों के अनुयायियों को एतराज हो। धर्म प्रचार व धार्मिक कार्य इस ढंग से भी किये जा सकते हैं, जिससे सार्वजनिक शान्ति के लिये खतरा पैदा हो। राज्य का कर्त्तव्य है कि ऐसी धार्मिक स्वतन्त्रता को

नियन्त्रित करे। कतिपय धार्मिक विश्वास व विधि-विधान नैतिकता व सदाचार-सम्बन्धी विचारों के भी प्रतिकूल हो सकते हैं। भारत में कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी रहे हैं, जो नर बलि देना धर्म का अंग मानते थे। सती प्रथा भी धर्म का अंग समझी जाती थी। अब तक भी भारत में कुछ लोग ऐसे हैं, जो सती प्रथा को अनुचित नहीं मानते, अपितु सती होना गौरव की बात समझते हैं। धार्मिक स्वतन्त्रता की आड़ लेकर कोई मनुष्य इन बातों को नहीं कर सकता। ऐसा करने वालों को सरकार दण्ड भी देती है।

भारत एक धर्मनिरपेक्ष (Secular) राज्य है। वह धर्म के मामले में तटस्थ है। इसी कारण भारत में सरकारी आमदनी का कोई अंश किसी धर्म विशेष के प्रचार के लिये खर्च नहीं किया जा सकता। इसीलिये सरकार द्वारा संचालित शिक्षणालयों में धार्मिक शिक्षा न देने की व्यवस्था की गई है। जिन शिक्षणालयों का संचालन धार्मिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है, उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों को भी धर्मशिक्षा के लिये विवश नहीं किया जा सकता।

हिन्दुओं में छूत-अछूत की प्रथा है। कुछ लोगों को जन्म के कारण ही अछूत माना जाता है। उन्हें न मन्दिरों में प्रविष्ट होने दिया जाता है, और न वे मन्दिर में जाकर देव दर्शन ही कर सकते हैं। पर यह बात नैतिकता के विरुद्ध है कि किसी को अछूत समझा जाए और उसे मानवता के साधारण अधिकार भी प्राप्त न हों। अतः संविधान के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि राज्य ऐसे कानून बना सके, जिनसे हिन्दुओं के किसी वर्ग को सार्वजनिक मन्दिरों व तीर्थस्थानों के उपयोग से न रोका जा सके।

संस्कृति और शिक्षा का अधिकार

भारत एक बहुत बड़ा देश है। इसमें अनेक धर्मों के अनुयायी लोग निवास करते हैं, बहुत-सी भाषाएं बोली जाती हैं, और अनेक संस्कृतियों की सत्ता है। धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, संस्कृति आदि की दृष्टि से भारत के निवासियों में अनेक विभिन्नताएं पाई जाती हैं। यह आवश्यक है कि इन सब की रक्षा की व्यवस्था की जाए। विविध लोगों की संस्कृति सम्बन्धी विभिन्नताओं की रक्षा के लिये संविधान द्वारा निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गई हैं—

(१) प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग (Minority) को यह अधिकार है कि वह अपनी भाषा, लिपि व संस्कृति को कायम रख सके।

(२) सब अल्पसंख्यक वर्गों को, चाहे वे भाषा पर आधारित हों या धर्म पर, यह अधिकार होगा कि वे अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा-संस्थाओं को स्थापित कर सकें व उनका संचालन कर सकें।

(३) राज्य द्वारा शिक्षा संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में इस आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में हैं।

(४) राज्य द्वारा संचालित या राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाली

किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश पाने से किसी नागरिक को धर्म, नसल, जाति अथवा भाषा के आधार पर रोका नहीं जा सकेगा। इस प्रकार जहां अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों को अपनी शिक्षा-संस्थाएं खोलने की पूरी स्वतन्त्रता होगी, वहां वे राज्य द्वारा संचालित या सहायता-प्राप्त शिक्षा संस्थाओं से भी पूरा पूरा लाभ उठा सकेंगे।

सम्पत्ति का अधिकार

भारत के संविधान द्वारा सब नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे सम्पत्ति का अर्जन कर सकें, उसपर अपना स्वत्त्व रख सकें, उसका क्रय-विक्रय कर सकें और उसे अन्य प्रकार से हस्तान्तरित कर सकें। इस प्रकार हमारे संविधान में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वत्त्व के अधिकार (Right of private property) को स्वीकार किया गया है।

पर अन्य अनेक मूलभूत अधिकारों के समान सम्पत्ति के अधिकार को भी पूरी तरह से अनियन्त्रित व अमर्यादित नहीं रखा गया है। संविधान के अनुसार राज्य को यह अधिकार है कि वह सार्वजनिक कार्य के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति को हस्तगत कर सके। पर ऐसा करते हुए राज्य के लिये यह आवश्यक है कि वह सम्पत्ति के स्वामी को समुचित मुआवजा (Compensation) प्रदान करे। इसके लिये संविधानकी ३१वीं धारा में यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी चल या अचल सम्पत्ति को, जिसमें वाणिज्य सम्बन्धी व व्यवसाय सम्बन्धी उपक्रम भी शामिल हैं, और जिसमें इस प्रकार के उपक्रमों की स्वामी कम्पनी भी अन्तर्गत हैं, सार्वजनिक प्रयोजन के लिये सरकार कानून द्वारा हस्तगत कर सकती है; पर ऐसा करते हुए कानून द्वारा यह भी निश्चित कर दिया जायगा कि हस्तगत की हुई सम्पत्ति के बदले में कितना मुआवजा दिया जाए, या उन सिद्धान्तों को निश्चित कर दिया जायगा, जिनके अनुसार मुआविजे की मात्रा निर्धारित की जाए। जब संघ या उसके अन्तर्गत किसी राज्य की विधान-सभा सार्वजनिक प्रयोजन से किसी सम्पत्ति को हस्तगत करने के कानून बनाए, तो वह कानून तभी लागू हो सकेगा, जब कि राष्ट्रपति उसपर अपनी सहमति प्रदान कर दे।

जब अनेक राज्यों ने जमींदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में कानून स्वीकृत किये, तो यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ये कानून संविधान द्वारा स्वीकृत सम्पत्ति के अधिकार के अनुकूल हैं या नहीं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में कुछ जमींदारों ने इन कानूनों के विरुद्ध अभियोग दायर किये। कतिपय राज्यों ने जमींदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में जो कानून बनाये थे, उनके विषय में यह आशंका थी कि कहीं सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उन्हें अवैध न घोषित कर दिया जाए। अतः संविधान में परिवर्तन कर संविधान की ३१वीं धारा में एक नई उप धारा (३१ ए) जोड़ दी गई, जिसके द्वारा यह व्यवस्था की गई कि जमीन पर दखल या तत्सम्बन्धी अधिकारों या उन अधिकारों की समाप्ति अथवा उनमें परिवर्तन विषयक कोई कानून संविधान में प्रतिपादित मूलभूत अधिकारों के कारण अवैध नहीं माना जायगा। इसके साथ ही एक अन्य उप धारा

(३१बी) भी जोड़ी गई, जिसके द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि जमींदारी के उन्मूलन सम्बन्धी कतिपय कानून, जिनकी सूची संविधान में एक नई अनुसूची (Schedule) जोड़कर दे दी गई है, संविधान द्वारा प्रतिपादित मूलभूत अधिकारों के कारण अवैध नहीं माने जाएंगे।

भारत के संविधान में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन १९५१ में किया गया था। सार्वजनिक हित की दृष्टि से जमींदारी उन्मूलन को आवश्यक समझकर उत्तर प्रदेश, बिहार आदि कितने ही राज्यों न इसके लिये कानून स्वीकार किये थे। इनमें से बिहार की विधान सभा द्वारा स्वीकृत कानून को बिहार के हाईकोर्ट ने अवैध घोषित कर दिया था। अन्य राज्यों के जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानूनों के खिलाफ भी सुप्रीम कोर्ट में अपील दायर थी। इस दशा में संविधान में संशोधन करके यह निश्चय कर दिया गया कि जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी कानूनों को मूलभूत अधिकारों की आड़ लेकर न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित न किया जा सके।

यद्यपि भारत के संविधान में सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकृत किया गया है, पर सार्वजनिक हित की दृष्टि से इस अधिकार को मर्यादित अवश्य किया जा सकता है। लोकतन्त्र शासन को कायम रखते हुए शान्तिमय उपायों द्वारा भी भारत समाजवाद की ओर अग्रसर हो सकता है, इसकी पूरी गुंजाइश हमारे संविधान में रखी गई है।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार
(Right of Constitutional Remedies)

मूलभूत अधिकारों की रक्षा के लिये जो कतिपय अधिकार नागरिकों को दिये गये हैं, उन्हें 'संवैधानिक उपचार के अधिकार' कहते हैं। संविधान में मूलभूत अधिकारों का वर्णन कर देने मात्र से नागरिकों के इन अधिकारों की रक्षा नहीं हो जाती। उसके लिये यह भी आवश्यक होता है कि ऐसे उपचारों या उपायों की व्यवस्था भी संविधान द्वारा की जाए, जिनका उपयोग कर नागरिक लोग अपने मूलभूत अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हों। ये उपचार निम्नलिखित हैं—

(१) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)—इसके अनुसार न्यायालय को यह अधिकार है कि वह गिरपतार किये गये व्यक्ति को अपने समक्ष प्रस्तुत करने का आदेश दे सके। इस प्रकार बन्दी के प्रस्तुत किये जाने पर न्यायालय यह विचार करता है कि उसे कानून के अनुसार बन्दी बनाया गया है, या कानून के विरुद्ध। यदि कोई व्यक्ति कानून के खिलाफ गिरफ्तार हो, तो न्यायालय उसे रिहा करने का आदेश दे देता है। गिरफ्तार व्यक्ति की ओर से न्यायालय के सम्मुख बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लिये आवेदनपत्र पेश किया जा सकता है, और इस आवेदन पत्र के पेश होने पर न्यायालय बन्दी को प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करने का आदेश देता है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण की यह व्यवस्था नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(२) परमादेश (Mandamus)—यह एक आदेश होता है, जिसे सुप्रीम

कोर्ट और हाईकोर्ट जारी करते हैं। यदि कोई संस्था अपने किसी कर्त्तव्य का पालन न कर रही हो, तो परमादेश द्वारा न्यायालय उसे कर्त्तव्य पालन के लिये आज्ञा दे सकता है। मान लीजिए कि कारखाने में काम करते हुए किसी मजदूर को चोट लग गई। फैक्टरी कानून के अनुसार कारखाने के मालिक का यह कर्त्तव्य है कि वह उस मजदूर को मुआविजे के रूप में धन प्रदान करे। पर वह अपने इस कर्त्तव्य के पालन की उपेक्षा करता है। इस दशा में हाईकोर्ट कारखाने के मालिक को मुआवजा देने के लिये आदेश दे सकता है।

(३) प्रतिषेध (Prohibition)—यह आदेश हाईकोर्ट अपने अधीन छोटे न्यायालयों को देता है। यदि कोई छोटा न्यायालय अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर कार्रवाई कर रहा हो, या न्यायकार्य करते हुए कानून की विधि के विपरीत चल रहा हो, तो हाईकोर्ट उसे ऐसा करने से प्रतिषेध कर सकता है। इस व्यवस्था का प्रयोग अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। मान लीजिए, कोई म्युनिस्पल बोर्ड किसी जमीन को सार्वजनिक कार्य के लिये प्राप्त करना चाहता है। उसके लिये यह तो जरूरी है ही, कि जमीन के लिये समुचित मुआविजा दे। पर मुआविजे की रकम का निश्चय करते हुए उसके लिये यह भी जरूरी है कि वह सब सम्बद्ध व्यक्तियों की राय को जाने। पर यदि कोई म्युनिसिपल बोर्ड सब सम्बद्ध पक्षों की राय जाने बिना ही जमीन के मुआविजे की रकम तय कर ले, तो हाईकोर्ट उसे प्रतिषेध की आज्ञा दे सकता है।

(४) क्वो वारन्टो (Quo Warranto)—इस व्यवस्था द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को जिसने किसी पद या अधिकार को कानून के प्रतिकूल प्राप्त कर रखा हो, हाईकोर्ट उस पद या अधिकार को प्रयुक्त करने से रोक सकता है। मान लीजिए, कानून द्वारा यह व्यवस्था है कि मजिस्ट्रेट के पद पर किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया जा सकता, जिसकी आयु ६० साल से अधिक हो। पर ६० साल की आयु के बाद भी कोई व्यक्ति इस पद पर काम कर रहा है। इस दशा में हाईकोर्ट उसे इस पद को रिक्त करने का आदेश दे सकता है।

ये सब व्यवस्थाएं नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की रक्षा करने का कार्य करती हैं। संविधान द्वारा प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह अपने मूलभूत अधिकारों की रक्षा के लिये सुप्रीम कोर्ट की शरण ले सके। हाईकोर्ट के सम्मुख भी इन अधिकारों की रक्षा के लिये आवेदनपत्र उपस्थित किये जा सकते हैं। यदि विधान सभा कोई ऐसा कानून बनाए, जो नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का अपहरण करता हो, तो नागरिक हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के सम्मुख उसके विरुद्ध अपील कर सकते हैं, और यदि न्यायालय की सम्मति में भी वह कानून संविधान के विरुद्ध हो, ता वह उसे अवैध घोषित कर सकता है।

मूलभूत अधिकारों को स्थगित व मर्यादित कर सकना

भारत के संविधान द्वारा नागरिकों के जो मूलभूत अधिकार स्वीकार किये गये हैं, उन्हें कतिपय विशेष दशाओं में स्थगित (Suspended) और मर्यादित

(Restricted) भी किया जा सकता है । विशेष दशाएं निम्नलिखित हैं—

(१) यदि राष्ट्रपति संकट काल (Emergeney) की घोषणा कर दे, तो भाषण, लेख, सभा आदि की स्वतन्त्रता के अधिकार संकट काल के लिये स्थगित किये जा सकते हैं। यही बात अन्य अनेक मूलभूत अधिकारों के सम्बन्ध में भी है।

(२) संविधान में संशोधन द्वारा भी इन मूलभूत अधिकारों को मर्यादित किया जा सकता है।

मूलभूत अधिकारों पर एक दृष्टि

इसमें सन्देह नहीं कि भारत के संविधान द्वारा नागरिकों को वे सब मूलभूत अधिकार प्रदान किये गये हैं, जिनकी सत्ता लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये अनिवार्य है। पर साथ ही यह भी सत्य है कि इन मूलभूत अधिकारों को स्थगित व मर्यादित करने की जो व्यवस्थाएँ संविधान में की गई हैं, उनके कारण सरकार नागरिकों को इन अधिकारों से वंचित भी कर सकती है। बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द कर सकने का कानून, संकट काल की घोषणा कर संविधान द्वारा प्रतिपादित लोकतन्त्र शासन प्रणाली को स्थगित कर सकने का राष्ट्रपति को दिया गया अधिकार, आदि कतिपय बातें ऐसी हैं, जिनका उपयोग कर कोई भी सरकार अपने हाथों में उसी ढंग से शक्ति ले सकती है, जैसा कि ब्रिटिश युग में हुआ करता था। संभवतः ये बातें भारत की वर्तमान परिस्थितियों में आवश्यक भी हैं, पर इनके कारण संविधान द्वारा प्रतिपादित मूलभूत अधिकार बहुत कुछ नियंत्रित हो जाते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) नये संविधान के अनुसार मूलभूत अधिकारों का क्या अर्थ है ? भारतीय नागरिकों के मूलभूत अधिकार कौन से हैं ? (यू. पी. १९५१)

(२) भारत के संविधान द्वारा नागरिकों को जो मूलभूत अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनका उल्लेख कीजिये। समानता के अधिकार को विशेष रूप से स्पष्ट कीजिये। (मध्य भारत १९५३)

(३) भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकारों के महत्त्व की विवेचना कीजिये।

(४) भारतीय संविधान कतिपय मूलभूत अधिकारों की गारण्टी करता है। ये अधिकार कौन से हैं ? यह प्रदर्शित करने के लिए कि इन अधिकारों को मर्यादित किया गया है, एक दो उदाहरण दीजिए। (राजपूताना १९५३)

(५) संविधान में भारतीय नागरिकता के विषय में क्या व्यवस्था की गई है ?

(६) किन संवैधानिक उपचारों द्वारा भारतीय नागरिक अपने मूलभूत अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं ?

पांचवां अध्याय

राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धान्त

(Directive Principles of State Policy)

भारत के संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें उन सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है, जिन्हें भारत की संघ सरकार व विविध राज्यों की सरकारों को राजकीय नीति का निर्धारण करते हुए अपने सम्मुख रखना है। इन सिद्धान्तों द्वारा भी भारत के नागरिकों को कतिपय मूलभूत अधिकार प्राप्त होते हैं। पर इन अधिकारों और पिछले अध्याय में उल्लेख किये गये मूलभूत अधिकारों में भेद यह है कि इन्हें प्राप्त करने के लिए कोई नागरिक न्यायालयों का आश्रय नहीं ले सकता। वस्तुतः ये अधिकार या राजकीय नीति के ये निर्देशक सिद्धान्त एक आदर्श उपस्थित करते हैं। ये नागरिकों को कतिपय ऐसी सुविधाएँ दिलाते हैं, जिनकी प्राप्ति नागरिकों के व्यक्तित्त्व के विकास के लिये आवश्यक है।

जब इन सिद्धान्तों का न्यायालय द्वारा प्रयोग नहीं कराया जा सकता, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, कि संविधान में इनका उल्लेख किस प्रयोजन से किया गया है। इसका उत्तर यही है कि भारत के संविधान के निर्माताओं ने सरकार के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित कर दिया है; वह किस नीति का अनुसरण करे, यह बात स्पष्ट कर दी है। पार्लियामेण्ट व राज्यों की विधान सभाओं में जो व्यक्ति सदस्य रूप से निर्वाचित हों, अब उनका यह कर्तव्य हो जाता है, कि वे संविधान द्वारा प्रतिपादित इस राजकीय नीति का अनुसरण करें। पर विधान सभाएँ इस नीति का प्रयोग तभी करेंगी, जब कि भारत का लोकमत जागरूक होगा, और वह जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों को निरन्तर इस बात के लिए विवश करता रहेगा कि वे संविधान में प्रतिपादित राजकीय नीति के सिद्धान्तों का अनुसरण अवश्य करें। लोकमत के समर्थन के बिना विधान सभाओं के सदस्य इन सिद्धान्तों के प्रति उपेक्षा भाव रख सकते हैं, क्योंकि कोई नागरिक इनको क्रिया में परिणत कराने के लिये न्यायालयों की शरण नहीं ले सकता।

संविधान में इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन से एक लाभ यह भी है कि विधान सभाओं में चाहे किसी भी राजनीतिक पार्टी का बहुमत हो, उसे राजकीय नीति का निर्धारण करते हुए इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखना ही होगा। इससे भारत की राजकीय नीति में स्थिरता और एकसदृशता बनी रह सकेगी।

राजकीय नीति के जो निर्देशक सिद्धान्त संविधान में प्रतिपादित किये गये हैं, उन्हें स्थूल रूप से चार भागों में बांटा जा सकता है—

(१) आर्थिक नीति के सम्बन्ध में।

(२) सामाजिक और शिक्षाविषयक नीति के सम्बन्ध में।

(३) शासन के सम्बन्ध में।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के सम्बन्ध में।

हम इन चारों पर क्रमशः विचार करेंगे--

आर्थिक नीति सम्बन्धी सिद्धान्त

संविधान में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि भारत में आर्थिक संगठन के क्या आदर्श होने चाहियें। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्तव्य निर्धारित किये गये हैं--

(१) सब नागरिकों (स्त्री और पुरुष-दोनों) को यह अधिकार है कि वे आजीविका कमाने के साधन प्राप्त कर सकें।

(२) आर्थिक उत्पादन के साधनों का स्वत्त्व और नियन्त्रण इस प्रकार का हो, जिससे सामूहिक हित में अधिकतम वृद्धि हो, और उनका सार्वजनिक हित की दृष्टि से समुचित रूप से प्रयोग हो सके।

(३) आर्थिक संगठन इस प्रकार का न हो, कि उससे सम्पत्ति व आर्थिक उत्पादन के साधन कुछ थोड़े से लोगों के पास संचित हो जाएँ, और ऐसा होने से सार्वजनिक हित में बाधा उस्थित होने लगे।

(४) सब व्यक्तियों (स्त्री और पुरुष-दोनों) को समान कार्य के लिये समान वेतन दिया जाय।

(५) मजदूरी करने वाले पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति का, तथा बालिकाओं और बालकों की सुकुमार आयु का किसी भी प्रकार से दुरुपयोग न किया जा सके। किसी नागरिक को आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ऐसे कार्य में न लगना पड़े, जो उसकी आयु तथा सामर्थ्य के अनुरूप न हो।

(६) शैशव तथा किशोर अवस्था के व्यक्तियों को शोषण से तथा नैतिक पतन से बचाया जाए।

(७) प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह शिक्षा प्राप्त कर सके, काम प्राप्त कर सके और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी व अपाहिज होने की दशा में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सके। राज्य का कर्तव्य है कि अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार इन सब बातों की व्यवस्था करे।

(८) प्रत्येक मजदूर को इतनी मजदूरी अवश्य मिले, जिससे कि वह न केवल अपना व अपने परिवार का भरण पोषण भली-भांति कर सके ,अपितु अपने रहन-सहन को समुचित स्तर पर रखते हुए वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में भी हाथ बँटा सके।

(९) राज्य को ऐसी व्यवस्था भी करनी चाहिए, जिससे मजदूर वर्ग के काम करने की दशाएँ उचित हों। वे ऐसी परिस्थितियों में कार्य करें, जो मनुष्यों के योग्य हों, और

जिनसे उन्हें किसी प्रकार का नुकसान पहुँचने की सम्भावना न हो।

(१०) राज्य का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवस्था करे, जिससे लोगों को पुष्टिकर भोजन मिल सके, उनके स्वास्थ्य में उन्नति हो, और उनका जीवन स्तर ऊँचा उठे।

(११) कृषि तथा पशुपालन के लिए आधुनिक वैज्ञानिक ढंग को अपनाया जाए। गाय तथा दूध देने वाले अन्य पशुओं की नसल में सुधार किया जाए, और खेती के लिये नये उपकरणों का प्रयोग किया जाए।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत के संविधान में आर्थिक नीति के सम्बन्ध में जिन सिद्धातों का प्रतिपादन किया गया है, यदि सरकार उनको पूरी तरह से प्रयोग में लाने का प्रयत्न करे, तो इस देश की आर्थिक उन्नति बड़ी तेजी के साथ हो सकती है। ये सब सिद्धान्त बहुत उपयोगी हैं, और इनके सम्बन्ध में मतभेद हो सकना सम्भव नहीं है।

सामाजिक और शिक्षाविषयक नीति के सम्बन्ध में सिद्धान्त

भारत की सामाजिक और शिक्षा विषयक नीति के सम्बन्ध में भारत के संविधान द्वारा जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य का प्रयत्न होगा कि संविधान के लागू होने के दस साल के अन्दर-अन्दर १४ वर्ष तक की आयु के सब बालकों व बालिकाओं को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा देने की व्यवस्था की जाए। जिस समय यह व्यवस्था क्रिया में परिणत हो जायगी, गरीब लोगों के बच्चे भी आठवीं श्रेणी तक की शिक्षा निःशुल्क प्राप्त कर सकेंगे, और कुछ समय बाद भारत से निरक्षरता का सर्वथा अन्त हो जायगा।

(२) जनता के जो वर्ग निर्बल व पिछड़े हुए हैं,—विशेषतया अछूत समझी जाने वाली जातियां और पिछड़ी हुई जातियां—उनको शिक्षित करने और उनकी आर्थिक दशा को उन्नत करने के लिये राज्य विशेष रूप से प्रयत्न करेगा। साथ ही राज्य का यह यत्न भी होगा कि जनता के इस दुर्बल वर्ग को शोषण व समाजिक अन्याय का शिकार न होना पड़े।

(३) जनता के स्वास्थ्य को उन्नत करने और उसके नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिये राज्य शराब और अन्य नशीली वस्तुओं के प्रयोग को रोकने की नीति को अपनायगा। इन वस्तुओं का उपयोग केवल औषधि के लिये ही किया जा सकेगा।

(४) राज्य का यह भी कर्तव्य होगा कि वह ऐतिहासिक महत्त्व की और कलात्मक महत्त्व की वस्तुओं व स्मारकों को नष्ट होने से बचाए।

शासन सम्बन्धी नीति के सिद्धान्त

देश के शासन के सम्बन्ध में किस नीति का अनुकरण किया जाए, इस विषय में भी कतिपय सिद्धान्त संविधान द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं :—

(१) ग्राम पंचायतों का संगठन किया जायगा, ताकि उनके द्वारा जनता को अपना शासन स्वयं करने का अवसर मिले। महात्मा गांधी ग्राम पंचायतों को बहुत

महत्त्व देते थे, और उन्हीं को देश की शासन की इकाई बनाना चाहते थे। उनका विचार था, कि प्रत्येक ग्राम का रूप एक छोटे-से 'गणराज्य' (Republic) के सदृश होना चाहिये, जो अपना शासन स्वयं करे और साथ ही जो आर्थिक क्षेत्र में भी आत्म-निर्भर हो। इसी विचार को अपनाकर भारत के सविधान में ग्राम पंचायतों के संगठन की बात प्रतिपादित की गई है।

(२) राज्य में न्याय-विभाग (Judiciary) को शासन विभाग या कार्यपालिका (Executive) से पृथक रखा जायगा, और इस आदर्श को क्रिया में परिणत करने के लिये समुचित पग उठाये जाएँगे।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी नीति के सिद्धान्त

भारत के संविधान में केवल यही नहीं बताया गया है कि देश की आर्थिक, शिक्षा-विषयक, सांस्कृतिक और सामाजिक उन्नति के लिये किस नीति का अनुसरण किया जाए, अपितु यह भी प्रतिपादित किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की नीति के क्या सिद्धान्त होंगे। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) विश्व शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का समर्थन व प्रोत्साहन करना।

(२) विविध राष्ट्रों के बीच में न्याय्य और सम्मानपूर्ण (Just and honourable) सम्बन्धों को स्थापित करना।

(३) राष्ट्रों के आपस के व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के प्रति आदर की भावना को बढ़ाना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का पंच निर्णय (Arbitration) द्वारा निबटारा करने को प्रोत्साहित करना।

भारत के संविधान में राजकीय नीति के जिन निर्देशक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे हमारे सम्मुख एक ऐसे कार्यक्रम को उपस्थित करते हैं, जिसको क्रिया में परिणत कर भारत एक आदर्श लोकतन्त्र राज्य बन सकता है। यह कार्यक्रम सभी दृष्टियों से पूर्ण है। इसमें भारत के आर्थिक संगठन, सामाजिक आदर्श और विदेशी नीति को पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया गया है। इसे हम स्वतन्त्र भारत के आदर्शों का घोषणापत्र समझ सकते हैं। पर राजकीय नीति सम्बन्धी ये मन्तव्य तभी क्रिया में परिणत किये जा सकते हैं, जबकि भारत का लोकमत इनके लिये जागरूक हो। जनता सरकार को इन्हें क्रिया में परिणत करने के लिये विवश करे, और स्वयं इसके लिये सरकार के साथ पूर्ण रूप से सहयोग दे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) भारतीय संविधान में प्रतिपादित राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये। (राजपूताना १९५४)

(२) राज्य के मुख्य मुख्य निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिये। संविधान में इनका क्या महत्त्व है? (यू० पी० १९५२)

(३) भारतीय संविधान में नीति-निर्देशक सिद्धान्तों की महत्ता व आवश्यकता पर प्रकाश डालिये। (अजमेर १९५३)

छठा अध्याय

भारतीय संघ का कार्यकारिणी विभाग–राष्ट्रपति

भारतीय संघ के कार्यकारिणी विभाग का स्वरूप

भारतीय संघ के कार्यकारिणी-विभाग का प्रधान 'राष्ट्रपति' (President) है। पर शासन का संचालन उसके हाथों में नहीं है । वह अपनी मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता है । असल में भारत में अध्यक्षात्मक या राष्ट्रपति के अधीन' शासन पद्धति (Presidential) न होकर संसदात्मक या 'मन्त्रिपरिषद् के अधीन' शासन-पद्धति (Parliamentary या Cabinet System) विद्यमान हैं । संसदात्मक शासन वाले राज्यों में राजा या राष्ट्रपति के हाथों में वास्तविक शक्ति नहीं हुआ करती । उसकी स्थिति व अधिकार नाममात्र को ही होते हैं । यद्यपि शासन सम्बन्धी सब कार्य राष्ट्रपति के नाम से ही किये जाते हैं, और उसी के नाम से सब राजकीय आदेश जारी होते हैं; पर वास्तविक शक्ति मन्त्रिपरिषद् के हाथों में होती है । पार्लियामेण्ट में जिस दल का बहुमत हो, उसके नेता को ही प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाता है, और वही अपने दल के प्रमुख व्यक्तियों में से मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करता है । यह मन्त्रिपरिषद् तब तक अपने पद पर रहती है, जब तक कि पार्लियामेंट के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे । राष्ट्रपति सब कार्य इस मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से ही करता है, या यूं कह सकते हैं कि मन्त्रिपरिषद् जो कुछ निश्चय करती है, उसे ही राष्ट्रपति के नाम से जारी कर दिया जाता है ।

इसके विपरीत अध्यक्षात्मक या 'राष्ट्रपति के अधीन' शासनों में वास्तविक शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में रहती है । वह अपने मन्त्रियों को स्वयं नियुक्त करता है और वे तभी तक अपने पद पर रहते हैं, जब तक कि राष्ट्रपति का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे । मन्त्री राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, पार्लियामेण्ट या विधान सभा के प्रति नहीं । राष्ट्रपति एक नियति अवधि के लिये चुना जाता है, और उस अवधि से पूर्व उसे अपने पद से पृथक् नहीं किया जा सकता । संयुक्त राज्य अमेरिका में यही पद्धति विद्यमान है ।

संसदात्मक या 'मन्त्रिपरिषद् के अधीन' शासनपद्धति का सर्वोत्तम उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन है । फ्रांस में भी यही पद्धति विद्यमान है । भारत के संविधान में भी इसी का अनुसरण किया गया है । यहां भी वास्तविक राजशक्ति राष्ट्रपति के हाथों में नहीं है । भारत का राष्ट्रपति राष्ट्र की राजशक्ति का प्रतीक अवश्य है, सब राजकीय कार्य उसी के नाम से किये जाते हैं, देश की एकता और प्रभुता उसी के द्वारा प्रगट होती है, पर वास्तविक राज्याधिकार उसके पास नहीं है ।

पर यहां पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि भारत के राष्ट्रपति को अनेक ऐसे अधिकार संविधान द्वारा दिये गये हैं, जो पार्लियामेण्टरी शासन वाले देशों में साधारणतया राष्ट्रपति को प्राप्त नहीं होते। वह विशेष परिस्थितियों में आर्डिनान्स (Ordinance) जारी कर सकता है, जिनकी स्थिति वही होगी, जो पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत कानूनों की होती है। उसे यह भी अधिकार है कि वह जब अनुभव करे कि बाहरी आक्रमण, युद्ध, आन्तरिक विद्रोह, व किसी अन्य कारण से सम्पूर्ण भारत में, किसी राज्य में या उसके किसी भाग में, ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है, जिससे वहां संविधान के अनुसार शासन कर सकना सम्भव नहीं रहा है, तो वह संकट काल (Emergency) की घोषणा कर सके, और शासन सम्बन्धी सब अधिकार अपने हाथों में ले सके। राष्ट्रपति के इन अधिकारों पर हम आगे चलकर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। यद्यपि साधारणतया राष्ट्रपति अपने इन अधिकारों का प्रयोग भी प्रधानमन्त्री व अन्य मंत्रियों के परामर्श के अनुसार ही करेगा, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन अधिकारों के कारण भारत के राष्ट्रपति के हाथों में बहुत शक्ति दे दी गई है, और उसकी शक्ति फ्रांस आदि अन्य अनेक पार्लियामैण्टरी शासन वाले राज्यों के राष्ट्रपतियों के मुकाबले में बहुत ही अधिक है।

राष्ट्रपति का चुनाव—

भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये जो व्यवस्था संविधान द्वारा की गई है, उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। यहां राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से किया जाता है।

भारत में राष्ट्रपति के चुनाव के लिये एक निर्वाचक सभा (Electoral College) का निर्माण किया जाता है, जिसके सदस्य निम्नलिखित होते हैं—

(१) संघ पार्लियामैण्ट के दोनों सदनों के वे सदस्य जो चुनाव द्वारा इन सदनों के सदस्य बने हों।

(२) राज्यों की विधान सभाओं के वे सदस्य, जो चुनाव द्वारा उन सभाओं के सदस्य बने हों। राज्यों की विधान सभाओं व केन्द्रीय पार्लियामैण्ट में कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं, जो निर्वाचित न होकर राष्ट्रपति व राज्यपालों द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। ऐसे सदस्यों को राष्ट्रपति के चुनाव के निमित्त बनायी गई निर्वाचक सभा का सदस्य नहीं माना जाता।

राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचक सभा के सदस्य किस प्रकार वोट दें, और उनके कितने वोट माने जायें, इस विषय में एक विशेष नियम बनाया गया है। यह नियम जरा जटिल है, और इसे भली भांति समझ लेना चाहिये।

निर्वाचक सभा में दो प्रकार के सदस्य होंगे, एक प्रकार के वे जो केन्द्रीय संघ पार्लियामेण्ट के सदस्य हैं, और दूसरे प्रकार के वे जो विविध राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य हैं। यह स्वाभाविक है, कि राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों की संख्या केन्द्रीय पार्लियामेण्ट के सदस्यों की अपेक्षा अधिक हो। इस दशा में निर्वाचक मण्डल

में राज्यों की विधानसभाओं के सदस्य बहु-संख्या में होंगे, और उनके मुकाबिले में संघ पार्लियामेण्ट के सदस्यों की संख्या कम होगी। इस दशा में यदि निर्वाचक सभा के प्रत्येक सदस्य को एक-एक वोट देने का अधिकार दिया जाए, तो राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्य बहुसंख्या में होने के कारण किसी ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति चुनवाने में समर्थ हो जाएँगे, जिसे केन्द्रीय पार्लियामेण्ट के सदस्य न चुनना चाहते हों। यह बात संविधान के निर्माताओं को पसन्द नहीं थी। अतः उन्होंने निर्वाचक-सभा के सदस्यों के वोटों के सम्बन्ध में एक विशेष नियम का निर्माण किया, जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि

(१) राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों में से प्रत्येक को कितने वोट देने का अधिकार हो, और (२) केन्द्रीय पार्लियामैण्ट के सदस्यों में से प्रत्येक को कितने वोट देने का अधिकार हो।

इस विशेष नियम द्वारा यह व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है कि दोनों प्रकार के सदस्यों को कुल मिलाकर जितने वोट देने का अधिकार हो, उनकी संख्या बराबर रहे। मान लीजिये कि निर्वाचक सभा में राज्यों की विधान सभाओं के कुल सदस्यों की संख्या ९७५ है, और केन्द्रीय पार्लियामैण्ट के सदस्यों की संख्या ३२५ है। इस दशा में यदि इन दोनों प्रकार के सदस्यों के वोटों को एक बराबर रखना हो, तो विधान सभाओं के ९७५ सदस्यों में से प्रत्येक को पांच-पांच वोट देने का (९७५ × ५ = ४८७५) और पार्लियामैण्ट के सदस्यों में से प्रत्येक को पन्द्रह-पन्द्रह वोट देने का (३२५ × १५ = ४८७५) अधिकार दे देना चाहिए। इस प्रकार दोनों प्रकार के सदस्यों के कुल वोटों की संख्या ४८७५ हो जायगी। राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये निर्वाचक सभा के सदस्यों के वोटों के सम्बन्ध में यही व्यवस्था अपनायी गई है।

राष्ट्रपति के चुनाव के सम्बन्ध में इस विशेष नियम को स्पष्ट कर देने के बाद हम अब उस व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं, जिसका भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये वास्तविक रूप से प्रयोग किया जाता है।

राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों में से प्रत्येक को राष्ट्रपति के चुनाव के लिये कितने वोट देने का अधिकार हो, इसका निश्चय निम्नलिखित फार्मूले द्वारा किया जाता है—

$$\text{सदस्य की वोट संख्या} = \frac{\text{उस राज्य की जनसंख्या जिसकी विधान सभा का वह सदस्य है}}{\text{उस राज्य की विधान सभा के कुल निर्वाचित सदस्य}} \div १०००$$

इस फार्मूले के कारण विधानसभाओं के सब सदस्यों को एक बराबर वोट देने का अधिकार नहीं होता। इस फार्मूले को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। उत्तरप्रदेश की जनसंख्या ६,१६,००,००० है। उसकी विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या (जो कि राष्ट्रपति की निर्वाचक सभा के सदस्य हैं) ४३० है। अतः उत्तर-प्रदेश की विधान सभा के सदस्यों को राष्ट्रपति के चुनाव में कितने वोट देने का अधिकार हो, इसका निश्चय इस प्रकार किया जायगा—

$$\frac{६,१६,००,०००}{४३०} \div १००० = १४३$$

इसी ढंग से अन्य राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों को कितने वोट देने का अधिकार हो, इसका हिसाब लगाया गया है। राजस्थान की जनसंख्या १,५९,४६,००० है, और उसकी विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या १७६ है। इस फार्मूले के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव में राजस्थान की विधानसभा के प्रत्येक सदस्य को ९१ वोट देने का अधिकार होगा। इसी ढंग से हिसाब करने पर बिहार के प्रत्येक सदस्य को १२२ और मध्यप्रदेश के प्रत्येक सदस्य को ९१ वोट देने का अधिकार है।

१९५२ और १९५७ में राष्ट्रपति का जो चुनाव हुआ था, उसमें विविध राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों को इसी फार्मूले के अनुसार भिन्न-भिन्न संख्या में वोट देने का अधिकार दिया गया था।

विधानसभाओं के सदस्य कितने-कितने वोट दें, इस बात का निश्चय हो जाने के बाद अगला प्रश्न यह था, कि केन्द्रीय पार्लियामेण्ट के उन निर्वाचित सदस्यों को, जो कि निर्वाचक सभा के सदस्य थे, कितने-कितने वोट देने का अधिकार दिया जाए।

ऊपर लिखे फार्मूले के अनुसार, राज्यों की विधान सभाओं के उन सदस्यों को, जो कि निर्वाचक सभा के सदस्य थे, कुल मिलाकर ३,४५,२५१ वोट देने थे। पार्लियामेण्ट के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या ६९९ थी, जिनमें से ४९५ लोकसभा के सदस्य थे और २०४ राज्य-सभा के। अब ३,४५,२५१ को ६९९ से भाग दे दिया गया, जिस का भाग फल ४९५ के लगभग निकला। अतः पार्लियामेण्ट के प्रत्येक सदस्य को ४९५ वोट देने का अधिकार दिया गया, जिसके कारण इस वर्ग के सदस्यों के कुल वोटों की संख्या ३,४५,३०६ हो गई, जो कि विधानसभाओं के सब सदस्यों के कुल वोटों के लगभग बराबर है।

इस प्रकार निर्वाचक-सभा द्वारा राष्ट्रपति के चुनाव की जो व्यवस्था भारत के संविधान में की गई है, वह बहुत जटिल है। यहां पर यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि राष्ट्रपति का चुनाव एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System) से किये जाने की व्यवस्था की गई है। इस पद्धति को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिये, कि राष्ट्रपति पद के लिये तीन उम्मीदवार हैं। प्रत्येक मतदाता से यह कहा जायगा कि वह अपना वोट देते हुए यह निर्देश कर दे, कि उसकी पहली पसन्द किस उम्मीदवार के लिये है, दूसरी पसन्द वह किसे देता है, और तीसरी पसन्द किसे। यदि तो किसी एक उम्मीदवार के पक्ष में पहली पसन्द के वोट ५० प्रतिशत से अधिक आ जाएँ, तब तो उसे बिना किसी दिक्कत के निर्वाचित मान लिया जायगा। मान लीजिये, कि 'क' 'ख' और 'ग' तीन उम्मीदवार हैं, और मतदाताओं की संख्या १०० है। ये अपनी पहली पसन्द इस प्रकार देते हैं— 'क' के लिए ६०, 'ख' के लिए ३० और 'ग' के लिए १०।

इस दशा में 'क' को ५० प्रतिशत से अधिक वोट मिल गए, अतः उसे निर्वाचित मान लिया गया। पर पहली पसन्द के वोट इस प्रकार से भी हो सकते हैं— 'क' को ४३, 'ख' को ४२ और 'ग' को १५।

इस दशा के किसी भी उम्मीदवार को ५० प्रतिशत से अधिक वोट नहीं मिले। एकल संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार अब यह देखा जायगा कि पहली पसन्द के सबसे कम वोट प्राप्त करने वाले 'ग' के पक्ष में वोट देने वालों ने अपनी दूसरी पसन्द किसे दी है। यह देखने पर ज्ञात हुआ, कि इन वोटरों में से १० ने अपनी दूसरी पसन्द 'ख' को दी है, और ५ ने 'क' को। ये दूसरी पसन्द के वोट 'क' और 'ख' के वोटों में जोड़ने से यह परिणाम निकला—

क ४३+५=४८

ख ४२+१०=५२

क्योंकि 'ख' उम्मीदवार को ५० प्रतिशत से अधिक वोट मिल गये, अतः उसे निर्वाचित मान लिया जायगा। १९५२ और १९५७ में राष्ट्रपति के जो चुनाव हुए, उनमें कांग्रेस पार्टी के उम्मीदवार श्री राजेन्द्रप्रसाद को पहली पसन्द के ही ५० प्रतिशत से अधिक वोट प्राप्त हो गये थे, अतः वे बिना किसी दिक्कत के चुन लिये गये थे।

भारत में राष्ट्रपति का चुनाव परोक्ष (Indirect) रीति से किया जाता है। जनता स्वयं वोट देकर उसे नहीं चुनती, अपितु पार्लियामैण्ट और विधान सभाओं के सदस्य रूप में जो व्यक्ति जनता द्वारा चुने हुए होते हैं, वे ही राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। इस पद्धति के पक्ष में दो कारण दिये जा सकते हैं—

(१) भारत में कुल मतदाताओं की संख्या १९ करोड़ के लगभग है। इतनी अधिक संख्या के वोटरों से यह आशा करना कि वे राष्ट्रपति पद के लिये उम्मीदवार व्यक्तियों के गुण-दोषों को जानकर किसी एक के पक्ष में अपने वोट का भलीभांति उपयोग कर सकेंगे, सम्भव नहीं है।

(२) भारत में संसदात्मक (Parliamentary) शासन है न कि अध्यक्षात्मक (Presidential)। इस दशा में यदि जनता सीधे अपने वोटों से राष्ट्रपति का चुनाव करने लगे, तो जनता द्वारा जो व्यक्ति राष्ट्रपति चुना जायगा, वह अपने को प्रधानमन्त्री की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझ सकता है, और ऐसा होने से इन दोनों में संघर्ष उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है।

निर्वाचक सभा द्वारा राष्ट्रपति के चुनाव के लिए विभिन्न प्रकार के सदस्यों को कम व अधिक वोट देने का जो जटिल नियम बनाया गया है, उसका भी कारण है। राष्ट्रपति के चुनाव के लिए विविध विधानसभाओं के सदस्यों को कितने वोट देने का अधिकार हो, इसका आधार यह रखा गया है, कि जो प्रतिनिधि जितनी जनता का प्रतिनिधित्त्व करता है, उसे उसी हिसाब से वोट दे सकने का अधिकार दिया जाय। उत्तरप्रदेश की जनसंख्या ६ करोड़ से भी अधिक है, वहां की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ४३० हैं। अतः निर्वाचक-सभा में उत्तर प्रदेश के जो सदस्य हैं, उनमें से प्रत्येक १,४३,२५५ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्त्व करता है। अब मध्यप्रदेश को

लीजिये। वहां की कुल जनसंख्या २,६०,९५,००० के लगभग है। पर वहां के जो प्रतिनिधि निर्वाचक सभा में हैं, उनकी संख्या २८८ है। उनमें से प्रत्येक केवल ९१,१०० के लगभग व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः यह उचित नहीं है कि उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के प्रतिनिधियों को राष्ट्रपति के चुनाव के लिये एक बराबर वोट देने का अधिकार हो। इसीलिये जहाँ उत्तरप्रदेश के प्रत्येक सदस्य को १४३ वोट देने का अधिकार है, वहां मध्यप्रदेश के प्रत्येक सदस्य को केवल ९१ वोट देने का अधिकार है।

अब अगला प्रश्न यह है कि केन्द्रीय पार्लियामैण्ट के सदस्यों को, जो निर्वाचक सभा के सदस्य हैं, अधिक वोट देने का अधिकार क्यों दिया गया है ? इसका कारण यह है कि पार्लियामैण्ट के सदस्य भारत की सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। संघ सरकार उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कि विविध राज्यों की सरकारें। अतः संघ की केन्द्रीय पार्लियामैण्ट के सदस्यों को कुल मिलाकर उतने ही वोट दिये जाने चाहियें, जितने कि विधानसभाओं के सदस्यों को दिये गये हों। क्योंकि विधानसभाओं के सदस्यों के मुकाबिले में संघ पार्लियामैण्ट की सदस्यों की संख्या बहुत कम है, अतः यदि संघ पार्लियामैण्ट के सदस्यों को अधिक वोट देने का अधिकार न दिया जाए, तो राष्ट्रपति के चुनाव में उनका महत्त्व बहुत कम रह जायगा।

राष्ट्रपति पद के लिये आवश्यक योग्यताएँ

राष्ट्रपति पद को प्राप्त करने के लिये कोई व्यक्ति तभी उम्मीदवार हो सकता है, जबकि उसमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों—

(१) उसे भारत का नागरिक होना चाहिये।

(२) उसकी आयु ३५ वर्ष से अधिक होनी चाहिये।

(३) उसमें वे सब योग्यताएं हों, जो संघ पार्लियामैण्ट की लोकसभा के लिये उम्मीदवार खड़ा होने के लिए निर्धारित हैं।

यदि कोई व्यक्ति भारत की संघ सरकार या विविध राज्यों की किसी सरकार या किसी स्थानीय संस्था के अधीन किसी ऐसे कार्य को कर रहा हो, जिससे उसे वेतन मिलता हो, या किसी अन्य प्रकार से आर्थिक लाभ पहुँचता हो, तो वह राष्ट्रपति पद के लिये उम्मीदवार नहीं हो सकता। पर इसके लिये कुछ अपवाद भी रखे गये हैं। जो व्यक्ति राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल (गवर्नर), व मन्त्री के पदों पर काम कर रहे हों, वे राष्ट्रपति पद के लिये उम्मीदवार हो सकते हैं। उन्हें राज्य की ओर से वेतन अवश्य मिलता है, पर यह बात उनके लिये राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार होने में बाधक नहीं मानी जाती।

राष्ट्रपति पद की अवधि—भारत में राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच साल रखा गया है। जिस दिन से वह पद का भार ग्रहण करे, उससे ठीक पांच साल बाद तक वह इस पद पर रह सकेगा, बशर्ते कि

(१) वह पांच साल पूरा होने से पूर्व ही त्याग-पत्र न दे दे, या

(२) पार्लियामेण्ट में उस पर महाभियोग (Impeachment) चला कर उसे अपने पद से हटा न दिया जाय। यदि राष्ट्रपति त्यागपत्र देना चाहे, तो उसके

लिये यह व्यवस्था है कि वह अपने हस्ताक्षरों से अपना त्यागपत्र उपराष्ट्रपति को दे दे, और यह त्याग-पत्र उपराष्ट्रपति को ही संबोधन किया जाए।

महाभियोग—महाभियोग द्वारा राष्ट्रपति को अपने पद से हटाने की व्यवस्था यह है कि यदि कोई राष्ट्रपति संविधान का भंग करे, व उसका अतिक्रमण करे, तो पार्लियामैण्ट का कोई भी सदस्य उसके विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव उपस्थित कर सकता है। जब महाभियोग का प्रस्ताव उपस्थित करना हो, तो ऐसे प्रस्ताव पर उस सदन के कम-से-कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहियें। इस प्रस्ताव के उपस्थित होने के १४ दिन बाद पहले उसी सदन में, जिसके कम-से-कम एक चौथाई सदस्यों ने इस पर हस्ताक्षर किये थे, इस प्रस्ताव पर विचार होगा। यदि वहां वह कम से कम दो तिहाई वोटों से स्वीकृत हो जाये, तो उसे जांच के लिए दूसरे सदन के सम्मुख पेश किया जायगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह इस सदन में स्वयं उपस्थित हो सके या अपने किसी प्रतिनिधि को भेज सके। वह स्वयं या अपने प्रतिनिधि द्वारा महाभियोग की जांच में हिस्सा ले सकता है। यदि महाभियोग की जांच करने वाला यह सदन दो तिहाई वोटों से उसे स्वीकार कर ले, तो महाभियोग का प्रस्ताव स्वीकृत माना जायगा, और उस दशा में राष्ट्रपति अपने पद से पृथक हो जायगा।

रिक्त स्थान की पूर्ति—यदि मृत्यु, त्याग-पत्र अथवा महाभियोग के प्रस्ताव की स्वीकृति के कारण राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाए, तो ऐसी दशा में छः मास के अन्दर-अन्दर राष्ट्रपति का नया चुनाव हो जाना चाहिये। नये चुने हुए राष्ट्रपति के कार्यकाल की अवधि पांच वर्ष की ही होगी। जब तक राष्ट्रपति का नया चुनाव न हो जाए, उपराष्ट्रपति उसका कार्य करेगा।

राष्ट्रपति का वेतन—संविधान के अनुसार भारत के राष्ट्रपति का वेतन दस हजार रुपयें मासिक नियत किया गया है। इस वेतन के अतिरिक्त राष्ट्रपति के निवास के लिए एक भवन बिना किराये के दिया जाता हैं, जिसे 'राष्ट्रपति भवन' कहते हैं। साथ ही, उसे अनेक भत्ते देने की भी व्यवस्था की गई है। उसके भत्ते वे ही हैं, जो कि अंग्रेजी शासन के युग में गवर्नर-जनरल को दिये जाते थे। संघ की पार्लियामैण्ट को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते आदि की दर में परिवर्तन कर सके। पर एक बार जो दर निश्चित हो जाए, उसे एक राष्ट्रपति के कार्यकाल की अवधि में नहीं बदला जा सकेगा। देश की आर्थिक दशा को दृष्टि में रखकर वर्तमान राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद ने अपने वेतन में स्वेच्छापूर्वक कमी कर दी है।

राष्ट्रपति के अधिकार व कार्य

संविधान द्वारा भारत के राष्ट्रपति को बहुत अधिकार दिये गये हैं। वह जहां शासन विभाग या कार्यपालिका (Executive) का प्रधान है, वहां सेना का भी प्रधान है। वह न्यायालयों के भी ऊपर है, और देश के किसी न्यायालय में उसके खिलाफ मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। केवल पार्लियामैण्ट में ही उसके विरुद्ध महाभियोग चलाया जा सकता है। उसकी स्थिति बहुत ऊँची है और उसकी शक्तियां भी बहुत अधिक हैं। ब्रिटिश शासन में भारत के गवर्नर-जनरल को ब्रिटेन के

सम्राट का प्रतिनिधि माना जाता था। इसलिए उसकी प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा व शान-शौकत ऐसी रखी गई थी, जो ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि के अनुरूप हो। स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रपति की मान-मर्यादा को भी उसी ढंग से रखा गया है।

राष्ट्रपति के अधिकारों को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है—

(१) कार्यकारिणी सम्बन्धी (Executive) अधिकार।
(२) व्यवस्थापन सम्बन्धी (Legislative) अधिकार।
(३) न्याय-सम्बन्धी (Judicial) अधिकार।
(४) वित्त-सम्बन्धी (Financial) अधिकार।
(५) संकट कालीन (Emergency) अधिकार।

कार्यकारिणी सम्बन्धी अधिकार—भारत के कार्यकारिणी विभाग का प्रधान राष्ट्रपति को ही माना जाता है। वही प्रधानमन्त्री को नियत करता है, और प्रधानमन्त्री के परामर्श से केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् के अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीशों, विविध राज्यों के हाईकोर्टों के न्यायाधीशों, राज्यों के राज्यपालों, संघ के पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्यों, चुनाव कमिश्नर, आडीटर-जनरल, एटार्नी-जनरल आदि उच्च राज्यपदाधिकारियों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा ही की जाती है।

संविधान के अनुसार भारत के शासन की सब शक्ति राष्ट्रपति में ही निहित है। सब शासनकार्य उसी के नाम से होता है, और यह माना जाता है कि मन्त्रिपरिषद्, जिसका मुखिया प्रधानमन्त्री है, राष्ट्रपति को अपने शासन कार्य में परामर्श व सहायता देने के लिये ही नियुक्त होती है। संविधान के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री व मन्त्रिपरिषद् की सब सलाहों को माने ही। यद्यपि भारत के राष्ट्रपति की स्थिति एक संवैधानिक प्रधान की है, और वह साधारणतया मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता है, पर संविधान द्वारा उसे इस बात के लिये विवश नहीं रखा गया है, कि वह मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही कार्य करे।

भारत का राष्ट्रपति जल, स्थल व वायु सेनाओं का भी प्रधान है। सेना के सब उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति भी उसी के द्वारा की जाती है। युद्ध और सन्धि के अधिकार भी उसी के हाथों में हैं। युद्ध की घोषणा वही कर सकता है, और अन्य देशों के साथ सन्धियां भी उसी की ओर से की जाती हैं। विदेशों में राजदूतों व अन्य राज-प्रतिनिधियों की नियुक्ति उसी द्वारा की जाती है, और अन्य देशों के राजदूत उसी को अपने प्रमाण पत्र (Credentials) प्रस्तुत करते हैं।

व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार—भारत के राष्ट्रपति को अनेक व्यवस्थापन-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं। पार्लियामेंण्ट द्वारा स्वीकृत कोई भी बिल तब तक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता, जब तक कि राष्ट्रपति की स्वीकृति उसे प्राप्त न हो जाए। पार्लियामेंण्ट द्वारा पास हुए किसी भी बिल या प्रस्ताव को वह पुनः विचार के लिये वापस लौटा सकता है। पर यदि पार्लियामेण्ट उसे दुबारा पास कर दे, तो राष्ट्रपति को उस पर अपनी स्वीकृति देनी ही होगी। कई प्रकार के बिल ऐसे हैं, जिन्हें राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना पार्लियामेंण्ट के सम्मुख पेश ही नहीं किया जा सकता।

यदि किसी बिल का प्रयोजन किसी राज्य की सीमा, नाम आदि में परिवर्तन करना हो, तो उसको पेश करने के लिये पहले राष्ट्रपति की अनुमति ले लेना जरूरी है। राज्यों की विधान सभाओं द्वारा जो बिल पास होते हैं, वे साधारणतया गवर्नर की स्वीकृति द्वारा कानून बन जाते हैं। पर कुछ विषय ऐसे हैं, जिनके साथ सम्बन्ध रखने वाले बिलों पर गवर्नर तभी अपनी स्वीकृति दे सकता है, जबकि वह पहले राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर ले। राज्य द्वारा सम्पत्ति को अधिगत करने के बिल इसी वर्ग में आते हैं। इसीलिये जमींदारी उन्मूलन के प्रयोजन से बनाये गये बिलों के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति ली गई थी।

पार्लियामेण्ट का सत्र (Session) बुलाने, और उसे स्थगित व भंग करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। वह पार्लियामैण्ट के अधिवेशन में भाषण दे सकता है, और अपना सन्देश भी भेज सकता है। पार्लियामैण्ट के लिये आवश्यक है कि वह राष्ट्रपति के सन्देश पर तुरन्त विचार करे। प्रतिवर्ष जब पार्लियामेण्ट का पहला सत्र शुरू होता है, तो राष्ट्रपति ही उसका उद्घाटन करता है। इस अवसर पर दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक होती है।

राष्ट्रपति का व्यवस्थापन सम्बन्धी सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार यह है कि जब पार्लियामैण्ट का अधिवेशन न हो रहा हो, तो वह अध्यादेश (Ordinance) जारी कर सकता है। जिन विषयों पर पार्लियामैण्ट को कानून बनाने का अधिकार है, ये अध्यादेश उन सब विषयों पर हो सकते हैं। इनकी स्थिति वही होगी, जो कि पार्लियामेण्ट द्वारा निर्मित कानूनों की होती है। यह आवश्यक है, कि पार्लियामैण्ट के सम्मुख इन अध्यादेशों को प्रस्तुत किया जाए। अध्यादेश जारी करने के बाद जब भी पार्लियामेण्ट का अधिवेशन हो, ये उसके सम्मुख पेश होते हैं, और इनकी अवधि पार्लियामेण्ट के अधिवेशन के शुरु होने के ६ सप्ताह बाद तक ही रहती है।

न्यायसम्बन्धी विशेष अधिकार व शक्तियां—राष्ट्रपति न केवल सुप्रीमकोर्ट और हाईकोर्टों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है, अपितु न्यायालयों द्वारा दण्डित व्यक्तियों को क्षमा करने व उनके दण्ड में कमी करने की शक्ति भी उसे है। वह दण्ड को कम कर सकता है, दण्ड के प्रयोग को स्थगित कर सकता है, और अपराधी को पूर्णतया क्षमा-प्रदान भी कर सकता है।

वित्त-सम्बन्धी अधिकार—राष्ट्रपति की अनुमति के बिना वित्त-सम्बन्धी (Financial) कोई बिल पार्लियामैण्ट के सम्मुख पेश नहीं किया जा सकता। संघ सरकार के आय-व्यय का जो व्योरा (Budget) प्रति वर्ष वित्तीय वर्ष (Financial year) के प्रारम्भ में पार्लियामेण्ट के सम्मुख पेश किया जाता है, उसे राष्ट्रपति की ओर से ही प्रस्तुत किया गया माना जाता है। भारत की आकस्मिकता निधि (Contingency Fund) में से खर्च करना भी राष्ट्रपति के ही हाथों में है। इस निधि से वह किसी भी आकस्मिक खर्च के लिये पार्लियामैण्ट की स्वीकृति से पूर्व ही धन दे सकता है। उसे यह भी अधिकार है कि वह वित्त कमीशन (Finance Commision) की नियुक्ति कर सके, जिसका कार्य यह निश्चय

करना होता है कि केन्द्रीय सरकार की राजकीय आमदनी का संघ और राज्यों में किस प्रकार बँटवारा किया जाए, और विविध राज्यों को केन्द्रीय सरकार द्वारा कितनी आर्थिक सहायता दी जाए।

संकटकालीन अधिकार—किसी संकटकालीन दशा (Emergency) के उपस्थित हो जाने पर उस दशा की कठिनाइयों का मुकाबिला करने के लिये राष्ट्रपति को कतिपय विशेष अधिकार दिये गये हैं। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह निम्नलिखित दशाओं में 'संकटकाल' की घोषणा कर सके—

(१) युद्ध, विदेशी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण सम्पूर्ण भारत या उसके किसी प्रदेश में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिसे संकट काल समझा जाए। ऐसे अवसरों पर राष्ट्रपति 'संकट काल' की घोषणा कर सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि अभी युद्ध व विदेशी आक्रमण शुरू न हुआ हो, या देश में आन्तरिक अशांति उत्पन्न न हुई हो, पर उसकी सम्भावना हो। यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो कि युद्ध, विदेशी आक्रमण व आन्तरिक अशान्ति के कारण संकट काल के उपस्थित हो जाने की पूरी-पूरी सम्भावना है, तो भी वह संकट काल की घोषणा कर सकता है।

(२) अगर राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल, या चीफ कमिश्नर से यह सूचना मिले कि राज्य या संघक्षेत्र में ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है कि उसका शासन संविधान के अनुसार चलाया जा सकना सम्भव नहीं रहा है, तो राष्ट्रपति उस राज्य में संकट काल की घोषणा कर सकता है। ऐसी घोषणा के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि राज्यपाल या चीफ कमिश्नर से सूचना मिलने पर ही राष्ट्रपति कार्रवाई करे। वह स्वयं भी किसी राज्य की परिस्थिति को दृष्टि में रख कर वहां संकट काल की घोषणा कर सकता है।

(३) अगर राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत या उसके किसी राज्य में आर्थिक संकट उपस्थित हो गया है, तो भी वह संकट काल की घोषणा कर सकता है।

पर संकट काल के घोषित करने का राष्ट्रपति का अधिकार अपरिमित नहीं है। राष्ट्रपति द्वारा घोषित संकट काल की अवधि केवल दो मास की रखी गई है। संविधान के अनुसार यह अनिवार्य है कि इस प्रकार की घोषणा को पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों के सम्मुख विचार के लिये उपस्थित किया जाए। यदि पार्लियमैण्ट इस घोषणा का समर्थन न करे, तो वह दो मास की अवधि के समाप्त हो जाने पर जारी नहीं रहेगी। पार्लियामैण्ट के समर्थन व स्वीकृति से संकटकाल की घोषणा ६ मास तक लागू रह सकती है। ६ मास बीत जाने पर उसे पुनः जारी किया जा सकता है। पर किसी भी दशा में संकट काल की घोषणा ३ साल से अधिक समय तक के लिये लागू नहीं हो सकती, और पार्लियामैण्ट भी एक समय में उसे ६ मास से अधिक समय के लिये लागू नहीं कर सकती।

संकट काल की घोषणा की अवधि में राष्ट्रपति को जो अनेक अधिकार संविधान द्वारा प्रदान किये गये हैं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) यदि भारतीय संघ के किसी राज्य में संकट काल की घोषणा की जाए, तो उस राज्य का शासन राष्ट्रपति के हाथों में आ जाएगा, और वही उसके शासन की व्यवस्था करेगा।

(२) संकट काल में राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह नागरिकों के मूलभूत अधिकारों के प्रयोग को स्थगित कर सके। इस दशा में नागरिक लोग न्यायालय की शरण ले कर अपने मूलभूत अधिकारों की रक्षा नहीं करा सकेंगे।

(३) संकट काल में राष्ट्रपति पार्लियामैण्ट व राज्यों की विधान सभाओं की कानून बनाने की शक्ति को भी अपने हाथों में ले सकता है, और सरकारी बजट में भी अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन कर सकता है।

(४) आर्थिक संकट की दशा में राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह सरकारी कर्मचारियों के वेतनों और भत्तों में कमी कर सके, और यह आज्ञा जारी कर सके कि संघ-सरकार और राज्यों की सरकारों के बजटों को व वित्त-सम्बन्धी अन्य बिलों को राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिये भेजा जाए और वह उनमें यथोचित परिवर्तन कर सके।

निःसन्देह, संकट काल में भारत के राष्ट्रपति को बहुत अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। पर यह जरूरी नहीं कि राष्ट्रपति अपने इन अधिकारों का प्रयोग मनमाने तरीके से करे। यद्यपि संविधान में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं की गई है, जिसके कारण राष्ट्रपति अपनी शक्ति का प्रयोग अवश्य ही मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार करेगा, पर ग्रेट ब्रिटेन के समान भारत में भी यह परम्परा विकसित हो रही है, कि राष्ट्रपति अपने अधिकारों काप्रयोग मनमाने तरीके से न करके, प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही किया करे।

राष्ट्रपति के अधिकारों का विवेचन

भारत के संविधान द्वारा राष्ट्रपति को जो अधिकार दिये गये हैं, वे दो प्रकार के हैं—

(१) जिनका उपयोग वह साधारण दशा में करेगा, और
(२) जिनका उपयोग वह संकटकाल में करेगा।

साधारण दशा में भारत का राष्ट्रपति पूर्णतया संवैधानिक शासक (Constitutional Ruler) है। वह मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही कार्य करेगा, और उसके किसी परामर्श की अवहेलना नहीं करेगा। राज्यपाल, न्यायाधीश, सेनापति आदि जिन उच्च राज्यपदाधिकारी वर्ग की वह नियुक्ति करता है, वे भी मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही की जाएँगी। वह किसी ऐसे बिल या प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नहीं करेगा, जिसे पार्लियामैण्ट ने स्वीकृत कर लिया हो। क्योंकि मन्त्रिपरिषद् पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी होगी, और वह तभी तक अपने पद पर रह सकेगी, जब तक कि पार्लियामेण्ट का विश्वास उसे प्राप्त रहे, अतः राष्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग भी ऐसे ढंग से ही होगा, जिससे जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को एतराज न हो। यदि कभी राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् के परामर्शों की अवहेलना कर स्वेच्छाचारी होने लगे, तो मन्त्रिपरिषद् के पास यही उपाय है कि वह त्याग-पत्र दे दे।

इस दशा में राष्ट्रपति के लिये नई मन्त्रिपरिषद् बना सकना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि वही मन्त्रिपरिषद अपने पद पर रह सकती है, जिसे पार्लियामैण्ट का विश्वास प्राप्त हो।

संकट काल की असाधारण परिस्थिति में भारत के राष्ट्रपति को बहुत अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, यद्यपि इन अधिकारों का प्रयोग भी वह मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार ही करेगा, यह आशा उससे की जाती है। पर इसमें सन्देह नहीं कि भारत के संविधान में राष्ट्रपति को जो अधिकार दिये गये हैं, उनका प्रयोग कर वह अपनी स्थिति को बहुत शक्तिशाली बना सकता है। समय ही उन परम्पराओं का निर्धारण करेगा, जिनके अनुसार राष्ट्रपति को अपने इन अधिकारों का प्रयोग करना है।

कतिपय अन्य देशों के प्रधानों से भारत के राष्ट्रपति की तुलना

(१) इंगलैण्ड के राजा और भारत के राष्ट्रपति में यह समता है, कि दोनों नाममात्र के प्रधान हैं। इन दोनों देशों में पार्लियामैण्टरी शासन की सत्ता है और वास्तविक राजशक्ति प्रधानमन्त्री और उसके मन्त्रिमण्डल के हाथों में है। कानून के अनुसार इगलैण्ड के राजा को बहुत से ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, जिनका वह कभी उपयोग नहीं करता। वहां ऐसी परम्पराएँ विकसित हो गई हैं, जिनके कारण राजा की शक्तियाँ कभी प्रयोग में नहीं लाई जाती। भारत में भी राष्ट्रपति को बहुत से ऐसे अधिकार संविधान द्वारा दिये गये हैं, जिनके कारण उसकी स्थिति बहुत शक्तिशाली हो जाती है। यहां भी ऐसी परम्पराएँ विकसित हो रही हैं, जिनसे ये अधिकार नाम को ही रह जाते हैं। इंगलैण्ड का राजा और भारत का राष्ट्रपति दोनों ही पूर्णतया संवैधानिक प्रधान हैं। इन दोनों में वड़ा अन्तर यह है कि जहां इंगलैण्ड का राजा वंश-क्रमानुगत होता है, वहां भारत का राष्ट्रपति पांच साल के लिये निर्वाचित होता है। उस पर महाभियोग भी चलाया जा सकता है, जबकि इंगलैण्ड के राजा के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि वह कभी कोई गलती नहीं कर सकता।

(२) भारत के राष्ट्रपति की स्थिति संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति से बहुत भिन्न है। अमेरिका में अध्यक्षात्मक (Presidential) शासन प्रणाली प्रचलित है। वहां राष्ट्रपति के हाथों में ही शासन की असली शक्ति रहती है। उसकी स्थिति नाममात्र की नहीं होती। इस दशा में अमेरिका के राष्ट्रपति के साथ भारत के राष्ट्रपति की कोई तुलना नहीं की जा सकती।

(३) फ्रांस में भारत और इंगलैण्ड के समान पार्लियामैण्टरी शासन है, अतः वहां के राष्ट्रपति की शक्ति नाममात्र की ही है। पर भारत के राष्ट्रपति की शक्ति फ्रांस के राष्ट्रपति की अपेक्षा बहुत अधिक है। फ्रांस का राष्ट्रपति कोई ऐसा आदेश जारी नहीं कर सकता, जिस पर किसी मन्त्री के भी हस्ताक्षर साथ में न रहें। उसे पार्लियामैण्ट द्वारा स्वीकृत किसी बिल को वीटो कर सकने का भी अधिकार नहीं है। उसे कोई संकटकालीन अधिकार भी नहीं दिये गये हैं। फ्राँस के वर्तमान प्रधानमन्त्री जनरल द गौल ने संविधान में ऐसे संशोधन पेश किए ह, जिनके कारण फ्रेन्च राष्ट्रपति की

शक्ति में बहुत वृद्धि हो जायगी ।

भारत में राष्ट्रपति के पद का महत्त्व

इसमें सन्देह नहीं कि भारत के शासन में राष्ट्रपति का पद बहुत महत्त्व का है। यद्यपि यहां पार्लियामैण्टरी शासन है, और प्रधानमन्त्री के हाथों में ही राज्य की वास्तविक शक्ति है, पर राष्ट्रपति भी सर्वथा शक्तिहीन व नाममात्र नहीं है। उसके महत्त्व के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) वह राष्ट्र की एकता और राजशक्ति का प्रतीक है।

(२) वह संकटकाल में राज्य के शासन का अधिकार अपने हाथों में ले सकता है।

(३) वह राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर रहता है। भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि अपने पद को ग्रहण करने के बाद उसका अपनी पार्टी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्त्व करता है।

उपराष्ट्रपति

स्वतन्त्र भारत के संविधान में एक उपराष्ट्रपति (Vice-President) की भी व्यवस्था की गई है। यदि राष्ट्रपति रुग्ण हो और रोग या किसी अन्य कारण से अपना कार्य करने में असमर्थ हो, तो उपराष्ट्रपति उसका कार्य तब तक करेगा, जब तक कि राष्ट्रपति अपने काम को संभालने में समर्थ न हो जाए।

मृत्यु, त्यागपत्र और महाभियोग द्वारा पद से हटाये जाने की दशा में जब राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाए, तो उपराष्ट्रपति तब तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा, जब तक कि नये राष्ट्रपति का चुनाव न हो जाए। संविधान के अनुसार छः मास के अन्दर-अन्दर नये राष्ट्रपति का चुनाव हो जाना चाहिए।

जिस समय उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति का कार्य कर रहा हो, उसे वही वेतन, भत्ते, तथा अन्य सुविधाएँ मिलेंगी, जो कि राष्ट्रपति को दी जाती हैं।

उपराष्ट्रपति का चुनाव केन्द्रीय पार्लियामैण्ट के दोनों सदनों के सब सदस्य एक संयुक्त बैठक में करते हैं। उसके चुनाव की वह व्यवस्था नहीं है, जो राष्ट्रपति के चुनाव की है। उसमें राज्यों की विधानसभाओं के सदस्य कोई हिस्सा नहीं लेते। चुनाव के लिये एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single transferable vote system) का अनुसरण किया जाता है। उपराष्ट्रपति के पद के लिये उम्मीदवारों में निम्नलिखित योग्यतायें होनी चाहियें—

(१) वे भारत के नागरिक हों।

(२) वे अपनी आयु के ३५ वर्ष पूरे कर चुके हों।

(३) राज्य सभा (केन्द्रीय पार्लियामैण्ट का द्वितीय सदन) का सदस्य निर्वाचित होने के लिये जो योग्यताएं निर्धारित हों, वे उनमें हों।

(४) भारत सरकार, विविध राज्यों की सरकार व स्थानीय संस्थाओं में कोई

ऐसा पद उन्होंने प्राप्त न किया हुआ हो, जिसके लिये उन्हें वेतन मिलता हो या कोई अन्य आर्थिक लाभ होता हो।

उपराष्ट्रपति न केन्द्रीय पार्लियामेण्ट का सदस्य हो सकता है, और न किसी राज्य की विधान सभा का। यदि वह सदस्य हो, तो उपराष्ट्रपति चुने जाने के बाद उसकी सदस्यता का अन्त हो जाता है। पर उपराष्ट्रपति का प्रधान कार्य यह है कि वह राज्य-सभा के अध्यक्ष का काम करे। यह काम वह राज्यसभा का सदस्य न होते हुए ही करता है।

उपराष्ट्रपति का चुनाव भी पांच साल के लिये किया जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका के उपराष्ट्रपति और भारत के उपराष्ट्रपति में एक महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों ही द्वितीय सदन (भारत में राज्य सभा और अमेरिका में सीनेट) के अध्यक्ष होते हैं। पर इन दोनों में एक भारी अन्तर भी है। यदि अमेरिका में राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाए, तो उपराष्ट्रपति उस अवधि के लिये राष्ट्रपति बन जाता है, जिस तक कि राष्ट्रपति को अपने पद पर रहना था। पर भारत में उपराष्ट्रपति अधिक-से-अधिक छः मास तक राष्ट्रपति के पद पर काम कर सकता है, क्योंकि छः मास के अन्दर-अन्दर नये राष्ट्रपति का चुनाव हो जाना चाहिये।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियां क्या हैं ? उनका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है ? (यू० पी० १९५५)

(२) नवीन संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के क्या अधिकार हैं ? (यू० पी० १९५२)

(३) भारत में राष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार किया जाता है ? उसकी संवैधानिक स्थिति क्या है ? (मध्यभारत १९५३)

(४) राष्ट्रपति के अधिकारों का उल्लेख कर यह बताइये कि क्या उन अधिकारों का प्रयोग वह स्वेच्छापूर्वक कर सकता है ? (मध्य भारत १९५३)

(५) भारतीय संघराज्य के राष्ट्रपति के कार्यों और अधिकारों का उल्लेख कीजिए। (राजपूताना १९५३)

(६) क्या यह कहना ठीक है कि भारत का राष्ट्रपति केवल संवैधोनिक प्रधान है ?

(७) भारतीय संघ के कार्यकारिणी विभाग का क्या स्वरूप है ? उसमें राष्ट्रपति की क्या स्थिति है ?

सातवां अध्याय

भारतीय संघ का कार्यकारिणी विभाग–मन्त्रिपरिषद्

क्योंकि भारत की शासन पद्धति संसदात्मक (Parliamentary) है, अतः देश के शासन की वास्तविक शक्ति मन्त्रि-परिषद् के हाथों में निहित है । भारत के शासन विभाग या कार्यपालिका (Executive) का संचालन मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही होता है ।

मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) का निर्माण

संविधान के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श से करता है । मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं, जब तक राष्ट्रपति उन्हें मन्त्रिपद पर रखना चाहे । पर मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से पार्लियामैण्ट की लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है ।

क्योंकि राष्ट्रपति ही प्रधानमन्त्री और मन्त्रि-परिषद् के अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है, और वे तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं, जब तक कि राष्ट्रपति उन्हें रखना चाहे, इससे ऐसा आभास मिलता है, कि मन्त्रिपरिषद् अपनी सत्ता के लिये राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करती है । पर असली बात इससे बिल्कुल भिन्न है । क्योंकि संविधान के अनुसार मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से पार्लियामैण्ट के प्रति उत्तरदायी है, अतः मन्त्रि-परिषद् केवल उसी राजनीतिक पार्टी की हो सकती है, जिसका पार्लियामैण्ट में बहुमत हो । मन्त्रि-परिषद् के पार्लियामैण्ट के प्रति उत्तरदायी होने के कारण राष्ट्रपति केवल उसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त कर सकता है, जो बहुमत के दल का नेता हो । यदि राष्ट्रपति किसी अन्य व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियत करे, तो वह किसी ऐसी मन्त्रि-परिषद् का निर्माण नहीं कर सकेगा, जो सामूहिक रूपसे पार्लियामैण्ट के प्रति उत्तरदायी हो । सामूहिक रूप से उत्तरदायी होने का अभिप्राय यह है कि यदि पार्लियामैण्ट किसी एक मन्त्री के विरुद्ध भी अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे, या किसी अन्य प्रकार से उसकी नीति व कार्यों के प्रति विरोध प्रदर्शित करे, तो सारी मन्त्रि-परिषद् त्यागपत्र दे देगी, केवल वही मन्त्री नहीं । इस दशा में राष्ट्रपति के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह पार्लियामैण्ट (लोकसभा) के बहुमत के दल के नेता को ही प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त करे, और अन्य मन्त्रियों को भी इसी दल के सदस्यों में से नियत किया जाए ।

ऐसा भी हो सकता है कि लोकसभा में कोई भी ऐसा दल न हो, जिसकी बहुसंख्या हो । इस दशा में राष्ट्रपति किसी ऐसे व्यक्ति को ही प्रधानमन्त्री नियत कर सकेगा,

जो एक से अधिक दलों का सहयोग प्राप्त कर ऐसी मन्त्रि-परिषद् बना सके, जिसे लोक-सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो।

प्रधान मन्त्री के परामर्श से जब राष्ट्रपति अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है, तो वह यह ध्यान में रखता है, कि बहुमत वाले दल के खास-खास नेताओं को मन्त्री के पद पर नियुक्त करे। भारत जैसे विशाल संघ-राज्य में, जिसमें बहुत से राज्य सम्मिलित हैं और जहां अनेक धर्मों के अनुयायी व अनेक भाषाएँ बोलने वाले लोगों का निवास है, मन्त्रि-परिषद् बनाते हुए यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि उसमें सब धर्मों व राज्यों को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए। भारत में ऐसी मन्त्रि-परिषद् सफल नहीं हो सकती, जिसके सब मन्त्री किसी एक धर्म के ही अनुयायी हों या किसी एक राज्य के ही निवासी हों। इसलिये प्रधानमन्त्री को अपने मन्त्रियों का चुनाव करते हुए बहुत काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भारत में राज्यों की संख्या अच्छी बड़ी है, धर्म भी यहां अनेक हैं। फिर मन्त्री ऐसे ही लोगों को बनाना चाहिये, जो वस्तुतः अपने कार्य में योग्य हों, और जिनमें नेतृत्व के भी गुण हों।

साधारणतया मन्त्रियों की नियुक्ति पार्लियामैण्ट (दोनों सदनों) के सदस्यों में से ही की जाती है। पर विशेष दशा में किसी ऐसे व्यक्ति को भी मन्त्री बनाया जा सकता है, जो पार्लियामैण्ट का सदस्य न हो। पर ऐसे मन्त्रियों के लिये यह आवश्यक है कि वे छः मास के अन्दर-अन्दर पार्लियामैण्ट के सदस्य हो जाएँ। अन्यथा उन्हें अपने पद से पृथक् हो जाना पड़ता है। ऐसे मन्त्रियों को पार्लियामैण्ट का सदस्य बनाने के लिये किसी सदस्य से त्यागपत्र दिलवा दिया जाता है, और उपचुनाव में मन्त्री को उम्मीदवार खड़ा कर दिया जाता है। भारतीय संघ की मन्त्रि-परिषद् में कई ऐसे व्यक्ति रहे हैं, जो मन्त्री बनने के समय पार्लियामैण्ट के सदस्य नहीं थे। श्री० देशमुख, श्री० काटजू, श्री० लालबहादुर शास्त्री, श्री मुहम्मद इब्राहीम, आदि अनेक व्यक्ति पहले मन्त्री बने, और बाद में पार्लियामैण्ट के सदस्य। मन्त्री पार्लियामैण्ट के किसी भी सदन के सदस्य हो सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि वे लोकसभा के ही सदस्य हों।

विविध प्रकार के मन्त्री

संविधान में केवल 'मन्त्री' (Minister) शब्द का प्रयोग किया गया है, पर इस समय भारत की मन्त्रि-परिषद् में तीन प्रकार के मन्त्री हैं—

(१) कैबिनेट मन्त्री (Cabinet Ministers)—ये मन्त्रियों में सब से ऊँची स्थिति रखते हैं। मन्त्रि-परिषद् की एक उपसमिति होती है, जिसे 'कैबिनेट' कहते हैं। सब मन्त्री इसके सदस्य नहीं होते। इसमें केवल उन मन्त्रियों को सम्मिलित किया जाता है, जो बहुत अनुभवी हों और जिनके साथ गुप्त मामलों पर परामर्श किया जा सके। कैबिनेट के सदस्य-मन्त्रियों को 'कैबिनेट मन्त्री' कहते हैं।

(२) राज्य मन्त्री (Ministers of State)—मन्त्रि-परिषद् के कुछ सदस्य ऐसे हैं, जो कैबिनेट के सदस्य नहीं होते। इन्हें कैबिनेट की बैठक में केवल तभी बुलाया जाता है, जब इनके विभाग के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषय पर विचार किया जाना हो। इन्हें राज्य मन्त्री (Minister of State) कहा जाता है।

(३) उपमन्त्री (Deputy Ministers)—इन्हें किसी विभाग का स्वतन्त्र चार्ज नहीं दिया जाता। जिन विभागों के मन्त्रियों पर कार्य का बोझ अधिक हो, उनकी सहायता के लिये इन उपमन्त्रियों की नियुक्ति की जाती है।

मन्त्रियों का वेतन--मन्त्रियों को कितना वेतन दिया जाए, यह संविधान द्वारा निश्चित नहीं किया गया है। संविधान में यह व्यवस्था की गई है, कि मन्त्रियों के वेतन का निश्चय पार्लियामेण्ट द्वारा समय समय पर किया जाता रहेगा। जब तक पार्लियामैन्ट इस सबन्ध में कोई निश्चय न करे, मन्त्रियों को वही वेतन मिलता रहे, जो कि संविधान के लागू होने के समय मिलता था। १९५२ ई० में पार्लियामैण्ट द्वारा मन्त्रियों के वेतन के सम्बन्ध में जो कानून पास हुआ, उसके अनुसार विविध प्रकार के मन्त्रियों के वेतन निम्नलिखित निश्चित किए गये हैं --

कैबिनेट मन्त्रियों को २२५० रु० मासिक वेतन मिलता है, और साथ ही बिना किराये के एक ऐसा बँगला भी, जिसमें सब फर्नीचर हो। इसके अतिरिक्त उन्हें ५०० रु० प्रति मास तक भत्ता देने की भी व्यवस्था की गई है। राज्यमन्त्रियों का वेतन भी यही निश्चित किया गया है। उपमन्त्रियों का वेतन १७५० रु० मासिक रखा गया है, और साथ ही निवास के लिये एक बँगला भी। पर उन्हें कोई अतिरिक्त भत्ता देने की व्यवस्था नहीं की गई है।

शपथ—मन्त्रियों को पद ग्रहण करने से पूर्व दो शपथें राष्ट्रपति के सम्मुख लेनी पड़ती हैं। एक शपथ पद की, और दूसरी राजकार्यों को गुप्त रखने की। पद की शपथ का रूप यह होता है—

"मैं.......अमुक.......ईश्वर की शपथ लेता हूँ (या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ) कि मैं कानून द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा; संघ के मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक और शुद्ध अन्तःकरण से पालन करूँगा; तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान के अनुसार न्याय करूँगा।"

राजकार्यों को गुप्त रखने की शपथ का रूप यह है—"मैं..........अमुक..........ईश्वर की शपथ लेता हूँ (या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ) कि जो विषय संघ के मन्त्री के रूप में मेरे विचार के लिये लाया जायगा, अथवा मुझे ज्ञात होगा, उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को उस अवस्था को छोड़कर जबकि ऐसे मन्त्री के रूप में अपने उचित कर्तव्य को निभाने के लिये ऐसा करना अपेक्षित हो, अन्य अवस्था में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सूचित या प्रकट नहीं करूँगा।"

मन्त्रिपरिषद् के कार्य

संसदात्मक (Parliamentary) शासन वाले राज्यों में मन्त्रि-परिषद् की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण होती है, और शासन का संचालन उसी के द्वारा किया जाता है। भारत में भी संसदात्मक शासन है, अतः यहां भी मन्त्रि-परिषद् के हाथों में ही राज्य का शासन कार्य है। पर संविधान के शब्दों में मन्त्रि-परिषद् का कार्य शासन-कार्य में राष्ट्रपति को परामर्श तथा सहायता देना ही है। भारत के संविधान के अनुसार यह

आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् के परामर्श के अनुसार ही कार्य करे। पर क्रिया में भारत का राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता है। वस्तुतः शासन मन्त्रि-परिषद् ही करती है, और राष्ट्रपति की स्थिति व शक्ति नाममात्र की ही है। भारत में मन्त्रि-परिषद् के मुख्य कार्य कौन से हैं, इसे हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) राजकीय नीति का निर्धारण करना मन्त्रि-परिषद् का सबसे मुख्य कार्य है। आन्तरिक और विदेशी मामलों में राज्य किस नीति का अनुसरण करे, इसका निश्चय मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही किया जाता है।

(२) राज्य के शासन का संचालन भी मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही किया जाता है। इसके लिए शासन कार्य को अनेक विभागों में बांट दिया जाता है, और ये सब विभाग एक-एक मन्त्री के अधीन होते हैं। विशेष दशा में एक मन्त्री की अधीनता में एक से अधिक विभाग भी दे दिये जाते हैं। प्रत्येक विभाग के कार्य की देख-रेख के लिये बहुत से उच्च राज्यपदाधिकारी होते हैं, जिन्हें सेक्रेटरी, डाइरेक्टर आदि कहते हैं। पर इन स्थायी राज्यपदाधिकारियों के कार्यों के लिये मन्त्रियों को ही उत्तरदायी माना जाता है। मन्त्री अपने राजकीय विभाग के कार्यों पर निरीक्षण रखते हैं, उनकी नीति का निर्धारण करते हैं, और यह व्यवस्था करते हैं कि विभाग का कार्य सुचारु रूप से चलता रहे।

(३) मन्त्रि परिषद् व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य भी करती है। पार्लियामैण्ट के सम्मुख जो भी महत्त्वपूर्ण बिल व प्रस्ताव पेश होते हैं, वे सब प्रायः मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। पार्लियामैण्ट में जिस दल का बहुमत हो, मन्त्रिपरिषद् भी उसी की होती है। इस कारण इस बात की सम्भावना बहुत कम होती है कि वहां कोई ऐसा बिल या प्रस्ताव पास हो सके, जो मन्त्रि-परिषद् को स्वीकार्य न हो। विरोधी दलों के सदस्य जो बिल या प्रस्ताव पेश करते हैं, उनका स्वीकृत हो सकना बहुत कठिन होता है। अतः पार्लियामेण्ट जो कानून पास करती है, वे प्रायः सभी मन्त्रि-परिषद् द्वारा तैयार कराये जाते हैं, और किसी न किसी मन्त्री द्वारा लोकसभा और राज्य सभा में पेश किये जाते हैं। व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य में मन्त्रि-परिषद् की स्थिति पार्लियामैन्ट की एक उपसमिति के समान होती है, जो इस कार्य में पार्लियामैन्ट का नेतृत्त्व करती है।

(४) देश की आर्थिक और वित्त सम्बन्धी (Financial) नीति का निर्धारण भी मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही किया जाता है। सरकार को अपना खर्च चलाने के लिये कितने धन की आवश्यकता है, और इस धन को किस प्रकार प्राप्त किया जाए, इसका निश्चय मन्त्रिमरिषद ही करती है। इसके लिये मन्त्रि-परिषद् द्वारा राजकीय आय-व्यय का विवरण-पत्र (बजट) तैयार किया जाता है, जिसे मन्त्री लोग ही पार्लियामैण्ट में पेश करते हैं। इस बजट में सरकारी आय-व्यय का ब्योरा विशद रूप से दिया हुआ होता है। सरकारी खर्च के लिये आवश्यक धन को प्राप्त करने के लिये जनता से कौन से टैक्स लिये जाएँ, और टैक्सों द्वारा प्राप्त धन को किस प्रकार खर्च किया जाए, इन सब बातों का निश्चय पहले मन्त्रि-परिषद् करती है, और उसी के प्रस्तावों पर पार्लिया-

मैण्ट विचार करती है। इस प्रकार राजकीय आय-व्यय, राजकीय टैक्स व आर्थिक मामलों का तो मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही संचालन व निर्धारण किया जाता है।

(५) राज्यपाल, सुप्रीमकोर्ट और हाईकोर्टों के न्यायाधीश, आडीटर-जनरल आदि उच्च राजकीय पदाधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, पर राष्ट्रपति इनकी नियुक्ति भी मन्त्रि-परिषद् के परामर्श के अनुसार ही करता है।

(६) अन्य देशों के साथ राजनीतिक व व्यापार-सम्बन्धी सन्धियों का निश्चय भी मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही किया जाता है। किसी विदेश के साथ क्या सम्बन्ध रखा जाए, और युद्ध की घोषणा व सुलह आदि विदेशी मामले भी मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही निर्धारित होते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देश के आन्तरिक शासन व विदेशी सम्बन्ध सब के विषय में नीति का निर्धारण मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही होता है। राष्ट्रपति और पार्लियामैण्ट दोनों मन्त्रि-परिषद् के परामर्श व निश्चय के अनुसार ही कार्य करते हैं। जो आदेश राष्ट्रपति द्वारा जारी किये जाते हैं, जो नियुक्तियां राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं, राष्ट्रपति जो संकटकाल की घोषणा करता है,—ये सब कार्य वह मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से ही करता है। पार्लियामैण्ट जो कानून बनाती है, जो टैक्स लगाती है या जिस नीति का निश्चय करती है, वह सब भी मन्त्रि-परिषद् के नेतृत्त्व में ही किया जाता है।

राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद्—क्योंकि राष्ट्रपति अपने सब कार्य मन्त्रिपरिषद् के परामर्श व सहायता से ही करता है, अतः राष्ट्रपति के अच्छे-बुरे कार्यों के लिये मन्त्रि-परिषद् ही उत्तरदायी है। इसीलिये पार्लियामैण्ट में जब राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये अध्यादेशों (आर्डिनान्स) व उसके किसी अन्य कार्य की आलोचना की जाती है, तो वह आलोचना वस्तुतः मन्त्रि-परिषद् की ही होती है। देश के शासन में राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद् का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि राज्य की नीति का निर्धारण और शासन का संचालन मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही किया जाता है, पर राष्ट्रपति उस पर अनेक प्रकार से प्रभाव डाल सकता है। यदि राष्ट्रपति योग्य, अनुभवी और प्रभावशाली है, तो वह मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों को प्रभावित कर सकता है। प्रत्येक मन्त्री के लिये यह आवश्यक है कि वह समय-समय पर राष्ट्रपति से मिलता रहे और उसे अपने विभाग की गति विधि से अवगत करता रहे। प्रधानमन्त्री को तो बहुधा राष्ट्रपति से भेंट करने का अवसर मिलता है। ऐसे समय राष्ट्रपति अपने विचारों को प्रधानमन्त्री व अन्य मन्त्रियों के सम्मुख रख सकता है, और मन्त्री लोग उसके विचारों की उपेक्षा नहीं कर सकते।

राष्ट्रपति को देश की शासननीति को प्रभावित करने के अन्य अनेक अवसर भी मिलते हैं। यदि मन्त्रिपरिषद् की लोकसभा में हार हो जाए, तो उसे अधिकार है कि वह लोकसभा को भंग कर नया चुनाव कराने की प्रार्थना कर सके। पर राष्ट्रपति इस प्रार्थना को अस्वीकृत भी कर सकता है, और नई मन्त्रिपरिषद् के निर्माण की व्यवस्था कर सकता है। यदि कभी राष्ट्रपति का यह विचार हो कि वर्तमान लोकसभा जनता का प्रतिनिधित्त्व नहीं करती, और इस कारण मन्त्रिपरिषद भी लोकमत की प्रतिनिधि

नहीं है, तो वह लोकसभा को भंग कर नया चुनाव करा सकता है।

मन्त्रिपरिषद् और लोकसभा—संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। इस कारण मन्त्रिपरिषद् तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक लोकसभा का विश्वास उसे प्राप्त रहे। यदि लोकसभा का मन्त्रिपरिषद् पर विश्वास न रहे, तो वह निम्नलिखित प्रकार से उसे पदत्याग कर देने के लिये विवश कर सकती है—

(१) लोकसभा मन्त्रिपरिषद् के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव (Vote of No-confidence) पास कर सकती है।

(२) वह किसी एक मन्त्री के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है। क्योंकि सब मन्त्रियों की उत्तरदायिता सामूहिक रूप से होती है, अतः एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाने पर भी सारी मन्त्रिपरिषद् त्याग-पत्र दे देती है।

(३) वह मन्त्रिपरिषद् द्वारा प्रस्तुत किये गये किसी ऐसे बिल या प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दे, जो मन्त्रिपरिषद् की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हो।

(४) वह किसी गैर सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किये गये किसी ऐसे बिल या प्रस्ताव को स्वीकृत कर दे, मन्त्रिपरिषद जिसके विरोध में हो।

(५) बजट में मन्त्रियों के वेतन में कटौती करे, या उन्हें स्वीकृत न करे।

(६) बजट में पेश की गई सरकारी खर्च की मांगों में कटौती कर दे या उन्हें स्वीकृत न करे।

यदि लोकसभा में मन्त्रिपरिषद् का बहुत अधिक बहुमत हो, तो इस प्रकार की किसी अवस्था के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। इस समय भारतीय संघ की लोकसभा में कांग्रेस पार्टी का इतना अधिक बहुमत है, कि कांग्रेसी मन्त्रिपरिषद् के प्रति न अविश्वास का प्रस्ताव पास हो सकता है, और न ही उसके द्वारा प्रस्तुत कोई बिल या प्रस्ताव अस्वीकृत ही हो सकता है। पर यदि कभी इस बहुमत में कमी हो जाए, कांग्रेस पार्टी के सदस्यों की संख्या ५० प्रतिशत के लगभग रह जाए, या उनका बहुमत न होने की दशा में अन्य पार्टियों के सहयोग व समर्थन पर आश्रित होकर वह अपनी मन्त्रिपरिषद् बनाए, तब इस प्रकार की अवस्थाएँ उत्पन्न होने की सम्भावना अवश्य बनी रहेगी।

क्योंकि मन्त्रिपरिषद् की स्थिति लोकसभा पर आश्रित रहती है, अतः यह समझा जा सकता है कि मन्त्रिपरिषद् लोकसभा की वशवर्त्ती होकर कार्य करती है। पर असली बात इसके बिलकुल विपरीत है। जिस मन्त्रिपरिषद् का लोकसभा में बहुमत हो, वह लोकसभा की स्वामी बनकर रहती है। भारत में कांग्रेस के मुकाबिले में अभी अन्य कोई पार्टी सुसंगठित व शक्तिशाली नहीं है। स्वतन्त्र उम्मीदवारों के लिये चुना जा सकना सुगम नहीं होता। जब प्रत्येक निर्वाचिक मण्डल में मतदाताओं की संख्या एक लाख के लगभग व उससे भी अधिक हो, तो किसी सुसंगठित व शक्तिशाली राजनीतिक दल की सहायता के बिना कोई उम्मीदवार अपने को लोकसभा का सदस्य निर्वाचित करा

सकने में सुगमता से सफल नहीं हो सकता। अतः भारत की केन्द्रीय पार्लियामैण्ट और राज्यों की विधान सभाओं में कांग्रेस पार्टी का बहुमत बहुत अधिक है।

मन्त्रिपरिषद् पार्लियामेण्ट को अपने पीछे चला सकने में समर्थ होती है, क्योंकि

(१) पार्लियामैण्ट के सदस्य अपने दल के नियंत्रण में रहते हैं। वे उसी पक्ष में वोट देते हैं, जिसके लिये वोट देने का उन्हें आदेश दिया जाए। पार्लियामैण्ट में जो भी राजनीतिक पार्टियां होती हैं, वे अपने संगठन बना लेती हैं। वे अपने नेता, मन्त्री व व्हिप (Whip) का चुनाव कर लेती हैं, और उसके सब सदस्य व्हिप के आदेशों का आंख मींचकर पालन करते हैं। यदि कोई सदस्य व्हिप के आदेश को मानने से इन्कार करे, पार्टी के नियंत्रण में न रहे, और व्हिप के खिलाफ वोट दे, तो पार्टी उसके खिलाफ कार्रवाई करती है। उसे पार्टी से बहिष्कृत भी कर दिया जा सकता है। पार्टी से बहिष्कृत हो जाने से सदस्य को अनेक प्रकार के नुकसान उठाने पड़ते हैं। अगले चुनाव में उसे पार्टी अपना उम्मीदवार स्वीकार नहीं करती, और उसके लिये पार्लियामैण्ट में निर्वाचित हो सकना कठिन हो जाता है।

(२) महत्त्वपूर्ण बिलों और प्रस्तावों को मन्त्रिपरिषद् ही तैयार करती है, और उन्हें मन्त्री ही पार्लियामेण्ट में पेश करते हैं। जिस दल की मन्त्रिपरिषद् हो, उसके सदस्य इनके समर्थन में भाषण देना या इनके पक्ष में वोट देना ही अपना प्रधान कर्तव्य समझते हैं। यदि वे बिल या प्रस्ताव के विरोध में हों, तो भी वे उसके विरुद्ध भाषण व वोट देने का साहस नहीं करते। क्योंकि विरोधी दल के सदस्यों की संख्या अधिक नहीं होती, अतः मन्त्रिपरिषद् उनकी आलोचना व विरोध की विशेष परवाह नहीं करती।

(३) यदि कभी लोकसभा मन्त्रिपरिषद् के विरुद्ध प्रस्ताव पास कर दे, तो वह लोकसभा को भंग कर नये चुनाव की व्यवस्था करवा सकती है। सदस्य लोग स्वाभाविक रूप से नये चुनाव की बात को पसन्द नहीं करते, विशेषतया उस पार्टी के जिसकी मन्त्रिपरिषद् हो। नये चुनाव का मतलब है, फिर से सदस्य चुने जाने की परेशानी उठाना, रुपया खर्च करना और अपनी सदस्यता को खतरे में डालना। अतः बहुमत वाली पार्टी के सदस्य मन्त्रिपरिषद् के समर्थन को ही अपना इतिकर्तव्य मान बैठते हैं।

इन कारणों से मन्त्रि परिषद् लोकसभा की अनुवर्त्ती बन कर नहीं रहती, अपितु उसे अपने पीछे चलाती है। कहने को तो वह लोकसभा के प्रति उत्तरदायी और उसकी अनुगामी होती है, पर असल में वह उसकी स्वामिनी बन कर काम करती है।

कार्यकारिणी के विविध विभाग

भारत की संघ सरकार के कार्यों को अनेक विभागों में विभक्त किया गया है और ये विभाग भिन्न-भिन्न मन्त्रियों के सुपुर्द हैं। कुछ मन्त्री ऐसे भी हैं, जिन्हें एक से अधिक विभाग सुपुर्द किये गये हैं।

जून, १९५८ में सरकारी कार्यों के विभाग निम्नलिखित प्रकार से किये गये थे—

(१) विदेशी विभाग और आणविक शक्ति का विभाग।
(२) गृह विभाग (Ministry of Home Affairs)।
(३) अर्थ विभाग (Ministry of Finance)।
(४) रेलवे विभाग (Ministry of Railways)।

(५) श्रम, सेवायुक्ति और आयोजन विभाग (Ministry of Labour, Employment and Planning) ।

(६) व्यापार व उद्योग विभाग (Ministry of Industry and Commerce)

(७) इस्पात, खान और ईंधन विभाग (Ministry of Steel, M!nes and Fuel) ।

(८) कर्मशाला, निवास और प्रदाय विभाग (Ministry of Works, Housing and Supply) ।

(९) खाद्य पदार्थ और कृषि विभाग (Ministry of Food and Agriculture)

(१०) रक्षा विभाग (Ministry of Defence) ।

(११) परिवहन और संचार विभाग (Ministry of Transfort and Communications) ।

(१२) सिंचाई और विद्युत विभाग (Ministry of Irrigation and Power) ।

(१३) पार्लियामेंटरी विभाग (Ministry of Parliamentary Affairs) ।

(१४) सूचना और परिसरण विभाग (Ministry of Information and Broadcasting) ।

(१६) स्वास्थ्य विभाग (Ministry of Health) ।

(१६) पुनर्वास विभाग (Ministry of Rehabilitation) ।

(१७) कम्युनिटी डेवलपमेंट विभाग (Ministry of Community Development) ।

(१८) शिक्षा विभाग (Ministry of Educat:on) ।

(१९) वैज्ञानिक अनुसंधान और संस्कृति विभाग (Ministry of Scientific Research and Culture) ।

(२०) कानून विभाग (Ministry of Law) ।

(२१) आर्थिक विषय विभाग (Ministry of Economic Affairs) ।

मन्त्रिपरिषद के अधीन जो ये विविध विभाग हैं, उनका निर्माण कार्य की सुविधा की दृष्टि से किया गया है। ये ऐसे विभाग नहीं हैं, जिनमें परिवर्तन न हो सके। शासन कार्य की सुविधा के लिये नये विभाग भी बनाये जा सकते हैं, और इनमें से किन्हीं दो या अधिक को मिला कर एक भी किया जा सकता है। एक मन्त्री के अधीन एक से अधिक विभाग भी रखे जा सकते हैं। इनमें से कुछ विभाग कैबिनेट मन्त्रियों के सुपुर्द हैं, और कुछ राज्यमन्त्रियों के। उपमन्त्रियों के अधीन कोई पृथक् विभाग नहीं रखा जाता, उनकी नियुक्ति मन्त्री की सहायतार्थ ही की जाती है।

पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी—मन्त्रियों की पार्लियामेण्ट के प्रति बहुत उत्तरदायिता होती है। वे पार्लियामेण्ट के अधिवेशन में उपस्थित होते हैं, सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं, और सरकारी व अन्य बिलों पर होने वाली बहस में भाग लेते हैं। बहुधा मन्त्रियों को इतना अधिक काम रहता है, कि वे पार्लियामेण्ट के काम में पूरी तरह से भाग नहीं ले सकते। अतः उनकी सहायता के लिये पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरियों की नियुक्ति कर

दी जाती है। ये सेक्रेटरी पार्लियामेण्ट के सदस्यों में से ही नियुक्त किये जाते हैं, और ये पार्लियामेण्ट में अपने मन्त्री की सहायता करते हैं।

मन्त्रियों की संख्या---भारत की मन्त्रिपरिषद् में कितने सदस्य हों, इसकी संख्या निश्चित नहीं है। आवश्यकता के अनुसार उनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। मार्च, १९५८ में विविध प्रकार के मन्त्रियों की कुल संख्या निम्नलिखित थी---

कैबिनेट मन्त्री (जो कैबिनेट के सदस्य थे)	१२
राज्य मन्त्री (जो कैबिनेट के सदस्य नहीं थे)	१५
उपमन्त्री	१९
	४६

मन्त्रिपरिषद् के अधिवेशन

सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् का कभी अधिवेशन नहीं होता। अधिवेशन केवल कैबिनेट के होते हैं, जिनमें कैबिनेट मन्त्री परस्पर मिलकर विचार-विमर्श करते हैं। उन्हीं के निर्णयों को मन्त्रि परिषद् का निर्णय मान लिया जाता है।

साधारणतया कैबिनेट का अधिवेशन सप्ताह में एक बार होता है। यदि आवश्यकता हो, तो सप्ताह में एक बार से अधिक भी कैबिनेट का अधिवेशन हो सकता है। प्रधानमन्त्री जब चाहे, उसका अधिवेशन बुला सकता है। इन अधिवेशनों में सभापति का आसन प्रधानमन्त्री ग्रहण करता है। मन्त्री लोग अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रगट करते हैं, और राजकीय नीति के सम्बन्ध में विचार करते हैं। यह स्वाभाविक है कि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उनमें मतभेद हो। पर कैबिनेट में जो निर्णय एक बार हो जाए, उसे सब मन्त्रियों को स्वीकार करना पड़ता है। उसके खिलाफ कोई मन्त्री पार्लियामेण्ट में या जनता के सम्मुख अपना विचार प्रकट नहीं कर सकता। यदि कोई मन्त्री कैबिनेट के किसी निर्णय से असहमत हो, और उसे अत्यन्त अनुचित समझता हो, तो उसके सम्मुख एक ही मार्ग होता है; वह यह कि वह मन्त्रिपरिषद् से त्यागपत्र दे दे। पर जब तक वह मन्त्रिपरिषद् का सदस्य रहे, उसे उसके निर्णय को मानना ही होगा। साधारणतया, कैबिनट में किसी प्रश्न पर वोट नहीं लिये जाते। यह प्रयत्न किया जाता है कि सब निर्णय सर्वसम्मति से किये जाएं। पर जब सर्वसम्मति से निर्णय कर सकना सम्भव नहीं रहता, तो वोट भी लिये जाते हैं, और बहुमत द्वारा निर्णय किया जाता है।

प्रधानमन्त्री और उसका महत्त्व

मन्त्रिपरिषद् में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य प्रधानमन्त्री है। उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, और अन्य मन्त्री उसी के परामर्श के अनुसार नियत किये जाते हैं। यद्यपि संविधान के अनुसार प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति के हाथों में है, पर क्रिया में वह केवल उसी व्यक्ति को इस पद पर नियत कर सकता है, जो लोकसभा के बहुमत वाले दल का नेता हो, क्योंकि मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है, और तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि लोकसभा के बहुमत

का विश्वास उसे प्राप्त रहे । भारत के शासन में प्रधानमन्त्री का महत्त्व कितना अधिक है, यह उसके निम्नलिखित कार्यों व अधिकारों द्वारा स्पष्ट हो जायगा—

(१) मन्त्रि परिषद् में किन व्यक्तियों को लिया जाए, इसका निश्चय राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श से ही करता है। वस्तुतः, प्रधानमन्त्री ही अन्य मन्त्रियों को चुनता है, और अन्य मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं, जब तक कि प्रधान मन्त्री उन्हें रखना चाहे। यदि प्रधानमन्त्री किसी मन्त्री के कार्य से असंतुष्ट हो, तो वह उसे त्याग-पत्र देने को कह सकता है। साधारणतया, कोई मन्त्री प्रधानमन्त्री की इच्छा के बिना अपने पद पर नहीं रहना चाहेगा। पर यदि कोई मन्त्री प्रधानमन्त्री के कहने पर त्याग-पत्र न दे, तो प्रधानमन्त्री मन्त्रि-परिषद् को भंग कर सकता है। इसके लिये वह राष्ट्रपति के सम्मुख अपना व अपने मन्त्रिपरिषद् का त्यागपत्र पेश कर देगा । राष्ट्रपति उसे स्वीकार कर लेगा, और प्रधानमन्त्री की नये सिरे से नियुक्ति कर, उसके परामर्श से नये मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा। इस प्रकार जो नयी मन्त्रिपरिषद् बनेगी, उसमें उस अवांछित मन्त्री को स्थान नहीं मिलेगा।

(२) विविध मन्त्रियों में कार्य का बँटवारा किस ढंग से किया जाए, किस मन्त्री के सुपुर्द कौन-सा विभाग किया जाए, और किसकी क्या स्थिति हो—इन बातों का निश्चय प्रधोनमन्त्री ही करता है।

(३) कैबिनेट के अधिवेशनों का सभापतित्त्व प्रधानमन्त्री द्वारा ही किया जाता है।

(४) यदि सरकार के विविध विभागों में मतभेद हो जाए, तो उसका निर्णय प्रधानमन्त्री ही करता है। प्रायः मन्त्रियों में मतभेद होता रहता है। कोई मन्त्री अपने विभाग के लिये अधिक रुपया चाहता है, पर वित्तमन्त्री बजट में उतना रुपया दे सकने की गुंजाइश नहीं समझता। अनेक सरकारी विभागों के कार्यों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इन विभागों में अनेक प्रश्नों पर मतभेद हो जाते हैं। श्रम-मन्त्री मजदूरों की सुविधा के लिये कुछ विशेष व्यवस्थाएँ करने के पक्ष में है पर उद्योग विभाग (Ministry of Industries) की सम्मति में इन सुविधाओं को देने से खर्च में वृद्धि हो जाएगी, और उत्पादन कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकेगा। ऐसे सब मतभेदों को निबटाने और विविध मन्त्रियों में सामंजस्य स्थापित करने का कार्य प्रधान मन्त्री ही करता है। उसकी स्थिति मन्त्रिपरिषद् के नेता की होती है।

(५) प्रधानमन्त्री केवल मन्त्रिपरिषद् का ही नेता नहीं होता, अपितु पार्लियामेण्ट और देश का भी नेता होता है। उसे प्रधानमन्त्री के पद पर इसी कारण नियुक्त किया जाता है, क्योंकि वह उस दल का नेता होता है, जिसका लोकसभा में बहुमत हो। अतः लोकसभा में उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है। पर लोकसभा में भी वही दल बहुमत प्राप्त कर सकता है, देश की बहुसंख्यक जनता जिसकी अनुयायी हो। अतः प्रधानमन्त्री परोक्ष रूप से सारे देश का नेतृत्त्व करता है । उसकी योग्यता, अनुभव, प्रभाव आदि के कारण ही उसका दल लोकसभा में बहुमत प्राप्त करता है।

(६) मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों की राष्ट्रपति को सूचना देना प्रधानमन्त्री का कार्य है।

(७) राज्यपाल, राजदूत, न्यायाधीश आदि उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री के परामर्श के अनुसार ही राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इनकी नियुक्ति में प्रधानमन्त्री की सम्मति ही सबसे महत्त्वपूर्ण होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत के संसदात्मक (Parliamentary) शासन में प्रधानमन्त्री की स्थिति सबसे अधिक महत्त्व की है। वस्तुतः वही शासन का आधार स्तम्भ है। राष्ट्रपति उसी के परामर्श व सहायता पर निर्भर रहकर अपना कार्य करता है, मन्त्रिपरिषद् उसके नेतृत्व में रहती है, और पार्लियामेण्ट उसी द्वारा प्रदर्शित मार्ग को अपना कर अपना कार्य करती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) भारत कीं मन्त्रिदरिषव् के राष्ट्रपति और लोकसभा के साथ सम्बन्धों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५५)

(२) भारत की मन्त्रिपरिषद् के संगठन और उसके अधिकारोंका वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५४)

(३) नवीन संविधान के अनुसार प्रधान मन्त्रीं की नियुक्ति किस प्रकार होती है? प्रधान-मन्त्री के कार्यों और अधिकारों का उल्लेख कीजिए। (यू० पी० १९५२)

(४) "प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् रूपी वृत्त खण्ड का मध्य प्रस्तर है" (लार्ड-मार्ले), यह कथन भारत के प्रधान मन्त्री पर कहां तक लागू होता है (यू० पी० १९५३)

(५) भारत की संघ सरकार में किन विविध प्रकारों के मन्त्री होते हैं? उनके अधिकारों में क्या भेद है?

(६) भारतीय संघ के शासन में प्रधान मन्त्री का क्या महत्त्व है?

आठवां अध्याय

भारतीय संघ का व्यवस्थापन विभाग

भारतीय संघ के व्यवस्थापन विभाग के तीन अंग हैं—(१) राष्ट्रपति, (२) राज्य सभा (Council of States), और (३) लोकसभा (House of the People) ।

राज्य सभा और लोक सभा को संसद (Parliament) कहते हैं । दूसरे शब्दों में भारतीय संघ की पालियामेण्ट में दो सदन (Chambers) हैं, राज्य सभा और लोक सभा । राष्ट्रपति भी व्यवस्थापन विभाग का अंग है, क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना पालियामेण्ट द्वारा पास हुआ कोई बिल या प्रस्ताव स्वीकृत नहीं समझा जा सकता । व्यवस्थापन सम्बन्धी जो अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त हैं, उनका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है । उन्हें यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं । पर इसमें सन्देह नहीं, कि राज्यसभा और लोकसभा के समान राष्ट्रपति भी भारतीय संघ के व्यवस्थापन विभाग का अन्यतम अंग है ।

भारतीय संघ के व्यवस्थापन विभाग की शक्ति अमर्यादित नहीं है, वह प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में कानूनों का निर्माण नहीं कर सकता । इसके दो कारण हैं—

(१) भारत एक संवर्गात्मक राज्य (Federation) है, ब्रिटेन के समान वह एकात्मक (Unitary) राज्य नहीं है । इस कारण शासन सम्बन्धी विषयों को संघ सरकार और विविध राज्यों की सरकारों के बीच में विभक्त कर दिया गया है । कौन-से विषय संघ के हाथ में रहेंगे और कौन-से राज्यों के—इसका निर्धारण संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) द्वारा किया गया है । संघ का व्यवस्थापन विभाग केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में कानून बना सकता है, जो या तो संघ के विषयों की सूची में हों, या समवर्ती (Concurrent) सूची में हों ।

(२) भारत का व्यवस्थापन विभाग कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता, जो संविधान की किसी व्यवस्था के प्रतिकूल हो । इसीलिये व्यवस्थापन विभाग द्वारा स्वीकृत किसी कानून के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों के सम्मुख इस आधार पर अपील की जा सकती है कि यह कानून संविधान के प्रतिकूल है । भारत के सुप्रीमकोर्ट को अधिकार है कि वह किसी कानून को अवैध (Unconstitutional) घोषित कर सके ।

लोकसभा (House of the People)

भारत की पालियामैण्ट में दो सदन हैं, लोकसभा और राज्यसभा । इन में लोकसभा का महत्त्व अधिक है, क्योंकि मन्त्रिपरिषद् उसी के प्रति उत्तरदायी होती है ।

लोकसभा के सदस्य—संविधान के अनुसार लोकसभा के सदस्यों की अधिक-से-अधिक संख्या ५२० तक हो सकती है। इनमें से अधिकतम ५०० उन राज्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे, जो भारतीय संघ के अन्तर्गत हैं, और अधिकतम २० उन संघ-क्षेत्रों (Union Territories) का, जिनका शासन संघ सरकार के अधीन है। राज्यों (States) के प्रतिनिधियों का चुनाव जनता द्वारा होता है, और इस प्रयोजन के लिये भारत के विविध राज्यों को बहुत से प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों (Territorial Constituencies) में विभक्त किया जाता है। राज्यों द्वारा निर्वाचित होने वाले लोकसभा के सदस्यों की संख्या इस हिसाब से निश्चित की जाती है कि जहां तक सम्भव व क्रियात्मक हो, प्रत्येक राज्य की आबादी और उस द्वारा चुने जाने वाले सदस्यों में अनुपात सब राज्यों में एक बराबर हो। भारत के अन्तर्गत १४ राज्यों की कुल आबादी इस समय ३५,७०,१९,४६१ के लगभग है, और उन सबसे कुल मिलाकर ४८७ सदस्य लोकसभा के लिये निर्वाचित किये जाने की व्यवस्था की गयी है। यह यत्न किया गया है, कि इन ४८७ सदस्यों को विभिन्न राज्यों में इस ढंग से बांटा जाए कि एक सदस्य ७ लाख के लगभग मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करे।

संघ द्वारा शासित क्षेत्रों (Union Territories) से इस समय कुल मिला कर लोकसभा के लिये १५ सदस्यों को लिये जाने की व्यवस्था की गई है। इन क्षेत्रों से इन सदस्यों को किस ढंग से लिया जाए, इसके सम्बन्ध में संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि पार्लियामेण्ट कानून बना कर यह तय करे कि इन क्षेत्रों के प्रतिनिधि किस प्रकार से चुने जाएँ। पार्लियामेण्ट ने कानून द्वारा यह तय किया है कि इन १५ सदस्यों में से ४ हिमाचल प्रदेश, ५ दिल्ली, २ त्रिपुरा और २ मणिपुर के प्रतिनिधि हों, और इनका चुनाव भी प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा किया जाए। इतके अतिरिक्त दो सदस्य अन्डेमान-निकोबार और लक्कदीव-मिनिकोय-अमिन्दवी के संघ-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करें, जो की जनता द्वारा निर्वाचित न होकर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जायं। साथ ही, राष्ट्रपति आसाम के जनजाति क्षेत्र वर्ग 'ख' का भी एक प्रतिनिधि मनोनीत करता है।

इस प्रकार इस समय लोकसभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या ५०० निर्धारित की गई है, जिनमें से ४८७ का चुनाव भारतीय संघ के अन्तर्गत १४ राज्यों द्वारा होता है, और शेष १३ सदस्यों का संघ द्वारा शासित संघ क्षेत्रों द्वारा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि यदि उसकी सम्मति में जनता द्वारा चुने गये सदस्यों में ऐंग्लो-इंडियन लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न हुआ हो, तो वह लोकसभा में दो ऐंग्लो-इंडियनों को सदस्य रूप से मनोनीत कर सके।

जनता द्वारा जो सदस्य लोकसभा के लिये निर्वाचित होते हैं, उनमें अछूत समझी जाने वाली (हरिजन) जातियों और पिछड़ी हुई कबायली जातियों के लिये भी कुछ सदस्य-संख्या नियत कर दी गई है, यद्यपि इनके चुनाव में सब मतदाता हाथ बटाते हैं केवल इन अछूत और पिछड़ी हुई जातियों के मतदाता ही नहीं।

वर्तमान समय में लोकसभा में किस राज्य व संघक्षेत्र के कितने कितने प्रतिनिधि हैं,

यह निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट हो जायगा—

राज्य व संघक्षेत्र	कुल सदस्य	अनुसूचित जातियों के सदस्य	जनजातियों के सदस्य
आन्ध्र	४३	६	२
आसाम	१२	१	२
बिहार	५३	७	५
बम्बई	६६	७	५
केरल	१८	२	—
मध्य प्रदेश	३६	५	७
मद्रास	४१	७	—
माइसूर	२६	३	—
उड़ीसा	२०	४	४
पंजाब	२२	५	—
राजस्थान	२२	३	२
उत्तरप्रदेश	८६	१८	—
पश्चिमी बंगाल	३६	६	२
जम्मू-काश्मीर	६	—	—
देहली	५	१	—
हिमाचल प्रदेश	४	१	—
मणिपुर	२	—	—
त्रिपुरा	२	—	१
अण्डमान निकोबार	१	—	—
लक्कदीव-मिनिकोय-अमिन्दवी	१	—	—
आसाम जनजाति क्षेत्र	१	—	—
सर्वयोग :—	५०३	७६	३१

इस तालिका द्वारा यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है, कि भारतीय संघ की लोक-सभा में भारत के विविध राज्यों और क्षेत्रों (Territories) को किस हिसाब से प्रतिनिधित्व प्राप्त है। लोकसभा के सदस्यों का विविध राज्यों व क्षेत्रों में यह विभाजन जनसंख्या को दृष्टि में रखकर किया गया है। १९५१-५२ के चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों (Constituencies) का जिस ढंग से निर्माण किया गया था, उसमें भी अब अन्तर कर दिया गया है और निर्वाचन क्षेत्रों का नये सिरे से निर्माण किया गया है। निर्वाचित सदस्यों में से ७६ अछूत समझे जाने वाली जातियों के प्रतिनिधि होंगे, और ३१ पिछड़ी हुई जातियों के।

संविधान में यह व्यवस्था भी की गई है कि प्रत्येक नई मर्दुमशुमारी के बाद यह नये सिरे से निश्चित किया जाए कि किस राज्य के लोकसभा में कितने सदस्य हों।

साथ ही, प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों का भी उसके अनुसार नये सिरे से निर्माण किया जाए।

लोकसभा के सदस्यों का चुनाव

लोकसभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिये जो व्यवस्था भारत में अपनायी गयी है, उसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **प्रत्यक्ष चुनाव**—लोकसभा के सदस्यों का चुनाव जनता स्वयं वोट देकर करती है। इसके लिये किसी निर्वाचक-सभा (Electoral College) का निर्माण नहीं किया जाता। देश को अनेक निर्वाचन क्षेत्रों (Constituencios) में विभक्त कर उनसे लोकसभा की सदस्यता के उम्मीदवार खड़े होते हैं, और जिसे सबसे अधिक वोट मिलें, वही निर्वाचित हो जाता है।

(२) **वयस्क मताधिकार** (Adult Franchise)—लोकसभा के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा होता है। भारत के प्रत्येक ऐसे नागरिक (स्त्री और पुरुष-दोनों) को, जो अपनी आयु के २१ वर्ष पूर्ण कर चुका हो, वोट देने का अधिकार प्राप्त है, बशर्ते कि वह पागल या दिवालिया न हो या किसी गुरुतर अपराध में सजा न पा चुका हो, या चुनाव सम्बन्धी किसी अपराध के कारण वोट देने के अधिकार से वंचित न कर दिया गया हो। इस कारण भारत में मतदाताओं की संख्या १९ करोड़ के लगभग है। १९३५ के गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट द्वारा केवल १३ प्रतिशत व्यक्तियों को वोट का अधिकार मिला था। पर अब भारत के ५० प्रतिशत के लगभग निवासियों को वोट का अधिकार प्राप्त है। २१ वर्ष से कम आयु के नर नारी ही इस समय वोट के अधिकार से वंचित हैं। स्वतन्त्र भारत के संविधान द्वारा भारत में यह महान् क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। स्वराज्य से पूर्व भारत में वोट देने के लिये शिक्षा, सम्पत्ति आदि की जो शर्तें रखी हुई थीं, उन सबका अब अन्त कर दिया गया है, और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ कर दिया गया है।

(३) **संयुक्त निर्वाचन** (Joint Electorate)—अंग्रेजी शासन के समय भारत में पृथक् निर्वाचन प्रणाली विद्यमान थी, जिसके अनुसार मुसलमानों के प्रतिनिधि केवल मुसलमान मतदाताओं द्वारा ही चुने जाया करते थे। इसके अतिरिक्त पंजाब में सिक्खों के प्रतिनिधित्त्व के लिये भी पृथक् व्यवस्था थी। कतिपय अन्य अल्प-संख्यक जातियों के पृथक् प्रतिनिधित्त्व के लिये भी कुछ विशेष व्यवस्थाएँ की गई थीं। इसका परिणाम यह था, कि भारत के निवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रादुर्भाव हो सकना सम्भव नहीं था। विधान सभाओं के मुस्लिम सदस्य अपने को केवल मुसलमानों का प्रतिनिधि समझते थे, सर्वसाधारण जनता का नहीं। यही बाद हिन्दू आदि गैर-मुसलमानों के विषय में भी कही जा सकती थी। विधान सभाओं के मुस्लिम सदस्य विशेष रूप से मुसलमानों के हितों का ही खयाल रखते थे, और हिन्दू सदस्य हिन्दुओं के हितों का। इससे देश में साम्प्रदायिक विद्वेष की वृद्धि हुई, और धीरे-धीरे यह विचार विकसित हो गया, कि मुसलमान भारतीय न होकर एक पृथक् राष्ट्रीयता (Nationality) रखते हैं। इसी विचार के कारण भारत का विभाजन हुआ

और पाकिस्तान का निर्माण हुआ। स्वतन्त्र भारत के संविधान में इस पृथक् प्रणाली का अन्त कर दिया गया है, और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली को अपनाया गया है। अब भारत की केन्द्रीय पार्लियामेंण्ट में व विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं में मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि अल्पसंख्यक लोगों के लिये कोई स्थान सुरक्षित नहीं रखे गये हैं। धर्म व जाति का भेदभाव किये बिना सब मतदाता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं। केवल १० वर्षों के लिये यह व्यवस्था की गई है कि अछूत समझी जाने वाली व पिछड़ी हुई कबायली जातियों के लिये केन्द्रीय पार्लियामेण्ट और विविध राज्यों की विधान-सभाओं में स्थान सुरक्षित रखे जाएँ, पर इन जातियों के प्रतिनिधि भी केवल इनके मतदाताओं के वोटों से न चुने जाकर सर्व साधारण मतदाताओं द्वारा निर्वाचित हों। यह व्यवस्था इसलिये की गई है कि पिछड़ी हुई व अछूत जातियों के व्यक्तियों का अन्यथा प्रतिनिधि चुना जा सकना कठिन होता। आशा की जाती है कि दस वर्षों में भारत में ऊँच-नीच व छूत-अछूत का भेद मिट जायगा और पिछड़े हुए लोग भी अच्छी उन्नति कर जाएँगे। तब इस पृथक् प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जायगी। ऐंग्लो-इण्डियन लोगों के दो सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा में नामजद करने की व्यवस्था केवल उसी दशा में की गई है, जब उन्हें निर्वाचन द्वारा समुचित प्रतिनिधित्व न प्राप्त हुआ हो। यह व्यवस्था भी केवल १० वर्ष के लिये की गई है। वस्तुतः, भारत के संविधान की दृष्टि में भारत की जनता एक है। धर्म, जाति, भाषा, नसल आदि के भेदभावों के कारण किसी को पृथक् रूप से प्रतिनिधित्व दिया जाए, यह संविधान की दृष्टि में उचित नहीं है।

निर्वाचन की प्रक्रिया

भारत में निर्वाचन एक अत्यन्त जटिल कार्य है। कारण यह है कि यह देश बहुत विशाल है, और वयस्क मताधिकार के कारण यहां मतदाताओं की संख्या १९ करोड़ के लगभग हो गई है। चीन के अतिरिक्त अन्य कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहां इतने अधिक मतदाता हों। देश की विशालता और मतदाताओं की संख्या अत्यधिक होने के कारण भारत में चुनाव के लिये विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है।

निर्वाचन का कार्य ठीक प्रकार से हो सके, इसके लिए संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति एक निर्वाचन कमीशन (Election Commission) की नियुक्ति करे। इस कमीशन का प्रधान अधिकारी चीफ इलैक्शन कमिश्नर कहाता है। उसके अधीन अनेक इलैक्शन कमिश्नर व सहकारी इलैक्शन कमिश्नर नियत किये जाते हैं। इस कमीशन के कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) लोकसभा के चुनाव के लिये मतदाताओं की सूची तैयार कराना।

(२) राज्यों की विधानसभाओं के लिये मतदाताओं की सूची तैयार कराना।

(३) निर्वाचन की व्यवस्था, नियत्रण व निरीक्षण करना।

(४) चुनाव के परिणाम स्वरूप जो विवाद पैदा हों, उनका फैसला करने के लिये निर्वाचन न्यायालय (Election Tribunals) की नियुक्ति करना।

ये कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि लोकतन्त्र शासन तभी सफल हो सकता है, जब

कि चुनाव निष्पक्ष हों और उनमें कोई अनुचित कारवाई न होने पाए। इसीलिये चीफ इलैक्शन कमिश्नर की स्थिति सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश के सदृश रखी गई है, और उसे अपने पद से उन्हीं कारणों से हटाया जा सकता है, जिनसे कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है।

संघ की लोकसभा और राज्यों की विधान सभाओं का चुनाव एक समय में व एक साथ किया जाता है। इन चुनावों के लिये देश को विविध प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों (Territorial Constituencies) में बांट दिया जाता है। स्वाभाविक रूप से विधान सभा का निर्वाचन-क्षेत्र छोटा होता है, और लोकसभा का निर्वाचन क्षेत्र अधिक बड़ा। जिस क्षेत्र से लोक सभा के लिये एक सदस्य चुना जाता है, उसी से राज्यों की विधान सभा के लिये अनेक (६ या ७ के लगभग) सदस्य चुने जाते हैं। निर्वाचन-क्षेत्र दो प्रकार के होते हैं, एक वे जिनसे केवल एक सदस्य चुना जाना हो, दूसरे वे जिनसे दो सदस्य चुने जाने हों। क्योंकि अछूत समझी जाने वाली व कबायली जातियों के लिये लोकसभा व विधानसभाओं में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं, अतः कतिपय ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण आवश्यक हो गया है, जिनसे दो सदस्य चुने जायें, एक अछूत या कबायली जाति का और दूसरा अन्य। १९५२ में लोकसभा का जो चुनाव हुआ, उसमें ३१४ निर्वाचन क्षेत्रों से एक-एक सदस्य चुना गया था, और ८६ निर्वाचन-क्षेत्रों से दो-दो। एक निर्वाचन क्षेत्र ऐसा भी था, जिससे तीन सदस्य चुने गये थे। इस प्रकार १९५२ के चुनाव में लोकसभा के कुल निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या ४०१ थी। इसके विपरीत राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचन क्षेत्र संख्या में २५२० थे, जिन में से १९८६ से एक-एक, ५३३ से दो दो और एक निर्वाचन क्षेत्र से तीन सदस्य चुने गये थे।

वोट देते समय प्रत्येक मतदाता को यह अधिकार था, कि वह लोकसभा के विविध उम्मीदवारों में से किसी एक के लिए अपना वोट दे सके। जिन निर्वाचन क्षेत्रों से दो सदस्य चुने जाने थे, उनमें प्रत्येक मतदाता दो वोट दे सकता था, एक अछूत या कबायली जाति के उम्मीदवार को और दूसरा अन्य उम्मीदवार को।

निर्वाचन का ढंग यह होता है कि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र के लिये चुनाव की तिथि निश्चित कर दी जाती है। उससे कुछ दिन पूर्व एक अन्य तिथि निश्चित कर दी जाती है, जिस तक सदस्यता के प्रत्येक उम्मीदवार को अपना नाम-निर्देशन पत्र (Nomination paper) चुनाव अधिकारी के सम्मुख दाखिल कर देना चाहिये। इस नोमिनेशन पेपर पर एक मतदाता का हस्ताक्षर होता है, जो कि उम्मीदवार का नाम पेश करे। साथ ही, यह भी आवश्यक होता है, कि उम्मीदवार भी उस पेपर पर दस्तखत कर यह प्रमाणित करे कि मैं चुनाव में खड़ा होने के लिये उम्मीदवार बनना स्वीकार करता हूँ।

नोमिनेशन पेपर के दाखिल होने के बाद उसकी जांच की जाती है। जांच में यह देखा जाता है, कि सब खानापूरी ठीक तरह से की गई है या नहीं। जिस मतदाता ने उम्मीदवार का प्रस्ताव किया है, उसका नाम मतदाताओं की लिस्ट में है या नहीं या

उम्मीदवार में वे सब योग्यतायें हैं या नहीं, जो चुनाव में खड़े होने के लिये आवश्यक हैं। चुनाव आफिसर जांच करते हुए उन ऐतराजों पर विचार करता है, जो विरोधी उम्मीदवारों व मतदाताओं द्वारा पेश किये जाते हैं। प्रायः सात दिन की अवधि में चुनाव आफिसर इस बात का फैसला कर देता है कि किन उम्मीदवारों के नोमिनेशन पेपर सही हैं। जिनके सही न हों, वे उम्मीदवार नहीं रहने पाते। इसके बाद तीन दिन का समय इस बात के लिये दिया जाता है, कि यदि कोई उम्मीदवार अपना नाम वापस लेना चाहे, तो ले सके। लोकसभा के चुनाव में खड़ा होने के लिये ५०० रुपये जमानत के रूप में नोमिनेशन पेपर दाखिल करते हुए जमा करने पड़ते हैं। यदि कोई उम्मीदवार नियत अवधि में अपना नाम वापस ले ले, तो उसे जमानत की रकम वापस कर दी जाती है।

इसके लगभग एक मास बाद चुनाव की तिथि रखी जाती है। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में अनेक चुनाव स्थान (Polling Stations) बनाये जाते हैं, ताकि मतदाताओं को अपना वोट देने के लिये अधिक दूर न जाना पड़े, और वे सुगमता से अपना वोट डाल सकें। कोई उम्मीदवार अपने मतदाताओं को चुनाव स्थान तक पहुँचाने के लिये सवारी आदि का प्रबन्ध नहीं कर सकता। इस कारण यह जरूरी हो जाता है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में बहुत से चुनाव-स्थान बनाए जाएँ, जिससे मतदाताओं को वहां तक पहुँचने में दिक्कत न हो। १९५७ के चुनाव में इन चुनाव स्थानों की संख्या तीन लाख के लगभग थी। सरकार को चुनाव लिये कितना भारी इन्तजाम करना पड़ा था, इसका अन्दाज इस बात से सुगमता के साथ लगाया जा सकता सकता है।

भारत के बहुत से मतदाता अशिक्षित हैं, वे उम्मीदवारों के नाम नहीं पढ़ सकते। अतः प्रत्येक उम्मीदवार को चुनाव के लिये एक-एक निशान दे दिया जाता है। क्योंकि बहुत से उम्मीदवार किसी सुसंगठित राजनीतिक पार्टी की ओर से खड़े होते हैं, अतः एक पार्टी के सब उम्मीदवारों के लिये एक ही निशान नियत कर दिया जाता है। १९५७ के चुनाव में कांग्रेस पार्टी का निशान बैलों की जोड़ी था, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का कुटिया और जनसंघ का दीपक। इसी तरह के अन्य निशान अन्य पार्टियों के लिये नियत किये गये थे। जो उम्मीदवार किसी पार्टी की ओर से न खड़े होकर स्वतन्त्र रूप से खड़े हुए थे, उनके लिये भी कुछ निशान (यथा मसाल, तराजू, साइकल आदि) नियत कर दिये गये थे, जिनमें से किसी एक को वे अपने लिये चुन सकते थे। इन निशानों के कारण अशिक्षित मतदाता भी यह जान सकते हैं कि उन्हें जिस उम्मीदवार के पक्ष में वोट देना हो, उसका बक्स कौन-सा है। इससे वे वोट डालते हुए धोखा नहीं खा सकते थे। इन निशानों को उम्मीदवारों के बक्सों के अन्दर और बाहर दोनों ओर लगा दिया जाता था, और उन्हें भलीभांति वन्द कर ऊपर से मुहर लगा दी जाती थी, ताकि बक्स को खोला न जा सके। बक्स के ऊपर एक छेद रहता है, जिससे वोट अन्दर डाला जा सकता है। प्रत्येक उम्मीदवार व उसके कार्यकर्त्ता अपने पक्ष के मतदाताओं को भली भांति समझा देते हैं कि वे अपना वोट उसी बक्स में डालें, जिस पर उनका

निशान चिपका हुआ हो। १९५७ के चुनाव के बाद वोट डालने के ढंग में कुछ परिवर्तन किया गया है। अब विविध उम्मीदवारों के लिए अलग-अलग बक्से नहीं रखे जाते। सब वोट एक ही बक्से में डाले जाते हैं। वोट के लिये जो बैलेट पेपर तैयार किया जाता है, उस पर सब उम्मीदवारों के नाम व चुनाव चिन्ह छाप दिये जाते हैं। मतदाता जिस उम्मीदवार के पक्ष में वोट देना चाहे, उसके नाम के आगे मुहर से निशान बना देता है।

चुनाव स्थान पर पहुँचने पर प्रत्येक मतदाता के सम्बन्ध में यह जांच की जाती है कि उसका नाम मतदाताओं की लिस्ट में है या नहीं। फिर उसे एक परची दे दी जाती है। इस परची (बैलट पेपर) पर सब उम्मीदवारों के नाम व चुनाव-चिन्ह छपे होते हैं। जिस उम्मीदनार को वोट देना हो, उसके आगे मुहर से निशान बना कर मतदाता उसे बक्स में डाल देता है। वोट डालने के लिये नियत समय के समाप्त हो जाने पर बक्सों को मतगणना के लिये भेज दिया जाता है। सारे निर्वाचन क्षेत्र से कुल मिलाकर जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक वोट पड़े हों, वह निर्वाचित हो जाता है।

लोकसभा की सदस्यता के लिये आवश्यक योग्यताएं

लोकसभा की सदस्यता के लिये वे ही व्यक्ति उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं, जिनमें निम्नलिखित योग्यताएं हों।

(१) उन्हें भारत का नागरिक होना चाहिये।

(२) उनका नाम मतदाताओं की लिस्ट में होना चाहिये।

(३) वे अपनी आयु के २५ वर्ष पूरे कर चुके हों।

(४) भारत की संघ सरकार, विविध राज्यों की सरकार व उनके अधीन किसी स्थानीय संस्था में किसी ऐसे पद पर काम न कर रहा हो, जिससे उसे वेतन मिलता हो या कोई अन्य आर्थिक लाभ होता हो।

(५) किसी न्यायालय द्वारा उसे पागल न करार दिया गया हो।

(६) वह दिवालिया न हो।

(७) वे निर्वाचन सम्बन्धी किसी अपराध में दोषी न ठहराये गये हों।

(८) वे किसी अपराध में दो वर्ष या अधिक की कैद की सजा पाये हुए न हों। यदि उन्हें छूटे हुए पांच साल हो चुके हों, तो वे लोकसभा की सदस्यता के लिये उम्मीदवार हो सकते हैं।

(९) वे सरकारी ठेकेदार न हों, और किसी सरकारी कम्पनी में डाइरेक्टर न हों।

लोकसभा की अवधि

लोकसभा की अवधि पांच वर्ष नियत की गई है। पर इस अवधि के पूर्ण होने से पूर्व भी राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर सकता है, और नये चुनाव का आदेश दे सकता है। विशेष दशा में राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह लोकसभा की अवधि को बढ़ा सके। पर इस प्रकार अवधि को एक समय में एक वर्ष से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। यदि राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा की अवधि न बढ़ाई जाए, तो पांच वर्ष की समाप्ति पर उसका कार्यकाल समाप्त हो जायगा, और उससे पूर्व ही नया चुनाव कर लिया जायगा।

लोकसभा की सदस्यता का अन्त

जिन दशाओं में लोक सभा की सदस्यता का अन्त हो जाता है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) यदि कोई व्यक्ति एक से अधिक निर्वाचन क्षेत्र से लोकसभा का सदस्य चुन लिया जाए, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह केवल एक निर्वाचन क्षेत्र से ही सदस्य रहे, अन्य निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधि पद से त्यागपत्र दे दे।

(२) यदि कोई व्यक्ति विधान सभा और लोक सभा दोनों का सदस्य निर्वाचित हो जाए, तो भी उसे एक स्थान से त्यागपत्र दे देना पड़ता है।

(३) कोई सदस्य अपनी इच्छा से भी लोकसभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे सकता है।

(४) यदि निर्वाचित हो जाने के बाद कोई सदस्य सरकारी नौकरी स्वीकार कर ले, तो उसका स्थान रिक्त हो जाता है।

(५) यदि कोई सदस्य ६० दिन से अधिक निरन्तर लोकसभा के अधिवेशन से अनुपस्थित रहे, और इसके लिये पहले ही अनुमति न प्राप्त कर ले, तो उसकी सदस्यता का अन्त हो जाता है।

लोकसभा के पदाधिकारी

लोकसभा के दो पदाधिकारी होते हैं, अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker)। इन दोनों की नियुक्ति चुनाव द्वारा की जाती है। लोकसभा अपने सदस्यों में से ही बहुमत द्वारा इनका निर्वाचन करती है। ये लोकसभा की अवधि तक अपने पदों पर रहते हैं। लोकसभा में इनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। पर ऐसे प्रस्ताव की सूचना १४ दिन पूर्व देना आवश्यक है। यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाए, तो उन्हें त्यागपत्र देना पड़ता है।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को कितना वेतन, भत्ता व अन्य सुविधाएँ दी जाए, इसका निश्चय पार्लियामेण्ट द्वारा ही समय-समय पर किया जाएगा। जब तक पार्लियामेण्ट इस सम्बन्ध में कोई नई व्यवस्था न कर ले, संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि अध्यक्ष व उपाध्यक्ष को वह वेतन व भत्ता आदि मिलते रहें, जो संविधान सभा के अध्यक्ष को मिलते थे।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के पदों पर वही व्यक्ति निर्वाचित हो सकते हैं, जिन्हें बहुमत वाले दल का समर्थन प्राप्त हो, क्योंकि उनका चुनाव सदस्यों के बहुमत द्वारा ही होता है। पर इंगलैण्ड की परम्परा का अनुसरण कर भारत की लोकसभा का अध्यक्ष भी एक बार निर्वाचित हो जाने के बाद सब दलों के साथ निष्पक्ष रूप से बरताव करता है, और अपने को दलबन्दी से ऊपर समझता है।

लोकसभा का एक अपना सचिवालय (Secretariat) भी होता है। इसके कर्मचारी अध्यक्ष के अधीन कार्य करते हैं। लोकसभा के अधिवेशनों का सभापतित्त्व अध्यक्ष करता है, और वही उनकी कार्रवाई का संचालन करता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसका कार्य करता है। यद्यपि अध्यक्ष लोकसभा का सदस्य होता है, पर वह अपना वोट तभी दे सकता है, जबकि किसी प्रश्न के पक्ष और विपक्ष में एक

बराबर वोट आएँ। इस प्रकार के वोट को निर्णायक वोट (Casting Vote) कहते हैं।

कोरम—लोकसभा में कोरम के लिये दस प्रतिशत सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है। यदि कभी उपस्थित सदस्यों की संख्या इससे कम हो, तो कोरम नहीं समझा जाता और लोकसभा का अधिवेशन नहीं हो सकता।

सदस्यों का वेतन—साल में सात मास के लगभग लोकसभा के अधिवेशन होते रहते हैं। इस कारण उसके सदस्यों के लिये किसी अन्य पेशे व कारोबार में पर्याप्त समय दे सकना सम्भव नहीं होता। उन्हें अपना अधिकांश समय लोकसभा के कार्य में ही लगाना पड़ता है। इसलिये उन्हें ४०० रु० मासिक वेतन देने की व्यवस्था की गई है। साथ ही, वे जब लोकसभा के अधिवेशन में उपस्थित हों, तो उन्हें २१ रु० दैनिक के हिसाब से भत्ता भी मिलता है। उन्हें रेलवे में यात्रा के लिये प्रथम श्रेणी का पास मुफ्त दिया जाता है, जिसका प्रयोग करके वे जहां चाहें, विना किराये आ जा सकते हैं। लोकसभा के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये वे जब कभी दिल्ली आयें या अधिवेशन के समाप्त होने पर जब अपने घर वापस जाएँ, या किसी कमेटी में शामिल होने के लिये कहीं बाहर आएँ-जाएँ, तो उन्हें प्रथम श्रेणी का एक अतिरिक्त टिकट और तीसरे दर्जे का एक टिकट लेने का भी अधिकार है। इन टिकटों का किराया वे नकद वसूल कर सकते हैं, चाहे वे उन टिकटों को न भी खरीदें। रहने के लिये मकान भी उन्हें नाममात्र किराये पर मिलता है, और टेलीफोन आदि की भी अनेक सुविधाएँ उन्हें प्रदान की गई हैं।

लोकसभा के सदस्यों को अनेक अधिकार भी प्राप्त हैं। लोकसभा में वे जो भाषण दें, उनके लिये किसी न्यायालय में उन पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

राज्यसभा (Council of States)

भारतीय संघ की संसद (पार्लियामेण्ट) के दूसरे सदन को राज्य-सभा कहते हैं। संविधान के अनुसार इसके सदस्यों की अधिकतम संख्या २५० हो सकती है। इस समय राज्य परिषद् के सदस्यों की संख्या २३२ है, जिनमें से २२० विविध संघक्षेत्रों व राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और १२ राष्ट्रपति द्वारा नामजद किये गये हैं। जिन राज्यों के व्यवस्थापन विभाग में एक से अधिक सदन हैं, उनमें निचला सदन (विधान सभा) ही अपने राज्य से चुने जाने वाले राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन करता है। जिन राज्यों के व्यवस्थापन विभाग में केवल एक सदन है, वहां वह एक सदन (विधान सभा) ही इनका चुनाव करता है। इस प्रकार राज्य-सभा के बहुसंख्यक सदस्य विविध राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं, यद्यपि उनका चुनाव मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर विधान सभाओं के उन सदस्यों द्वारा किया जाता है, जो जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। इस प्रकार राज्यों की ये विधान सभाएँ राज्य सभा के चुनाव के लिये निर्वाचक सभा (Electoral College) का कार्य करती हैं। राज्य सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि इस प्रकार से हैं—

आन्ध्रप्रदेश	—	१८
आसाम	—	७
बिहार	—	२२
बम्बई	—	२७
केरल	—	९
मध्यप्रदेश	—	१६
मद्रास	—	१७
माइसूर	—	१२
उड़ीसा	—	१०
पंजाब	—	११
राजस्थान	—	१०
उत्तरप्रदेश	—	३४
पश्चिमी बंगाल	—	१६
जम्मू-काश्मीर	—	४
	योग—	२१३

इनके अतिरिक्त राज्यसभा में ७ प्रतिनिधि उन क्षेत्रों (Union Territories) के रहते हैं, जिनका शासन संघ के अधीन है । इन सात सदस्यों का विभाजन इस प्रकार किया गया है—

देहली	—	३
हिमाचल प्रदेश	—	२
मणिपुर	—	१
त्रिपुरा	—	१

देहली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा से राज्यसभा के लिये सदस्यों का चुनाव किस ढंग से हो, इस सम्बन्ध में संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि इसका निर्णय पार्लियामेण्ट द्वारा कानून बनाकर किया जाएगा।

संविधान के अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या २५० हो सकती है, जिनमें १२ राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे, और शेष २३८ राज्यों व संघ सरकार द्वारा शासित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेंगे । पर वर्तमान समय में राज्य सभा के कुल सदस्यों की संख्या २३२ है, जिनमें से १२ राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हैं, और शेष २२० विविध राज्यों व संघक्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

इस समय राज्यों की विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या राज्यसभा में २१३ है। इनका चुनाव एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System) द्वारा किया जाता है । राज्य सभा के १२ सदस्यों को नामजद करते हुए राष्ट्रपति यह ध्यान में रखता है कि ये सदस्य ऐसे हों, जो साहित्य, विज्ञान, कला व समाजसेवा में विशेष योग्यता व अनुभव रखते हों।

भारत के संविधान की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, कि उसमें इस प्रकार के व्यक्तियों को भी व्यवस्थापन विभाग में स्थान दिया गया है। प्रायः देखा जाता है कि विद्वान्, कलाकार, वैज्ञानिक, साहित्यिक व समाजसेवी लोग जनता से वोट प्राप्त करने के झंझट में नहीं पड़ना चाहते। उनके लिये यह सम्भव भी नहीं होता कि वे निर्वाचन क्षेत्र में जाकर मतदाताओं से वोटों की भीख मांगें। इस कारण उन्हें पार्लियामेंट का सदस्य बनकर अपने ज्ञान व अनुभव से देश को लाभ पहुँचाने का अवसर नहीं मिल पाता। भारत के संविधान में यह गुंजाइश रखी गई है, कि इस प्रकार के लोगों को भी राज्य सभा का सदस्य बनकर देश की सेवा का अवसर मिले।

राज्य सभा का सदस्य बनने के लिये आवश्यक योग्यताएं—राज्यसभा का सदस्य बनने के लिये जो व्यक्ति उम्मीदवार हों, उनमें निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहियें—

(१) वे भारत के नागरिक हों और मतदाताओं की सूची में उनका नाम हो।

(२) वे अपनी आयु के ३० वर्ष पूर्ण कर चुके हों।

(३) उनके लिये उस राज्य के किसी निर्वाचन क्षेत्र के मतदाताओं की सूची में नाम होना जरूरी है, जहां की विधान सभा से निर्वाचित होने के लिये वे उम्मीदवार हों।

(४) वे पागल या दिवालिये न हों, दो वर्ष व अधिक जेल की सजा न भुगत चुके हों, और निर्वाचन सम्बन्धी किसी अपराध के कारण चुने जाने के अधिकार से वंचित न कर दिये गये हों।

राज्यसभा की अवधि

राज्यसभा की कोई अवधि निश्चित नहीं की गई है, वह एक स्थायी संस्था है। पर उसके एक तिहाई सदस्य हर दो साल के बाद बदलते रहते हैं। शुरू में राज्य सभा के जो सदस्य थे, उनके लिये लाटरी डालकर यह तय कर दिया गया था कि कि उनमें से कौन से एक तिहाई दो साल बाद अपना स्थान रिक्त करेंगे, कौन से चार साल बाद, और कौन से छः साल बाद। इस प्रकार पहली बार दो साल और चार साल के बाद अपने स्थान रिक्त कर देने वाले सदस्यों के अतिरिक्त शेष सब सदस्य छः साल तक अपने पद पर रहेंगे, और राज्य सभा निरन्तर कायम रहेगी। उसके केवल एक तिहाई सदस्य हर दो साल बाद बदलते रहेंगे।

राज्यसभा के पदाधिकारी

भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का सभापति (Chairman) भी होता है। वह अपने उपराष्ट्रपति के पद के कारण ही राज्यसभा का सभापति होता है, सभा स्वयं उसका चुनाव नहीं करती। राज्यसभा का एक उप-सभापति (Deputy Chairman) भी होता है, जिसे सभा स्वयं चुनती है। सभापति राज्यसभा का सदस्य नहीं होता, पर किसी प्रस्ताव या बिल पर बराबर वोट आने की दशा में वह अपना निर्णायक वोट (Casting Vote) दे सकता है।

राज्य सभा के सदस्यों को भी उसी हिसाब से वेतन, भत्ता व अन्य सुविधाएँ दी जाती हैं, जैसे कि लोकसभा के सदस्यों को मिलती हैं।

संसद् (Parliament)

भारतीय संघ के व्यवस्थापन विभाग के दोनों सदनों का संयुक्त नाम संसद् या पार्लियामेण्ट है। इसलिये दोनों सदनों के सदस्यों को M. P. (Member of Parliament) कहा जाता है।

संसद् के प्रत्येक सदस्य को एक शपथ लेनी पड़ती है, जो इस प्रकार है—"मैं.......... अमुक.........जो लोकसभा या (राज्यसभा) का सदस्य निर्वाचित (या नामजद) हुआ हूँ, ईश्वर की शपथ लेता हूँ, (या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ) कि मैं कानून द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, तथा जिस पद को मैं ग्रहण करने वाला हूँ, उसके कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक पालन करूँगा।"

संसद् के अधिकार

संसद् के अधिकारों को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) कानून निर्माण सम्बन्धी अधिकार।
(२) शासन-सम्बन्धी अधिकार।
(३) वित्त-सम्बन्धी अधिकार।
(४) संविधान के संशोधन का अधिकार।
(५) न्यायसम्बन्धी अधिकार।

अब हम इन पांचों प्रकार के अधिकार पर क्रमशः विचार करेंगे।

कानून निर्माण (व्यवस्थापन) सम्बन्धी अधिकार—संसद् का प्रधान कार्य कानूनों का निर्माण करना है। लोकतन्त्र राज्यों में कानून बनाने का काम जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही किया जाता है। भारतीय संघ की संसद् उन सब विषयों पर कानून बनाने का अधिकार रखती है, जो भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) में संघ की लिस्ट व समवर्ती (Concurrent) लिस्ट में परिगणित हैं। जिन विषयों का किसी (संघ, राज्य व समवर्ती) लिस्ट में परिगणन नहीं है, उनके सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार भी संसद् को दिया गया है। इस प्रकार सब अवशिष्ट विषयों पर कानून बनाने की शक्ति (Residuary Powers) भारत में संघ की संसद् के पास है। जो विषय समवर्ती लिस्ट में शामिल किये गये हैं, उनके सम्बन्ध में राज्यों की विधान सभाएँ तभी कानून बना सकती हैं, जबकि संघ की संसद् ने उनके सम्बन्ध में कोई कानून न बनाया हो। यदि समवर्ती लिस्ट के विषयों पर संसद् और राज्य की विधान सभा ने ऐसे कानून बनाये हों, जो परस्पर विरोधी हों, तो संसद् द्वारा बनाये हुए कानून ही मान्य होंगे।

कुछ विशेष दशाओं में संसद् को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्यों के लिये उन विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सके, जिनका परिगणन राज्यों की विषय सूची में किया गया है। यदि राज्यसभा के दो तिहाई उपस्थित व मत देने वाले सदस्य यह प्रस्ताव पास कर दें कि देश के हित की दृष्टि से यह वांछनीय है कि राज्यों के उन विषयों के सम्बन्ध में भी संसद् कानून बनाये, जिनका परिगणन राज्यसूची में किया गया है, तो संसद् उनके लिये भी कानून बना सकती है। पर ऐसा प्रस्ताव एक समय

में एक साल के लिये ही पास किया जा सकता है। संसद् द्वारा स्वीकृत इस प्रकार के कानून एक वर्ष की समाप्ति के छः मास बाद तक ही लागू रह सकते हैं। यदि राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा कर दे, तो भी संसद् राज्य सूची में परिगणित विषयों पर कानून बना सकती है। संसद् द्वारा स्वीकृत इस प्रकार के कानून संकटकाल की समाप्ति के छः मास बाद तक ही लागू रह सकते हैं।

कानून के जो मसविदे संसद् के सम्मुख विचारार्थ पेश किये जाते हैं, उन्हें विधेयक या बिल कहते हैं। ये बिल दो प्रकार के होते हैं, साधारण और धन सम्बन्धी (Money bills)। कौन-सा बिल धन सम्बन्धी है, इसका निर्णय लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। धन सम्बन्धी बिलों के लिये आवश्यक है कि उन्हें पहले लोकसभा में पेश किया जाए। केवल भारत में ही नहीं, अपितु प्रायः सभी लोकतन्त्र राज्यों में यही व्यवस्था है। इसका कारण यह है, कि निचला सदन (लोकसभा) जनता द्वारा निर्वाचित होता है, और उसे जनता का प्रतिनिधि माना जाता है। धन-सम्बन्धी बिलों को स्वीकृत करने के लिये जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों को अधिक महत्त्व दिया जाना लोकतन्त्रवाद के अनुकूल है। इस प्रकार के बिलों पर पहले लोकसभा विचार करती है, और जब वे वहां स्वीकृत हो जाते हैं, तो उन्हें राज्य सभा के पास विचारार्थ भेज दिया जाता है। राज्य सभा को अधिकार है कि वह धन-सम्बन्धी बिल में जो संशोधन करना चाहे, उन्हें १४ दिन के अन्दर-अन्दर लोकसभा के पास भेज दे। पर इन संशोधनों को स्वीकार करना या न करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे तो इन सशोधनों को अस्वीकृत कर सकती है, और अपनी इच्छा के अनुसार धन सम्बन्धी बिल को स्वीकृत कर सकती है। यदि १४ दिन के अन्दर राज्यसभा धन-सम्बन्धी बिल के सम्बन्ध में कोई संशोधन न भेजे, तो उसे राज्य सभा की स्वीकृति के बिना ही स्वीकृत मान लिया जायगा, क्योंकि लोकसभा तो उसे पहले स्वीकृत कर ही चुकी होती है। इस प्रकार यह बात ध्यान देने योग्य है, कि धन-सम्बन्धी बिलों के विषय में राज्यसभा के अधिकार लोकसभा की अपेक्षा बहुत कम हैं।

जो बिल धन सम्बन्धी न हों, उन्हें शुरू में लोकसभा या राज्यसभा दोनों में से किसी के भी समक्ष पेश किया जा सकता है। जब उसे एक सदन स्वीकार कर ले, तो वह दूसरे सदन के समक्ष विचार के लिये पेश होता है। दूसरे सदन को अधिकार है कि वह पहले सदन द्वारा स्वीकृत बिल में संशोधन कर सके। इन संशोधनों के साथ बिल को पुनः पहले सदन में रखा जाता है। यदि वहां भी ये संशोधन स्वीकृत हो जाएँ, तो बिल संसद् द्वारा स्वीकृत हो जाता है, और उसे राष्ट्रपति की अन्तिम स्वीकृति व हस्ताक्षर के लिये भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों के बाद ही कोई बिल कानून का रूप धारण करता है।

पर यदि किसी बिल के सम्बन्ध में संसद् के दोनों सदन एकमत न हो सकें, तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक करने का आदेश दे। इस बैठक का सभापति लोकसभा का अध्यक्ष होता है। इस सम्मिलित बैठक में बिल जिस रूप में पास हो, उसी रूप में उसे संसद् द्वारा स्वीकृत माना जाता है। पर

धन सम्बन्धी बिलों के बारे में इस प्रक्रिया को नहीं अपनाया जाता। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, उनके बारे में लोकसभा को ही अधिकार दिये गये हैं, और राज्य सभा की राय की उपेक्षा कर वह उन्हें जिस रूप में चाहे, स्वीकृत कर सकती है।

धन सम्बन्धी बिल वे माने जाते हैं, जिनके विषय निम्नलिखित हों—

(१) किसी टैक्स को लगाना, उसे हटाना, उसमें कोई कमी या वृद्धि करना।

(२) सरकार द्वारा ऋण लेने की व्यवस्था करना या आर्थिक देनदारी लेना।

(३) भारत के आकस्मिकता फण्ड (Contingency Fund) या संचित फण्ड (Consolidated Fund) के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था करना।

कानून बनाने की प्रक्रिया—जब संसद् द्वारा किसी विषय पर कोई कानून बनाना हो, तो सबसे पहले उसका बिल पेश किया जाता है। ये बिल सरकारी भी होते हैं, और गैर-सरकारी भी। सरकारी बिलों को उस मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जिसके विभाग के साथ उसके बिल का संबंध हो। गैर सरकारी बिल को संसद् का कोई भी सदस्य पेश कर सकता है। साधारण बिल संसद् के किसी भी सदन में पेश किये जा सकते हैं, पर धन सम्बन्धी बिलों (Money Bills) के लिये यह जरूरी है कि उन्हें पहले लोकसभा में पेश किया जाय।

प्रत्येक बिल को पास करने के लिये उसकी तीन पढ़त (Reading) करनी होती हैं। पहली पढ़त में छपा हुआ बिल सदस्यों की मेज पर रख दिया जाता है। बिल को पेश करने वाला सदस्य एक छोटे से भाषण में बिल का शीर्षक व उद्देश्य पढ़कर सुना देता है। इस पहली पढ़त में उस पर कोई वाद-विवाद नहीं होता, और न किसी अन्य सदस्य को उस पर भाषण करने का अवसर ही दिया जाता है।

दूसरी पढ़त में बिल पर विस्तार के साथ वाद-विवाद होता है। बहुधा बिलों पर अधिक सूक्ष्मता के साथ विचार करने के लिये उन्हें एक प्रवर समिति (Select Committee) के सुपुर्द कर दिया जाता है। यह कमेटी जो रिपोर्ट देती है, उस पर सदन में विशद रूप से विचार होता है। इस पढ़त में बिल में संशोधन भी पेश किये जाते हैं, और उसकी प्रत्येक धारा पर अलग-अलग विवाद किया जाता है। प्रत्येक संशोधन पर और फिर मूल धारा पर वोट लिये जाते हैं।

दूसरी पढ़त में बिल जिस रूप में स्वीकृत हुआ हो, तीसरी पढ़त में उस पर फिर वाद-विवाद होता है। पर अब उस पर कोई नया संशोधन पेश नहीं किया जा सकता। जब तीसरी पढ़त में भी बिल बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाए, तो उसे उस सदन द्वारा स्वीकृत समझ लिया जाता है, जहां उसे पेश किया गया था। अब उसे दूसरे सदन के समक्ष विचार के लिये भेज दिया जाता है। वहां यदि उसमें कोई संशोधन कर दिये जाएँ, तो उसे पुनः पहले सदन में भेजा जाता है। यदि दोनों सदन एकमत न हो सकें, तो दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक की जाती है, और उसके निर्णय को मान्य समझा जाता है।

इस विधि से जब कोई बिल संसद् द्वारा स्वीकृत हो जाए, तो राष्ट्रपति की स्वीकृति और हस्ताक्षर के बाद वह कानून का रूप धारण कर लेता है।

शासन सम्बन्धी अधिकार—संसद् के कुछ शासन सम्बन्धी अधिकार भी हैं। ये अधिकार शासन विभाग या कार्यपालिका (Executive) के कार्यों को नियंत्रित करने के रूप में प्रगट होते हैं। लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये यह बहुत आवश्यक है कि शासन विभाग मनमानी न कर सके, उस पर जनता का नियंत्रण हो, और यदि वह कोई अनुचित कार्य करे तो उसके खिलाफ कार्रवाई की जा सके। यह सब कार्य संसद् द्वारा ही किये जाते हैं, क्योंकि वह जनता की प्रतिनिधि होती है। शासन विभाग व कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का कार्य संसद् निम्नलिखित प्रकार से करती है—

(१) मन्त्रिपरिषद् शासन विभाग की संचालक होती है, पर मन्त्रिपरिषद् को वश में रखना संसद् का ही कार्य है। वह तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि संसद् के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। जनता द्वारा निर्वाचित लोकसभा के सदस्य मन्त्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकते हैं, और अन्य अनेक प्रकार से भी उसे त्यागपत्र देने के लिये विवश कर सकते हैं।

(२) संसद् के दोनों सदनों के अधिवेशनों के शुरू में कुछ समय प्रश्न (Questions) पूछने के लिये दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार है कि वह मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सके। ये प्रश्न सरकार की नीति व कार्यों के सम्बन्ध में होते हैं। इनके द्वारा जनता के कष्टों या शिकायतों के प्रति भी मन्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है। यदि किसी सरकारी कर्मचारी ने कोई अनुचित कार्य किया हो, अपने अधिकार का दुरुपयोग किया हो, तो प्रश्न पूछ कर उसकी ओर भी मन्त्रिपरिषद् का ध्यान आकृष्ट किया जाता है। प्रश्नों को लिखित रूप से कुछ दिन पूर्व संसद् के सचिवालय के पास भेज दिया जाता है। मन्त्री लोग प्रश्नों का जो उत्तर दें, उस पर पूरक प्रश्न (Supplementary Questions) भी पूछे जा सकते हैं। इनके लिये पहले सूचना देने की आवश्यकता नहीं होती। प्रश्न पूछकर संसद् के सदस्य कार्यकारिणी विभाग पर नियन्त्रण रखते हैं। इनके कारण मन्त्री लोग सदा सावधान रहते हैं, और सरकारी कर्मचारियों को भी सदा यह आशंका बनी रहती है कि उनके किसी कार्य पर संसद् में प्रश्न न पूछ लिया जाए, और उनके कार्य का अनौचित्य जनता के सम्मुख न आ जाए।

(३) सदन की कार्यवाही को स्थगित करने का प्रस्ताव (Adjournment Motion) को पेश कर व उस पर विचार करके भी संसद् के सदस्य शासन विभाग के कार्यों पर नियन्त्रण रखते हैं। ऐसा प्रस्ताव किसी महत्त्वपूर्ण व सार्वजनिक हित के साथ सम्बन्ध रखने वाली घटना पर विचार करने के लिये पेश किया जाता है। प्रश्न पूछने के समय के समाप्त होने पर इस ढंग का प्रस्ताव उपस्थित किया जा सकता है। यदि अध्यक्ष की सम्मति में पार्लियामेन्ट की व्यवस्था के अनुसार यह प्रस्ताव सदन में प्रस्तुत किये जाने के योग्य हो, और कमसे कम २५ सदस्य उसके पेश किये जाने के पक्ष में हों, तो उसी दिन दोपहर बाद पाँच बजे या अगले दिन उस पर विचार करने का समय नियत कर दिया जाता है। नियत समय पर सदन की अन्य कार्यवाही स्थगित कर दी जाती है, और उस विषय पर विचार प्रारम्भ होता है, जिसके लिये स्थगित करने या 'काम रोको'

प्रस्ताव को पेश किया गया था। यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाए, तो उसे मन्त्रि-परिषद् पर अविश्वास समझा जाता है। इस ढंग के 'काम रोको' प्रस्ताव भी जनता के प्रतिनिधियों को यह अवसर देते हैं, कि वे कार्यकारिणी विभाग के कार्यों पर नियन्त्रण रख सकें।

(४) अविश्वास का प्रस्ताव (Vote of No-confidence) पेश करके भी संसद् के सदस्य मन्त्रिपरिषद् के कार्यों की आलोचना करने का अवसर प्राप्त करते हैं। यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाए, तो मन्त्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना पड़ता है। पर इसके स्वीकृत न होने पर भी विरोधी दल के सदस्यों को सरकार की आलोचना का और इस प्रकार उसे नियन्त्रित करने का अवसर मिल जाता है।

(५) बजट पेश होने के अवसर पर संसद् के सदस्य सरकार के प्रत्येक विभाग के कार्यों की सूक्ष्मता के साथ आलोचना करते हैं, और जनता की शिकायतों को सरकार के सम्मुख रखते हैं। वे बजट में पेश की गई खर्च की मांगों में कटौती भी पेश करते हैं। यदि कटौती सम्बन्धी कोई प्रस्ताव स्वीकृत हो जाए, तो उसे भी मन्त्रिपरिषद् के प्रति अविश्वास माना जाता है।

वित्त सम्बन्धी (Financial) अधिकार—संसद् का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह सरकारी आय और व्यय पर नियंत्रण रखे। सरकार अपना खर्च चलाने के लिये किन साधनों द्वारा धन प्राप्त करे, कौन से टैक्स ले और किस प्रकार राष्ट्रीय ऋण (National debts) की व्यवस्था करे, ये सब बातें संसद् द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। साथ ही संसद् ही यह निश्चित करती है कि टैक्स व अन्य साधनों से प्राप्त धन को सरकार किस ढंग से खर्च करे। लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये यह परम आवश्यक है कि सरकारी आय-व्यय पर जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहे। इसलिये इङ्गलैण्ड में अठारहवीं सदी में ही इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था कि "बिना प्रतिनिधित्व के कोई टैक्स न लगाया जा सके" (No taxation without representation)। सरकारी आय-व्यय का जो विवरण-पत्र वित्त मन्त्री (Finance Minister) द्वारा पेश किया जाता है, उसे बजट कहते हैं। यह बजट धन के साथ सम्बन्ध रखता है, अतः जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, इसके विषय में राज्य सभा का विशेष अधिकार नहीं होता। उसके लिये लोकसभा द्वारा स्वीकृत होना ही पर्याप्त होता है। बजट में कुछ खर्च ऐसे भी होते हैं, जिन पर लोकसभा को वोट देने का अधिकार नहीं होता। इसमें राष्ट्रपति का वेतन, लोकसभा व राज्यसभा के पदाधिकारियों के वेतन, सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन, अंग्रेजी युग के फेडरल कोर्ट के न्यायाधीशों की पेंशन, आडीटर-जनरल का वेतन, सरकारी ऋण का सूद व अदायगी की रकम आदि कितने ही खर्च शामिल होते हैं। इन खर्चों के अतिरिक्त बजट में पेश किये गये अन्य सब खर्चों पर लोकसभा में विशद रूप में वाद-विवाद व विचार होता है। लोकसभा को अधिकार है कि इन खर्चों में कमी कर सके या इन्हें एकदम अस्वीकृत कर दे। बजट के स्वीकृत हो जाने के बाद वित्त मन्त्री की ओर से 'फाइनेन्स बिल' पेश किया जाता

है, जिसमें सरकारी टैक्सों का प्रस्ताव किया जाता है । लोकसभा इन पर भी विचार करती है, और इनमें कमी व संशोधन कर सकती है ।

सरकार का वित्त सम्बन्धी वर्ष (Financial year) पहली एप्रिल से शुरू होता है । अतः अंग्रेजी शासन के समय में यह व्यवस्था थी, कि बजट को २८ फरवरी तक पेश कर दिया जाया करे और ३१ मार्च से पूर्व ही वह स्वीकृत भी हो जाए । पर स्वतन्त्र भारत के संविधान में यह व्यवस्था नहीं रखी गई है । अब संसद् को अधिकार है कि वह बजट की स्वीकृति से पूर्व के समय के लिये एक निश्चित रकम स्वीकार कर ले, जिससे सरकार का खर्च चलता रहे । इस रकम को स्वीकार कर लेने के बाद लोकसभा अपनी सुविधा के अनुसार बजट पर विचार करती रहती है, और वित्तसम्बन्धी नये वर्ष के प्रारम्भ हो जाने के बाद भी बजट को स्वीकार कर सकती है । एक बार बजट के स्वीकार हो जाने के बाद भी लोकसभा को अधिकार है कि वह पूरक बजट (Supplementary budget) पास कर सरकार को खर्च के लिये अतिरिक्त रकम दे सके । सरकार बजट के अनुसार ही खर्च करे, इस बात का ध्यान रखना आडीटर-जनरल का कार्य है । सरकारी खर्च के सम्बन्ध में आडीटर-जनरल जो रिपोर्ट तैयार करता है, संसद् उस पर भी विचार कर सकती है ।

संविधान में संशोधन का अधिकार—भारत के संविधान में संशोधन करने का अधिकार भी प्रधानतया संसद् के ही हाथों में है । यदि संविधान में कोई ऐसा संशोधन करना हो, जिसका सम्बन्ध भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों के विषयों व अधिकारों के साथ न हो, तो उसके लिये यह प्रक्रिया है कि यदि संशोधन के पक्ष में दोनों सदनों के कुल सदस्यों के बहुमत का व उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई का वोट प्राप्त हो जाए, तो उसे स्वीकृत समझा जाता है, बशर्ते की राष्ट्रपति की स्वीकृति भी उसके पक्ष में प्राप्त हो जाए । इस प्रकार स्पष्ट है कि संविधान में परिवर्तन व संशोधन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार भी संसद् को ही प्राप्त है । जिन विषयों का सम्बन्ध राज्यों के साथ हो, उनमें संशोधन के लिये संसद् की स्वीकृति के साथ-साथ सम्बन्धित राज्यों के व्यवस्थापन विभागों की बहुसंख्या की स्वीकृति भी आवश्यक है ।

न्याय सम्बन्धी अधिकार—भारत की संसद् को न्याय-सम्बन्धी अनेक अधिकार भी प्राप्त हैं—

(१) यदि राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग (Impeachment) चलाना हो, तो वह संसद् द्वारा ही चलाया जाता है, और वही उसका निर्णय भी करती है। इसकी विधि का उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है । संसद् का यह महत्त्वपूर्ण न्यायसम्बन्धी अधिकार है ।

(२) संसद् को यह अधिकार है कि वह सुप्रीमकोर्ट और विविध हाईकोर्टों के किसी न्यायाधीश, आडीटर जनरल और चीफ इलेक्शन कमिश्नर के विरुद्ध भी कार्यवाही कर सके । इस प्रकार का अभियोग संसद् के किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है । पर उसे तभी स्वीकृत समझा जायगा, जब कि दोनों सदन उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से और कुल सदस्यों की बहुसंख्या द्वारा उसे स्वीकार कर लें । इस प्रकार

संसद् द्वारा कोई अभियोग स्वीकृत हो जाने पर राष्ट्रपति उस पदाधिकारी को उसके पद से हटाने की व्यवस्था करेगा।

भारत के शासन में संसद् ही सबसे उच्च सत्ता है। वह जहां कानून बनाने का कार्य करती है, वहां साथ ही कार्यकारिणी विभाग और न्याय विभाग पर भी नियन्त्रण रखती है। मन्त्रिपरिषद् जो भारत के शासन विभाग की कार्यपालिका (Executive) है, तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि संसद् (लोकसभा) का विश्वास उसे प्राप्त रहे। राष्ट्रपति पर भी महाभियोग चलाकर वह उसे अपने पद से पृथक् कर सकती है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर अभियोग चलाने का भी उसे अधिकार है। संविधान में परिवर्तन व संशोधन करना भी उसी के हाथों में है। यद्यपि भारत एक संघ राज्य है, पर उसके अन्तर्गत विविध राज्यों के लिये भी वह विशेष दशाओं में कानून बना सकती है। वस्तुतः, भारत के शासन में जनता की प्रभुत्व शक्ति संसद् द्वारा ही अभिव्यक्त होती है। इसीलिये भारत में संसद् को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) भारतीय पार्लियामेंट के कानून (Act) बनाने के अधिकारों का संक्षेप से वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५५)

(२) लोक सभा के निर्माण का वर्णन कीजिए। लोक सभा और राज्य सभा के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५४)

(३) भारतीय संघ की पार्लियामेण्ट के कार्यों का वर्णन कीजिए। (यू०पी० १९५३)

(४) लोकसभा के निर्माण का वर्णन कीजिए। इस सभा के अधिकारों की तुलना राज्य सभा के अधिकारों के साथ कीजिए। (यू० पी० १९५२)

(५) संघ पार्लियामेण्ट के विशेषाधिकारों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए। क्या पार्लियामेण्ट संविधान में संशोधन कर सकती है? यदि कर सकती है, तो किस प्रकार? (यू० पी० १९५१)

(६) भारतीय पार्लियामेण्ट की शक्तियों और कार्यों का वर्णन कीजिये। (अजमेर १९५३)

(७) भारतीय पार्लियामेण्ट के निर्माण की विधि का वर्णन कीजिये और साथ ही उसकी शक्तियों का उल्लेख कीजिये। (राजपूताना १९५३)

(८) लोकसभा के सदस्यों के लिये कौन सी आवश्यक योग्यताएँ हैं? उनका चुनाव किस ढंग से होता है?

(९) पार्लियामेण्ट में किसी कानून के स्वीकृत होने की क्या विधि है? क्या राष्ट्रपति पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत किसी कानून को अस्वीकृत कर सकता है?

(१०) क्या वित्त सम्बन्धी मामलों में लोकसभा और राज्य सभा के अधिकार एक समान हैं? विशद रूप से विवेचना कीजिए।

नवां अध्याय

संघ तथा राज्यों में विषयों का विभाजन और सम्बन्ध

क्योंकि भारत राज्यों का एक संघ है, अतः जहां भारत की एक केन्द्रीय संघ-सरकार है, वहां साथ ही संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की पृथक् सरकारें भी हैं। इससे पूर्व कि इन राज्यों के शासन प्रबन्ध पर विचार किया जाए, यह उपयोगी है कि संघ तथा राज्यों में विषयों का विभाजन किस प्रकार किया गया है, और उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर विचार कर लिया जाए।

शासन सम्बन्धी कौन से विषय संघ के हाथों में रहें, और कौन से राज्यों के—इस बात का निर्धारण संविधान द्वारा कर दिया गया है। संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) में ये सब विषय परिगणित हैं। इस अनुसूची में तीन लिस्टें दी गई हैं, संघ सूची (Union list), राज्यसूची (State list) और समवर्त्ती सूची (Concurrent list)।

संघ सूची—इस सूची में वे विषय परिगणित हैं, जिनका सम्बन्ध सारे भारत के साथ है। इन विषयों की संख्या ९७ है, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) भारत की रक्षा, वे सब कार्य जो भारत व उसके किसी भी प्रदेश की रक्षा के लिये आवश्यक हों। युद्ध के समय सब प्रकार की व्यवस्थाएँ।

(२) भारत की सब (जल, स्थल व वायु) सेनाएँ, सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र।

(३) अणुशक्ति और उसके उत्पादन के लिये आवश्यक खनिज पदार्थ।

(४) छावनियों के क्षेत्र, और उनमें स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था।

(५) वे व्यवसाय, जिन्हें कि संसद् द्वारा युद्ध व देश की रक्षा के लिये उपयोगी घोषित कर दिया जाए।

(६) विदेशी मामले, वे सब विषय जिन द्वारा भारत अन्य देशों के साथ सम्बन्ध में आता हो।

(७) राजनय सम्बन्धी (Diplomatic) और व्यापारनय-संबंधी (Consular) विषय।

(८) संयुक्त राज्यसंघ (U.N.O.)।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेना और अन्य देशों के साथ सन्धियां व समझौते करना।

(१०) युद्ध तथा शान्ति।

(११) नागरिकता, देशीयकरण (Naturalisation) और परदेशी व्यक्ति।

(१२) रेलवे और वे सड़कें जिन्हें संसद् द्वारा राष्ट्रीय मार्ग घोषित कर दिया जाए।

(१३) समुद्र में आवागमन, वे बन्दरगाह जिन्हें संसद् मुख्य बन्दरगाह घोषित कर दे। भारत के अन्दर के वे जल-मार्ग जिन्हें संसद् राष्ट्रीय जलमार्ग घोषित करे, प्रकाशस्तम्भ (Light houses), और बन्दरगाहों पर बनाई गई क्वारन्टीन।

(१४) वायुमार्ग और हवाई जहाजों द्वारा आवागमन, हवाई जहाजों के अड्डे व उनका प्रबन्ध ।

(१५) डाक और तार के विभाग, डाकखानों का सेविंग्स बैंक।

(१६) मुद्रा पद्धति और विदेशी विनिमय ।

(१७) रिजर्व बैंक, अन्य बैंकिंग और बीमा।

(१८) विदेशी व्यापार और भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों में व्यापार।

(१९) स्टाक एक्सचेंज और वायदे के सौदे ।

(२०) कापीराइट, पेटेन्ट और ट्रेड मार्क ।

(२१) तोल और माप के साधनों को एक स्टैण्डर्ड के अनुसार करना ।

(२२) सिनेमा द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली फिल्मों की स्वीकृति ।

(२३) मर्दुमशुमारी (जनगणना) करना ।

(२४) उन ऐतिहासिक स्मारकों व स्थानों की रक्षा, जिन्हें संसद् राष्ट्रीय महत्त्व का समझे।

(२५) अफीम की खेती ।

(२६) कृषि-कर के अतिरिक्त अन्य आमदनियों पर कर।

(२७) आयात-कर और निर्यात-कर ।

(२८) भारतीय संघ का राष्ट्रीय ऋण ।

(२९) कृषि योग्य भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर इस्टेट ड्यूटी लगाने की व्यवस्था।

(३०) अखिल भारतीय सर्विसें और पब्लिक सर्विस कमीशन।

(३१) मिट्टी का तेल, पेट्रोल और वे खानें और खनिज पदार्थ जिन्हें संसद् राष्ट्रीय महत्त्व का समझे ।

राज्यसूची—इस सूची में वे विषय परिगणित हैं, जिनकी व्यवस्था राज्यों की सरकारों को करनी है । इनमें ६६ विषय परिगणित हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं:—

(१) सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था।

(२) पुलिस, जिसमें रेलवे और ग्रामों की पुलिस भी शामिल है।

(३) सुप्रीम कोर्ट और हाई कोर्ट के अतिरिक्त अन्य सब न्यायालयों का संगठन व उनकी व्यवस्था। मालगुजारी व लगान सम्बन्धी न्यायालय, और कोर्टों (सुप्रीम कोर्ट के अतिरिक्त) से प्राप्त होने वाली कोर्ट फीस।

(४) जेल ।

(५) स्थानीय स्वशासन ।

(६) सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई का प्रबन्ध, हस्पताल और डिस्पेंसरियां।

(७) तीर्थ स्थान और तीर्थ यात्रा (भारत से बाहर की तीर्थ यात्राओं के अतिरिक्त)।

(८) श्मशान और कब्रिस्तान।

(९) शराब का निर्माण, क्रय-विक्रय और प्रवन्ध।

(१०) अपाहिजों और बेकारों की सहायता।

(११) शिक्षा, शिक्षणालय, पुस्तकालय, कला-भवन आदि।

(१२) सड़कें, पुल, फेरी, म्यूनिसिपल ट्राम, मोटर, बस-सर्विस आदि।

(१३) कृषि व कृषि सम्बन्धी शिक्षा और पशुओं की चिकित्सा।

(१४) सिंचाई, नहरें, ट्यूब वेल व जलाशय।

(१५) जंगल, फिशरी और जंगली पशुओं की रक्षा।

(१६) राज्य के क्षेत्र में व्यापार।

(१७) बाजार तथा मेले।

(१८) कृषि की आमदनी पर टैक्स।

(१९) महाजनी और कृषक वर्ग की ऋणग्रस्तता।

(२०) उद्योग (Industry)।

(२१) मालगुजारी व भूमि सम्बन्धी कानून।

समवर्त्ती सूची (Concurrent list)—इस सूची में उन विषयों को सम्मिलित किया गया है, जो संघ व उसके अन्तर्गत राज्यों के लिये एक समान हैं। इस सूची में ४७ विषय परिगणित हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) फौजदारी कानून, दण्ड विधान और बिना मुकदमे के नजरबन्द कर सकने का कानून।

(२) विवाह और तलाक।

(३) सम्पत्ति (कृषि योग्य भूमि के अतिरिक्त) का हस्तांतरित करना व उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले कागजात की रजिस्ट्री।

(४) विविध प्रकार के कन्ट्रैक्ट, जिनमें हिस्सेदारी और एजेंसी के साथ सम्बन्ध रखने वाले कन्ट्रैक्ट भी शामिल हैं, पर कृषि-सम्बन्धी कन्ट्रैक्ट नहीं।

(५) दिवाला निकालना।

(६) दीवानी कानून और दीवानी मामलों की प्रक्रिया।

(७) पशुओं के प्रति क्रूरता का निवारण।

(८) आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिये आयोजनायें बनाना।

(९) श्रमी संघ (Trade Unions) और श्रम सम्बन्धी विवाद।

(१०) श्रमियों का हित व कल्याण।

(११) भारत के विभाजन के कारण विस्थापित हुए लोगों का पुनर्वास व उनकी सहायता।

(१२) वकालत, चिकित्सा व अन्य पेशे।

(१३) समाचार-पत्र, पुस्तकें व मुद्रणालय।

(१४) कीमतों का नियन्त्रण।

(१५) कारखाने, बायलर और बिजली।

जिन विषयों का इन तीनों सूचियों में कहीं उल्लेख नहीं, उन्हें संघ सरकार के अधीन माना जाने की व्यवस्था संविधान द्वारा की गई है।

भारतीय संघ की शक्तिमत्ता—संविधान में दी गई इन तीनों सूचियों के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भारत की संघ सरकार बहुत अधिक शक्तिशाली है। संयुक्त राज्य अमेरिका की संघ सरकार की शक्ति इसके मुकाबिले में बहुत कम है, क्योंकि वहां अवशिष्ट शक्ति (Residuary power) भी राज्यों की सरकारों को दी गई है। ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत कनाडा और आस्ट्रेलिया भी संघ राज्य हैं, पर उनकी सरकारों की शक्ति भारत की सघ सरकार की अपेक्षा कम है।

राज्यों के सम्बन्ध में कानून बनाने का संघ सरकार का अधिकार

भारत के संविधान द्वारा संघ सरकार और विविध राज्यों की सरकारों के अधिकार-क्षेत्र का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि संघ की पार्लियामेण्ट राज्यों के अधिकार क्षेत्र में किसी भी दशा में हस्तक्षेप नहीं कर सकती, या उनके विषय में कोई कानून नहीं बना सकती। निम्नलिखित दशाओं में संघ की पार्लियामेण्ट राज्यों के अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी कानून बना सकती है—

(१) यदि राज्य सभा दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकृत कर दे कि राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रख कर यह आवश्यक व उपयोगी है कि राज्यसूची के अन्तर्गत अमुक विषय पर संघ की पार्लियामेण्ट द्वारा कानून बनाया जाए, तो ऐसा प्रस्ताव पास हो जाने पर उस प्रस्ताव में वर्णित राज्यसूची के विषय के बारे में कानून बनाने का अधिकार संघ की पार्लियामेण्ट को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का प्रस्ताव एक समय में एक साल तक ही लागू रह सकता है। पर ऐसे प्रस्ताव के अधीन बनाया गया कानून प्रस्ताव की अवधि के समाप्त हो जाने के ६ महीने बाद तक लागू रहता है।

(२) यदि किसी राज्य में संविधान के अनुसार शासन कर सकना सम्भव न रहे, और राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य में संकट काल (Emergency) की घोषणा कर दी जाए, तो संघ पार्लियामेण्ट को अधिकार है कि उस राज्य के लिये उन विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सके, जिनका परिगणन राज्यसूची में किया गया है।

पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये ये कानून संकट काल की समाप्ति के बाद भी छः मास तक लागू रहते हैं।

(३) यदि युद्ध व आन्तरिक अशान्ति के कारण संकटकाल की घोषणा की जाए, तो संघ पार्लियामेण्ट को अधिकार होगा कि वह भारत के किसी भी राज्य के लिये उन विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सके, जिनका परिगणन राज्य सूची में किया गया है। ऐसे संकटकाल में राज्यों की विधानसभाएँ विद्यमान रहती हैं, और उन्हें भी राज्य सूची में परिगणित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार रहता है। पर

यदि राज्य की विधान सभा और संघ पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये किसी कानून में विरोध हो, तो पार्लियामेण्ट द्वारा बनाया गया कानून ही मान्य होगा।

(४) यदि दो या अधिक राज्यों की विधान सभाएँ यह प्रस्ताव पास कर दें कि राज्यसूची के अन्तर्गत किसी विषय पर संघ पार्लियामेण्ट कानून बनाये, तो पार्लियामेण्ट उस विषय पर कानून बना सकती है। पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये ऐसे कानून में किसी प्रकार का परिवर्तन व संशोधन करने का अधिकार फिर उन राज्यों की विधान सभाओं को नहीं रहता।

(५) किसी अन्य देश के साथ की गई सन्धि या समझौते को पूरा करने के लिये या किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन व संस्था में किये गये निश्चय को क्रिया में लाने के लिये संघ पार्लियामेण्ट को कानून बनाने का अधिकार है, चाहे उस कानून का सम्बन्ध किसी ऐसे विषय के साथ भी क्यों न हो, जिसका परिगणन राज्यसूची में किया गया हो।

राज्यों के अधिकार क्षेत्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों के बारे में कानून बनाने के जो ये अधिकार भारतीय संघ की पार्लियामेण्ट को प्राप्त हैं, उनके कारण संघ सरकार की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है।

संघ और राज्यों में प्रशासन (Administration) विषयक सम्बन्ध

जो विषय संघ सूची के अन्तर्गत हैं, उनका प्रशासन भी संघ सरकार के हाथों में है। इसी प्रकार जो विषय राज्य सूची के अन्तर्गत हैं, उनका प्रशासन भी राज्यों की सरकारों के हाथों में है। पर संघ सरकार का प्रशासन क्षेत्र सम्पूर्ण भारत है, जबकि राज्यों की सरकारों का प्रशासन क्षेत्र उनके अपने राज्य की सीमा तक सीमित है।

राज्यों की सरकारों का कर्तव्य है कि वे संघ सरकार के प्रशासनीय कार्य में किसी भी प्रकार से बाधा न डालें। साथ ही, उनका यह भी कर्तव्य है कि वे अपना शासन-कार्य इस ढंग से करें, जिससे कि राज्यों पर लागू होने वाले संघ-पार्लियामेंट द्वारा बनाये गये कानूनों का यथोचित रूप से पालन हो सके। यदि संघ सरकार किसी राज्य की सरकार को प्रशासन विषयक कोई आदेश दे, तो उसका कर्तव्य है कि वह उसका पालन करे। यदि किसी राज्य की सरकार संघ सरकार के आदेशों का पालन न करे, तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि उस राज्य में संविधान के अनुसार शासन हो सकना सम्भव नहीं रहा है। इस दशा में वह संकट काल की घोषणा करके उस राज्य के शासन व अधिकारों को अपने हाथों में ले सकता है। संविधान द्वारा यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक राज्य के शासन का संचालन इस ढंग से होना चाहिये कि संघ पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये कानूनों का सर्वत्र पालन हो, और संघ की सरकार के कार्यों में कोई बाधा न पड़े।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में संघ सरकार और राज्यों की सरकारों के प्रशासन सम्बन्धी अधिकारी पृथक्-पृथक् नहीं हैं। किसी जिले में जो सरकारी आफिसर राज्य द्वारा निर्मित कानूनों को क्रिया में परिणत करते हैं, वे ही संघ के कानूनों को क्रिया में परिणत कराने का भी कार्य करते हैं। यदि कोई व्यक्ति संघ के किसी कानून का उल्लंघन करे, तो उसका मुकदमा उसी अदालत में पेश होगा,

जिसमें कि राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने पर मुकदमा पेश होता है। इस दशा में यह आवश्यक है कि राज्य की सरकार संघ सरकार के साथ पूर्ण रूप से सहयोग करे, और उसके आदेशों को माने। यह सही है कि कुछ अधिकारी ऐसे भी होते हैं, जो संघ सरकार के अधीन हैं, और जिनका कार्य केवल संघ सरकार के साथ सम्बन्ध रखता है। पर साथ ही बहुत से आफिसरों को राज्य सरकार और संघ सरकार दोनों के कानूनों को क्रिया में परिणत कराना होता है।

संघ और राज्यों में वित्तविषयक (Financial) सम्बन्ध

जिन देशों में संवर्गात्मक (Federal) शासन होता है, उनमें यह आवश्यक है कि उन साधनों का स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् उल्लेख कर दिया जाए, जिनसे संघ सरकार को आय प्राप्त करनी है, और जिनसे संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों को अपनी आय प्राप्त करनी है। भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) में जहां संघ और राज्यों के विषयों की पृथक्-पृथक् सूची दी गई है, वहां इन दोनों की आय के साधनों का भी पृथक् रूप से उल्लेख कर दिया गया है।

संघ की आय के साधन—संघ सरकार की आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं—

(१) कृषि के अतिरिक्त अन्य आमदनियों पर टैक्स (Income Tax)।

(२) आयात कर (Import duty) और निर्यात-कर (Export duty)।

(३) उत्पादन कर (Excise duty)—भारत में जो माल तैयार (Manufacture) किया जाता है, उस पर और तमाखू पर वसूल किया जाने वाला उत्पत्ति-कर। पर इसमें शराब व अन्य मादक द्रव्यों पर लिया जाने वाला कर शामिल नहीं है।

(४) कार्पोरेशन टैक्स—लिमिटेड कम्पनियों की आय पर सरकार जो एक विशेष टैक्स लेती है, उसे कार्पोरेशन टैक्स कहते हैं।

(५) कृषि की भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार के समय लिया जाने वाला सम्पत्ति कर (Estate duty)।

(६) कृषि विषयक सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति और कारोबार मेंलगी हुई पूंजी पर कर।

(७) समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर।

(८) स्टाक एक्सचेंज और वायदे के सौदों पर कर।

(९) रेल, जहाज व वायुयान द्वारा यात्रा करने वाले यात्रियों और उनमें ले जाये जाने वाले माल पर सीमा-कर (Terminal Tax) और उनके भाड़ों पर कर।

(१०) चेक, हुण्डी, बीमा-पत्र, ऋण-पत्र आदि पर स्टाम्प-कर।

राज्यों की सरकारों की आय के साधन—राज्यों की सरकारों की आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं—

(१) मालगुजारी या भूमिकर (Land Revenue)।

(२) कृषि की आमदनी पर कर (Agricultural Income Tax)

(३) कृषि की भूमि-सम्पत्ति के उत्तराधिकार के समय लिया जाने वाला टैक्स।

(४) शराब, अफीम, व अन्य मादक द्रव्यों पर उत्पादन-कर (Excise duty)।

(५) समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के विक्रय पर टैक्स (SalesTax)।

(६) जमीन और इमारतों पर कर।

(७) बिजली के उपयोग और बिक्री पर कर।

(८) समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनों पर कर।

(९) मनोरंजन पर टैक्स (Entertainment Tax), जो सिनेमा आदि के टिकटों पर लिया जाता है।

(१०) सड़कों पर प्रयोग में आने वाली सवारियों (मोटर, बस, ट्राम आदि) पर कर।

(११) पशुओं और नौकाओं पर कर।

(१२) पेशों, कारोबारों, व्यापारों और नौकरियों पर कर।

(१३) दस्तावेजों की रजिस्ट्री पर स्टाम्प कर।

(१४) सड़कों व आन्तरिक जल मार्गों द्वारा यात्रा करने वाले यात्रियों और उनसे ले जाये जाने वाले माल पर कर।

संघ और उसके अन्तर्गत राज्यों की आमदनी के अन्य साधन—हमने अभी राजकीय आमदनी के जिन साधनों का उल्लेख किया है, वे विविध प्रकार के टैक्स हैं, जिन्हें संघ सरकार या विविध राज्यों की सरकारें वसूल करती हैं। पर भारत में राजकीय आमदनी के अन्य भी अनेक साधन हैं। संघ सरकार रेलवे, पोस्ट आफिस, तार घर, रेडियो, टेलीफोन, एयर सर्विस (हवाई सर्विस) आदि कितने ही व्यवसायों व कारोबारों का संचालन करती है, जिनसे उसे बहुत आमदनी होती है। अब भारत में अनेक कल-कारखानों का संचालन भी राज्य द्वारा होने लगा है। भारत ने समाजवादी व्यवस्था को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया है, और इस कारण राज्य के स्वत्व में अनेक विशाल कारखानों की भी स्थापना की जाने लगी है। विविध राज्यों की सरकारें भी अनेक कारोबार करती हैं, और उनसे उन्हें अच्छी आमदनी होती है। खेतों की सिंचाई के लिये नहरें निकालना और ट्यूब वेल बनवाना, मोटर बस सर्विस चलाना, बिजली का उत्पादन कर उसका विक्रय करना, पुस्तकें प्रकाशित करना आदि कितने ही कारोबार हैं, जो विविध राज्यों द्वारा किये जा रहे हैं। ये सब राजकीय आमदनी के महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

संघ सरकार द्वारा राज्यों की आर्थिक सहायता—टैक्सों द्वारा विविध राज्यों को जो आमदनी होती है, वह उनके खर्च के लिये पर्याप्त नहीं होती। इसका कारण यह है कि शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि लोकहितकारी कार्यों की जिम्मेदारी राज्यों की सरकारों के ऊपर ही है, और इनके लिये उन्हें बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है। जिन टैक्सों से अधिक आमदनी होती है, वे सब संघ सरकार के हाथों

में हैं। इन्कम टैक्स, आयात और निर्यात कर, उत्पत्ति-कर आदि राजकीय आय के बहुत महत्त्वपूर्ण साधन हैं। राज्यों की सरकारों को अपने खर्च चलाने में दिक्कत न हो, इस उद्देश्य से यह व्यवस्था की गयी है कि संघ सरकार अपनी आय का एक भाग राज्यों की सरकारों को आर्थिक सहायता के रूप में प्रदान किया करे।

राज्यों की सरकारों को संघ सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देने के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) कुछ टैक्स ऐसे हैं, जिन्हें संघ सरकार लगाती है और वही वसूल भी करती है, पर उन्हें खर्च के लिये राज्यों की सरकारों को दे दिया जाता है। यथा

(क) कृषि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के समय प्राप्त होने वाला सम्पत्ति-कर।

(ख) रेल, समुद्र व वायुमार्ग से यात्रा करने वाले यात्रियों और उन द्वारा ले जाये जाने वाले माल पर वसूल किया जाने वाला सीमा-कर और उनके भाड़ों पर कर।

(ग) समाचार पत्रों की बिक्री और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर।

(घ) स्टाक एक्सचेंज और वायदे के सौदों पर कर।

(२) कुछ टैक्स ऐसे हैं, जो संघ सरकार द्वारा लगाये जाते हैं, पर जिन्हें राज्यों की सरकारें वसूल करती हैं, और वे ही जिन्हें खर्च भी करती हैं।

यथा

(क) स्टाम्प शुल्क।

(ख) औषधियों और शृंगार व प्रसाधन की वस्तुओं को तैयार करने पर उत्पत्ति-कर।

(३) ऐसे टैक्स, जिन्हें संघ सरकार लगाती है, और वही वसूल भी करती है, पर जिनसे प्राप्त हुई आमदनी को संघ और राज्यों में विभक्त कर दिया जाता है। यथा—

(क) इन्कम टैक्स।

(ख) औषधि व शृंगार सामग्री के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को तैयार करने पर उत्पत्ति-कर।

इन्कम टैक्स का वितरण—संघ सरकार को इन्कम टैक्स से बहुत आमदनी होती है। सविधान में उसके संबंध में यह व्यवस्था की गई है, कि इन्कम टैक्स को वसूल करने में जो खर्च हो, उसे घटाकर जो नेट आमदनी हो, उसके एक भाग को राज्यों की सरकारों में विभक्त कर दिया जाए, और यह वितरण फाइनेन्स कमीशन की सिफारिश के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा किया जाए।

इन्कम टैक्स का वितरण संघ सरकार और राज्यों की सरकारों के बीच में किस प्रकार किया जाए, इस सम्बन्ध में निश्चय करने का कार्य फाइनेन्स कमीशन के सुपुर्द है। उसकी सिफारिश यह है (१९५६), कि इन्कम टैक्स से (खर्च निकाल कर)

जो आय हो, उसका ४० प्रतिशत भाग संघ सरकार के पास रहे, ६० प्रतिशत को इस हिसाब से विविध राज्यों में बांट दिया जाए।

आसाम	२.४४ प्रतिशत
बिहार	९.६४
बम्बई	१५.९७
केरल	३.६४
मध्यप्रदेश	६.७२
मद्रास	८.४०
माइसूर	५.१४
उड़ीसा	३.७३
आन्ध्र	८.१२
पंजाब	४.२४
राजस्थान	४.०६
जम्मू-काश्मीर	१.१३
उत्तरप्रदेश	१६.३६
पश्चिमी बंगाल	१०.०८

फाइनेन्स कमीशन (१९५६) ने यह भी सिफारिश की थी, कि इन्कम टैक्स से हुई आमदनी का एक प्रतिशत संघ सरकार संघक्षेत्रों पर व्यय किया करे।

संघ सरकार की अन्य आमदनी से राज्यों को सहायता—आयात-कर (Import duty) और निर्यात-कर (Export duty) से भी भारत सरकार को बहुत आमदनी है। पटसन (Jute) और उससे बने बोरे व बोरों का कपड़ा भारी मात्रा में भारत से अन्य देशों में जाते हैं। इन से जो निर्यात-कर सरकार को प्राप्त होता है, उसमें से निम्नलिखित रकमें कतिपय राज्यों की सरकारों को प्रदान करने की सिफारिश फाइनान्स कमीशन ने की थी—

पश्चिमी बंगाल को	१५२.६६ लाख रुपया वार्षिक
आसाम को	७५ लाख रुपया वार्षिक
बिहार को	७२.३१ लाख रुपया वार्षिक
उड़ीसा को	१५ लाख रुपया वार्षिक

पटसन प्रधानतया इन्हीं राज्यों में उत्पन्न होती है, और इन्हीं से वह और उसका तैयार माल अन्य देशों में भेजा जाता है, अतः उस पर वसूल होने वाले निर्यात-कर का एक अंश इन राज्यों को प्रदान कर देने की व्यवस्था की गई है।

भारत के अनेक राज्य शिक्षा, व्यवसाय, स्वास्थ्य-प्रबन्ध आदि की दृष्टि से अन्य राज्यों के मुकाबले में पिछड़े हुए हैं। कतिपय राज्यों में पिछड़ी हुई कबायली जातियों या अछूत समझी जाने वाली जातियों की समस्या भी विशेष रूप से विद्यमान है। उन राज्यों की अपनी आमदनी इतनी नहीं है, कि वे उसमें से इन जातियों की उन्नति के लिये पर्याप्त खर्च कर सकें। अतः संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि भारत की

संघ सरकार द्वारा इन राज्यों को इन विशेष मदों में खर्च करने के लिये खास तौर पर आर्थिक सहायता दी जाए। इस सहायता के सम्बन्ध में अन्तिम निश्चय संघ की पालिया-मेण्ट द्वारा ही किया जाता है।

कतिपय राज्यों से वित्त सम्बन्धी समझौते

राज्यों का नये ढंग से पुनःसंगठन होने से पूर्व, नवम्बर १९५६ तक भारत के संघ में जो राज्य 'ख' वर्ग के अन्तर्गत थे, वे या तो ऐसे थे जो कि पहले रियासतें थीं, या पहले समय की रियासतों को संगठित करके जिनका निर्माण किया गया था। अंग्रेजी शासन के समय में भारत की केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाने वाले अनेक टैक्स (यथा इन्कम टैक्स और एक्साइज ड्यूटी) इन रियासतों में नहीं लगते थे। इन रियासतों की टैक्स व्यवस्था ब्रिटिश भारत के प्रान्तों की टैक्स व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न थी। अतः स्वराज्य के बाद जब ये रियासतें भारतीय संघ का अंग बन गईं, तो उनके साथ टैक्सों व अन्य वित्त सम्बन्धी व्यवस्था के बारे में कतिपय समझौते करने पड़े। ये समझौते निम्नलिखित बातों के विषय में थे——

(१) संघ सरकार भारत के अन्य राज्यों में जो टैक्स लगाती है, उन्हें इन 'ख' वर्ग के राज्यों में भी लगाये।

(२) यदि इन राज्यों की सरकारी आमदनी का कोई ऐसा साधन था, जो अब स्वतन्त्र भारत के संविधान के अनुसार केन्द्रीय संघ-सरकार को प्राप्त हो गया है, तो उससे होने वाली क्षति की पूर्त्ति के लिये संघ सरकार की ओर से आर्थिक सहायता की व्यवस्था की जाए।

(३) 'ख' वर्ग के राज्यों के अन्तर्गत रियासतों के राजाओं को प्रिवी पर्स के रूप में जो धन प्रति वर्ष दिया जाता है, उसका कितना अंश संघ सरकार दे और कितना उस राज्य की सरकार, जिसके कि वह रियासत अन्तर्गत है।

इन विषयों पर जो समझौते 'ख' वर्ग के राज्यों और संघ सरकार के बीच में किये गये, उनकी अवधि दस साल रखी गई थी। अब 'ख' वर्ग के कोई राज्य नहीं रह गये हैं, और ब्रिटिश युग की रियासतों को भारत के संघ में विलीन हुए भी दस साल के लगभग हो गये हैं, अतः इनकी आर्थिक अवस्था भी अन्य राज्यों के समान ही हो गई है।

फाइनान्स कमीशन——इस अध्याय में हमने 'फाइनान्स कमीशन' का अनेक बार उल्लेख किया है। संविधान में यह व्यवस्था की गई है, कि संविधान के लागू होने के दो साल के अन्दर-अन्दर राष्ट्रपति की ओर से एक फाइनान्स कमीशन (वित्त आयोग) की नियुक्ति की जायगी। इसका एक अध्यक्ष और चार सदस्य होंगे। इस कमीशन के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं —

(१) संघ और राज्यों के बीच उन टैक्सों की आमदनी का वितरण करना, जो संघ सरकार द्वारा वसूल किये जाते हैं, पर कानून के अनुसार जिनका एक अंश राज्यों को भी प्राप्त होना चाहिये।

(२) संघ सरकार द्वारा विविध राज्यों को किन सिद्धान्तों के अनुसार व कितनी आर्थिक सहायता दी जाए।

(३) वित्त सम्बन्धी अन्य मामले, जिन पर राष्ट्रपति कमीशन का परामर्श चाहे।

संचित फंड (Consolidated Fund of India)—इस ग्रन्थ में हम 'संचित फंड' का उल्लेख करते रहे हैं। भारत की संघ सरकार जो धन टैक्सों द्वारा प्राप्त करती है, विविध प्रकार से जो कर्ज लेती है, और कर्जों की अदायगी के लिये जो धन प्राप्त करती है, उन सबसे मिलकर इस 'संचित फंड' का निर्माण होता है। इस फंड का धन केवल उसी विधि से खर्च किया जा सकता है, जिसका संविधान या उसके अधीन बनाये गये कानून द्वारा प्रतिपादन किया गया हो। इसी प्रकार के संचित फण्ड भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों के भी होते हैं।

आकस्मिकता फण्ड—संचित फण्ड के अतिरिक्त भारत में एक अन्य फण्ड भी है, जिसे आकस्मिकता फण्ड (Contingency Fund) कहते हैं। इसमें कौन-कौन-सी राशियां डाली जाएँ, इसका निश्चय पार्लियामेण्ट के कानून द्वारा किया जायगा। राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि अप्रत्याशित व आकस्मिक खर्च के लिये इस फण्ड से रुपया खर्च कर सके। राज्यों में भी इस प्रकार के आकस्मिकता फण्डों की स्थापना की व्यवस्था की गई है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) भारतीय संविधान में केन्द्र को सशक्त बनाने के लिये किन-किन नियमों का प्रयोग किया गया है? भारत के लिये सशक्त केन्द्रीय सरकार की क्यों आवश्यकता है? (यू० पी०, १९५४)

(२) भारत के संविधान में कौन-कौन से विषय संघ सरकार के हाथों में रखे गये हैं, और कौन से राज्यों की सरकारों के?

(३) किन अवस्थाओं में संघ सरकार को राज्यों के सम्बन्ध में भी कानून बनाने का अधिकार भारतीय संविधान द्वारा दिया गया है।

(४) भारतीय संघ और उसके अन्तर्गत राज्यों की राजकीय आय के मुख्य साधन कौन से हैं? क्या संघ सरकार द्वारा राज्यों को आर्थिक सहायता भी दी जाती है? यदि दी जाती है, तो किस प्रकार?

(५) निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए :—

संचित फण्ड, फाइनान्स कमीशन, इन्कम टैक्स की आमदनी का वितरण।

(६) केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों से आप क्या समझते हैं? उनमें से कतिपय का उल्लेख कीजिये। (राजपूताना, १९५२)

दसवां अध्याय

भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों की शासन व्यवस्था

राज्य और संघ क्षेत्र—१९५० ईस्वी में स्वतन्त्र भारत का जो संविधान लागू किया गया था, उसके अनुसार भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों को चार वर्गों में विभक्त किया गया था, क, ख, ग, और घ। इन चारों वर्गों के राज्यों की शासन-व्यवस्था एक सदृश नहीं थी। इनमें से 'क' और 'ख' वर्ग के राज्यों में उत्तरदायी (Responsible) शासन की सत्ता थी, और 'ग' व 'घ' वर्ग के राज्यों का शासन अनेक अंशों में संघ सरकार के अधीन था।

१९५६ में भारत के संविधान में संशोधन किया गया, और चार प्रकार के राज्यों का जो वर्गीकरण पहले था, उसका अन्त कर दिया गया। वर्तमान समय में भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों (States) की संख्या १४ है, जिनकी शासन व्यवस्था एक सदृश है। इन १४ राज्यों के अतिरिक्त भारत में ६ ऐसे संघ क्षेत्र (Union Territories) हैं, जिनका शासन संघ सरकार के अधीन है।

राज्यों की शासन व्यवस्था

राज्यपाल—राज्यों के प्रधान को राज्यपाल (Governor) कहते हैं। राज्य के शासन में राज्यपाल की स्थिति प्रायः वही है, जो भारतीय संघ के शासन में राष्ट्रपति की है। संविधान के अनुसार राज्य की शासन व कार्यपालिका (Executive) शक्ति राज्यपाल में निहित होती है, और शासन के सब कार्य उसी के नाम पर किये जाते हैं। पर भारत के राष्ट्रपति के समान राज्यों के राज्यपाल भी संवैधानिक शासक (Constitutional Ruler) ही हैं। यद्यपि शासन सम्बन्धी सब कार्य उनके नाम पर किये जाते हैं, पर राजशक्ति का वास्तविक प्रयोग उनके द्वारा नहीं होता। राज्यों के शासन में भी मन्त्रिपरिषद् के हाथों में ही असली शक्ति होती है, और यह मन्त्रिपरिषद् विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। इसी कारण राज्यपाल भी राष्ट्रपति के समान एक संवैधानिक शासक है, स्वेच्छाचारी नहीं।

राज्यपाल की नियुक्ति—राष्ट्रपति के समान राज्यपाल की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती, अपितु राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उसके कार्यकाल की अवधि पांच वर्ष रखी गई है। इससे पूर्व यदि वह अपने पद से पृथक् होना चाहे, तो राष्ट्रपति की सेवा में अपना त्यागपत्र भेज सकता है। पांच वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के बाद भी वह तब तक अपने पद पर रहता है, जब तक कि राष्ट्रपति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की उसके स्थान पर नियुक्ति न कर दी जाए और वह पद ग्रहण न कर ले।

संविधान सभा में इस प्रश्न पर मतभेद था कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होनी चाहिये या चुनाव द्वारा। जिन युक्तियों द्वारा यह निश्चय हुआ कि उसे

निर्वाचित न होकर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होना चाहिये, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) यदि राज्य के मतदाताओं द्वारा राज्यपाल के चुनाव की व्यवस्था की जाती, तो उसमें और राज्य के मुख्यमन्त्री में संघर्ष की संभावना हो सकती थी। उस दशा में राज्यपाल के लिये पूर्णतया वैधानिक शासक हो सकना कठिन हो जाता, क्योंकि जनता द्वारा निर्वाचित होने के कारण वह भी उसके प्रति उत्तरदायी होता।

(२) राज्य की विधान सभा द्वारा यदि राज्यपाल के चुनाव की व्यवस्था की जाती, तो राज्यपाल के लिये दलबन्दी से ऊपर रह सकना सुगम न होता। राज्यपाल की स्थिति ऐसी है, कि उसे दलबन्दी से ऊपर रहना चाहिये, और राज्य के सब नागरिकों का विश्वास उसे प्राप्त रहना चाहिये। विधान सभा द्वारा चुने जाने की दशा में यह बात सम्भव न होती।

(३) जब राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त हो, तो राज्य के शासन में संघ सरकार की शक्ति व नियन्त्रण अधिक सुदृढ़ हो जाते हैं।

इन कारणों से संविधान सभा ने यही उचित समझा, कि राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही की जाया करे। राज्यपालों की नियुक्ति करते हुए राष्ट्रपति इस बात का ध्यान रखता है कि ऐसे व्यक्तियों को ही इस पद के लिये मनोनीत किया जाए, जो अत्यन्त योग्य, अनुभवी और सदाचारी हों।

राज्यपाल के लिए आवश्यक योग्यताएँ—राष्ट्रपति केवल उन्हीं व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त कर सकता है, जिनमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों—

(१) वे भारत के नागरिक हों।

(२) वे अपनी आयु के ३५ वर्ष पूर्ण कर चुके हों।

(३) भारत की पार्लियामेण्ट या भारतीय संघ के अन्तर्गत किसी राज्य की विधान सभा के सदस्य न हों। यदि कोई ऐसा व्यक्ति, जो पार्लियामेण्ट या किसी विधान सभा का सदस्य हो, राज्यपाल नियत कर दिया जाए, तो वह पार्लियामेण्ट या विधान सभा का सदस्य नहीं रह सकेगा।

(४) भारतीय संघ व उसके अन्तर्गत किसी राज्य में कोई ऐसा सरकारी पद उनके पास न हो, जिससे उन्हें आर्थिक लाभ होता हो।

राज्यपाल का वेतन :—राज्यपाल को क्या वेतन, भत्ते आदि दिये जायें, इसका निश्चय करने का अधिकार संघ की पार्लियामेण्ट को दिया गया है। जब तक पार्लियामेण्ट इस विषय में कोई नया निश्चय न करे, राज्यपाल को ५५०० रु० मासिक वेतन मिलेगा। निवास के लिये राज्य के राजभवन का भी वह बिना किराये के उपयोग करेगा, और उसे कतिपय अन्य भत्ते भी दिये जाएँगे। ये भत्ते वे ही हैं, जो स्वतन्त्र भारत के संविधान के लागू होने से पूर्व प्रान्तीय गवर्नरों को दिये जाते थे। इनमें दावत, अतिथियों पर होने वाला खर्च, मनोरंजन, सवारी, नौकर-चाकर, कर्मचारी आदि के व्यय शामिल हैं।

राज्यपाल का वेतन, भत्ता आदि राज्य के संचित फन्ड (Consolidated Fund of the State) में से दिये जाते हैं। राज्य की विधान सभा की स्वीकृति

की उनके लिये कोई आवश्यकता नहीं होती ।

राज्यपाल के अधिकार

राज्यपाल के अधिकारों को चार भागों में बांटा जा सकता है—

(१) कार्यकारिणी संबंधी अधिकार ।

(२) व्यवस्थापन या कानून निर्माण सम्बन्धी अधिकार ।

(३) वित्तसम्बन्धी (Financial) अधिकार ।

(४) न्यायसम्बन्धी अधिकार ।

अब हम इन चारों प्रकार के अधिकारों पर प्रकाश डालेंगे ।

कार्यकारिणी सम्बन्धी अधिकार—संविधान के अनुसार राज्य की कार्यकारिणी शक्ति राज्यपाल में निहित है। उसे अधिकार है कि अपनी शक्ति का प्रयोग वह स्वयं अपने आप व अपने अधीनस्थ आफिसरों द्वारा करे। इसी अधिकार का प्रयोग कर वह शासन कार्य म परामर्श व सहयोग देने के लिये मुख्यमन्त्री (Chief Minister) को नियत करता है, और मुख्यमन्त्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। क्योंकि राज्यपाल एक वैधानिक शासक है, अतः मन्त्रिपरि द् ही उसके नाम पर राज्य के शासन का संचालन करती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, असली शासनशक्ति मन्त्रि-परिषद् के हाथों में है, न कि राज्यपाल के। मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है, और उसी समय तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि विधान सभा के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। यदि राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार शासन न करे, तो स्वाभाविक रूप से मन्त्रिपरिषद् त्याग-पत्र दे देगी, और राज्यपाल के लिये किसी अन्य ऐसी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कर सकना सुगम नहीं होगा, विधान सभा का बहुमत जिसके पक्ष में हो।

मुख्यमन्त्री और उसकी सलाह के अनुसार अन्य मन्त्रियों को नियुक्त करने के अतिरिक्त राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि वह राज्य के एडवोकेट-जनरल, पब्लिक सर्विस कमीशन के प्रधान व सदस्यों, और इसी प्रकार के कतिपय अन्य उच्च पदाधिकारियों को नियुक्त करे। राज्य के हाईकोर्टों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्र-पति द्वारा की जाती है, पर इस संबंध में राज्यपाल से भी परामर्श लिया जाता है।

राज्यपाल के कार्यकारिणी सम्बन्धी अधिकार उन विषयों तक सीमित हैं, जिनका परिगणन संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) में राज्यसूची व समवर्त्ती सूची में किया गया है। संघसूची के अन्तर्गत विषयों के सम्बन्ध में उसको कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार—राज्यपाल राज्य के व्यवस्थापन विभाग का अंग है। विधान सभा द्वारा स्वीकृत कोई बिल तब तक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता, जब तक कि राज्यपाल की स्वीकृति उसे प्राप्त न हो जाए, और वह उस पर अपने हस्ताक्षर न कर दे। राज्यपाल को अधिकार है कि वह विधान सभा (जिन राज्यों में दो सदन हैं वहां विधान सभा और विधान परिषद्) द्वारा स्वीकृत बिल को अपनी सिफारिश के साथ पुनः विचार के लिए लौटा दे। पर यदि इस प्रकार लौटाया

हुआ बिल विधान सभा (जहां दो सदन हों, वहां विधान सभा और विधान परिषद्) द्वारा दुबारा स्वीकृत हो जाए, तो राज्यपाल को उस पर अपनी स्वीकृति देनी ही होगी।

राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि विधान सभा (और विधान परिषद्) द्वारा स्वीकृत हुए किसी बिल को राष्ट्रपति की सेवा में विचारार्थ भेज दे। इस प्रकार भेजे हुए बिलों को स्वीकृत करने या न करने का राष्ट्रपति को पूरा अधिकार है। उसे यह भी अधिकार है कि इस बिल को अपनी सिफारिशों के साथ विधान सभा (और विधान-परिषद्) के पुनः विचार के लिये भेज सके। इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा वापस भेजे हुए बिल पर राज्य की विधान सभा (और विधान परिषद्) को छः मास के अन्दर-अन्दर विचार करना होगा। यदि यह बिल दुबारा पास हो जाए, तो इसे पुनः राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जायगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि इस पर अपनी स्वीकृति दे या न दे।

कुछ विशेष प्रकार के बिल ऐसे हैं, जिनका राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजा जाना अनिवार्य है। जिन बिलों का सम्बन्ध हाईकोर्टों की शक्ति के साथ हो, उनके लिये जरूरी है कि उन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये अवश्य भेजा जाए।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि राज्यपाल द्वारा विधान सभा (और विधान परिषद्) के पुनः विचार के लिये भेजे जाने वाली ये व्यवस्थाएँ धनसम्बन्धी बिलों (Money Bills) पर लागू नहीं होतीं।

इस महत्त्वपूर्ण अधिकार के अतिरिक्त राज्यपाल को व्यवस्थापन सम्बन्धी अन्य भी अनेक अधिकार प्राप्त हैं—

(१) यदि व्यवस्थापन विभाग के सदन या सदनों के अधिवेशन न हो रहे हों, तो राज्यपाल को अधिकार है कि उन सब विषयों के सम्बन्ध में अध्यादेश (Ordinance) जारी कर सके, जिन पर कानून बनाने का राज्य को अधिकार है। राज्यपाल द्वारा जारी किये गए इन अध्यादेशों की वही स्थिति होगी, जो कि राज्य के व्यवस्थापन विभाग द्वारा निर्मित कानून की होती है। इस प्रकार के अध्यादेशों को विधान सभा (और विधान परिषद्) के समक्ष रखा जायगा। ये विधान सभा के अधिवेशन के शुरू होने के छः सप्ताह बाद तक ही जारी रह सकेंगे। छः सप्ताह से पूर्व भी विधान सभा (और विधान परिषद्) इन्हें रद्द कर सकेंगी।

कतिपय विषय ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में अध्यादेश जारी करने के लिये जरूरी है कि राज्यपाल राष्ट्रपति से स्वीकृति ले ले। ये विषय निम्नलिखित हैं—

(क) व्यवस्थापन विभाग द्वारा स्वीकृत किये जाने वाले जिन बिलों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजना आवश्यक है, यथा हाईकोर्ट की शक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाले बिल।

(ख) जिन बिलों के लिये राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, यथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को सरकार द्वारा अधिगत किये जाने के सम्बन्ध में बिल।

(२) जिन राज्यों के व्यवस्थापन विभाग में दो सदन हों, उनमें द्वितीय सदन (विधान परिषद्) के कुछ सदस्यों को नामजद करने का अधिकार राज्यपाल को दिया गया है।

(३) यदि राज्यपाल समझे कि विधान सभा में ऐंग्लो-इण्डियन लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है, तो उसे अधिकार है कि उनके कुछ प्रतिनिधि विधान-सभा में नामजद कर सके।

(४) राज्यपाल को अधिकार है कि वह व्यवस्थापन विभाग के किसी भी सदन के विचारार्थ अपना लिखित सन्देश भेज सके। इस पर उस सदन को तुरन्त विचार करना होगा।

(५) व्यवस्थापन विभाग के सदन या सदनों के सत्र राज्यपाल द्वारा ही बुलाये जाते हैं। उसे यह भी अधिकार है कि सत्र को स्थगित व भंग कर सके। वह दोनों सदनों का संयुक्त सत्र भी बुला सकता है, और उसके समक्ष भाषण भी दे सकता है।

(६) व्यवस्थापन विभाग के सदनों का सत्र बुलाते हुए राज्यपाल के लिये इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है, कि पिछले अधिवेशन की अन्तिम तिथि और नये सत्र की पहली तिथि में छः मास से अधिक अन्तर न पड़े।

धनसम्बन्धी अधिकार—व्यवस्थापन विभाग के सदनों के सम्मुख धन सम्बन्धी बिल (Money Bills) तब तक पेश नहीं किये जा सकते, जब तक कि राज्यपाल की स्वीकृति उनके लिये प्राप्त न कर ली जाय। क्योंकि राज्यपाल अपना कार्य मन्त्रि-परिषद् के परामर्श व सहयोग द्वारा ही करता है, अतः इस व्यवस्था का यह परिणाम होता है कि धन सम्बन्धी बिल केवल मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही पेश होते हैं। इसीलिये वित्त-सम्बन्धी साल के शुरू होने पर राज्यपाल की सहमति से मन्त्रिपरिषद् की ओर से राज्य के सरकारी आय-व्यय का विवरण विधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि कोई आकस्मिक खर्च आ पड़ने पर विधान-सभा की स्वीकृति के बिना ही वह राज्य की आकस्मिकता निधि (Contingency Fund) से उस खर्च के लिये धन दे सके।

न्याय सम्बन्धी अधिकार—राज्यपाल को विशेषाधिकार है, कि वह उन अपराधों के लिये दण्ड पाये हुए व्यक्तियों (जिनका सम्बन्ध राज्य के अधिकार-क्षेत्र से है) के दण्ड को कम कर सके, स्थगित कर सके या पूर्णतया क्षमा कर सके। पर जिन अपराधों का सम्बन्ध संघ सरकार के अधिकार-क्षेत्र के साथ हो, उनके बारे में राज्यपाल को कोई अधिकार नहीं है। संघ द्वारा निर्मित किसी कानून को तोड़ने के अपराध में दण्डित व्यक्तियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने व क्षमा कर देने का अधिकार केवल राष्ट्रपति को है, राज्यपाल को नहीं। इसीलिये मृत्युदण्ड पाये हुए अपराधियों को क्षमा करने या उनके दण्ड को कम करने का अधिकार भी राज्यपाल को प्राप्त नहीं है।

मन्त्रिपरिषद्

राज्यों की मन्त्रिपरिषद् का स्वरूप प्रायः वैसा ही है, जैसा कि संघ की मन्त्रि-परिषद का है। जिस प्रकार संघ के शासन में संसदात्मक (Parliamentary) पद्धति का अनुसरण किया गया है, वैसे ही राज्यों के शासन में भी है। संसदात्मक पद्धति के कारण राज्यों के शासन में राज्यपाल की स्थिति नाममात्र की है। वह केवल वैधा-निक शासक है, असली शक्ति मन्त्रिपरिषद् के हाथों में है।

राज्यपाल शासन कार्य में परामर्श व सहयोग प्राप्त करने के लिये मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है, और उसकी सलाह से मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों को नियत करता है। राज्यों की मन्त्रिपरिषद् के नेता को मुख्यमन्त्री (Chief Minister) कहते हैं, प्रधान मन्त्री (Prime Minister) नहीं। प्रधानमन्त्री शब्द का प्रयोग केवल संघ के मन्त्रिपरिषद् के नेता के लिये किया जाता है।

संविधान के अनुसार मुख्यमन्त्री व अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है, और वे तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं, जब तक कि राज्यपाल उन्हें मन्त्री पद पर रखना चाहे। पर साथ ही संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद् विधान सभा (Legislative Assembly) के प्रति उत्तरदायी है। अतः राज्यपाल ऐसे व्यक्ति को ही मुख्यमन्त्री बना सकता है, जो विधान सभा के बहुमत वाले दल का नेता हो, और वह ऐसे ही मन्त्री नियत कर सकता है, जिन्हें विधान सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। यदि राज्यपाल ऐसे मन्त्रियों को नियत कर दे, जो विधान, सभा के बहुमत वाले दल के न हों, तो वह मन्त्रिपरिषद् कभी कार्य नहीं कर सकेगी।

कोई व्यक्ति मुख्यमन्त्री व मन्त्री तभी बनाया जा सकता है, जबकि वह विधान सभा (जिन राज्यों में दूसरा सदन भी है, उनमें विधान सभा या विधान परिषद्) का सदस्य हो। सदस्य हुए बिना भी किसी व्यक्ति को ६ मास तक मन्त्री बनाया जा सकता है, पर इस अवधि में उसे विधान सभा (या विधान परिषद्) का सदस्य अवश्य बन जाना चाहिए।

राज्यों की मन्त्रिपरिषद् के कितने सदस्य हों, इस सम्बन्ध में संविधान द्वारा कोई संख्या नियत नहीं की गई है। शासन-कार्य की आवश्यकता और राज्य की आर्थिक दशा को दृष्टि में रख कर ही मन्त्रियों की संख्या नियत की जाती है, और उनकी संख्या में कमी या वृद्धि होती रहती है। राज्यों की मन्त्रिपरिषदों के सम्बन्ध में भी सामूहिक उत्तरदायिता के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है।

संघ की मन्त्रिपरिषद् में जिस प्रकार अनेक प्रकार के मन्त्री होते हैं, वैसे ही राज्यों की मन्त्रिपरिषदों में भी होते है। इनके तीन वर्ग हैं—मन्त्री, उपमन्त्री (Deputy Minister) और पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी। मन्त्रिपरिषद् की कोई अवधि निश्चित नहीं होती। जब तक विधान सभा के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे, राज्यपाल उसे अपने पद पर कायम रखता है।

कतिपय राज्यों में (यथा केरल) केवल एक ही वर्ग के मन्त्री रखे गये हैं। उनमें विभिन्न प्रकार के मन्त्रियों की व्यवस्था नहीं की गई है।

१९५७ में उत्तरप्रदेश में जो नई मन्त्रिपरिषद् बनाई गई है, उसमें केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् का अनुकरण कर राज्य-मन्त्रियों (Ministers of State) की भी नियुक्ति की गई है।

मन्त्रियों के कार्य का विभाजन किस प्रकार किया जाय, और किस मन्त्री को कौन-सा विभाग दिया जाय, संविधान के अनुसार यह कार्य राज्यपाल द्वारा किया जाता है, पर क्रिया में यह कार्य मुख्यमन्त्री ही करता है।

मन्त्रियों को कितना वेतन, भत्ता, व अन्य सुविधाएँ मिलें, यह निश्चित करने का कार्य व्यवस्थापन विभाग के सुपुर्द किया गया है। इस समय उत्तर प्रदेश के मन्त्रियों को १५०० रुपये मासिक वेतन, निवास के लिये बिना किराये का बंगला, और अनेक भत्ते दिये जाते हैं। अन्य राज्यों में मन्त्रियों का वेतन ३५० रुपये से लगा कर १५०० रुपये मासिक तक है। केरल राज्य की कम्युनिस्ट मन्त्रिपरिषद् नें मन्त्रियों का वेतन ३५० रु० मासिक नियत किया है।

मन्त्रिपरिषद् का कार्य—संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद् का कार्य शासन-कार्य में राज्यपाल को परामर्श व सहयोग प्रदान करना है, पर क्रिया में वही राज्य के शासन का संचालन करती है। क्योंकि राज्यपाल केवल वैधानिक शासक है, अतः सब राज्य-कार्य उसके नाम से मन्त्री लोग ही करते हैं।

राज्यों की मन्त्रिपरिषद् में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान मुख्यमन्त्री का होता है। मन्त्रि-परिषद् के कार्यों का विभाजन किस प्रकार किया जाय, और कौन-सा विभाग किस मन्त्री के सुपुर्द किया जाय—इन बातों का निश्चय मुख्यमन्त्री ही करता है। वह अन्य मन्त्रियों के कार्य की देखभाल भी करता है। मन्त्रिपरिषद् के अधिवेशन में वही सभापति बनता है।

मन्त्री अपने-अपने विभागों के कार्यों की देखभाल करते हैं। पर राजकीय नीति का निर्धारण मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही किया जाता है। प्रत्येक मन्त्री के लिये यह आवश्यक है कि मन्त्रिपरिषद् के निर्णय को माने। अगर वह किसी निर्णय से असहमत हो, और उसे मानने के लिये तैयार न हो, तो उसके सामने एक ही मार्ग है, कि वह मन्त्री पद से त्यागपत्र दे दे।

मन्त्रिपरिषद् के शासन व कानून-निर्माण आदि के सम्बन्ध में वे ही कार्य हैं, जो संघ सरकार की मन्त्रिपरिषद् के हैं। उन्हें यहां फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं।

राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद् में सम्बन्ध—यद्यपि राज्यपाल वैधानिक शासक है, और सब राज्यकार्य उसके नाम से मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही किया जाता है, पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राज्यपाल का राज्य के शासन के सम्बन्ध में कोई भी हाथ नहीं होता और उसकी स्थिति केवल नाममात्र की व शोभा की ही है। संविधान के अनुसार मुख्यमन्त्री का कर्तव्य है कि वह मन्त्रिपरिषद् के सब निर्णयों की सूचना राज्यपाल को देता रहे, चाहे वे निर्णय शासन के साथ सम्बन्ध रखते हों, और चाहे प्रस्तावित कानूनों के। साथ ही, राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि ऐसे किसी मामले को जिस पर मन्त्रिपरिषद् ने विचार न किया हो, उसके सम्मुख विचारार्थ पेश कर सके। यदि राज्यपाल अनुभवी, योग्य और जागरूक हो, तो वह अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों में मन्त्रिपरिषद् का मार्गप्रदर्शन भी कर सकता है, और उसे अपनी सम्मति को मानने के लिये प्रेरित कर सकता है।

पिछड़ी हुई जातियों के लिये पृथक् मन्त्री—संविधान के अनुसार बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश की मन्त्रिपरिषदों में एक मन्त्री की नियुक्ति कबायली जातियों

के कल्याण व उन्नति के लिये भी की जायगी, और इस मन्त्री को अछूत समझी जाने वाली व पिछड़ी हुई जातियों की उन्नति का कार्य और साथ ही कोई अन्य कार्य भी सुपुर्द किया जा सकेगा। इन राज्यों में कबायली जातियों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास हैं। इसी कारण संविधान में इनकी उन्नति व कल्याण के लिये विशद रूप से व्यवस्था करने का आयोजन किया गया है। अन्य राज्यों में भी अछूत समझी जाने वाली व पिछड़ी हुई जातियों की उन्नति पर ध्यान देना मन्त्रिपरिषद् का कर्तव्य है।

जम्मू-काश्मीर राज्य का संविधान

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—यद्यपि जम्मू-काश्मीर भारतीय संघ के १४ राज्यों के अन्तर्गत है, पर उसकी स्थिति व शासन-पद्धति इस वर्ग के अन्य राज्यों से भिन्न हैं। इसका कारण ऐतिहासिक है। १५ अगस्त, १९४७ को जब भारत स्वाधीन हुआ, तो काश्मीर के राजा ने इस सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं किया था, कि काश्मीर भारतीय संघ में सम्मिलित हो या नहीं। अक्तूबर, १९४७ में पाकिस्तानी लोगों ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। पाकिस्तान की सरकार इन आक्रमणकारियों की पीठ पर थी। इस दशा में काश्मीर का राजा अपनी रियासत को भारतीय संघ में सम्मिलित करने के लिये सहमत हो गया, और उसने भारत की सरकार से सहायता के लिये प्रार्थना की। उस समय काश्मीर की जनता का सबसे महत्त्वपूर्ण संगठन 'नेशनल कान्फरेन्स' था। उसकी ओर से भी भारत सरकार से अपील की गई, कि काश्मीर को भारतीय संघ में सम्मिलित कर लिया जाय। भारतीय सरकार ने इस बात को स्वीकार कर लिया, और पाकिस्तानी आक्रमण से काश्मीर की रक्षा करने के लिये अपनी सेना भेज दी। इसी सेना द्वारा काश्मीर घाटी की पाकिस्तानी आक्रमण से रक्षा हो सकी। काश्मीर को भारतीय संघ में सम्मिलित करते हुए जो समझौता वहां के राजा के साथ किया गया था, उसके अनुसार काश्मीर केवल तीन विषयों के लिये भारतीय संघ में सम्मिलित हुआ था। ये विषय थे—रक्षा, विदेशी मामले और परिवहन व संचार (Communications)। काश्मीर को भारतीय संघ में सम्मिलित करना स्वीकार करते हुए भारतीय सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया था, कि काश्मीर के भारतीय संघ में सम्मिलित किये जाने के प्रश्न का अन्तिम निर्णय काश्मीरी जनता की सम्मति के अनुसार ही किया जायगा।

काश्मीर के भारतीय संघ में सम्मिलित हो जाने के बाद भी पाकिस्तानी आक्रमणकारियों ने अपने आक्रमण को जारी रखा। इसके कारण काश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का कब्जा कायम हो गया। १९४८ के शुरू में भारतीय सरकार ने काश्मीर के मामले को संयुक्त राज्य संघ (U. N. O.) की सुरक्षा परिषद् (Security Council) के सम्मुख पेश कर दिया। सुरक्षा परिषद् के प्रयत्न से काश्मीर के सम्बन्ध में पाकिस्तानी आक्रान्ताओं और भारतीय सेनाओं में युद्ध तो बन्द हो गया, पर काश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का कब्जा अब तक भी कायम है।

१९५० के आरम्भ में जब भारत का नया संविधान लागू हुआ, तब तक भी

काश्मीर की समस्या हल नहीं हो पाई थी। अतः इस राज्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष व्यवस्था करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसीलिए संविधान में काश्मीर के बारे में जो विशेष व्यवस्थाएँ की गईं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) भारत की संघ सरकार काश्मीर के लिये केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकेगी, जिनका उल्लेख काश्मीर के भारतीय संघ में सम्मिलित होने के समझौते व प्रवेश-पत्र (Instrument of Accession) में किया गया है, अर्थात् रक्षा, विदेशी सम्बन्ध और संचार।

(२) भारत की संघ सरकार काश्मीर के लिये उन विषयों पर भी कानून बना सकेगी, जिनको काश्मीर सरकार की सहमति से भारत का राष्ट्रपति अपनी आज्ञा द्वारा निर्दिष्ट कर दे। काश्मीर को अधिकार होगा कि वह अपनी संविधान सभा द्वारा अपने लिये स्वयं संविधान बना सके। यह संविधान सभा यदि भारत की संघ सरकार को काश्मीर के लिये कुछ अन्य विषयों पर कानून बनाने का अधिकार देना चाहे, तो उसके लिये राष्ट्रपति व्यवस्था कर सकेंगे।

संविधान सभा का संगठन—मार्च, १९४८ में जम्मू-काश्मीर में एक सामयिक सरकार का संगठन कर लिया गया था। यद्यपि यह सरकार अपने देश का शासन करने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी, पर इसने यह तय कर लिया था कि देश की रक्षा, विदेशी सम्बन्ध, यातायात और संचार के मामलों में जम्मू-काश्मीर भारतीय संघ-सरकार के अधीन रहे। अक्तूबर, १९५० में काश्मीर की सरकार ने यह निर्णय किया कि एक संविधान सभा (Constituent Assembly) का संगठन किया जाय, जो जहां इस प्रश्न का अन्तिम रूप से निर्णय करे कि जम्मू-काश्मीर को पाकिस्तान के अन्तर्गत होना है या भारत के, वहां साथ ही अपने राज्य की शासन व्यवस्था के स्वरूप का भी निर्धारण करे। इस संविधान सभा के संगठन के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया, कि इसके सदस्यों का चुनाव सर्वसाधारण जनता के वोटों द्वारा किया जाय, और जम्मू-काश्मीर के प्रत्येक वयस्क नागरिक (पुरुष और स्त्री) को इन सदस्यों को चुनने के लिए वोट का अधिकार दिया जाय। मार्च, १९५१ तक मतदाताओं (Voters) की सूची तैयार कर ली गई, और सितम्बर, १९५१ में जम्मू-काश्मीर की संविधान-सभा का चुनाव हुआ। ३१ अक्तूबर, १९५१ को संविधान-सभा के अधिवेशन प्रारम्भ हुए।

राष्ट्रपति का आदेश—काश्मीर की संविधान सभा के निर्णयों के अनुसार १४ मई, १९५४ को भारत के राष्ट्रपति ने काश्मीर के सम्बन्ध में एक विशेष आदेश जारी किया, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

भारत के संविधान में नागरिकता, नागरिकों के मूलभूत अधिकार, सुप्रीम कोर्ट, संघ और राज्यों में सम्बन्ध व वित्तसम्बन्धी जो व्यवस्थाएँ की गई हैं, वे काश्मीर पर भी लागू होंगी। १४ मई के इस आदेश के अनुसार भारत का संविधान काश्मीर पर भी लागू हो गया है, पर इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण मर्यादायें रखी गई हैं; यथा—

(१) काश्मीर की विधान सभा को अधिकार है कि वह अपने राज्य के स्थायी निवासियों के अधिकारों की रक्षा करने और राज्य से बाहर के लोगों को वहां बसने देने, जायदाद खरीदने व नौकरी प्राप्त करने के सम्बन्ध में पाबन्दियां लगा सके।

(२) काश्मीर भूमि-सुधार के लिये जो भी कानून बनाये, उन्हें भारत के संविधान के विरुद्ध होने के आधार पर न्यायालय में चैलेन्ज न किया जा सके। काश्मीर की संविधानसभा (जो साथ ही वहां की विधान सभा का भी कार्य कर रही थी) ने यह कानून बनाया था, कि बिना मुआवजा दिये ही जमींदारों की जमीनें ली जा सकेंगी। ऐसा करना भारत के संविधान में प्रतिपादित नागरिकों के मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध है। पर १४ मई, १९५४ के आदेश के कारण इस कानून के विरुद्ध न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती।

(३) भारतीय संघ और काश्मीर में वित्तविषयक (Financial) सम्बन्ध वे ही हैं, जो संघ सरकार और अन्य राज्यों के हैं। पर काश्मीर को भारत के आडीटर-जनरल के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा गया है।

(४) भारतीय संविधान में नागरिकों के जो मूलभूत अधिकार प्रतिपादित किये गए हैं, वे काश्मीर के निवासियों को भी प्राप्त हैं। पर काश्मीर की विधान सभा अपने राज्य की विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर बिना मुकदमा चलाये किसी को नजरबन्द कर सकने के लिये जो भी कानून बनाये, उनके विरुद्ध भारतीय संविधान के आधार पर किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। यह व्यवस्था पांच साल के लिए की गई है।

(५) भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची में जिन विषयों का परिगणन सम्मिलित सूची में किया गया है, काश्मीर के लिये वे केवल राज्यसूची के अन्तर्गत माने जायेंगे। संघ सरकार को उनके संबंध में कोई कानून बनाने का अधिकार नहीं होगा।

(६) खनिज पदार्थ, व्यवसाय, मर्दुमशुमारी और कम्पनी कानून के विषय भारतीय संविधान में संघसूची के अन्तर्गत हैं। पर काश्मीर को अधिकार है कि वह इनके सम्बन्ध में भी स्वयं कानून बना सके।

(७) अवशिष्ट शक्तियां (Residuary Powers) काश्मीर के लिये राज्य सरकार के हाथों में रखी गई हैं।

(८) काश्मीर के सम्बन्ध में यदि राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा करना चाहे, तो उसके लिए उसे वहां की सरकार की सहमति प्राप्त करनी होगी।

जम्मू-काश्मीर की संविधान-सभा के सम्मुख कार्य—काश्मीर की संविधान सभा के सम्मुख मुख्य कार्य निम्नलिखित थे—

(१) राज्य के लिए संविधान तैयार करना, (२) जम्मू-काश्मीर के राजवंश के भविष्य के सम्बन्ध में निर्णय करना, (३) इस प्रश्न का फैसला करना कि जम्मू-काश्मीर भारतीय संघ-राज्य के अन्तर्गत हो, या पाकिस्तान के, और या एक पृथक् सम्पूर्ण-प्रभुत्वसंपन्न राज्य (Sovereign State) के रूप में परिवर्तित हो, (४) मार्च,

१९४८ में संगठित की गई सामयिक सरकार ने जो भूमि सम्बन्धी सुधार किये थे, उनके अनुसार जम्मू-काश्मीर से जमींदारी प्रथा का अन्त कर दिया गया था। इस प्रश्न पर विचार करना कि जमींदारों को जमीन के बदले में कोई मुआवजा (Compensation) दिया जाए या नहीं।

इन चारों कार्यों के लिये संविधान सभा द्वारा पृथक्-पृथक् उपसमितियों की नियुक्ति की गई। इन उपसमितियों की सिफारिशों के अनुसार जम्मू-काश्मीर की संविधान-सभा ने जो निर्णय किये, वे निम्नलिखित थे—

(१) जम्मू-काश्मीर में वहां के राजवंश का जो वंशक्रमानुगत शासन विद्यमान है, उसका अन्त कर दिया जाय।

(२) जम्मू-काश्मीर भारतीय संघ के अन्तर्गत होकर रहे।

(३) जमींदारी प्रथा का अन्त करके जो जमींदारी जमींदारों से ले ली गई हैं, उनके बदले में उन्हें कोई मुआवजा न दिया जाय।

साथ ही, संविधान-सभा ने जम्मू-काश्मीर राज्य के लिये एक संविधान तैयार किया, जिसके अनुसार अब उस राज्य का शासन किया जाता है। इस संविधान को तैयार करने में कई वर्ष लग गये। अन्त में १७ नवम्बर, १९५६ को यह संविधान जम्मू-काश्मीर की संविधान-सभा ने सर्व सम्मति से स्वीकार कर लिया, और २६ जनवरी, १९५७ से इसे लागू कर दिया गया। इस समय जम्मू-काश्मीर का शासन इस संविधान के अनुसार ही हो रहा है।

जम्मू-काश्मीर का नया संविधान—जम्मू-काश्मीर के संविधान में यह बात स्पष्ट रूप से घोषित की गई है, कि वह राज्य भारतीय संघ के अन्तर्गत होगा और उसकी सीमाएँ वे ही मानी जायेंगी, जो कि १५ अगस्त, १९४७ के दिन थीं। जम्मू-काश्मीर के जो प्रदेश इस समय पाकिस्तान की अधीनता में हैं, संविधान के अनुसार वे भी इस राज्य के अंग हैं, और पाकिस्तान का उन पर कब्जा अवैध है।

भारत के संविधान के समान जम्मू-काश्मीर के संविधान में भी नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है और साथ ही उन निर्देशक सिद्धान्तों (Directive Principles) का भी विस्तार से उल्लेख हुआ है, जिनके अनुसार सरकार को अपनी नीति का निर्धारण करना है। इन सिद्धान्तों में निम्नलिखित महत्त्व के हैं—

(१) प्रत्येक नागरिक के लिए यूनीवर्सिटी स्तर तक निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था। (२) प्रत्येक बालक व बालिका के लिए बाधित रूप से निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करना। (३) एक समान कार्य के लिये सबको एक समान वेतन व पारिश्रमिक दिया जाय। (४) ऐसी व्यवस्था करना कि बुढ़ापे व बेकारी की दशा में नागरिक को निर्वाह योग्य धन मिल सके और बीमारी की दशा में उसे अपनी चिकित्सा कराने की सुविधा हो। (५) सबको काम प्राप्त करने का अधिकार है, और उसकी मात्रा व स्वरूप के अनुसार सबको पारिश्रमिक भी प्राप्त करने का अधिकार है। पारिश्रमिक व वेतन की अधिकतम और न्यूनतम मात्रा कानून द्वारा निर्धारित की जाए। (६)

मजदूरों की काम करने की परिस्थितियां ऐसी हों और उन्हें इतना पारिश्रमिक अवश्य दिया जाए, जिससे कि वे अपनी भौतिक आवश्यकताओं को प्राप्त करने के अतिरिक्त सांस्कृतिक जीवन बिताने के अवसर भी प्राप्त कर सकें, (७) वयस्क नजदूरों को साक्षर बनाने और शिल्प की शिक्षा प्राप्त करने के समुचित अवसर दिये जाएँ।

सदरे-रियासत—जम्मू-काश्मीर राज्य के प्रधान को 'सदरे-रियासत' कहते हैं। इसकी स्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल के समान है। यह एक संवैधानिक शासक (Constitutional Ruler) है, जो मंत्रिपरिषद् की सहायता व परामर्श से शासनकार्य का संचालन करता है। सदरे-रियासत की नियुक्ति चुनाव द्वारा की जायगी। राज्य की विधान सभा (Legislative Assembly) के सदस्य बहुमत (सभा के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा, केवल उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा नहीं) द्वारा सदरे-रियासत का निर्वाचन किया करेंगे। उसका चुनाव पांच साल के लिये होगा।

वर्तमान समय में जम्मू-काश्मीर के सदरे-रियासत के पद पर राजा कर्णसिंह विद्यमान हैं, जो कि वहां के राजवंश के हैं। पर वे इस पद पर राजवंश के होने के कारण नहीं हैं, अपितु चुनाव द्वारा उनकी इस पद पर नियुक्ति हुई है।

मन्त्रिपरिषद्—विधान सभा में जिस राजनीतिक दल का बहुमत हो, उसके नेता को सदरे-रियासत प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त करता है। जम्मू-काश्मीर में प्रमुख मन्त्री के लिए प्रधानमन्त्री (Prime Minister) शब्द प्रयुक्त होता है, मुख्य मन्त्री (Chief Minister) नहीं। भारत के अन्य राज्यों के प्रमुख मन्त्री को 'मुख्य मंत्री' कहते हैं। प्रधान मन्त्री शब्द का प्रयोग केवल भारतीय संघ के प्रमुख मन्त्री के लिये ही किया जाता है।

जम्मू-काश्मीर की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के अन्य सदस्यों की नियुक्ति प्रधान मंत्री के परामर्श के अनुसार सदरे-रियासत द्वारा की जाती है। मन्त्रि परिषद् सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है, और तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि विधान सभा की बहुसंख्या का विश्वास उसे प्राप्त रहे। प्रधानमन्त्री मन्त्रि परिषद् का प्रधान व प्रमुख होता है।

व्यवस्थापन विभाग—जम्मू-काश्मीर राज्य के व्यवस्थापन विभाग के तीन अंग हैं—(१) सदरे-रियासत, (२) विधान सभा (Legislative Assembly) और विधान परिषद् (Legislative Council)। विधान सभा के सदस्यों की संख्या १०० नियत की गई है। इनका चुनाव प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों (Territorial Constituencies) द्वारा किया जायगा। सारे राज्य को निर्वाचन-क्षेत्रों में विभक्त कर उनसे विधान सभा के सदस्य चुने जायेंगे। वोट का अधिकार प्रत्येक वयस्क नागरिक (स्त्री और पुरुष) को होगा। जब तक जम्मू-काश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का कब्जा है, विधान सभा के सदस्यों की संख्या केवल ७५ होगी। २५ स्थान वहां रिक्त रखे जायेंगे। जब पाकिस्तान द्वारा अधिकृत काश्मीर भी स्वाधीन होकर जम्मू-काश्मीर राज्य में शामिल हो जायगा, तब विधान सभा की सदस्य संख्या १०० हो जायगी।

विधान परिषद् की सदस्य-संख्या ३६ है। इनमें से २२ सदस्यों का चुनाव

विधान सभा के सदस्य करेंगे। यह आवश्यक है कि इन २२ सदस्यों में से ११ काश्मीर प्रांत के निवासी हों, और ११ जम्मू प्रांत के। यद्यपि जम्मू प्रान्त की जनसंख्या काश्मीर से बहुत अधिक है, पर राज्य के दोनों प्रान्तों में समता रखने के लिये यह व्यवस्था की गई है, कि विधान परिषद् में दोनों के प्रतिनिधियों की संख्या बराबर रहे। काश्मीर प्रान्त के निवासियों में से चुने जाने वाले ११ सदस्यों में से एक लद्दाख का और एक कर्गिल तहसील का निवासी होना भी आवश्यक रखा गया है। परिषद् के शेष १४ सदस्यों में से ६ सदरे-रियासत द्वारा मनोनीत किये जायेंगे, २ शिक्षकों द्वारा निर्वाचित होंगे, और शेष ६ म्यूनिसिपैलिटियों व अन्य स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा चुने जायेंगे।

हाईकोर्ट—जम्मू-काश्मीर राज्य का हाईकोर्ट पृथक् है, जिसमें एक चीफ जस्टिस और दो व अधिक न्यायाधीश होंगे। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति भारतीय संघ के राष्ट्रपति द्वारा सदरे-रियासत के परामर्श के अनुसार की जायगी। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति भी भारतीय संघ के राष्ट्रपति द्वारा ही होगी। पर उन्हें नियुक्त करते हुए वह सदरे-रियासत के अतिरिक्त जम्मू-काश्मीर के मुख्य न्यायाधीश से भी परामर्श लेगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) नवीन संविधान के अनुसार राज्यपाल के क्या कार्य हैं?

(यू० पी० १९५३)

(२) राज्यपाल की नियुक्ति के लिये जो व्यवस्था भारत के संविधान में स्वीकृत की गई है, उसका उल्लेख करके यह बतलाइये कि क्या आप इस व्यवस्था को उचित मानते हैं? अपने मत का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन कीजिये।

(३) राज्यों के शासन में मन्त्रिपरिषद् के क्या कार्य हैं? राज्यपाल और व्यवस्थापन विभाग से उसका क्या सम्बन्ध होता है?

(४) नवीन संविधान के अनुसार राज्यपाल की शक्तियों का वर्णन कीजिये।

(५) जम्मू-काश्मीर राज्य के संविधान का संक्षेप से वर्णन कीजिए।

(६) जम्मू-काश्मीर की शासन-व्यवस्था और उत्तर भारत के अन्य राज्यों की शासन व्यवस्था में कौन-से मुख्य भेद हैं?

ग्यारहवां अध्याय

राज्यों के व्यवस्थापन विभाग

राज्यों के व्यवस्थापन विभाग (Legislature) के निम्नलिखित अंग हैं—

(१) राज्यपाल।

(२) विधान सभा (Legislative Assembly)

(३) विधान परिषद् (Legislative Council)। यह परिषद् केवल बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, पंजाब, माइसूर, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र, काश्मीर और पश्चिमी बंगाल में है। अन्य राज्यों में केवल एक सदन है, उनमें विधान परिषद् की सत्ता नहीं है।

एक सदन या दो सदन--जिस संविधान सभा ने भारत के संविधान का निर्माण किया, उसके सदस्यों में इस प्रश्न पर मतभेद था, कि राज्यों के व्यवस्थापन विभाग में एक सदन रखा जाए या दो। जो सदस्य दो सदनों के पक्षपाती थे, उनका कहना था कि वयस्क मताधिकार के कारण विधान सभा में ऐसे प्रतिनिधि चुने जा सकते हैं, जिन्हें राज्य कार्य व कानून बनाने का बिल्कुल भी अनुभव न हो, और जो अपनी उत्तरदायिता को भलीभांति न समझते हों। अतः उन के कार्यों को नियंत्रित करने के लिए दूसरे सदन की सत्ता उपयोगी होगी। इस दूसरे सदन में ऐसे व्यक्तियों को सदस्य बनाने की व्यवस्था की जानी चाहिए, जो अनुभवी और योग्य हों और जिनका चुनाव सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा न होना हो।

एक सदन और दो सदनों के प्रश्न पर उग्र मतभेद होने के कारण यह निश्चय किया गया कि किस राज्य में एक सदन हो, और किसमें दो सदन हों, इस बात का फैसला विविध राज्यों के उन प्रतिनिधियों पर छोड़ दिया जाये, जो कि संविधान सभा के सदस्य थे। इसके अनुसार १९५१ में आसाम, उड़ीसा, और मध्य प्रदेश के व्यवस्थापन विभागों में एक सदन रखने की व्यवस्था की गई, और बिहार, बम्बई, मद्रास, पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल के व्यवस्थापन विभाग में दो सदन रखे गये। १९५६ में जब राज्यों का पुनः संगठन किया गया, तो इस व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। अब बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास, पंजाब, माइसूर, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र, पश्चिमी बंगाल और जम्मू-काश्मीर में दो सदन हैं, और शेष आसाम, उड़ीसा, केरल और राजस्थान में केवल एक सदन की सत्ता है।

राज्यों के व्यवस्थापन विभाग में द्विसदन प्रणाली को अभी परीक्षण के रूप में ही अपनाया गया है। इसीलिये संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है, कि जिन राज्यों में दो सदन हैं, यदि उनमें से किसी की विधान सभा कुल सदस्यों की बहुसंख्या और उपस्थित सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से दूसरे सदन न रखन के प्रस्ताव को स्वीकार कर दे, तो संघ की पार्लियामेण्ट को अधि-

कार है, कि वह उस राज्य से दूसरे सदन को तोड़ देने के लिए कानून बना सके। इसी प्रक्रिया द्वारा उन राज्यों में दूसरे सदन की स्थापना भी की जा सकती है, जहां अब केवल एक सदन है।

विधान सभा (Legislative Assembly)—किस राज्य की विधान सभा में कितने सदस्य हों, इसका निश्चय संविधान द्वारा नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में संविधान में केवल कतिपय सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिये गए हैं, जो निम्न-लिखित हैं—

(१) किसी विधान सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या ५०० तक हो सकेगी, और न्यूनतम संख्या ६० तक।

(२) विधान सभाओं के सदस्यों का चुनाव करने के लिए प्रत्येक राज्य को बहुत से प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो (Territorial constituencies) में विभक्त किया जायगा। इन निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण इस ढंग से होगा कि जहां तक सम्भव हो, उनकी जनसंख्या और चुने जाने वाले सदस्यों में अनुपात राज्य में सर्वत्र एक-समान हो।

इन सिद्धान्तों के अनुसार राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से निश्चित की गई हैं—

राज्य	सदस्यों की संख्या	अछूत जातियों के लिये सुरक्षित स्थान	कबायली जातियों के लिये सुरक्षित स्थान
आन्ध्र	३०१	४३	११
आसाम	१०८	५	२६
बिहार	३१८	४०	३२
बम्बई	३९६	४३	३१
केरल	१२६	११	१
मध्यप्रदेश	२८८	४३	५४
मद्रास	२०५	३७	१
माईसूर	२०८	२८	१
उड़ीसा	१४०	२५	२९
पंजाब	१५४	३३	—
राजस्थान	१७६	२८	२०
उत्तर प्रदेश	४३०	८९	—
पश्चिमी बंगाल	२५२	४५	१५

निर्वाचन क्षेत्र—विधान सभा के सदस्यों के चुनाव के लिये प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों (Territorial Constituencies) का निर्माण किया जाता है। इसका निर्माण करते हुए यह ध्यान में रघा जाता है कि लगभग ७५,००० व्यक्तियों का एक प्रति-निधि विधान सभा में जा सके। निर्वाचन क्षेत्र दो प्रकार के होते हैं, जिनसे एक

प्रतिनिधि चुना जाए, और जिनसे दो प्रतिनिधि चुने जाएं। जिन निर्वाचन क्षेत्रों से दो प्रतिनिधि चुने जाते हैं, उनमें से एक अछूत समझी जाने वाली या पिछड़ी हुई जातियों का होता है, यद्यपि उसका चुनाव भी सब मतदाताओं के वोटों से किया जाता है।

विधानसभा के सदस्यों के लिये आवश्यक योग्यताएं—विधान सभा की सदस्यता के लिये उम्मीदवारों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(१) वे भारत के नागरिक हों।

(२) वे अपनी आयु के २५ वर्ष पूर्ण कर चुके हों।

(३) वे संघ सरकार, राज्य की सरकार व उसके अधीन किसी स्थानीय संस्था में ऐसे पद पर कार्य न कर रहे हों, जिससे उन्हें वेतन मिलता हो या कोई अन्य आर्थिक लाभ होता हो।

(४) वे पागल न हों, और किसी अपराध में राज्य द्वारा सजा पाये हुए न हों। सजा के सम्बन्ध में वे ही नियम हैं, जो कि संघ की लोकसभा के सदस्यों के लिए हैं।

विधान सभा की अवधि—विधान सभा का चुनाव पांच साल के लिये होता है, पर इससे पूर्व भी राज्यपाल उसे भंग कर नये चुनाव का आदेश दे सकता है। संघ की पार्लियामेण्ट को अधिकार है कि वह संकटकाल (Emergency) में विधान सभा की अवधि को एक साल के लिये बढ़ा सके। पर यह अवधि एक बार एक साल से अधिक समय के लिये नहीं बढ़ाई जा सकती। जब संकट काल की समाप्ति हो जाए, तो विधान सभा की अतिरिक्त (बढ़ायीं हुई) अवधि उसके बाद छः मास से अधिक नहीं रह सकेगी।

पदाधिकारी—विधान सभा के दो पदाधिकारी होते हैं, अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker)। इनका चुनाव विधान सभा द्वारा अपने सदस्यों में से ही किया जाता है। विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वे ही अधिकार और कार्य हैं, जो कि लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के हैं। इनको अपने पद से हटाने के लिये भी वही प्रक्रिया है, जो लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के हटाये जाने के सम्बन्ध में है। इनको वेतन, भत्ते और निवास के लिये बंगला भी दिया जाता है, जिनका निश्चय राज्य के व्यवस्थापन विभाग द्वारा किया जाता है।

विधान-परिषद् (Legislative Council)—जिन राज्यों में दो सदन हैं, उनम दूसरे सदन को विधान परिषद् कहते हैं। इनके सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध में संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है, कि राज्य की विधान सभा में कुल मिलाकर जितने सदस्य हों, उसके एक तिहाई से अधिक विधान परिषद् में न हों, और इनकी संख्या किसी भी दशा में ४० से कम न हो।

जब तक संघ पार्लियामेण्ट कानून बनाकर विधान परिषद् की रचना के सम्बन्ध में कोई और व्यवस्था न करे, इसकी रचना निम्नलिखित प्रकार से की जायगी :—

(१) विधान परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या का तीसरा अंश (निकटतम

तीसरा अंश) राज्य की म्युनिसिपैलिटियों, जिला बोर्डों व अन्य ऐसी स्थानीय संस्थाओं, जिनका निश्चय पार्लियामेण्ट कानून द्वारा करे, के सदस्यों से बने हुए निर्वाचक मण्डल (Electorate) द्वारा।

(२) विधान परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या का बारहवां अंश उस राज्य में निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों द्वारा चुना जायगा, जो भारत के किसी विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट हों, पर उन्हें ग्रेजुएट हुए कम से कम तीन साल हो चुके होने चाहिए।

(३) विधान परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या का बारहवां भाग उस राज्य में निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों द्वारा चुना जायगा, जो उस राज्य के सेकेन्डरी स्कूलों, कालिजों व विश्वविद्यालयों में तीन वर्ष से अधिक समय से शिक्षक का कार्य कर रहे हों।

(४) विधान परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या का तीसरा भाग राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किया जायगा। विधान सभा के सदस्य ऐसे व्यक्ति को ही विधान परिषद् का सदस्य चुन सकेंगे, जो विधान सभा का सदस्य न हो।

(५) शेष सदस्य (अर्थात् विधान परिषद् के सदस्यों का छठा भाग) राज्यपाल द्वारा नामजद किये जायेंगे। राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों को ही नामजद करेगा, जो साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारी आन्दोलन, व समाज सेवा का विशेष ज्ञान व व्यावहारिक अनुभव रखते हों।

म्युनिसिपैलिटी आदि स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों, ग्रेजुएटों, और शिक्षकों द्वारा चुने जान वाले विधान परिषद् के सदस्यों के चुनाव के लिये निर्वाचन क्षेत्रों (Constituencies) का निर्माण संघ पार्लियामेण्ट के कानून द्वारा किया जायगा। विधान परिषद् के सब सदस्यों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System) द्वारा किया जाता है।

जिन राज्यों के व्यवस्थापन विभाग में दो सदन हैं, उनमें विधान परिषद् के विविध प्रकार के सदस्यों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से है : (१९५८) :—

राज्य का नाम	विधान सभा द्वारा निर्वाचित	स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित	ग्रेजुएटों द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	राज्यपाल द्वारा मनोनीत	कुल सदस्य
बिहार	३४	३४	८	८	१२	९०
बम्बई	४२	३६	९	९	१२	१०८
मद्रास	२१	२१	६	६	९	६३
आन्ध्र	३१	३१	८	८	१२	९०
उत्तरप्रदेश	३९	३९	९	९	१२	१०८
पंजाब	१८	१७	४	४	८	५१
पश्चिमी बंगाल	२७	२७	६	६	९	७५
माइसूर	२१	२१	६	६	९	६३
मध्यप्रदेश	३१	३१	८	८	१२	९०

विधान परिषद् की सदस्यता के लिए आवश्यक योग्यताएँ––विधान परिषद के लिये वे व्यक्ति ही सदस्य हो सकते हैं, जिनमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों––

(१) वे भारत के नागरिक हों।

(२) वे अपनी आयु के ३० वर्ष पूर्ण कर चुके हों।

(३) विधान परिषद् के निर्वाचित सदस्यों के लिये यह भी आवश्यक है, कि वे उस राज्य की विधान सभा के किसी निर्वाचक क्षेत्र में मतदाता हों। राज्यपाल द्वारा नामजद किये जाने वाले व्यक्तियों के लिये यह शर्त जरूरी नहीं है, पर उन्हें उस राज्य का निवासी होना चाहिये।

(४) वे न दिवालिये हों, न पागल हों, और संघ सरकार, राज्य की सरकार व उसके अधीन किसी स्थानीय संस्था में ऐसा पद न प्राप्त किये हुए हों, जिससे उन्हें वेतन मिलता हो या कोई अन्य आर्थिक लाभ पहुँचता हो, और राज्य द्वारा दण्डित न हों। इस सम्बन्ध में वे ही शर्तें हैं, जो पार्लियामेण्ट व विधान सभा के सदस्य होने के लिए पहले वर्णित की जा चुकी हैं।

विधान परिषद् की अवधि––विधान परिषद् की कोई अवधि निश्चित नहीं है, वह एक स्थायी संस्था है। उसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है, कि दो साल बाद उसके एक तिहाई सदस्य अपने स्थान रिक्त कर देंगे, और नया चुनाव होगा। नामजद किये जाने वाले सदस्यों में से भी एक तिहाई हर दो साल बाद अपना स्थान रिक्त कर देंगे। राज्यपाल उनको नये सिरे से मनोनीत करेगा। पहली विधान परिषदों में कुछ सदस्यों का कार्य केवल दो मास रहा, कुछ का ४ साल, और शेष का ६ साल। उनके स्थान पर जो नये सदस्य निर्वाचित या नामजद हुए, वे सब पूरे छः साल तक अपने पदों पर रहेंगे। इस प्रकार विधानपरिषद् कभी भंग नहीं होगी। प्रति दो साल बाद उसके एक तिहाई सदस्य अपने स्थान रिक्त करते रहेंगे, और उन स्थानों के लिये फिर से चुनाव व नये सिरे से नामजदगी होती रहेगी।

सदस्यों का अपने पद से हटना––विधान सभा व विधान परिषद् दोनों के लिये यह नियम है, कि कोई एक व्यक्ति एक समय में एक से अधिक सदनों का सदस्य नहीं हो सकता। साथ ही यह भी सम्भव नहीं है, कि कोई व्यक्ति एक समय में संघ पार्लियामेण्ट और राज्य के व्यवस्थापन विभाग के किसी सदन का सदस्य हो सके। यदि कोई व्यक्ति एक से अधिक सदन का सदस्य चुन लिया जाय, तो उसे यह निर्णय करना होगा, कि वह किसका सदस्य रहना चाहता है। दूसरे स्थान से उसे त्यागपत्र दे देना होगा।

यदि कोई सदस्य बिना अनुमति के सदन के अधिवेशन में निरन्तर ६० दिन तक अनुपस्थित रहे, तो उसका स्थान रिक्त हो जायगा। सदस्य अपने पद से त्याग-पत्र भी दे सकता है।

पदाधिकारी––विधान परिषद् के दो पदाधिकारी होते हैं, सभापति (Chairman) और उपसभापति (Deputy Chairman)। इन दोनों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। विधान परिषद् स्वयं अपने सभापति और उपसभापति का निर्वाचन

करती है। उन्हें वेतन, भत्ते व निवास के लिये बंगला भी प्रदान किया जाता है। विधान परिषद् के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा उन्हे अपने पदों से हटाया भी जा सकता है। इनके अधिकार व कार्य वे ही हैं, जो विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के हैं। सभापति को केवल निर्णायक वोट (Casting Vote) देने का अधिकार है।

विधानसभा और विधानपरिषद् में सम्बन्ध

धन-सन्बन्धी बिलों (Money Bills) के सम्बन्ध में राज्यों की विधानपरिषदें भी उसी प्रकार से शक्तिहीन हैं, जैसे कि संघ पार्लियामेण्ट में राज्य-सभा है। धन-सम्बन्धी बिल शुरू में केवल विधान सभा में ही पेश किये जा सकते हैं। कौन से बिल धन-सम्बन्धी हैं, इस बात का निर्णय विधान सभा के अध्यक्ष द्वारा किया जायगा। जब धन-सम्बन्धी बिल को विधान सभा स्वीकार कर दे, तो उसे विचार के लिये विधान-परिषद् के पास भेजा जाता है। विधान परिषद् को ऐसा बिल १४ दिन के अन्दर-अन्दर अपनी सिफारिशों के साथ विधान सभा को लौटा देना होगा। विधान सभा को अधिकार है, कि उन सिफारिशों को माने या न माने। यदि विधान परिषद् १४ दिन के अन्दर धन सम्बन्धी बिल को वापस न करे, तो उसे दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत मान लिया जाता है। जिन बिलों का सम्बन्ध निम्नलिखित बातों से हो, उन्हें धन-सम्बन्धी समझा जाता है—

(१) जिनमें किसी टैक्स को लगाने की, किसी टैक्स को हटाने की, उसकी दर में परिवर्तन करने की, छूट करने या किसी अन्य प्रकार से टैक्स सम्बन्धी कोई व्यवस्था की जाय।

(२) जिनके द्वारा राज्य की ओर से कोई ऋण लिये जाने या ऋणसम्बन्धी कोई गारण्टी देने की व्यवस्था की जाय।

(३) राज्य के संचित फण्ड (Consolidated Fund) में से धन को प्रयुक्त करने की बात जिनमें हो।

(४) राज्यके आकस्मिकता फण्ड (Contingency Fund) में से धन को प्रयुक्त करन की बात जिनमें हो।

यदि किसी बिल के धन सम्बन्धी होने के विषय में मतभेद हो, तो उसका निर्णय विधान सभा के अध्यक्ष के हाथों में रहता है, क्योंकि धन सम्बन्धी मामलों में विधान परिषद् की शक्ति न के बराबर है। इस विषय में विधान सभा के मुकाबिले में उसकी स्थिति हीन है।

धनसम्बन्धी बिलों के अतिरिक्त अन्य साधारण बिलों के विषय में भी विधान सभा की स्थिति व शक्ति विधान परिषद् के मुकाबिले में अधिक ऊँची है। इसका कारण व्यवस्थापन विभाग द्वारा कानून बनाने की निम्नलिखित प्रक्रिया द्वारा स्पष्ट हो जायगा।

यदि विधान सभा किसी बिल को स्वीकृत कर दे, तो उसके सम्बन्ध में विधान परिषद् के सम्मुख चार विकल्प होते हैं—

(१) परिषद् उस बिल को अस्वीकृत कर दे।

(२) परिषद् उसमें कतिपय संशोधन कर दे, और उन संशोधनों के साथ उस बिल को स्वीकार करे।

(३) परिषद् तीन मास बीत जाने पर भी उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय न करे।

(४) परिषद् उसे स्वीकार कर ले।

चौथे विकल्प की दशा में तो कोई समस्या उत्पन्न ही नहीं होती, पर यदि विधान-परिषद् ने विधान सभा द्वारा स्वीकृत बिल को नामंजूर कर दिया हो या उसमें कतिपय संशोधन कर दिये हों, या तीन मास बीत जाने पर भी उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय न किया हो, तो वह बिल पुनः विधान सभा के सम्मुख पेश किया जाता है। यदि उसे दूसरी बार भी विधान सभा द्वारा स्वीकृत कर लिया जाए, तो उसे पुनः विधान परिषद् में विचारार्थ भेजा जाता है। यदि अब विधान परिषद् उसे स्वीकार कर ले तब तो ठीक ही है। पर यदि वह उसे पुनः अस्वीकार कर दे, उसमें संशोधन कर दे, या एक मास तक उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय न करे, तो भी उसे उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत समझ लिया जायगा, जिस रूप में कि विधान सभा ने उसे दूसरी बार में स्वीकृत किया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि साधारण बिलों के सम्बन्ध में भी विधान-परिषद् की शक्ति बहुत कम है। वह पहली बार तीन मास के लिये और दूसरी बार एक मास के लिये ही किसी बिल के पास होने को स्थगित अवश्य कर सकती है, पर यदि विधान सभा किसी बिल को पास करना ही चाहती हो, तो विधान परिषद् उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकती। विधान परिषद् का धन सम्बन्धी व अन्य बिलों के बारे में यही कार्य व उपयोग है, कि वह अपने सुझाव विधान सभा के सम्मुख रख सके। क्योंकि विधान परिषद् में प्रायः योग्य, अनुभवी, सुशिक्षित व प्रभाव-शाली व्यक्ति सदस्य होते हैं, अतः धन सम्बन्धी बिलों पर उनके सुझावों का और अन्य बिलों पर उनके संशोधनों का महत्त्व अवश्य होता है। पर उन्हें स्वीकार करना या न करना विधान सभा के सदस्यो के ही हाथों में है। यदि साधारण बिलों को भी विधान सभा दो बार स्वीकार कर दे, तो विधान परिषद् के विरोध के बावजूद भी वे कानून का रूप धारण कर लेते हैं।

इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि संघ की पार्लियामेण्ट के द्वितीय सदन (राज्य सभा) के मुकाबिले में भी राज्यों की विधान परिषदों की शक्ति कम है। संघ पार्लियामेण्ट में यदि किसी साधारण बिल के बारे में लोक सभा और राज्यसभा एकमत न हो सकें, तो दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक की व्यवस्था की गई है, और वहां बहुमत से जो निर्णय हो, उसी को मान्य ठहराया गया है। पर यह व्यवस्था राज्यों के व्यवस्थापन विभाग के लिये नहीं की गई है।

साधारण बिल विधान सभा या परिषद् दोनों में से किसी के भी सम्मुख पेश किये जा सकते हैं। धन सम्बन्धी बिलों के समान उनके लिये यह आवश्यक नहीं है, कि उन्हें पहले विधान सभा में ही पेश किया जाए। जब कोई बिल दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत हो जाए, या परिषद् द्वारा स्वीकृत न होने पर विधान सभा द्वारा दूसरी बार स्वीकृत हो

जाए, तो राज्यपाल की स्वीकृति व हस्ताक्षर से वह कानून का रूप प्राप्त कर लेता है।

राज्यों के व्यवस्थापन विभाग के कार्य—संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) में जिन विषयों को राज्यसूची व समवर्ती सूची में परिगणित किया गया है, राज्यों के व्यवस्थापन विभाग उनके सम्बन्ध में कानून बना सकते हैं। यद्यपि राज्य अपने क्षेत्र में पूरे अधिकार रखते हैं, पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि अपने क्षेत्र के विषय में भी राज्यों के व्यवस्थापन विभाग के अधिकार कुछ अंश में मर्यादित व नियन्त्रित रखे गये हैं।

(१) राज्य के व्यवस्थापन विभाग द्वारा बनाये गये कतिपय कानूनों के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस प्रकार के कानून वे हैं, जिनका सम्बन्ध निम्नलिखित बातों से हो—(क) यदि राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति को अधिगत करना चाहे (ख) समवर्ती (Concurrent) सूची के जिन विषयों पर संघ पालिया-मेंण्ट कोई कानून पहले बना चुकी हो, पर उन कानूनों से राज्य के व्यवस्थापन विभाग द्वारा बनाये गये कानूनों का आनुकूल्य न हो। (क) उन वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर टैक्स लगाना, जिन्हें संघ की पार्लियामेण्ट ने जनता के जीवन के लिये आवश्यक करार दे दिया हो।

(२) कुछ विषय ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में यदि राज्यों के व्यवस्थापन विभाग कानून बनाना चाहें, तो उन्हें राष्ट्रपति से पहले ही (उस विषय में बिल पेश करने से पूर्व ही) स्वीकृति ले लेनी चाहिये। इस वर्ग में वे विषय आते हैं, जिनका सम्बन्ध राज्य के क्षेत्र में या विभिन्न राज्यों में पारस्परिक व्यापार को नियन्त्रित करना हो।

(३) राज्यसूची के अन्तर्गत विषयों में से किसी के सम्बन्ध में यदि संघ पार्लियामेण्ट का द्वितीय सदन (राज्यसभा) दो-तिहाई बहुमत वे यह पास कर दे, कि उस विषय पर संघ की पार्लियामेण्ट को ही कानून बनाने चाहियें, तो राज्य का व्यवस्थापन विभाग उस विषय के सम्बन्ध में कानून नहीं बना सकेगा, पर संघ पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये ये कानून एक निश्चित अवधि तक ही लागू रह सकेंगे।

(४) संकटकाल की घोषणा की अवधि में राज्यसूची के अन्तर्गत विषयों पर भी संघ पार्लियामेण्ट को कानून बनाने का अधिकार होगा।

(५) यदि राष्ट्रपति का विचार हो, कि किसी राज्य में संविधान के अनुसार शासन कर सकना सम्भव नहीं रह गया है, तो उसका परिणाम यह होगा कि उस राज्य के व्यवस्थापन विभाग के हाथों में कानून बनाने की शक्ति रह ही नहीं जायगी।

(६) राज्यों के व्यवस्थापन विभाग के सदनों को यह अधिकार नहीं है कि वे सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के किसी ऐसे कार्य पर विचार या विवाद कर सकें, जिसे उन्होंने अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए किया हो।

ऊपर लिखी मर्यादाओं के अधीन राज्यों के व्यवस्थापन विभागो को उन सब विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है, जिनका परिगणन संविधान की सातवीं

अनुसूची में राज्यसूची और समवर्ती सूची के अन्तर्गत किया गया है। कानून बनाने के अधिकार के अतिरिक्त राज्य का व्यवस्थापन विभाग मन्त्रिपरिषद् के कार्यों व नीति पर भी नियन्त्रण रखता है, और राज्य की सरकार के आय-व्यय का भी निर्धारण करता है। इस प्रकार उसे शासन सम्बन्धी व वित्त-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं। मन्त्रिपरिषद् तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि विधान सभा के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। सरकारी कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव पेश कर और मन्त्रिपरिषद् व किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव उपस्थित करके भी व्यवस्थापन विभाग शासन विभाग पर नियन्त्रण रख सकता है। राज्य में कोई टैक्स तभी लगाया जा सकता है, जबकि व्यवस्थापन विभाग उसे स्वीकृत करे। टैक्स आदि से प्राप्त आमदनी का खर्च भी उसी की स्वीकृति से किया जा सकता है।

विधान सभा व परिषद् के सदस्यों के वेतन व अधिकार—विधान सभा और परिषद् के सदस्यों को मासिक वेतन व भत्ते भी प्राप्त होते हैं। इनका निश्चय व्यवस्थापन विभाग ही कानून बना कर करता है। इस समय उत्तर प्रदेश में दोनों सदनों के सदस्यों को २०० रु० मासिक वेतन मिलता है। अधिवेशन के समय उन्हें ११ रु० दैनिक के हिसाब से भत्ता भी दिया जाता है। विधान सभा और (परिषद्) के अधिवेशन व किसी उपसमिति में शामिल होने के लिये आने-जाने पर उन्हें प्रथम श्रेणी का रेलवे किराया प्राप्त करने का अधिकार है, चाहे वे यात्रा किसी भी श्रेणी में करें। निवास के लिये भी उनसे नाम मात्र किराया लिया जाता है। विधान सभा के सदस्य को एम. एल. ए. (M. L. A.) कहते हैं, और परिषद् के सदस्यों को एम. एल. सी. (M. L. C.)। प्रत्येक सदस्य को पद ग्रहण करने से पहले अपने पद की शपथ भी ग्रहण करनी पड़ती है।

व्यवस्थापन विभाग के किसी सदन के अधिवेशन में या उन द्वारा नियुक्त किसी उपसमिति में कही गई बात के लिये किसी सदस्य पर न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। उन्हें वहां भाषण करने और अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रगट करने का पूरा अधिकार है।

व्यवस्थापन और कार्यकारिणी विभागों में सम्बन्ध—

क्योंकि संघ के समान राज्यों में भी संसदात्मक (Parliamentary) शासन-पद्धति को अपनाया गया है, अतः राज्यों के शासन में भी व्यवस्थापन और कार्यकारिणी विभागों में घनिष्ट सम्बन्ध है। कार्यकारिणी विभाग का संचालन मन्त्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है, जिसे हम कार्यपालिका (Executive) कह सकते हैं। यह मन्त्रि परिषद् विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है, और तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि विधान सभा के बहुमत का समर्थन उसे प्राप्त रहे। जब विधान सभा का मन्त्रि-परिषद् के प्रति विश्वास न रहे, तो वह उसे पदत्याग करने के लिये विवश कर सकती है। वह उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है; वह मन्त्रि परिषद् द्वारा प्रस्तुत किये गये किसी ऐसे बिल को जिसे वह ात्त्वपूर्ण समझती हो, अस्वीकृत

करके उसके प्रति अपने अविश्वास को प्रकट कर सकतीहै, बजट पेश होने पर किसी मन्त्री के वेतन में कटौती कर सकती है, या उसे सर्वथा अस्वीकार कर सकती है, और सर-कारी खर्च के लिये धन की मांग को स्वीकृत करने से इन्कार कर सकती है। इन उपायों का अनुसरण कर विधान सभा मन्त्रिपरिषद् को त्यागपत्र दे देने के लिये विवश कर देने की शक्ति रखती है।

क्योंकि मन्त्रिपरिषद् की सत्ता विधान सभा पर आश्रित रहती है, अतः यह समझा जा सकता है, कि वह विधान सभा की वशवर्त्ती होकर ही अपना कार्य करती है, पर असल में यह बात नहीं है। जिस मन्त्रिपरिषद् का विधान सभा में बहुमत हो, वह उसकी स्वामी बन कर कार्य करती है। विधान सभा के सदस्य अपने दल के नियन्त्रण में रहते हैं। वे उसी पक्ष में वोट देते हैं, जिसके लिए वोट देने का उन्हें आदेश दिया जाए। यदि वे पार्टी के निर्णय के विरुद्ध आचरण करें, तो उनके खिलाफ कार्रवाई की जाती है। उन्हें पार्टी से वहिष्कृत भी कर दिया जाता है। अगले चुनाव में उन्हें उम्मीदवार नहीं बनाया जाता, और सुसंगठित पार्टी की सहायता के बिना आजकल किसी के लिये चुनाव में सफल हो सकना सुगम नहीं होता। इन सब कारणों से विधान सभा के सदस्य आंख मींचकर अपनी पार्टी के नेता के नियन्त्रण में रहते हैं। क्योंकि मुख्य मन्त्री ऐसे व्यक्ति को ही नियत किया जाता है, जो कि बहु-मत वाले दल का नेता हो, अतः उसे सदा यह भरोसा रहता है, कि उसकी पार्टी के सब सदस्य उसके पक्ष में ही वोट देंगे। इस दशा में विधान सभा मन्त्रि परिषद् को नहीं चलाती, अपितु मन्त्रि परिषद् उसे चलाती है। महत्त्वपूर्ण बिलों व प्रस्तावों को मन्त्रि-परिषद् ही तैयार करती है। विधान सभा के बहुमत वाले दल का कार्य तो प्रायः यही रहता है, कि मन्त्रिपरिषद् द्वारा प्रस्तुत बिलों व प्रस्तावों के पक्ष में भाषण दे और समय आने पर उनके समर्थन में वोट दे। इसलिये संसदात्मक प्रणाली के शासन में असली शक्ति मन्त्रिपरिषद् के हाथों में ही रहती है।

पर इसमें सन्देह नहीं कि व्यवस्थापन विभाग अनेक प्रकार से कार्यकारिणी विभाग के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। प्रश्न पूछ कर, काम रोको प्रस्ताव पेश कर, मन्त्रि-परिषद् या किसी मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश कर और बजट पर विचार के समय खर्च की मांगों को पास करते हुए शासक विभाग के कार्यों की आलोचना कर वह शासन विभाग को मर्यादा में रखने का प्रयत्न कर सकता है। यदि विधान-सभा में किसी एक दल का बहुत अधिक बहुमत न हो, और मन्त्रिपरिषद् को अन्य दलों के सहयोग की भी आवश्यकता रहे, तो व्यवस्थापन विभाग कार्यकारिणी विभाग को अपना अनुयायी भी बना सकता है।

जोनल कौंसिलें (Zonal Councils)

पांच जोन—संसद् द्वारा १९५६ में स्वीकृत एक कानून के अनुसार भारत को निम्नलिखित पांच जोनों (Zones) में विभक्त करने की व्यवस्था की गई है—

(१) उत्तरी जोन—जिसमें पंजाब, राजस्थान, जम्मू-काश्मीर, दिल्ली और

हिमाचल प्रदेश अन्तर्गत होंगे ।

(२) मध्य जोन--जिसमें उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश अन्तर्गत रहेंगे ।

(३) पूर्वी जोन--जिसमें बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, आसाम, मणिपुर और त्रिपुरा अन्तर्गत होंगे ।

(४) दक्षिणी जोन—जिसमें आन्ध्र प्रदेश, मद्रास और केरल अन्तर्गत होंगे ।

(५) पश्चिमी जोन--जिसमें बम्बई और माइसूर राज्य अन्तर्गत होंगे ।

जोनल कौंसलें--प्रत्येक जोन की एक-एक कौंसिल होगी, जिन्हें 'जोनल कौंसिल' कहा जायगा। इस कौंसिल का निर्माण निम्नलिखित प्रकार से होगा—

(क) संघ सरकार का एक मन्त्री, जिसे कि इस कार्य के लिये राष्ट्रपति मनोनीत करे ।

(ख) जोन के अन्तर्गत सब राज्यों के मुख्यमन्त्री ।

(ग) जोन के अन्तर्गत राज्यों के दो अन्य मन्त्री, जिन्हें कि राज्यों के राज्यपाल (जम्मू-काश्मीर के लिये सदरे-रियासत) इस जोनल कौंसिलों की सदस्यता के लिये मनोनीत करेंगे। जिस जोन मे कोई संघक्षेत्र भी अन्तर्गत हों, उसकी कौंसिल में उन संघक्षेत्रों का भी एक-एक प्रतिनिधि राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जायगा ।

(घ) पूर्वी क्षेत्र की जोनल कौंसिल में वह व्यक्ति भी एक सदस्य होगा, जो कि आसाम की कबायली जातियों के सम्बन्ध में उस समय राज्यपाल के एडवाइजर (परामर्शदाता) के पद पर नियत हो। राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत संघ सरकार का मन्त्री जोनल कौंसिल का अध्यक्ष (चेयरमैन) रहेगा और उस जोन के अन्तर्गत राज्यों के मुख्यमन्त्री क्रमशः एक-एक साल के लिये जोनल कौंसिल के उपाध्यक्ष (वायस चेयरमैन) का कार्य करेंगे ।

जोनिल कौंसिलों का प्रयोजन—भारत को पांच जोनों में इस प्रयोजन से विभक्त करने की व्यवस्था की गई है, जिससे कि देश के आर्थिक विकास और सामाजिक उन्नति के लिये विविध राज्य परस्पर सहयोग से कार्य कर सकें, और विविध राज्यों के सीमावर्त्ती क्षेत्रों में भाषा, अल्प संख्यक जाति व यातायात सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर यदि कोई विवाद उठे, तो उसका निर्णय परस्पर विचार-विनिमय व सहयोग द्वारा किया जा सके। वस्तुतः, भारत एक देश है, और उसके विविध राज्यों के आर्थिक व सार्वजनिक हित एक दूसरे के साथ घनिष्ट रूप से जुड़े हुए हैं। इस कारण यह बहुत उपयोगी है, कि विविध राज्य परस्पर मिलकर उन प्रश्नों पर विचार कर सकें, जिनका उन सबके साथ समान रूप से सम्बन्ध हो ।

ब्रिटिश युग की रियासतें और उनके राज्यों के विषय में व्यवस्था

इस से पूर्व कि भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों की शासनव्यवस्था के विषय को समाप्त किया जाय, यह उपयोगी होगा कि उन रियासतों पर भी कुछ प्रकाश डाला जाय, जो कि ब्रिटिश युग में भारत में विद्यमान थीं। इन रियासतों के राजाओं को अब भी सरकार द्वारा प्रिवी पर्स दिये जाने की व्यवस्था है, और यद्यपि शासन में उनका

कोई हाथ नहीं है, पर उनकी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखा गया है।

स्वराज्य से पूर्व ब्रिटिश काल में भारत में ५८२ रियासतें थीं। इनका कुल क्षेत्रफल ७,२५,९९४ वर्ग मील था, जो सम्पूर्ण भारत के क्षेत्रफल का ४५ प्रतिशत था। इन रियासतों की जनसंख्या ९,३२,००,००० थी, जो सम्पूर्ण भारत की जन संख्या का २४ प्रतिशत थी। स्वतन्त्र भारत में इन रियासतों की पृथक् सत्ता सम्भव नहीं थी। यह बात सर्वथा अस्वाभाविक थी, कि भारत में अन्यत्र तो लोकतन्त्र शासन स्थापित हो जाए, और रियासतों में वंशक्रमानुगत राजाओं का स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन कायम रहे।

स्वतन्त्र भारत और रियासतें—१५ अगस्त, १९४७ को जब भारत स्वतन्त्र हुआ, और अंग्रेज शासक इस देश को छोड़कर चले गये, तो उन्होंने यह भी घोषित कर दिया, कि अब तक रियासतों पर ब्रिटेन के जो प्रभुता सम्बन्धी अधिकार थे, उनका भी अन्त कर दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह था, कि इस समय से रियासतें पूर्णतया स्वतन्त्र व प्रभुत्त्व सम्पन्न (Sovereign) हैं। यदि वे चाहें, तो स्वतन्त्र भारतीय संघ में शामिल हों, और यदि उसमें शामिल न होना चाहें, तो संसार के अन्य प्रभुत्त्व-संपन्न राज्यों के समान अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखें। पर यह बात क्रियात्मक नहीं थी। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने प्रत्येक रियासत के नरेश के साथ अलग-लअग समझौते किये। इन समझौतों का परिणाम यह हुआ कि नरेशों ने अपने शासन-सम्बन्धी सब अधिकारों का परित्याग कर दिया, और उनकी रियासतें भारतीय संघ की अंग बन गईं। नरेशों को सन्तुष्ट करने के लिये उन्हें एक निश्चित धनराशि प्रतिवर्ष देने की व्यवस्था की गई, जिसे 'प्रिवी पर्स' (Privy purse) कहते हैं। इस प्रिवी पर्स की रकम निम्नलिखित प्रकार से निश्चित की गई—

(१) जिन रियासतों की वार्षिक आय एक लाख रुपये या इससे कम हो, उनके नरेशों को वार्षिक आय का १५ प्रतिशत प्रिवी पर्स के रूप में प्रति वर्ष दिया जाय।

(२) जिन रियासतों की आय एक लाख से पांच लाख तक वार्षिक हो, उन्हें उनकी आय का १० प्रतिशत।

(३) पांच लाख वार्षिक से अधिक आमदनी वाली रियासतों के लिये ७॥ प्रतिशत। पर यह मात्रा १० लाख रुपये वार्षिक से अधिक न हो। कतिपय बड़ी रियासतों को इसका अपवाद भी रखा गया। हैदराबाद के निजाम की प्रिवी पर्स ५० लाख रुपया वार्षिक नियत की गई है, बड़ौदा महाराज की २६॥ लाख, माइसूर की २६ लाख और पटियाला महाराज की १७ लाख। त्रावन्कोर, कोचीन, बीकानेर, इन्दौर आदि कुछ अन्य बड़ी रियासतों के राजाओं की प्रिवी पर्स भी १० लाख से अधिक है।

प्रिवी पर्स के रूप में जो रकम प्रति वर्ष भारत की संघ सरकार को रियासती नरेशों को देनी पड़ती है, उसकी मात्रा साढ़े पांच करोड़ से भी अधिक है। नरेशों के पास कितने महल रखे जायें, उनके हीरे-जवाहरात व आभूषणों के सम्बन्ध में क्या

व्यवस्था की जाए--इन विषयों पर भी भारत की संघ सरकार ने उनके साथ समझौते किये हैं। इन समझौतों द्वारा सरकार ने रियासतों के नरेशों को यह सुविधा दे दी है, कि वे रहन-सहन के अपने पुराने स्तर व शान-शौकत को बहुत कुछ कायम रख सकें। उनकी मान-मर्यादा को भी बहुत कुछ अक्षुण्ण रखा गया है, पर अब उनके पास शासन-सम्बन्धी अधिकार नहीं रह गये हैं।

राज्यों के पुनः निर्माण के कारण अब पुरानी रियासतों की पृथक् सत्ता का भी पूर्णरूप से अन्त हो गया है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) उत्तर प्रदेश की विधान सभाओं के निर्वाचन की प्रणाली का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५५)

(२) उत्तर प्रदेश की विधान सभा और विधान परिषद् के संगठन और पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५४)

(३) राज्य के व्यवस्थापन विभाग के संगठन, शक्तियों व कार्यों का वर्णन कीजिये। (मध्यभारत १९५२)

(४) राज्यों के शासन में मन्त्रिपरिषद् के क्या कार्य हैं? राज्यपाल और व्यवस्थापन विभाग के साथ उनका क्या सम्बन्ध होता है?

(५) भारत के जिन राज्यों के व्यवस्थापन विभाग में दो सदन हैं, उनमें इन सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन कीजिये।

बारहवां अध्याय

संघ क्षेत्र और संघ द्वारा शासित अन्य प्रदेश

संविधान द्वारा संघ-क्षेत्रों के सम्बन्ध में व्यवस्था—१९५६ में संविधान में किये गये संशोधनों के अनुसार संघक्षेत्र (Union Territories) निम्नलिखित हैं—दिल्ली, हिमाचलप्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अन्दामान-निकोबार द्वीप, और लक्कद्वीव-मिनिकोय और अमिन्दवी द्वीप।

संविधान द्वारा संघ-क्षेत्रों के शासन के विषय में उस ढंग से कोई व्यवस्था नहीं की गई है, जैसे कि राज्यों (States) के शासन के सम्बन्ध में की गई है। संविधान में इन क्षेत्रों के शासन के विषय में केवल यह निर्धारित किया गया है कि—

(१) प्रत्येक संघ-क्षेत्र का शासन राष्ट्रपति द्वारा किया जायगा, जिस प्रयोजन के लिए वह वहां एक शासक (Administrator) की नियुक्ति करेगा, और इस शासक को वह जो उचित समझे संज्ञा (लेफ्टिनेण्ट गवर्नर, चीफ कमिश्नर आदि) दे सकेगा।

(२) राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह किसी संघ क्षेत्र के शासन का कार्य उस संघ-क्षेत्र के समीप में विद्यमान राज्य के राज्यपाल के सुपुर्द कर सके। ऐसा किये जाने पर राज्यपाल संघक्षेत्र का शासन अपनी मन्त्रिपरिषद् से स्वतन्त्ररूप से करेगा।

(३) संघ की पार्लियामेण्ट कानून बनाकर संघ-क्षेत्रों के शासन के सम्बन्ध में अन्य व्यवस्था भी कर सकेगी।

(४) राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह अन्दमान-निकोबार द्वीपों और लक्कदीव मिनिकोय-अमिन्दवी द्वीपों में शान्ति कायम रखने, और उनके सुशासन व उन्नति के लिये नियम व कायदे बना सके। इन नियमों व कायदों की वही शक्ति व स्थिति होगी, जो कि पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये कानूनों की होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान द्वारा संघ-क्षेत्रों का शासन राष्ट्रपति की अधीनता में रखा गया है, यद्यपि पार्लियामेण्ट को भी यह अधिकार दिया गया है, कि संघ-क्षेत्रों के शासन के लिए कानून बनाकर वह कोई अन्य व्यवस्था भी कर सके।

क्षेत्रीय कौंसिलों की स्थापना—पार्लियामेण्ट ने संविधान द्वारा दिये गये अधिकार का प्रयोग कर १९५६ में एक कानून स्वीकृत किया था, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा और मणिपुर में क्षेत्रीय कौंसिलों (Territorial Councils) की स्थापना की जाय। इन कौंसिलों के निर्वाचित सदस्यों

की संख्या इस प्रकार निर्धारित की गई है—

हिमाचल प्रदेश	४१
त्रिपुरा	३०
मणिपुर	३०

ये सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होंगे, और इनके चुनाव के लिये उसी ढंग से प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र बनाये जायेंगे, जैसे कि राज्यों में बनाए जाते हैं। हिमाचल प्रदेश की क्षेत्रीय कौंसिल के निर्वाचित ४१ सदस्यों में से १२ सदस्य अछूत समझी जाने वाली जातियों के होंगे, जिनके लिये १२ स्थान सुरक्षित रखे जायेंगे। संघ सरकार को यह भी अधिकार है, कि वह तीनों क्षेत्रों की क्षेत्रीय कौंसिलों के लिये कतिपय सदस्यों को मनोनीत कर सके, पर किसी क्षेत्रीय कौंसिल के लिए मनोनीत किये गये सदस्यों की संख्या २ से अधिक नहीं होगी। क्षेत्रीय कौंसिल के सदस्यों को चुनने के लिये वे सब व्यक्ति (स्त्री और पुरुष) वोट का अधिकार रखते हैं, जिन्हें कि इन संघ-क्षेत्रों में लोकसभा के चुनाव के लिए वोट देने का अधिकार प्राप्त है।

क्षेत्रीय कौंसिलों की अवधि ५ साल नियत की गई है, यद्यपि इस अवधि को एक साल के लिये बढ़ाया भी जा सकता है। कौंसिल अपने अध्यक्ष (चेयरमैन) और उपाध्यक्ष (वाइस-चेयरमैन) का चुनाव स्वयं करेगी। इस विषय में भी संघ-सरकार को अधिकार है, कि वह कौंसिल के प्रथम चेयरमैन को मनोनीत कर सके। पर इस प्रकार मनोनीत किया गया चेयरमैन एक साल से अधिक समय तक अपने पद पर नहीं रह सकेगा। यदि कौंसिल के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से चेयरमैन को उसके पद से हटाये जाने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाये, तो वह अपने पद पर नहीं रह सकेगा। पर यदि इस प्रकार के प्रस्ताव के पक्ष में कौंसिल के कुल सदस्यों की दो-तिहाई संख्या के वोट प्राप्त न हो सकें, और कुल सदस्यों की बहुसंख्या (५० प्रतिशत से अधिक) के वोट प्राप्त हो जाएँ, तो भी संघ-क्षेत्र के शासक (Administrator) को अधिकार होगा कि वह चेयरमैन को उसके पद से पृथक् कर सके। पर ऐसा करते हुए उसे उन कारणों को लिखित रूप से प्रकट करना होगा, जिनसे कि वह चेयरमैन को उसके पद से पृथक् कर रहा है। चेयरमैन को कितना वेतन व भत्ते आदि दिये जायें, इसका निर्णय संघ-सरकार करेगी। क्षेत्रीय कौंसिलों के सदस्यों के वेतन व भत्ते आदि का निर्णय भी संघ सरकार द्वारा ही किया जायगा।

क्षेत्रीय कौंसिलों के कार्य—पार्लियामेण्ट ने कानून द्वारा जो कार्य क्षेत्रीय कौंसिलों के सुपुर्द किये हैं, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) उन सड़कों, पुलों, नहरों, जलाशयों और इमारतों का निर्माण व मरम्मत कराना, जिन्हें कि संघ सरकार द्वारा उसके सुपुर्द कर दिया गया हो। सड़कों के साथ-साथ वृक्ष लगवाना, और उनकी सम्भाल करना।

(२) मोटर गाड़ी, बैल गाड़ी, घोड़ा गाड़ी व अन्य वाहनों के सम्बन्ध में नियम बनाना।

(३) संघ सरकार की अनुमति प्राप्त कर रोड–वे, ट्राम–वे व यातायात के

अन्य साधनों का निर्माण करना।

(४) प्राइमरी व सेकेन्डरी स्कूलों की स्थापना व उनका संचालन।

(५) चिकित्सालय, पुअर हाउस व इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं का प्रबन्ध व स्थापना।

(६) मण्डी, मेले, धर्मशाला और सरायों का प्रबन्ध और स्थापना।

(७) होटलों और सरायों के विषय में नियम बनाना।

(८) पीने, भोजन बनाने और स्नान करने के काम में आने वाले पानी को शुद्ध रखने के लिये व्यवस्था करना और साथ ही इस प्रकार के पानी की उपलब्धि का प्रबन्ध करना।

(९) सिंचाई के लिये पानी उपलब्ध हो सके, इसके लिये बांध आदि का निर्माण करना।

(१०) पशुओं के प्रति क्रूरता को रोकना।

(११) पशुपालन को प्रोत्साहन देना, पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध और पशुओं के रोगों का निवारण।

(१२) सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई का प्रबन्ध।

(१३) कृषि प्रदर्शनियों और औद्योगिक प्रदर्शनियों की व्यवस्था और आदर्श कृषि-फार्मों की स्थापना।

(१४) जन्म, विवाह और मृत्यु का रजिस्ट्रेशन।

(१५) पंचायतों का निरीक्षण व उन पर नियन्त्रण।

(१६) उन संस्थाओं और सम्पत्ति की व्यवस्था, जो कि संघ सरकार द्वारा क्षेत्रीय कौंसिलों के सुपुर्द की गई हो।

(१७) वे सब अन्य विषय, जिन्हें कि संघ सरकार क्षेत्रीय कौंसिलों के सुपुर्द करना चाहे।

क्षेत्रीय कौंसिलों के सुपुर्द किये गये विषयों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा, कि इन कौंसिलों का अधिकार-क्षेत्र बहुत सीमित है। राज्यों की विधान-सभाओं के मुकाबिले में उनकी शक्ति बहुत कम है, और उनकी स्थिति स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं (म्यूनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों) से बहुत भिन्न नहीं है।

क्षेत्रीय कौंसिलों के अधिवेशन—यह व्यवस्था की गई है कि क्षेत्रीय कौंसिलों का अधिवेशन दो मास में कम से कम एक बार अवश्य हो। अधिवेशन की कार्यविधि क्या हो, इस सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार कौंसिलों को दिया गया है, पर कौंसिल द्वारा बनाये गये नियमों के लिये शासक (Administrator) की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक है। कौंसिल के अधिवेशन के लिये २० प्रतिशत सदस्यों की उपस्थिति का कोरम निश्चित किया गया है। जनता इन अधिवेशनों में दर्शक के रूप में उपस्थित हो सकती है, पर यदि उपस्थित सदस्यों की बहुसंख्या किसी प्रस्तुत विषय को गोपनीय समझे, और इस आशय का प्रस्ताव पास कर दे, तो दर्शक लोग उस विषय पर विचार की अवधि में उपस्थित नहीं रह सकेंगे। कौंसिल की कार्रवाई का

एक पृथक् रजिस्टर (Minute-book) रखा जायगा, जिसमें जहां अधिवेशन की कार्रवाई लेखबद्ध की जायगी, वहां साथ ही किसी प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में वोट लिये जाने की दशा में यह भी उल्लिखित किया जायगा कि किन सदस्यों ने प्रस्ताव के पक्ष में वोट दिया है, और किन्होंने उसके विपक्ष में। संघ-क्षेत्र के शासक (Administrator) को अधिकार है कि वह कौंसिल के अधिवेशन में उपस्थित हो सके, और उसके समक्ष भाषण भी दे सके। ऐसी दशा में वही कौंसिल का सभापतित्व भी करेगा। कौंसिल को अधिकार है कि वह अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये उपसमितियों का निर्माण कर सके, पर इन उपसमितियों के सदस्य कौंसिल के सदस्यों में से ही नियुक्त किये जायेंगे।

पदाधिकारी—प्रत्येक क्षेत्रीय कौंसिल का एक कार्य-सचिव (Executive officer) होगा, जिसकी नियुक्ति उस क्षेत्र के शासक द्वारा की जायेगी। पर क्षेत्रीय कौन्सिल को अधिकार होगा, कि कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से कार्य-सचिव को उसके पद से हटाने का प्रस्ताव स्वीकार कर सके। ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर शासक कार्यसचिव को उसके पद से हटा देने के लिये बाध्य होगा। इन्जीनियरिंग, स्वास्थ्य और शिक्षा के कार्यों के लिये पदाधिकारियों की नियुक्ति शासक की सहमति से क्षेत्रीय कौंसिल द्वारा की जायगी। पर जिन पदाधिकारियों का वेतन ३०० रु० मासिक या अधिक हो, उनकी नियुक्ति करते हुए यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन से परामर्श करना अनिवार्य होगा।

आय के साधन—क्षेत्रीय कौंसिलों को निम्नलिखित टैक्स लगाने का अधिकार दिया गया है—

(१) जिन पुलों का प्रबन्ध क्षेत्रीय कौन्सिलों के हाथों में हो, उन पर टाल टैक्स लगाना, (२) व्यापार, पेशों और रोजगार पर टैक्स लगाना, (३) स्कूल फीस को नियत करना और उसे वसूल करना, (४) चिकित्सालय, मण्डी, मेले, सराय, होटल, शुद्ध जल के साधन, सिंचाई, पशु चिकित्सालय, सार्वजनिक स्वास्थ्य और प्रदर्शनियों के उपयोग के लिये शुल्क नियत करना, (५) जो इमारतें व अन्य सम्पत्ति क्षेत्रीय कौन्सिलों के सुपुर्द हो, उसके उपयोग के लिये प्राप्त होने वाली आमदनी।

इनके अतिरिक्त संघ सरकार संघ-क्षेत्र (Union Territory) के प्रदेशों से प्राप्त होने वाली निम्नलिखित आमदनियां क्षेत्रीय कौन्सिलों को प्रदान कर सकती हैं—

(१) एन्टरटेनमैण्ट टैक्स। (२) मालगुजारी का एक निश्चित प्रतिशत भाग, जो कि १० प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। (३) मोटर गाड़ियों पर लगाये हुए टैक्सों की आमदनी। (४) सड़क, रेलवे, जलमार्ग और वायु मार्ग से ले जाने वाले माल व सवारियों पर जो टैक्स लगाये गये हों, उनकी आमदनी।

इनके अतिरिक्त संघ सरकार क्षेत्रीय कौन्सिलों के अधीन विषयों का खर्च चलाने के लिये उन्हें अनुदान (Grants) भी दे सकेगी।

परामर्श समितियाँ—संघ-क्षेत्रों के शासन की उत्तरदायिता संघ सरकार के गृह मंत्री पर रखी गई है, और उसे सहयोग देने के लिए परामर्श समितियों की व्यवस्था की गई है।

अब तक हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, मणिपुर, और त्रिपुरा के लिये ये समितियां बन चुकी हैं। दिल्ली के लिए नियुक्त परामर्श समिति के सदस्य निम्नलिखित हैं–(१) पार्लियामेण्ट के वे सदस्य, जो दिल्ली का प्रतिनिधित्त्व करते हों। (२) दिल्ली यूनीवर्सिटी का वाइस-चांसलर। (३) दिल्ली कार्पोरेशन का मेयर। (४) न्यू दिल्ली म्यूनिसिपैलिटी का सीनियर उपाध्यक्ष। अन्य संघ-क्षेत्रों की परामर्श समितियों का निर्माण भी प्रायः इसी ढंग से किया गया है।

दिल्ली कार्पोरेशन--हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा और मणिपुर के समान दिल्ली के संघ-क्षेत्र के लिये क्षेत्रीय कौन्सिल का निर्माण नहीं किया गया, अपितु वहां पर एक कार्पोरेशन बनाया गया है, जिसके ८० सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं, और ये ८० सदस्य ६ एल्डरमैनों को चुनते हैं।

संघीय क्षेत्रों की स्थिति—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, संघीय क्षेत्रों का शासन राष्ट्रपति के अधीन है, उनमें उस ढंग का उत्तरदायी शासन स्थापित नहीं किया गया है, जैसा कि भारतीय संघ के अन्तर्गत १४ राज्यों में है। तीन संघ-क्षेत्रों में जो कौन्सिलें स्थापित की गई हैं, उनका अधिकार-क्षेत्र बहुत सीमित है, और उनके शासन का ढंग प्रायः वैसा ही है, जैसा कि जिला बोर्डों या म्यूनिसिपैलिटियों का है। यही कारण है कि हिमाचल प्रदेश में इस नई व्यवस्था से बहुत असंतोष है। यद्यपि वहां के शासक को अब भी लेफ्टिनेण्ट गवर्नर की संज्ञा प्राप्त है, पर इस कारण उसकी स्थिति अन्य संघ-क्षेत्रों से भिन्न नहीं है। दिल्ली, त्रिपुरा और मणिपुर के शासक 'चीफ कमिश्नर' कहाते हैं।

अनुसूचित क्षेत्रों (Scheduled Areas) का शासन

भारत में कतिपय प्रदेश ऐसे हैं, जो सभ्यता, शिक्षा आदि की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। इनके निवासी प्रायः निरक्षर हैं, और शिकार आदि द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। इनके निवासी अभी तक भी कबायली (Tribal) दशा में हैं, और सभ्यता से वहुत दूर हैं। इस कारण इनमें लोकतन्त्र शासन को स्थापित कर सकना सम्भव नहीं समझा गया। उत्तरप्रदेश में ऐसा क्षेत्र कोई नहीं है। पर राजस्थान में डूंगरपुर, बांसवाड़ा और चित्तौड़ गढ़ के अनेक स्थान; विहार में रांची, सिंहभूम और पलामऊ जिलों के अनेक स्थान; पंजाब में कांगड़ा जिले के स्पीती और लाहौल प्रदेश, और मध्यप्रदेश आदि में भी अनेक स्थान अनुसूचित क्षेत्र माने गये हैं।

संविधान के अनुसार इन क्षेत्रों के शासन के लिये जो व्यवस्थायें की गई हैं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं––

(१) इनका शासन राष्ट्रपति गे हाथों के रहेगा, जिसे वह उन राज्यों के राज्यपालों द्वारा करायेगा, जिसमें ये क्षेत्र स्थित हों। राज्यपालों के लिये आवश्यक होगा कि वे अपने शासन कार्य की रिपोर्ट संघ सरकार के पास भेजते रहें।

(२) राज्यपाल को अधिकार है कि वे अनुसूचित क्षेत्रों में व्यवस्था और सुशासन के लिये नियम बना सकें, और संघ सरकार व राज्य की सरकार द्वारा बनाये गये कानूनों में इन क्षेत्रों के लिये परिवर्तन कर सकें। पर ऐसा करते हुए उनके लिये

राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा।

(३) संघ सरकार को अधिकार होगा कि वह अनुसूचित क्षेत्रों के शासन के सम्बन्ध में उन राज्यों की सरकार को आदेश दे सके, जिनमें ये क्षेत्र स्थित हों।

(४) अनुसूचित क्षेत्रों के सम्बन्ध में जो कानून व नियम राज्यपाल द्वारा बनाये जाएँ, उन पर उसे कबायली परामर्शदात्री परिषद् (Tribes' Advisory Council) से परामर्श प्राप्त करना होगा। जिन राज्यों के किन्हीं प्रदेशों को अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया गया हो, उनमें संविधान के अनुसार एक कबायली परामर्शदात्री परिषद् का निर्माण आवश्यक है। इस परिषद् के सदस्यों की अधिकतम संख्या २० होगी। इनमें से तीन-चौथाई सदस्य कबायली जातियों के होने चाहियें। राज्य की विधानसभा के सदस्यों में जो कबायली जाति के व्यक्ति हों, वे इस परिषद् के सदस्य होंगे। पर यदि उनकी संख्या इतनी न हो कि इस परिषद् में कबायली जातियों के लिये सुरक्षित हुए स्थान उन द्वारा भरे जा सकें, तो अन्य (कबायली जाति के) व्यक्तियों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्त्ति की जा सकेगी। यह परिषद् कबायली जातियों व अनुसूचित क्षेत्रों के हित, कल्याण व उन्नति के लिये प्रयत्न करेगी, और इन क्षेत्रों के सुशासन के लिये कानून बनाने के सम्बन्ध में राज्यपाल व राज-प्रमुख को परामर्श देने का कार्य करेगी।

आसाम के कबायली क्षेत्रों का शासन—आसाम राज्य में अनेक ऐसे प्रदेश हैं, जहां अनेक ऐसी कबायली जातियों का निवास है, जिनकी संस्कृति हिन्दुओं से बहुत भिन्न है। ये अपनी एक विशिष्ट संस्कृति का अनुसरण करते हैं। इनकी समस्याएँ भी अन्य राज्यों की कबायली जातियो से भिन्न प्रकार की हैं। अतः संविधान की छठी सूची (Schedule) में इन जातियों द्वारा आवाद क्षेत्रों के शासन की भिन्न व्यवस्था की गई है। आसाम के ये कबायली क्षेत्र दो भागों में विभक्त किये गए हैं। 'क' और 'ख'।

'क' वर्ग के क्षेत्र निम्नलिखित हैं—खासी-जयन्तिया पहाड़ी प्रदेश, गारो प्रदेश, लुसाई प्रदेश, नागा प्रदेश, उत्तरी कचर और मिकिर। 'ख' वर्ग के क्षेत्र में उत्तर-पूर्वी सीमा प्रदेश और नागा कबायली क्षेत्र शामिल किये गये हैं।

'क' वर्ग के क्षेत्रों को स्वशासित (Autonomous) प्रदेशों की स्थिति प्रदान की गई है। इनके शासन के लिये यह व्यवस्था की गई है कि उनमें एक विशिष्ट कौंसिल का निर्माण किया जाय, जिसके सदस्यों की अधिकतम संख्या २४ हो। इनमें से कम-से-कम तीन-चौथाई सदस्य निर्वाचित होंगे, जिनका चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा किया जायगा। यदि इस स्वशासित प्रदेश में अनेक कबायली जातियों का निवास हो, तो प्रत्येक कबायली जाति द्वारा आवाद प्रदेश के लिये एक प्रादेशिक कौंसिल (Regional Council) भी बनाई जायगी। इन कौंसिलों को अपने क्षेत्र के लिये कानून बनाने का अधिकार होगा।

आसाम के 'ख' वर्ग के कबायली क्षेत्र सभ्यता की दृष्टि से बहुत ही पिछड़े हुए हैं। उनमें अब तक भी अनेक ऐसी जातियों का निवास है जिन्हें जंगली कहा जा सकता है। इनमें अब तक जन गणना भी भली भांति नहीं हो सकी है। संविधान के अनुसार इनका शासन राष्ट्रपति के हाथों में रखा गया है, जिसके एजेण्ट के रूप में आसाम का राज्यपाल

ही इनका शासन किया करेगा। इनके शासन के लिये वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श का अनुसरण नहीं करेगा, अपितु अपने विवेक के द्वारा ही इनका शासन करेगा।

अनुसूचित जातियों (Scheduled Tribes) **के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्थाएं** भारत में जो अनेक पिछड़ी हुई कबायली जातियां निवास करती हैं और जिन्हें संविधान की पांचवीं अनुसूची में 'अनुसूचित जातियों' के नाम से कहा गया है, उनके हित व उन्नति के लिये संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं—

(१) संघ पार्लियामेण्ट और राज्यों की विधान सभाओं में उनके लिये कतिपय स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।

(२) राष्ट्रपति को अधिकार है, कि वह इन जातियों के हित व उन्नति के लिये विविध राज्यों की सरकारों को ऐसे आदेश दे सके, जिनमें इनकी उन्नति की योजना बनाई गई हो।

(३) इन जातियों के हित व उन्नति की योजनाओं को क्रिया में परिणत करने के लिये जिस खर्च की आवश्यकता हो, उसे राज्यों की सरकारों को आर्थिक सहायता के रूप में प्रदान करना केन्द्रीय संघ सरकार का कर्तव्य माना गया है।

(४) बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और मध्यभारत की मन्त्रिपरिषदों में एक ऐसा मन्त्री नियत किया जाना आवश्यक है, जिसका कार्य विशेष रूप से इन जातियों की उन्नति करना हो।

(५) सरकारी नौकरियों के लिये भी इन जातियों के व्यक्तियों की नियुक्ति का विशेष रूप से ध्यान रखने की व्यवस्था की गई है।

(६) यह भी व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति द्वारा एक कमीशन की नियुक्ति की जाए, जो इन जातियों के हित व इन द्वारा आबाद प्रदेशों के शासन के सम्बन्ध में रिपोर्ट देता रहे।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) भारतीय संघ के अन्तर्गत संघ-क्षेत्र (Union Territories) कौन से हैं? इनके शासन के लिये संविधान में क्या व्यवस्था की गई है?

(२) संघ क्षेत्रीय कौंसिलों के संगठन, विषय व अधिकारों पर प्रकाश डालिये।

(३) अनुसूचित क्षेत्रों का क्या अभिप्राय है? उनका शासन किस प्रकार होता है?

(४) भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों के विषय में कौन सी विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं?

तेरहवां अध्याय

भारतीय संघ और उसके अन्तर्गत राज्यों की न्यायव्यवस्था

सरकार के कार्यों को तीन विभागों में बांटा जाता है, कार्यकारिणी विभाग, व्यवस्थापन विभाग, और न्याय विभाग। लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये आवश्यक है कि राज्य का न्याय विभाग सुसंगठित, शक्तिशाली और स्वतन्त्र हो; कार्यकारिणी विभाग का उस पर अनुचित प्रभाव न हो। संविधान द्वारा नागरिकों को जो मूलभूत अधिकार दिये जाते हैं, व उनकी जिन स्वतन्त्रताओं की गारण्टी की जाती है, उनकी रक्षा स्वतन्त्र व शक्तिशाली न्यायविभाग या न्यायपालिका (Judiciary) द्वारा ही होती है। संघात्मक राज्यों के लिये तो न्याय विभाग का उपयोग और भी अधिक है, संविधान की रक्षा का कार्य ऐसे राज्यों में न्याय-विभाग द्वारा ही किया जाता है। संविधान द्वारा संघ सरकार और विविध राज्यों की सरकारों के जो अधिकार क्षेत्र नियत किये गए हैं, सरकारों के विविध अंगों को जो शक्तियां दी गई हैं, उनका उल्लंघन व अतिक्रमण न होने पाये, इस बात की व्यवस्था न्याय विभाग ही करता है।

भारत के उच्चतम न्यायालय को 'सर्वोच्च न्यायालय' कहते हैं। जब भारत अंग्रेजों की अधीनता में था, तो भारत के मुकदमों की अन्तिम अपील इंगलैण्ड की प्रिवी कौंसिल में की जा सकती थी। पर अब यहां के न्यायालयों द्वारा किये गये फैसलों के खिलाफ कोई अपील भारत से बाहर के किसी न्यायालय में नहीं की जा सकती। सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति ही भारत में सर्वोपरि है।

सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court)

सर्वोच्च न्यायालय का संगठन––संविधान के अनुसार सुप्रीम कोर्ट में एक मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) और अधिक से अधिक सात अन्य न्यायाधीश (Judges) होंगे। पर पार्लियामेण्ट को अधिकार है कि कानून द्वारा न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या को बढ़ा सके। १९५६ में कानून द्वारा पार्लियामेण्ट ने सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या ७ के स्थान पर १० नियत कर दी थी। सुप्रीमकोर्ट में कम-से-कम कितने न्यायाधीश रहें, यह संख्या संविधान में निर्दिष्ट नहीं है। पर संवैधानिक (Constitutional) मामलों के साथ संबंध रखने वाले मुकद्दमों की सुनवाई के लिये सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीशों का कोरम ५ रखा गया है, अतः यदि उनकी संख्या ५ से कम हो, तो काम चल ही नहीं सकता। अतः सुप्रीमकोर्ट में कम-से-कम ५ न्यायाधीशों का तो होना अनिवार्य ही है।

सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। सुप्रीमकोर्ट के किसी न्यायाधीश (चीफ जस्टिस व अन्य) की नियुक्ति करते हुए राष्ट्रपति सुप्रीमकोर्ट के अन्य न्यायाधीशों और विविध राज्यों के हाईकोर्टों के जिन न्यायाधीशों से चाहे, परामर्श ले सकता है। पर उसके लिये यह अनिवार्य है कि चीफ जस्टिस के अतिरिक्त सुप्रीम कोर्ट

के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हुए वह चीफ जस्टिस की सलाह अवश्य ले।

विशेष अवस्थाओं में आवश्यकता पड़ने पर सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति की अनुमति से कुछ समय के लिये तदर्थ (Ad Hoc) न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सके।

न्यायाधीशों की योग्यताएं--सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश पद पर केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त किया जा सकता है, जिनमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों--

(१) जो भारत के नागरिक हों।

(२) जो भारत के किसी एक या अधिक हाईकोर्टों में कम से कम ५ वर्ष तक लगातार न्यायाधीश के पद पर रह चुके हों, या जिन्होंने किसी हाईकोर्ट में कम से कम दस वर्ष तक लगातार एडवोकेट के रूप में वकालत की हो, या जो राष्ट्रपति की सम्मति में सुयोग्य व प्रसिद्ध विधान शास्त्री (Jurist) हों।

कार्यकाल--सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक अपने पद पर रह सकते हैं। इससे पूर्व वे अपने पद से त्यागपत्र भी दे सकते हैं। उन्हें अपने पद से पृथक् भी किया जा सकता है। पर यह तभी सम्भव है, जबकि पार्लियामेण्ट के दोनों सदन कुल सदस्यों की बहु-संख्या द्वारा और उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से इसके लिये राष्ट्रपति से प्रार्थना करें। पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों द्वारा इस ढंग से प्रार्थना करने पर राष्ट्रपति किसी न्याया-धीश को उसके पद से हटा सकता है।

वेतन--सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस का वेतन ५००० रु० मासिक और अन्य न्याया-धीशों का वेतन ४००० रु० मासिक नियत किया गया है। निवास के लिए उन्हें बिना किराए के बंगला भी दिया जाता है, और अन्य अनेक भत्ते भी। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों के लिए यह व्यवस्था की गई है कि वे रिटायर होने के बाद भारत के किसी न्यायालय में वकालत न कर सकें। यह व्यवस्था इसलिये आवश्यक समझी गई है कि जिससे न्यायालयों पर उनके व्यक्तित्व व भूतपूर्व पद का अनुचित प्रभाव न पड़े।

सुप्रीम कोर्ट का अधिकार क्षेत्र दो प्रकार का है।--(१) प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र (Original Jurisdiction) और अपील का अधिकार-क्षेत्र (Appellate Jurisdiction)।

प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र--निम्नलिखित विषय ऐसे हैं, जिनके साथ सम्बन्ध रखने वाले मुकदमे सीधे सुप्रीम कोर्ट के सम्मुख विचार व निर्णय के लिये पेश किये जाते हैं--

(१) जब कोई मुकदमा भारत की संघ सरकार और भारतीय संघ के अन्तर्गत किसी राज्य की सरकार के बीच में हो।

(२) जब किसी मुकदमे में एक पक्ष भारतीय संघ के अन्तर्गत किन्हीं दो राज्यों या दो से अधिक राज्यों के बीच में हो।

(३) जब किसी मुकदमे में एक पक्ष भारतीय संघ की सरकार का और किसी एक या अधिक राज्य की सरकारों का हो, और दूसरे पक्ष में एक या अधिक राज्यों की सरकारें हों।

ये तीनों प्रकार के मुकदमे इसलिये पैदा होते हैं, क्योंकि संविधान द्वारा शासन-सम्बन्धी

कुछ विषय संघ सूची में रखे गये हैं और कुछ राज्यसूची में। ये सूचियां संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) में दी गई हैं। इनका इस पुस्तक में पहले उल्लेख भी किया जा चुका है। इन सूचियों द्वारा संघ सरकार और विविध राज्यों की सरकारों के बीच में कार्यों व अधिकारों का विभाजन कर दिया गया है। यह स्वाभाविक है कि कभी इस सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हो जाय, कि कौन-सा विषय संघ-सरकार के अधिकार-क्षेत्र में है, और कौन-सा राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में। किसी राज्य की सरकार कोई कानून बनाती है, उसकी सम्मति में उस कानून को बनाने का उसे अधिकार है। पर संघ सरकार उसे अपने क्षेत्र का समझती है। ऐसी दशा में सुप्रीम कोर्ट ही इस बात का फैसला करेगा कि यह विषय किसके अधिकार-क्षेत्र में है।

(४) सुप्रीम कोर्ट का कर्तव्य है कि वह संविधान द्वारा प्रतिपादित नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की रक्षा करे। अतः प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह अपने इन अधिकारों की रक्षा के लिये सुप्रीम कोर्ट की शरण ले सके। संघ पार्लियामेण्ट व विविध राज्यों के व्यवस्थापन विभागों द्वारा बनाया गया कोई कानून व सरकार का कोई कार्य व आदेश नागरिकों के मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध है या नहीं, इसका निर्णय सुप्रीम कोर्ट द्वारा ही किया जाता है।

अपील सम्बन्धी अधिकार-क्षेत्र—सुप्रीम कोर्ट में तीन प्रकार की अपीलें दायर की जा सकती हैं—

(१) संवैधानिक (Constitutional)—जब कोई हाईकोर्ट यह प्रमाणित कर दे कि मुकदमे में संविधान की किसी धारा के सही अभिप्राय के सम्बन्ध में कोई विवाद है, तो उसकी अपील सुप्रीम कोर्ट में की जा सकती है। यदि हाईकोर्ट ने इस बात का प्रमाण पत्र न दिया हो, और सुप्रीम कोर्ट का समाधान हो जाए कि मुकदमे में संविधान-सम्बन्धी प्रश्न उत्पन्न होता है, तो भी वह उसकी अपील को सुन सकता है। संविधान के अभिप्राय को स्पष्ट करना सुप्रीम कोर्ट का ही कार्य है, अतः उन मुकदमों की अपीलों की वह सुनवाई करता है जिसमें कोई संवैधानिक विवाद उत्पन्न हुआ हो।

(२) दीवानी (Civil)—दीवानी मुकदमों के बारे में हाईकोर्ट द्वारा किये गए फैसलों के खिलाफ सुप्रीमकोर्ट में तभी अपील की जा सकती है, जबकि हाई कोर्ट यह प्रमाणित करदे कि मुकदमे की रकम २०,००० रुपये से कम नहीं है।

(३) फौजदारी (Criminal)—फौजदारी मुकदमों में हाईकोर्ट द्वारा किये गए फैसले के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में तभी अपील की जा सकती है, जब किसी हाईकोर्ट ने किसी ऐसे अभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया हो, जिसे निचले कोर्ट ने रिहा कर दिया था, या (२) जब हाईकोर्ट ने किसी ऐसे अभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया हो, जिसके मुकदमे को हाई-कोर्ट ने निचले न्यायालय से स्वयं फैसला करने के लिये मंगा लिया हो, या (३) हाईकोर्ट जिस मुकदमे के विषय में यह प्रमाणित कर दे कि वह सुप्रीम कोर्ट में अपील किये जाने के लिये उपयुक्त है।

संविधान द्वारा पार्लियामेण्ट को अधिकार दिया गया है कि वह कानून पास करके मुकदमों की अपील के सम्बन्ध में सुप्रीम कोर्ट के अधिकार को बढ़ा सकती है।

भारत के अन्य सब न्यायालय सुप्रीम कोर्ट के अधीन हैं। अतः विशेष दशा में वह किसी भी मुकदमे की अपील की सुनवाई की अनुमति दे सकता है। इस प्रकार की अनुमति को विशेष अनुमति (Special Leave) कहते हैं। यह बात पूर्णतया सुप्रीम कोर्ट के विवेक के अधीन है, कि वह अपने अधीनस्थ किसी भी कोर्ट द्वारा किये गए किसी भी निर्णय के बारे में अपने समक्ष अपील करने की विशेष अनुमति प्रदान कर सके।

राष्ट्रपति को परामर्श देना—सुप्रीम कोर्ट का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह कानून के विषय में राष्ट्रपति को परामर्श दे। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह किसी कानून सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सुप्रीम कोर्ट की सम्मति प्राप्त कर सके। इस दशा में सुप्रीमकोर्ट का कर्त्तव्य होगा कि वह राष्ट्रपति को अपनी सम्मति दे। यह सम्मति गुप्त रूप से न दी जाकर खुले तौर पर दी जायगी।

न्यायालयों की स्वतन्त्रता—न्यायालय अपना कार्य निष्पक्ष रूप से कर सकें, इसके लिये यह आवश्यक है कि वे स्वतन्त्र हों। इसी उद्देश्य से संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गई हैं—

(१) सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि भारत के संचितफण्ड (Consolidated Fund) में से दिये जायेंगे। पार्लियामेण्ट में न उन पर विवाद हो सकेगा और न उन पर वहां वोट ही लिया जायगा। जिस न्यायाधीश को जिस वेतन, भत्ते आदि पर नियत किया जायगा, उसमें उसके कार्यकाल में कोई कमी नहीं की जा सकेगी। इस व्यवस्थाके कारण सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीश पार्लियामेण्ट व मन्त्रिमण्डल के कोप व प्रसाद की परवाह किये बिना अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं।

(२) सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को केवल उस दशा में अपने पद से हटाया जा सकता है, जब कि पार्लियामेण्ट के दोनों सदन अपने सदस्यों की बहुसंख्या और उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति से यह प्रार्थना करें कि न्यायाधीश अयोग्यता (Incapacity)या कदाचार (Misbehaviour) के कारण अपने पद के योग्य नहीं रहा है, अतः उसे न्यायाधीश पद से हटा दिया जाना चाहिये। जब तक कि कोई न्यायाधीश सचमुच ही अयोग्य या कदाचारी न हो, यह सुगमता के साथ सम्भव नहीं है कि पार्लियामेण्ट के दोनों सदन कुल सदस्यों की बहुसंख्या और उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से इस प्रकार का प्रस्ताव स्वीकृत कर सकें।

यदि पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों में किसी एक राजनीतिक दल का बहुमत बहुत अधिक हो, उसके सदस्य ६६ प्रतिशत से भी अधिक हों, तभी राजनीतिक कारणों से भी किसी न्यायाधीश के विषय में इस प्रकार के प्रस्ताव के स्वीकृत होने की सम्भावना हो सकती है, अन्यथा नहीं।

(३) पार्लियामेण्ट या राज्यों की विधान सभाओं (व विधान परिषदों) में सुप्रीम कोर्ट व हाईकोर्ट के किसी न्यायाधीश के ऐसे कार्य के सम्बन्ध में विचार या विवाद नहीं किया जा सकता, जिसे उसने अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए किया हो।

(४) अपने कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा कार्यविधि के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार सुप्रीम कोर्ट के अपने हाथों में है। कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि के

सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार भी सुप्रीम कोर्ट को दिया गया है, यद्यपि इनके लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है ।

संकटकाल की दशा में राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि में कमी कर सके । कुछ विचारकों की दृष्टि में राष्ट्रपति का यह अधिकार न्यायालयों की स्वतन्त्रता में बाधा डाल सकता है । संकटकाल के नाम पर राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन आदि में इतनी कमी कर सकता है कि वे अपने पद से पृथक् हो जाने को विवश हो जायें, और नये न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति नियत हों जो सरकार की इच्छा के अनुसार कार्य करें । एक अन्य बात ऐसी है, जिसे सुप्रीम कोर्ट की स्वतन्त्रता के लिये हानिकारक कहा जाता है । पार्लियामेण्ट को अधिकार है कि वह कानून बना कर सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि कर सके । यदि कभी सुप्रीमकोर्ट सरकार के विरुद्ध निर्णय देने लगे, उस द्वारा बनाये गये कानूनों को संविधान के विरुद्ध घोषित करने लगे, तो पार्लियामेण्ट न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाकर ऐसे व्यक्तियों को न्यायाधीश के पद पर नियत करने का अवसर दे सकती है, जो सरकार के अनुकूल सम्मति रखते हों ।

सुप्रीम कोर्ट की कार्यविधि—भारत का सुप्रीम कोर्ट दिल्ली में स्थित है । उसे यह अधिकार है, कि अपनी कार्यविधि को स्वयं निर्धारित करे । संवैधानिक मुकदमों व अन्य महत्त्वपूर्ण मुगदमों की सुनवाई पांच न्यायाधीशों की बेंच द्वारा की जाती है । बहुसंख्यक न्यायाधीशों का जो निर्णय हो, उसे ही सुप्रीम कोर्ट का निर्णय माना जाता है ।

राज्यों के हाईकोर्ट

संविधान के अनुसार भारतीय संघ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में एक-एक हाईकोर्ट होगा । संघ-क्षेत्रों (Union Territories) में पृथक् हाईकोर्ट स्थापित करने की व्यवस्था संविधान में नहीं की गई है । पर पार्लियामेण्ट को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी हाईकोर्ट के अधिकार-क्षेत्र में किसी संघ-क्षेत्र को भी सम्मिलित कर सके, या किसी संघ-क्षेत्र को हाईकोर्ट के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रख सके । राज्यों के व्यवस्थापन विभाग को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने हाईकोर्ट के संघ-क्षेत्र विषयक अधिकारों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सके । राज्यों के पुनःसंगठन के कारण पुराने हाईकोर्टों के अधिकार-क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गए हैं । पेप्सू के हाईकोर्ट को पंजाब के हाईकोर्ट म सम्मिलित कर दिया गया है, और मध्यभारत के हाईकोर्ट को मध्यप्रदेश के हाईकोर्ट में । यह सिद्धान्त रखा गया है कि प्रत्येक राज्य में एक-एक हाईकोर्ट रहे ।

हाईकोर्ट का संगठन—प्रत्येक हाईकोर्ट में एक मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) होता है, और अनेक न्यायाधीश (Judge) । किसी हाईकोर्ट में न्यायाधीशों की संख्या कितनी हो, इसका निश्चय राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर जारी किये जाने वाले आदेशों द्वारा होता है । इनकी संख्या राज्य के क्षेत्रफल, जनसंख्या व कार्य की मात्रा को दृष्टि में रखकर की जाती है ।

हाईकोर्ट के न्यायाधीश के पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता है, जिसमें

निम्नलिखित योग्यताएँ हों--

(१) उसे भारत का नागरिक होना चाहिये।

(२) भारत के राज्यक्षेत्र में कम-से-कम १९ वर्ष तक किसी न्याय-सम्बन्धी पद (Judicial office) पर रह चुका हो, या किसी हाईकोर्ट में कम-से-कम १० वर्ष तक एडवोकेट के रूप में वकालत कर चुका हो।

हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करते हुए राष्ट्रपति सुप्रीमकोर्ट के प्रधान न्यायाधीश और राज्य के राज्यपाल से (जिसके हाईकोर्ट में नियुक्ति करनी हो), परामर्श लेता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करते हुए सुप्रीम कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश और राज्यपाल के अतिरिक्त हाईकोर्ट के प्रधान न्यायाधीश से भी परामर्श कर लिया जाता है।

हाईकोर्ट का प्रत्येक न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक अपने पद पर रह सकता है। इससे पूर्व वह निम्नलिखित दशाओं में अपने पद से पृथक् हो सकता है--(१) त्यागपत्र देकर। (२) यदि उसकी नियुक्ति सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश पद पर हो जाए, या उसे किसी अन्य हाईकोर्ट का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर दिया जाए। (३) यदि संघ पार्लियामेण्ट के दोनों सदन कुल सदस्यों की बहुसंख्या से और उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से यह प्रार्थना करें कि किसी न्यायाधीश को अयोग्यता व कदाचार के कारण अपने पद से हटा दिया जाए, तो राष्ट्रपति इस प्रार्थना को स्वीकार कर उसे उसके पद से हटा सकता है।

राज्यों में हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश को ४००० रु० मासिक और न्यायाधीश को ३५०० रु० मासिक वेतन दिया जाता है। वेतन के अतिरिक्त उन्हें भत्ते, निवासस्थान आदि भी दिये जाते हैं।

हाईकोर्टों का अधिकार क्षेत्र--हाईकोर्ट के अधिकार प्रायः उसी ढंग के हैं जैसे कि सुप्रीमकोर्ट के हैं। इन अधिकारों को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है--

(१) निचले न्यायालयों के निर्णय के खिलाफ हाईकोर्ट में अपील की जाती है। दीवानी (Civil), फौजदारी (Criminal) और माल (Revenue)--तीनों प्रकार के न्यायालयों के फैसलों के खिलाफ हाईकोर्ट में अपील की जा सकती है, और वहां उसकी सुनवाई होती है। अंग्रेजी शासन के समय में माल सम्बन्धी मुकदमों की अपील हाईकोर्ट में नहीं होती थी, पर स्वतन्त्र भारत के संविधान द्वारा उन्हें इन मुकदमों की अपीलें सुनने का भी अधिकार दे दिया गया है। इन्कम टैक्स, सेल टैक्स व अन्य राजकीय टैक्सों के मुकदमों की अपीलें भी वहां पेश होती हैं।

(२) बंगाल, बम्बई और मद्रास के हाईकोर्टों के सम्मुख बड़े दीवानी मुकदमे सीधे भी पेश किये जा सकते ह। इस प्रकार के अधिकार-क्षेत्र को प्रारम्भिक व मौलिक अधिकार-क्षेत्र (Original jurisdiction) कहा जाता है। अंग्रेजी शासन के समय में जिन दीवानी मुकदमों का सम्बन्ध बीस हजार रुपया या अधिक राशि से हो, उन्हें कलकत्ता (बंगाल), बम्बई और मद्रास के हाईकोर्टों में सीधा भी पेश किया जा सकता था। यह

आवश्यक नहीं था, कि उन्हें पहले मुन्सिफ व सिविल जजों की अदालत में पेश किया जाए, और बाद में अपील के तौर पर वे हाईकोर्ट के समक्ष जाएँ। इसी प्रकार इन हाईकोर्टों के समक्ष कतिपय फौजदारी मुकदमे भी सीधे पेश किये जा सकते थे। अब भी इन हाईकोर्टों में यह व्यवस्था जारी है। पर अन्य हाईकोर्टों में इस ढंग से दीवानी व फौजदारी मुकदमे सीधे पेश नहीं किये जाते।

(३) प्रत्येक हाईकोर्ट का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार यह है कि वह अपने क्षेत्र के अन्य सब न्यायालयों पर अपना निरीक्षण रखे। इस अधिकार का प्रयोग हाईकोर्ट निम्नलिखित प्रकार से करते हैं--

(क) अपने क्षेत्र के किसी भी अधीनस्थ (Subordinate) न्यायालय से कागजात मँगाकर वह उनकी जांच-पड़ताल कर सकता है।

(ख) अधीनस्थ न्यायाल्य किस ढंग से अपने कार्य करें, इस सम्बन्ध में वह नियम बना सकता है। पहले बने हुए नियमों में परिवर्तन कर सकता है, और कार्यविधि के विषय में अधीनस्थ न्यायालयों को समुचित आदेश दे सकता है।

(ग) अधीनस्थ न्यायालय अपने रिकार्ड किस ढंग से रखें, इसकी व्यवस्था हाईकोर्ट कर सकता है।

(घ) अधीनस्थ न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति, तरक्की, छुट्टी आदि के संबंध में नियमों का निर्माण हाईकोर्ट के ही हाथों में है।

(स) हाईकोर्ट को अधिकार है कि वह किसी मुकदमे को एक न्यायालय से हटा कर किसी अन्य न्यायालय (अपने अधिकार-क्षेत्र में ही) में विचार व निर्णय के लिये भेज सके।

(४) संविधान में नागरिकों के जिन मूलभूत अधिकारों का प्रतिपादन किया गया है उनकी रक्षा करना भी हाईकोर्टों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य सुप्रीम कोर्ट का भी है। पर सुप्रीम कोर्ट के हाथों में इस कार्य के रहने का यह अभिप्राय नहीं कि हाईकोर्ट का इस विषय में कोई उत्तरदायित्व नहीं है। वस्तुतः नागरिकों के मूल-भूत अधिकारों की रक्षा करना सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों का समान रूप से कार्य है। इसीलिये यदि किसी व्यक्ति को कानून के विरुद्ध गिरफ्तार कर लिया गया हो, या गिरफ्तार करने के बाद अदालत की अनुमति के बिना ही उसे हिरासत या कैद में रखा हुआ हो, तो बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) का आवेदन पत्र हाईकोर्ट के सम्मुख पेश किया जा सकता है। यदि राज्य का व्यवस्थापन विभाग कोई ऐसा कानून बनाए, जिसे कोई व्यक्ति संविधान द्वारा स्वीकृत मूलभूत अधिकारों के विरुद्ध समझे, तो वह उसके खिलाफ हाईकोर्ट में अपील कर सकता है।

नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का प्रतिपादन करते हुए हमने उन व्यवस्थाओं का भी उल्लेख किया था (चौथे अध्याय में), जिनके द्वारा भारत के नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। ये संवैधानिक उपचार (Constitutional Remedies) नागरिक लोग हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट द्वारा ही प्रयुक्त करते हैं।

यदि हाईकोर्ट की सम्मति में उसके अधीनस्थ किसी न्यायालय में कोई ऐसा मामला

पेश है, जिसके निर्णय के लिये संविधान के अभिप्राय के सम्बन्ध में प्रश्न पैदा हो सकता है, तो वह उस मामले को विचारार्थ अपने समक्ष मँगा सकता है ।

अपील सम्बन्धी कतिपय ज्ञातव्य बातें—दीवानी व फौजदारी मुकदमों की अपीलों का निर्णय हाईकोर्ट द्वारा किया जाता है । इस सम्बन्ध में कतिपय बातें जानने योग्य हैं—

(१) जिन मुकदमों का निर्णय अदालत खफीफा (Smll Causes Courts) द्वारा किया जाता है, उनके विषय में हाईकोर्ट में अपील नहीं की जा सकती । ये मुकदमे छोटी-छोटी रकमों के बारे में होते हैं, अतः इनकी अपील हाईकोर्ट में नहीं की जा सकती ।

(२) सेशन्स कोर्ट द्वारा यदि किसी व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड दिया जाय, तो हाईकोर्ट में उसका पेश होना अनिवार्य है । हाईकोर्ट की स्वीकृति के बिना किसी को मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता ।

अधीनस्थ न्यायालय (Subordinate Courts)

प्रत्येक राज्य में हाईकोर्ट के अधीन अनेक अधीनस्थ न्यायालय होते हैं । ये न्यायालय सब राज्यों में एक सदृश नहीं हैं । अतः हम उत्तरप्रदेश के अधीनस्थ न्यायालयों को दृष्टि में रख कर ही यहां इनका उल्लेख करेंगे । इन न्यायालयों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :—

फौजदारी न्यायालय	दीवानी न्यायालय	माल सम्बन्धी न्यायालय
हाईकोर्ट	हाईकोर्ट	हाईकोर्ट
सेशन्स कोर्ट	डिस्ट्रिक्ट जज का कोर्ट	बोर्ड आफ रेवेन्यू
मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी	सिविल जज का कोर्ट	कमिश्नर का कोर्ट
मजिस्ट्रेट द्वितीय व तृतीय श्रेणी	मुन्सिफ का कोर्ट	कलेक्टर का कोर्ट
	अदालत खफीफा	तहसीलदार का कोर्ट
		नायब तहसीलदार का कोर्ट

इस तालिका द्वारा स्पष्ट है कि उत्तरप्रदेश में हाईकोर्ट के अधीनस्थ न्यायालय तीन प्रकार के हैं—(१) फौजदारी न्यायालय, (२) दीवानी न्यायालय, और (३) माल सम्बन्धी न्यायालय । हम इन तीनों प्रकार के न्यायालयों पर क्रमशः विचार करेंगे ।

फौजदारी न्यायालय—फौजदारी क्षेत्र में हाईकोर्ट के अधीन सबसे बड़ा न्यायालय 'सेशन्स कोर्ट' (Sessions Court) होता है । इसके न्यायाधीश को सेशन्स जज कहते हैं । उसकी सहायता के लिये अतिरिक्त (Additional) सेशन्स जज भी होते हैं । इन सेशन्स जजों की नियुक्ति हाईकोर्ट की सम्मति से राज्यपाल द्वारा की जाती है । इस पद पर दो प्रकार के व्यक्ति नियत किये जाते हैं, जो पहले से सरकारी नौकरी में न हों और जो सरकारी नौकरी में हों । सरकारी सर्विस से बाहर के वे ही व्यक्ति सेशन्स जज व अतिरिक्त सेशन्स जज के पद पर नियुक्त किये जा सकते हैं, जो कम-से-कम सात वर्ष

तक एडवोकेट व वकील के रूप में कार्य कर चुके हों। जिस प्रकार सरकारी नौकरी के अन्य अनेक वर्ग हैं, वैसे ही न्याय-सम्बन्धी नौकरी (Judicial service) का भी एक पृथक् वर्ग है। इस वर्ग के राज-कर्मचारी पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, और शुरू में उनकी नियुक्ति मुंसिफ के रूप म होती है। फिर अपनी योग्यता, अनुभव व कार्य क्षमता के आधार पर उन्नति करते हुए वे सेशन्स जज के पद पर पहुँच जाते हैं। पर इस पद पर वे हाईकोर्ट की सम्मति से राज्यपाल द्वारा ही नियुक्त किये जाते हैं।

सेशन्स कोर्ट के अधीन तीन श्रणियों के मजिस्ट्रट होते हैं, प्रथम श्रणी के, द्वितीय श्रणी के और तृतीय श्रणी के। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को २ साल की कैद और १००० रु० तक जुरमाना करने का अधिकार होता है। द्वितीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट ६ मास की कैद और ३०० रु० तक जुरमाने की सजा दे सकता है। तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट को केवल १ मास की कैद और ५० रु० तक जुरमाना करने का अधिकार होता है।

ये मजिस्ट्रेट अवैतनिक (Honorary) भी होते हैं, और वैतनिक भी। जिले का कलैक्टर प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है। इसीलिये उसे जिला मजिस्ट्रेट (District Magistrate) भी कहते हैं। जिले के बड़े नगरों में सिटी मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति की जाती है, जिन्हें प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के अधिकार प्राप्त होते हैं। आनरेरी मजिस्ट्रेट प्रथम, द्वितीय व तृतीय तीनों श्रेणियों के हो सकते हैं। जिला मजिस्ट्रेट की अदालत में अधीनस्थ अदालतों के निर्णय के खिलाफ अपील की जा सकती है। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के निर्णय के खिलाफ सेशन्स कोर्ट में और उसके निर्णय के खिलाफ हाईकोर्ट में अपील की जा सकती है।

फौजदारी न्यायालयों में फौजदारी मुकदमे पेश होते हैं। कतल व अन्य अधिक गम्भीर मामलों को पहले प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत में पेश किया जाता है। वहां मुकदमा चलता है, गवाहियां ली जाती हैं और बहस होती है। पर क्योंकि किसी मजिस्ट्रेट को दो साल से अधिक कैद की सजा देने का अधिकार नहीं होता, अतः इन गम्भीर फौजदारी मामलों को सेशन्स कोर्ट के समक्ष फैसले के लिये भेज दिया जाता है, और वहीं उनका निर्णय होता है।

जिला मजिस्ट्रेट, सिटी मजिस्ट्रेट आदि राज्यपदाधिकारियों को जहां फौजदारी मामलों में न्याय-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं, वहां साथ ही शासन-कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द रहता है। जिला मजिस्ट्रेट जहां अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये जिम्मेवार है, वहां फौजदारी मुकदमे भी उसी की अदालत में पेश होते हैं। इस प्रकार वह शासक और न्यायकर्त्ता दोनों हो जाता है। यह बात राजशक्ति के पृथक्करण (Seporation of Power) के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसीलिये अनेक विचारकों का कथन है कि जिला मजिस्ट्रेटों व उसके अधीनस्थ अन्य आफिसरों के हाथ में न्याय का कार्य नहीं दिया जाना चाहिये।

दीवानी न्यायालय—दीवानी क्षेत्र में हाईकोर्ट के अधीन सबसे बड़ा न्यायालय डिस्ट्रिक्ट कोर्ट होता है। इसके न्यायाधीशों को 'डिस्ट्रिक्ट जज' कहते हैं। जो व्यक्ति सेशन्स जज होता है, वही डिस्ट्रिक्ट जज भी होता है। इसीलिये उसे 'डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन्स जज'

कहते हैं। उसके अधीन दीवानी क्षेत्र में अन्य अनेक न्यायाधीश होते हैं, जिन्हें 'सिविल जज' कहा जाता है। बहुधा एक ही व्यक्ति को अतिरिक्त सेशन्स जज और सिविल जज के पद दे दिये जाते हैं।

दीवानी क्षेत्र में सबसे निचली अदालत मुंसिफ की होती है। मुंसिफ को केवल उन्हीं मुकदमों का फैसला करने का अधिकार होता है, जिनकी राशि २००० रु० या उनसे कम हो। अनेक बार कतिपय मुंसिफों को विशेष अधिकार भी दे दिये जाते हैं और वे ५००० रु० तक की राशि तक के मुकदमे कर सकते हैं। सिविल जजों को कितनी भी बड़ी रकम के मुकदमों का फैसला करने का अधिकार होता है। दीवानी मुकदमों के बारे में सिविल जज के प्रायः वे ही अधिकार हैं, जो डिस्ट्रिक्ट जज के हैं। अकेला डिस्ट्रिक्ट जज सब दीवानी मुकदमों को नहीं निपटा सकता, अतः उसकी सहायता के लिये ही सिविल जजों की नियुक्ति की जाती है।

मुंसिफ के कोर्ट के अतिरिक्त दीवानी क्षेत्र के लिये एक अन्य अदालत भी होती है, जिसे 'अदालत खफीफा' (Small Causes Court) कहते हैं। साधारणतया इसमें वे मुकदमे पेश होते हैं, जिनकी राशि ५०० रु० तक की हो। खफीफा जज के निर्णय के विरुद्ध किसी कोर्ट में अपील नहीं की जा सकती। इसीलिये इस पद पर ऐसे व्यक्तियों को नियत किया जाता है, जो न्याय-कार्य में अच्छा अनुभव रखते हों।

मुंसिफ और सिविल जजों द्वारा किये गए उन मुकदमों के फैसले की, जिनकी राशि ५००० रु० तक की हो, अपील डिस्ट्रिक्ट जज के सम्मुख की जाती है। ५००० रु० से अधिक राशि के मुकदमों की अपील सीधे हाईकोर्ट में होती है, डिस्ट्रिक्ट जज के कोर्ट में नहीं।

दीवानी कोर्टों के विविध न्यायाधीशों (मुंसिफ, खफीफा जज और सिविल जज) की नियुक्ति न्याय-सम्बन्धी सर्विस (Judicial service) से की जाती है। इस सर्विस के लिये पब्लिक सर्विस कमीशन की ओर से परीक्षा की व्यवस्था की जाती है। जो व्यक्ति इस परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण हों, उन्हीं को जुडीशियल सर्विस में लिया जाता है। यह सर्विस हाईकोर्ट के नियन्त्रण में रहती है, और उसी के द्वारा इस सर्विस के व्यक्तियों की नियुक्ति, तरक्की आदि की जाती है।

माल सम्बन्धी न्यायालय—सरकारी मालगुजारी राज्यों की आमदनी का बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। हाईकोर्ट के अधीन इस क्षेत्र की सबसे बड़ी अदालत 'बोर्ड आफ रेवेन्यू, है। उसके अधीन कमिश्नर, कलेक्टर, तहसीलदार और नायब तहसीलदार की अदालतें हैं। जिले के कलेक्टर (जिसे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट भी कहते हैं) की माल सम्बन्धी अदालत जिले में सबसे बड़ी होती है। मालगुजारी, आबपाशी, के टैक्स आदि के मुकदमे पहले नायब तहसीलदार और तहसीलदार की आदालत में पेश होते हैं। उनके फैसले के विरुद्ध कलेक्टर, कमिश्नर, और बोर्ड आफ रेवेन्यू के सम्मुख अपील की जाती है। इस क्षेत्र में अन्तिम अपील हाईकोर्ट के सम्मुख पेश होती है।

अन्य न्यायालय—इस समय भारत में अन्य अनेक प्रकार के भी न्यायालय हैं, जिन्हें विशेष प्रकार के मुकदमों के फैसले का अधिकार दिया गया है। इन्कम टैक्स का आफिसर किसी व्यक्ति, फर्म या कम्पनी पर जो टैक्स लगाये, उसके विषय में पहले असिस्टेंट इन्कम

टैक्स कमिश्नर (ज्युडीशियल) की अदालत में अपील होती है, और उसके फैसले के विरुद्ध इन्कम टैक्स ट्रिब्यूनल के समक्ष। उसके निर्णय के विरुद्ध कतिपय विशेष दशाओं में हाईकोर्ट में अपील की जा सकती है। इसी प्रकार की व्यवस्था टैक्स के बारे में भी की गई है। श्रमिक वर्ग और उनके मालिकों के बीच श्रम सम्बन्धी कानूनों के प्रयोग के बारे में जो विवाद हों, उनका निर्णय लेबर ट्रिब्यूनलों द्वारा किया जाता है, और कतिपय विशेष दशाओं में उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील हाईकोर्ट के समक्ष की जा सकती है।

पंचायती न्यायालय——भारत के अनेक राज्यों में ग्राम पंचायतों का संगठन किया गया है, जिन्हें अनेक न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी दिये गये हैं। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का वर्णन करते हुए पंचायतों के इन अधिकारों पर प्रकाश डाला जायगा।

भारत के न्याय-विभाग पर एक दृष्टि——यद्यपि भारत का न्याय विभाग बहुत सुसंगठित, शक्तिशाली और स्वतन्त्र है, पर अभी उसमें कतिपय ऐसे दोष हैं, जिनका उल्लेख करना उपयोगी है। देश की सरकार व पार्लियामेण्ट का भी उनकी तरफ ध्यान है। ये दोष निम्नलिखित हैं——

(१) अभी भारत में न्याय विभाग शासन विभाग से पूर्णतया पृथक् नहीं हुआ है, फौजदारी व माल सम्बन्धी मामलों में शासक वर्ग के हाथों में ही न्याय सम्बन्धी अधिकार भी हैं।

(२) भारत में अभी न्याय को सुलभ व सस्ता नहीं माना जा सकता। कोर्ट फीस, वकीलों की फीस आदि में बहुत खर्च करना पड़ता है, और उसकी प्रक्रिया इस ढंग की है, जिसमें बहुत समय लग जाता है। साधारण जनता न्याय को बहुत मंहगा समझती है, और न्यायालयों से पूरा लाभ नहीं उठा सकती।

(३) वर्तमान समय में भारत में न्याय विभाग के संगठन का जो रूप है, वह ब्रिटिश शासकों की देन है। इसमें भारत की परम्पराओं और जनता की आवश्यकताओं को दृष्टि में नहीं रखा गया। न्याय तभी भली भांति हो सकता है, जब कि न्यायाधीशों का जनता के साथ सम्पर्क रहे। अनेक देशों में न्यायाधीश भी जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। केवल चीन जैसे कम्युनिस्ट राज्यों में ही नहीं, अपितु अमेरिका और स्विटजरलैण्ड के कतिपय प्रदेशों में भी न्यायाधीश जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। भारत के न्यायाधीश प्रायः स्थायी सरकारी सर्विस में होते हैं, और जनता के विचारों व भावनाओं से उनका विशेष सम्पर्क नहीं होता। न्यायाधीशों को जनता द्वारा चुने जाने की पद्धति को चाहे स्वीकार न किया जाए, पर कोई ऐसी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए, जिससे न्याय करने वाले व्यक्ति जनता के निकट संपर्क में आ सकें।

(४) भारत के कानून प्रायः अंग्रेजी भाषा में हैं, और उनको ऐसे जटिल रूप में बनाया गया है कि सर्व साधारण जनता उनको समझ ही नहीं सकती। इस कारण भी न्याय में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

स्वतन्त्र भारत में इन दोषों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाता है, और इन्हें दूर करने के प्रयत्न जारी हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) सुप्रीम कोर्ट के कार्यों और शक्तियों का वर्णन कीजिये। भारतीय संविधान में इसका क्या विशेष महत्त्व है? (यू० पी० १९५३)

(२) सुप्रीम कोर्ट के निर्माण का उल्लेख कर यह बताइये कि उसका अधिकार क्षेत्र (प्रारम्भिक व अपील सम्बन्धी) क्या है? (राजपूताना १९५४)

(३) राष्ट्र के जीवन में न्याय-विभाग का क्या महत्त्व है? भारत के किसी एक राज्य के न्याय विभाग का वर्णन कीजिये। (मध्यभारत, १९५३)

(४) भारत के न्यायालय क्या शासन-विभाग के प्रभाव व हस्तक्षेप से स्वतन्त्र हैं? सुप्रीम कोर्ट की स्वतन्त्रता के लिये संविधान में जो व्यवस्थाएँ की गई हैं, उनका उल्लेख कीजिये।

(५) राज्यों के हाईकोर्टों के संगठन, कार्य व अधिकारों का वर्णन कीजिये।

चौदहवां अध्याय

राज्य के उपभाग और उनका शासन प्रबन्ध

भारतीय संघ और उसके अन्तर्गत विविध राज्यों की शासन पद्धति पर प्रकाश डालने के बाद यह उपयोगी होगा कि राज्यों के शासन सम्बन्धी ढांचे पर भी प्रकाश डाला जाय।

भारत बहुत बड़ा देश है। एक केन्द्रीय सरकार द्वारा उसका शासन भली-भाँति नहीं किया जा सकता। इसीलिए उसे अनेक राज्यों में विभक्त किया गया है, जिन सबकी अपनी पृथक् सरकारें हैं। पर ये राज्य भी आकार व जनसंख्या की दृष्टि से अच्छे बड़े हैं। क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से ये यूरोप के फ्रांस, ब्रिटेन, आदि देशों के समकक्ष हैं। उत्तर-प्रदेश को ही लीजिये। इसका क्षेत्रफल १,१२,५२३ वर्गमील है, और इसकी जनसंख्या ६,३२,००,००० के लगभग है। राजस्थान, बिहार, बम्बई आदि अन्य राज्य भी अच्छे बड़े हैं। यदि सारे राज्य का शासन एक ही स्थान से होता हो, उसे अनेक उपभागों में विभक्त न किया गया हो, तो शासन-कार्य सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकता। इस कारण शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक राज्य को कुछ कमिश्नरियों में, फिर कमिश्नरी को अनेक जिलों में और जिलों को अनेक तहसीलों में विभक्त किया जाता है। सब कमिश्नरियां व जिले क्षेत्रफल व जनसंख्या की दृष्टि से एक बराबर नहीं होते। उनका निर्माण शासन की सुविधा की दृष्टि से ही किया गया है।

यह सम्भव नहीं है कि सब राज्यों के उपभागों और उनके शासन प्रबन्ध का उल्लेख किया जा सके। विविध राज्यों में कमिश्नरियों व जिलों के शासन का जो ढांचा है, उसे स्थूल रूप से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

कमिश्नरी—कमिश्नरियों के प्रधान अधिकारी को कमिश्नर कहते हैं। ब्रिटिश शासन के समय में प्रत्येक कमिश्नरी का पृथक् पृथक् कमिश्नर हुआ करता था। स्वराज्य के बाद कमिश्नरों की संख्या कम कर दी गई है, और एक कमिश्नर को एक से अधिक कमिश्नरियां सुपुर्द कर दी गई हैं। इसका कारण यह है, कि कमिश्नर के पास कार्य की कमी रहती थी, और साथ ही अंग्रेज अफसरों के चले जाने के बाद भारत में योग्य व अनुभवी अफसरों की कमी भी हो गई थी।

कमिश्नर का मुख्य कार्य जिलों के शासन का निरीक्षण करना है। वह अपनी कमिश्नरी के अन्तर्गत जिलों के शासन की देखभाल करता है। वह इस बात पर निगाह रखता है कि जिलों के अधिकारी राज्य-सरकार के आदेशों के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। अंग्रेजी शासन के युग में जिले और राज्य सरकार के बीच में सम्पर्क स्थापित करने का कार्य कमिश्नर द्वारा ही होता था। राज्य सरकार जो आदेश व आज्ञाएँ जारी करती थी, वे कमिश्नर द्वारा ही जिले के अफसरों के पास पहुँचायी जाती थीं। यदि जिले के अफसरों को कोई पत्र व सूचना आदि राज्य सरकार के पास भेजनी हो, तो वह भी कमिश्नर द्वारा ही भेजी जाती थी।

अंग्रेजी शासन के काल में यही व्यवस्था थी। तब कमिश्नर का पद बहुत महत्त्वपूर्ण था। पर स्वराज्य के बाद यह अनुभव किया गया कि यह व्यवस्था उपयोगी नहीं है। इससे शासन कार्य में निरर्थक विलम्ब होता है। इस कारण अब उत्तर प्रदेश की सरकार ने कमिश्नर के अधिकारों व कार्यों बें बहुत कमी कर दी है। अब जिले के कलेक्टर और राज्य सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। अब राज्य सरकार अपने आदेश सीधे कलेक्टर के पास भेजती है, और वह भी राज्य-सरकार से सीधा पत्र-व्यवहार करता है।

इस समय कमिश्नर के प्रधान कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) कमिश्नर का प्रधान कार्य मालगुजारी के सम्बन्ध में है। उसकी वसूली की देखभाल कमिश्नर द्वारा ही की जाती है ; माल के मुकदमे उसकी अदालत में होते हैं, और माल के मुकदमों का जो फैसला जिले के कलेक्टर द्वारा किया गया हो, उसके खिलाफ कमिश्नर की अदालत में अपील की जा सकती है।

(२) कमिश्नर को यह भी अधिकार है कि वह मालगुजारी में छूट दे सके, या उसकी वसूली को स्थगित कर सके। बाढ़, दुर्भिक्ष आदि के विशेष अवसरों पर वह अपने इस अधिकार का प्रयोग करता है।

(३) स्थानीय स्वशासन संस्थाओं (जिला बोर्ड, म्यूनिसिपैलिटी आदि) के कार्य का निरीक्षण करने के विषय में अनेक अधिकार कमिश्नर को प्राप्त हैं। जिन जिला बोर्डों व म्यूनिसिपैलिटियों पर कर्ज हो, उनके बजट का निरीक्षण करना और उनकी आमदनी व खर्च को नियन्त्रित करना कमिश्नर के हाथों में है।

जिले का शासन प्रबंध

इस समय शासन कार्य की दृष्टि से कमिश्नरी का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया है। राज्य के शासन प्रबन्ध की असली इकाई आजकल जिला है, जिस पर अधिक विस्तार से विचार करना उपयोगी है।

कलेक्टर—जिले के प्रधान अधिकारी को कलेक्टर या डिप्टी कमिश्नर कहते हैं। अंग्रेजी शासन के समय में इस पद पर केवल वे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जो इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य हों। कुछ विशेष दशाओं में प्रान्तीय सिविल-सर्विस के सदस्योंको भी यह पद दे दिया जाता था। स्वराज्य के बाद एक नई अखिल भारतीय सर्विस का प्रारम्भ किया गया है, जिसे 'इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस' कहते हैं। अब इस पद पर इसी सर्विस के व्यक्ति नियत किये जाते हैं। कलेक्टर व डिप्टी कमिश्नर को 'डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट' भी कहते हैं, क्योंकि उसे अनेक न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं।

जिले के इस सर्वोच्च अधिकारी के कार्यों व अधिकारों को निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) **जिले में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखना**—राज्य का मुख्य कार्य शान्ति और व्यवस्था कायम रखना होता है। जो सरकार यह कार्य न करे, उसे सरकार नहीं कहा जा सकता। जिले में यह महत्त्वपूर्ण कार्य कलेक्टर द्वारा ही किया जाता है। शान्ति और

व्यवस्था कायम करने के लिये पुलीस संगठित की जाती है, और प्रत्येक जिले में पुलीस के अनेक अफसर व कर्मचारी (पुलीस सुपरिन्टेण्डेण्ट, डिप्टी पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट, सर्कल इन्स्पैक्टर, इन्स्पेक्टर आदि) नियुक्त किये जाते हैं। पर ये सब कलेक्टर की अधीनता और निरीक्षण में ही अपने कार्य करते हैं। वस्तुतः, जिले में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिए कलेक्टर को ही उत्तरदायी माना जाता है।

अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये कलेक्टर को अनेक अधिकार दिये गए हैं। वह सभा, जुलूस, जलसे आदि पर रोक लगा सकता है। उसे अधिकार है कि शान्ति भंग होने पर या उसकी सम्भावना होने पर कर्फ्यू आर्डर लगा सके, जिसके अनुसार लोगों को घर से बाहर निकलने से रोका जा सकता है। वह १४४ दफा लगाकर यह आर्डर भी दे सकता है, कि ५ से अधिक व्यक्ति बाजार आदि सार्वजनिक स्थानों पर एकत्र न हो सकें। समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं व पुस्तकों में कोई ऐसी बात न प्रकाशित हो, जिससे शान्ति और व्यवस्था में बाधा पड़ने की सम्भावना हो, यह देखना भी उसी का काम है। कोई राजनीतिक दल, धार्मिक सम्प्रदाय व अन्य समुदाय कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे जिले में शान्ति भंग होने की सम्भावना हो, इसकी देखभाल भी कलेक्टर ही करता है। बन्दूक आदि अस्त्र शस्त्रों का लाइसेन्स भी वही देता है। शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये वह जिले का दौरा करता रहता है, और लोगों के सम्पर्क में आकर उनकी तकलीफों व दृष्टिकोण को जानने का प्रयत्न करता है। कोई कलेक्टर अपने कार्य में कितना सफल है, इस बात की परख इसी से की जाती है, कि वह अपने जिले में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने में कहां तक समर्थ रहा है।

(२) **मालगुजारी की वसूली**—जिले से मालगुजारी की वसूली करना भी कलेक्टर का मुख्य कार्य है। उसे कलेक्टर, इसीलिये कहते हैं, क्योंकि वह मालगुजारी की वसूली करता है। इस कार्य में उसकी सहायता करने के लिये अनेक अफसर व कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिन्हें डिप्टीकलेक्टर, तहसीलदार, नायब तहसीलदार, कानूनगो तथा पटवारी कहते हैं। ये सब अधिकारी व कर्मचारी मालगुजारी वसूल करने और उसका हिसाब रखने का कार्य करते हैं। कलेक्टर उन सबका मुखिया होता है। उसे यह अधिकार नहीं होता, कि वह मालगुजारी में कमी कर सके या उसकी वसूली स्थगित कर सके। यह कार्य कमिश्नर के सुपुर्द है। पर दुर्भिक्ष, बाढ़ आदि के समय वह इसके लिये सिफारिश अवश्य कर सकता है।

(३) **न्याय सम्बन्धी कार्य**—सरकार के न्याय विभाग का वर्णन करते हुए कलेक्टर (डिस्ट्रिक्ट मिजिस्ट्रेट) के न्याय सम्बन्धी अधिकारों का उल्लेख किया जा चुका है। वह प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है, और उसकी अदालत में फौजदारी मुकदमों की सुनवाई होती है। उसे अधिकार है, कि वह किसी अभियुक्त को दो साल की कैद और १००० रुपये तक जुरमाने की सजा दे सके। द्वितीय और तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों की अदालतें उसके अधीन होती हैं, और उनके निर्णयों के खिलाफ अपील उसी की अदालत में पेश की जाती है। जिले की अन्य फौजदारी अदालतें उसी की अधीनता व निरीक्षण में कार्य करती हैं।

माल सम्बन्धी मुकदमों का फैसला भी कलेक्टर द्वारा किया जाता है। जिले में उसकी अदालत ही माल सम्बन्धी सबसे बड़ी अदालत होती है। नायब तहसीलदार, तहसीलदार

और डिप्टी कलेक्टर की अदालतों में माल सम्बन्धी जो निर्णय किये जायें, उनके खिलाफ कलेक्टर की अदालत में अपील की जा सकती है। उसके फैसले के खिलाफ अपील कमिश्नर की अदालत में की जाती है।

क्योंकि कलेक्टर जिले के शासन का प्रधान अधिकारी है, अतः उसे न्याय सम्बन्धी अधिकार देना 'राजशक्ति के पृथक्करण' (Seperation of Power) के सिद्धान्त के विरुद्ध है। संविधान में नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि न्याय विभाग को शासन विभाग से पृथक् रखा जाए। राज्यों की सरकारें धीरे-धीरे इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इसलिये उत्तरप्रदेश में ज्यूडीशियल मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति प्रारम्भ की गई है, जिन्हें केवल न्याय सम्बन्धी अधिकार ही प्राप्त हैं और जिनका शासन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) **निरीक्षण का कार्य**—प्रत्येक जिले में अनेक सरकारी विभाग होते हैं, यथा शिक्षा, स्वास्थ्य, पुलीस, जेल, पब्लिक वर्क्स, जंगलात आदि। इन सबके पृथक् पृथक् सरकारी अधिकारी होते हैं, जिनकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। जिले के शिक्षा विभाग का प्रधान अधिकारी इन्स्पैक्टर आफ स्कूल्स होता है, और स्वास्थ्य विभाग के प्रधान अधिकारी को 'हैल्थ आफीसर' कहते हैं। इसी प्रकार पुलीस, पब्लिक वर्क्स आदि विभागों के प्रधान अधिकारी प्रत्येक जिले में नियुक्त किये जाते हैं। ये अधिकारी कलेक्टर के अधीन नहीं होते, पर ये उसे अपने कार्यों से अवगत करते रहते हैं, और उन पर उसका नियन्त्रण अवश्य रहता है। जिले में शासन का सर्वोच्च अधिकारी कलेक्टर ही होता है, और उसी द्वारा वहां राजशक्ति अभिव्यक्त होती है। अतः यह स्वाभाविक है, कि जिले के अन्य सरकारी विभागों के अफसरों पर उसका नियन्त्रण रहे, और वह उनके कार्य की देखभाल करता रहे।

(५) **स्थानीय स्वशासन संस्थाओं पर नियन्त्रण**—प्रत्येक जिले में एक जिला बोर्ड (District Board) व अनेक म्युनिसिपैलिटियां व अन्य स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ (यथा टाउन एरिया कमेटी व नोटीफाइड एरिया कमेटी) होती हैं। इन सबके बजट पर नियन्त्रण रखना और इनके कार्यों की देखभाल करना कलेक्टर का ही कार्य है।

(६) **अन्य कार्य**—गत महायुद्ध के समय अनाज, वस्त्र तथा मकान आदि की बहुत कमी हो गई थी। इसलिये राशन की व्यवस्था की गई थी, और अनेक वस्तुओं की कीमतें भी सरकार द्वारा तय कर दी गई थीं। जिले में राशन और कण्ट्रोल का काम कलेक्टरों की अधीनता में ही रखा गया था। अब राशन व कण्ट्रोल की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई है, पर लोहा आदि कतिपय वस्तुओं को एक निश्चित मात्रा से अधिक लेने के लिये परमिट की जरूरत अब भी पड़ती है। अनेक नगरों में मकानों के किराये व उन्हें किराये पर लेना अब तक भी सरकारी नियन्त्रण में है। ये सब विभाग कलेक्टर की अधीनता में ही कार्य करते हैं। जिले का आबकारी विभाग भी कलेक्टर के ही अधीन होता है, जिले का खजाना व रजिस्ट्रेशन विभाग भी उसी के अधीन रखे गये हैं। पंचवर्षीय योजना के अनुसार जिले के विकास कार्य भी उसी के निरीक्षण में सम्पन्न होते हैं।

जिले के उपभाग—प्रत्येक जिला अनेक सब-डिवीजनों (Sub-divisions) में

विभक्त रहता है। सब-डिवीजन के मुख्य अफसर को सब-डिविजनल अफसर (S. D. O.) या डिप्टी कलेक्टर कहते हैं। यह अफसर प्रायः प्रान्तीय सिविल सर्विस का सदस्य होता है। बहुधा इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस के व्यक्तियों को भी शुरू में डिप्टी कलेक्टर नियत कर दिया जाता है, ताकि कलेक्टर की अधीनता में कार्य करते हुए उन्हें शासन कार्य का भली भांति अनुभव हो जाय। इन सब-डिविजनल-अफसरों को प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के अधिकार प्राप्त होते हैं, और अपने सब-डिविजन में ये वे सब कार्य करते हैं, जो कलक्टर जिले के क्षेत्र में करता है। अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना, मालगुजारी वसूल करना, फौजदारी मुकदमों का फैसला करना आदि इनके कार्य वे ही हैं, जो कलेक्टर के हैं। वस्तुतः कलेक्टर इन सब-डिविजनल अफसरों की सहायता से ही जिले के शासन का कार्य करता है। कुछ सब-डिविजनल अफसर जिले के हेड क्वार्टर में रह कर कलेक्टर की सहायता करते हैं, और कुछ विविध सब-डिविजनों में नियुक्त होकर वहीं रहते हुए अपने कार्य करते हैं।

सब-डिविजनल अफसरों की अधीनता में तहसीलदार और नायब तहसीलदार नामक अफसर होते हैं। तहसीलदार का मुख्य कार्य मालगुजारी और कृषि के साथसम्बन्ध रखने वाले अन्य टैक्सों को वसूल करना है। तहसीलदारों को प्रायः द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के अधिकार भी प्राप्त होते हैं, और उनकी अदालत में फौजदारी मुकदमे भी पेश होते हैं। शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के कार्य में भी तहसीलदार सब-डिविजनल अफसर की सहायता करता है।

मालगुजारी की वसूली के कार्य में तहसीलदार की सहायता के लिये नायब तहसीलदारों, कानूनगो और बहुत से पटवारियों की नियुक्ति की जाती है। तहसील अनेक परगनों में विभक्त रहती है। परगने से मालगुजारी वसूल करने का कार्य कानूनगो के सुपुर्द होता है, जो पटवारियों की सहायता से इस कार्य को करता है। प्रत्येक परगने में एक कानूनगो की नियुक्ति की जाती है।

पुलीस का प्रबन्ध

शासन प्रबन्ध के लिये प्रत्येक तहसील में अनेक थाने होते हैं, जिनमें थानेदार (सब इन्सपेक्टर), दीवान व हेड कान्सटेबल आदि अनेक कर्मचारी नियत किये जाते हैं। ये सब अपने थाने के हलके में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने, फौजदारी के मामले में अभियुक्त अपराधियों को गिरफ्तार करने व उन पर मुकदमे चलाने में सहायता देते हैं। प्रत्येक गांव में एक चौकीदार भी नियत किया जाता है, जो गांव में हुई वारदातों व अन्य घटनाओं की सूचना थाने में देता रहता है।

राज्य का मुख्य कार्य शान्ति और व्यवस्था कायम करना है। इसी के लिये पुलीस का संगठन किया जाता है। शान्ति और व्यवस्था कायम रखना व पुलीस राज्यसूचीके विषय हैं, इस कारण भारतीय संघ के अन्तर्गत सब राज्यों में सरकार का एक पृथक् विभाग है, जिस पर राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने की उत्तरदायिता है। इस विभाग का एक पृथक् मन्त्री होता है, जो मन्त्रिपरिषद् का सदस्य होने के कारण जनता द्वारा निर्वाचित विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्री के अधीन पुलीस विभाग का प्रधान अफसर

'इन्सपेक्टर जनरल आफ पुलीस' कहाता है,जो राज्य भर की पुलीस का मुख्य पदाधिकारी होता है। साधारण पुलीस और खुफिया पुलीस दोनों उसके अधीन होते हैं।

इन्स्तेक्टर जनरल आफ पुलीस के अधीन कुछ डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल होते हैं, जिनको राज्य की एक-एक रेन्ज (Range) सुपुर्द की जाती है। एक रेन्ज में आठ-दस जिले शामिल किये जाते हैं। एक डिप्टी इन्सपेक्टर जनरल राज्य की राजधानी में रहता है, और अन्य अपनी अपनी रेन्जों में। एक डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल को खुफिया पुलीस का कार्य भी सुपुर्द किया जाता है।

रेन्ज के डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल के अधीन प्रत्येक जिले में एक पुलीस सुपरिन्टेण्डेण्ट की नियुक्ति की जाती है। वह जिले में शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिये उत्तरदायी होता है। उसके अधीन जिले में अनेक डिप्टी सुपरिन्टेण्डेण्टों की नियुक्ति की जाती है। पुलीस के कार्य की दृष्टि से प्रत्येक जिले को अनेक सर्कलों में विभक्त किया जाता है, जिनका चार्ज एक-एक पुलीस इन्सपेक्टर के हाथों में रहता है। प्रत्येक सरकल में आठ-दस थाने होते हैं। थाने के अधिकारी को थानेदार या सब-इन्सपेक्टर कहते हैं। थानेदार की सहायता के लिये थाने में दीवान, मुंशी आदि अन्य कर्मचारी भी नियत किये जाते हैं, और उसकी अधीनता में अनेक सिपाही रहते हैं।

जिले में जो बड़े नगर हों, उनमें पुलीस सुपरिन्टेण्डेण्ट की सहायता के लिये कोतवाल की नियुक्ति की जाती है। इस कोतवाल के अधीन नगर में अनेक थाने होते हैं, और उनका कार्य सब-इन्स्पेक्टरों के सुपुर्द रहता है।

जिले के हेड क्वार्टर में कुछ अतिरिक्त पुलीस भी रखी जाती है, जिसे रिजर्व पुलीस कहते हैं। जिले में जहां कहीं भी साधारण पुलीस से काम न चले, वहां इसे भेजा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सब जिलों में हथियारबन्द पुलीस की भी व्यवस्था की गई है, जो उपद्रव के समय उपयोगी होती है।

पुलीस सुपरिन्टेण्डेण्ट के अधीन जिले में खुफिया पुलीस का अलग संगठन होता है। उसके लिये एक अलग डिप्टी सुपरिन्टेण्डेण्ट नियत किया जाता है, जिसके अधीन अनेक इन्स्पेक्टर व कान्सटेबल होते हैं। ये अपराधों, साजिशों आदि का पता करने का काम करते हैं।

जेल का विभाग—पुलीस के साथ-साथ जेल का विभाग भी है। पुलीस और जेल के महकमे प्रायः एक ही मन्त्री के हाथ में रखे जाते हैं। इस विभाग के प्रधान अफसर को 'इन्स्पेक्टर जनरल आफ प्रिजन्स' कहते हैं। राज्य में जेल अनेक प्रकार के होते हैं—

(१) सेन्ट्रल जेल—इनमें वे अपराधी रक्खे जाते हैं, जिन्हें सुदीर्घ काल के लिये कैद की सजा मिली हो। ये सब जिलों में नहीं होते, अपितु कतिपय मुख्य स्थानों पर कायम किये जाते हैं। इनका प्रधान अधिकारी 'जेल सुपरिन्टेण्डेण्ट' कहाता है, जिसके अधीन जेलर, वार्डर आदि अनेक कर्मचारी होते हैं।

(२) डिस्ट्रिक्ट जेल—ये सब जिलों में होते हैं। ये जिले के सिविल सर्जन के निरीक्षण में रखे जाते हैं, और इनके लिये अनेक पृथक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है।

(३) विशेष जेल—स्त्रियों और बच्चों के लिये पृथक् जेल कायम किये जाते हैं। बच्चों की जेल में विशेष रूप से यह यत्न किया जाता है, कि अपराधी बच्चों का सुधार हो सके।

स्वास्थ्य और चिकित्सा—राज्य में स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिये सरकार का एक पृथक् विभाग होता है, जो एक मन्त्री के सुपुर्द रहता है। इस विभाग के सबसे बड़े अफसर को 'डाइरेक्टर आफ पब्लिक हेल्थ' कहते हैं। उसके अधीन अनेक डिप्टी व असिस्टेंट डाइरेक्टर नियुक्त किये जाते हैं। इसी विभाग के अधीन प्रत्येक जिले में एक हेल्थ आफिसर और एक सिविल सर्जन की नियुक्ति की जाती है। इसके अधीन अनेक अन्य भी अफसर व कर्मचारी होते हैं। जिले में स्वास्थ्य की रक्षा के लिये टीके लगवाना, सफाई कराना और रोगों की रोकथाम करना और चिकित्सालय खोल कर रोगों के इलाज की व्यवस्था करना इसी विभाग का कार्य है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) भारत में जिले का शासन किस प्रकार संचालित होता है, संक्षेप से लिखिये (राजपूताना, १९५४)

(२) भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों को किन विविध विभागों में विभक्त किया गया है? कमिश्नरी के शासन पर प्रकाश डालिये।

(३) जिले के कौन से उपभाग होते हैं? उनके शासन पर प्रकाश डालिये।

पन्द्रहवां अध्याय

स्थानीय स्वशासन

स्थानीय स्वशासन की उपयोगिता

देश की केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के लिये यह सम्भव नहीं होता कि वे नगरों, कसबों या ग्रामों के प्रबन्ध पर भली-भांति ध्यान दे सकें। इन सरकारों को सारे देश व राज्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं से ही फुरसत नहीं मिलती। उन पर कार्य का बोझ बहुत अधिक होता है। देश की शत्रुओं से रक्षा करना, देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखना, रेल, डाक, तार आदि का प्रबन्ध करना, जनता की आर्थिक उन्नति के उपाय करना, खेतों की सिंचाई के लिये नहरें निकालना, बाढ़, दुर्भिक्ष और आकस्मिक विपत्तियों का निवारण करना आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, जो इन सरकारों को करने पड़ते हैं। इस दशा में उन्हें नगरों, कसबों व ग्रामों की समस्याओं पर ध्यान देने की फुरसत कैसे मिल सकती है। प्रत्येक स्थान की अनेक अपनी समस्याएँ होती हैं। नगरों और ग्रामों में सफाई का इन्तजाम होना चाहिये, लोगों को पीने के लिये शुद्ध जल मिल सके, सड़कों पर रोशनी हो, बीमारी न फैलने पाये, भोजन की वस्तुएँ बाजार में शुद्ध रूप में बिकें— ये सब व ऐसी कितनी ही बातें हैं, जिनका प्रबन्ध स्थानीय लोग ही अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। भारत में एक ओर जहां संघ सरकार है, वहां राज्यों की अपनी-अपनी सरकारें भी हैं। पर दिल्ली या लखनऊ की सरकारें प्रत्येक ग्राम व नगर की समस्याओं व आवश्यकताओं पर कैसे ध्यान दे सकती हैं? इन स्थानीय समस्याओं को स्थानीय लोग ही अधिक अच्छी तरह से हल कर सकते हैं। इसलिये स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का निर्माण बहुत अधिक उपयोगी है।

लोकतन्त्र शासन के लाभों को भी स्थानीय स्वशासन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। आजकल के बड़े-बड़े राज्यों के शासन में सर्वसाधारण जनता का हाथ केवल इतना ही होता है कि तीन या पांच सालों में एक बार वह उन प्रतिनिधियों को चुन दे, जिन्हें विधान सभा व पार्लियामेण्ट में जाकर क़ानूनों का निर्माण करना है। केवल इतने से जनता में यह भावना उत्पन्न नहीं हो सकती कि राज्य में उसका अपना शासन है। लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये जिस राजनीतिक चेतना की आवश्यकता होती है, उसके लिये आवश्यक है कि जनता अपना शासन स्वयं भी करे। इस दृष्टि से स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ बहुत उपयोगी होती हैं। यदि प्रत्येक ग्राम में पंचायत हो और प्रत्येक नगर में म्यूनिसिपैलिटी हो, तो इन संस्थाओं द्वारा सर्वसाधारण लोगों को यह अवसर मिल जाता है, कि वह अपने ग्राम या नगर का स्वयं प्रबन्ध करे, अपने क्षेत्र में सफाई, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का इन्तजाम स्वयं करें। पंचायतों और म्यूनिसिपैलिटियों के सदस्य भी जनता द्वारा चुने जाते हैं, पर ये सदस्य अपने निर्वाचकों के बीच में ही रहते हैं। जनता इन्हें अपनी आवश्यकताएँ बताती

रहती है, और इनके द्वारा वह अपनी स्थानीय समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करती रहती है। इन स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही जनता को नागरिकता की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है, और वे एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों को समझ कर उनका पालन करने में तत्पर होते हैं।

उत्तर प्रदेश में सर्वत्र ग्राम-पंचायतों का निर्माण कर उन्हें शासन व न्याय संबंधी कुछ अधिकार दे दिये गये हैं, और यह प्रयत्न किया जा रहा है कि प्रत्येक ग्राम अपना शासन स्वयं किया करे, ग्राम के झगड़े ग्राम-पंचायत द्वारा निबटा दिये जाया करें, और अपने क्षेत्र में सफाई, शिक्षा आदि का प्रबन्ध भी ग्राम-पंचायतों द्वारा किया जाए। ये ग्राम-पंचायतें छोटी-छोटी रिपब्लिकों के समान हैं जिनमें रहकर ग्रामवासी आत्म-निर्भरता का पाठ सीख सकते हैं, और नागरिकता का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भारत के अन्य राज्यों में भी इसी ढंग की स्थानीय संस्थाएँ विकसित की जा रही हैं, क्योंकि लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिय इनका उपयोग बहुत अधिक है।

प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन--भारत के इतिहास की एक विशेषता यह है कि इस देश में स्थानीय स्वशासन को सदा से महत्त्व प्राप्त रहा है। प्राचीन समय में प्रत्येक नगर का शासन एक सभा द्वारा किया जाता था, जिसे 'पौर सभा' कहते थे। यूनानी राजा सैल्यूकस के राजदूत के रूप में मैगस्थनीज मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था। उसने पाटलिपुत्र की पौर सभा का वर्णन करते हुए लिखा है, कि इस सभा में ३० सदस्य हैं, जो ६ उप-समितियों द्वारा अपना कार्य किया करते हैं। प्राचीन समय में भारत के सभी नगरों में इस प्रकार की सभाएँ विद्यमान थीं। न केवल नगरों में, अपितु ग्रामों में भी प्राचीन समय में ग्राम सभाओं की सत्ता थी, जो न केवल अपने क्षेत्र का शासन स्वयं करती थी, अपितु अपने ग्राम के लिये कानून भी बनाती थी। इन स्थानीय संस्थाओं द्वारा जब जनता को अपना शासन स्वयं करने का अवसर मिल जाता था, तो उसे इस बात की विशेष चिन्ता नहीं रहती थी कि देश में किस राजा का शासन है। मुगल युग तक भारत में ये स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ कायम रहीं। उस समय तक भारत में प्रत्येक गांव एक अपने आप में पूर्ण छोटे से राज्य के समान हुआ करता था। गांव की पंचायत किसानों से मालगुजारी वसूल करके उसे राजा को प्रदान कर दिया करती थी। इसलिये देश के शासक को गांव के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं पड़ती थी। अंग्रजों ने मालगुजारी वसूल करने का कार्य पंचायतों से लेकर एक व्यक्ति के सुपुर्द करना शुरूकर दिया, जो या तो मालगुजारी वसूल करने का ठेकेदार होता था या सरकारी कर्मचारी। इस दशा में ग्राम-पंचायतों के पास कोई महत्त्वपूर्ण सामूहिक कार्य नहीं रह गया, और धीरे-धीरे उनका लोप होने लगा।

अंग्रेजी शासन के समय स्थानीय स्वशासन का विकास

भारत में अंग्रेजी शासन का धीरे-धीरे विकास हुआ। सतरहवीं सदी में ही भारत में अंग्रेजों के पैर जमने शुरू हो गये थे, और समुद्र-तट के अनेक स्थानों पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया था। वहां उन्होंने अपनी बस्तियां भी बसानी शुरू कर दी थीं।

इसी प्रकार की एक बस्ती मद्रास थी, जो सतरहवीं सदी में ही कायम की गई थी। १६८७ ई० में अंग्रेजों ने वहां एक म्यूनिसिपल कार्पोरेशन कायम किया, जिसके सब नामजद सदस्य किये हुए होते थे। कुछ साल बाद इसी प्रकार के कार्पोरेशन कलकत्ता और बम्बई में भी कायम किये गये। ज्यों-ज्यों भारत में अंग्रेजी राज्य का विस्तार होता गया, और अन्य नगर भी उनकी अधीनता में आते गये, उनमें भी म्यूनिसिपैलिटिगों की स्थापना की व्यवस्था की गई। इसी प्रयोजन से १८४२ ई०और १८५०ई० में कानून भी पास किये गये। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि अंग्रेजी जमाने की इन प्रारम्भिक म्युनिसिपैलिटियों के सदस्य चुने नहीं जाते थे, वे नामजद होते थे। १८७० ई० में लार्ड मेयो ने इस बात पर जोर दिया कि इन म्यूनिसिपैलिटियों के कुछ सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा भी की जानी चाहिये। इसीलिये १८७२ से १८७८ तकके वर्षों में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के कार्पोरेशनों में कुछ सदस्यों का चुना जाना भी प्रारम्भ किया गया।

ब्रिटिश काल में भारत में स्थानीय संस्थाओं का विकास १८८२ में प्रारम्भ हुआ माना जा सकता है। इस समय भारत के वायसराय लार्ड रिपन थे। उनके प्रयत्न से भारत सरकार ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) न केवल बड़े नगरों में, अपितु अन्यत्र भी स्थानीय संस्थाएँ कायम की जायें।

(२) इन संस्थाओं में सरकारी सदस्यों का बहुमत न हो, उनकी संख्या एक तिहाई से अधिक न हो।

(३) इन संस्थाओं का अध्यक्ष भी गैर-सरकारी ही हो।

स्थानीय संस्थाओं के विकास के लिये अगला महत्त्वपूर्ण कदम प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति पर १९१९ ई० में उठाया गया। इस समय भारत में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शासन सुधार किये गये, जो मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सुधारों द्वारा भारत के प्रान्तों में आंशिक रूप से 'स्वराज्य' की स्थापना कर दी गई थी, और प्रान्तीय सरकार के अनेक विभागों का शासन उन मन्त्रियों के सुपुर्द कर दिया गया था, जो विधानसभा के प्रति उत्तरदायी थे, और तभी तक अपने पद पर रह सकते थे, जब तक कि विधान सभा का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे। स्थानीय स्वशासन का विषय भी इन उत्तरदायी (Responsible) मन्त्रियों के ही सुपुर्द किया गया था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का तेजी से साथ विकास हो। १९१९ के बाद भारत में इन संस्थाओ का महत्त्व निरन्तर बढ़ता गया। १९३५ के गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया के अनुसार जब प्रान्तीय स्वराज्य कायम हुआ, तब तो इनकी शक्ति और अधिकारों में और भी वृद्धि हुई।

इसमें सन्देह नहीं, कि ब्रिटिश शासन के काल में भारत के नगरों में कार्पोरेशन, म्युनिसिपैलिटी आदि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का अच्छा विकास हुआ, पर अंग्रेजों ने भारत की पुरानी ग्राम पंचायतों के पुनरुद्धार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। स्वराज्य के बाद इसके लिये प्रयत्न किया गया है। संविधान में राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है कि राज्य इस बात का यत्न करेगा कि ग्राम

पंचायतों का संगठन किया जाये और उन्हें समुचित शक्ति और अधिकार दिये जाएँ। इसके अनुसार अनेक राज्यों में कार्य प्रारम्भ भी हो गया है ।

भारत में जो अनेक प्रकार की स्थानीय स्वशासन संस्थाएं इस समय हैं, उन्हें स्थूल रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है--नगरों के साथ सम्बन्ध रखने वाली और देहातों से सम्बन्ध रखने वाली। नगरों से संबंध रखने वाली संस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) कार्पोरेशन (Corporation) या निगम।
(२) म्युनिसिपैलिटी (Municipality) या नगरपालिका।
(३) टाउन एरिया कमेटी (Town Area Committee)।
(४) नोटिफाइड एरिया कमेटी (Notified Area Committee)।
(५) इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट (Improvement Trust)।
(६) कैन्टूनमेन्ट बोर्ड (Contonment Board)।
(७) पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust)।

देहाती क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली स्थानीय संस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड (District Board)
(२) सब-डिविजनल बोर्ड (Sub-Divisional Board)।
(३) ग्राम-पंचायत।

अब हम क्रमशः इनके स्वरूप, कार्यों व अधिकारों पर प्रकाश डालेंगे।

कार्पोरेशन—अंग्रेजी शासन के समय भारत के तीन प्रधान नगरों में कार्पोरेशन विद्यमान थे। इनके नाम हैं, कलकत्ता, बम्बई, और मद्रास। पर अब अनेक अन्य बड़े नगरों में भी म्युनिसिपैलिटी के स्थान पर कार्पोरेशन की स्थापना की जा रही है। पूना, पटना, नागपुर आदि में कार्पोरेशन स्थापित किये जा चुके हैं, और उत्तरप्रदेश में कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, सदृश बड़े नगरों में कार्पोरेशन स्थापित करने की योजना बनाई जा चुकी है। दिल्ली के लिये भी कार्पोरेशन की स्थापना हो गई है।

कार्पोरेशन के संगठन को बम्बई कार्पोरेशन का उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। उसके सदस्यों की संख्या ११७ है, जिनमें से १०६ जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। इसके लिये बम्बई नगर को १९ वार्डों में विभक्त किया गया है और उन्हीं से इन १०६ सदस्यों को चुना जाता है। शेष ११ सदस्यों में से ८ का चुनाव यूनीवर्सिटी, चेम्बर आफ कामर्स, ट्रेड यूनियन आदि विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा होता है। पुलीस कमिश्नर, बम्बई पोर्ट ट्रस्ट का चेयरमैन और बम्बई का एक्जीक्यूटिव इन्जीनियर अपने पद के कारण कार्पोरेशन के सदस्य होते हैं। बम्बई के कार्पोरेशन का कार्यकाल चार साल नियत किया गया है। कार्पोरेशन के सदस्य अपने अध्यक्ष को स्वयं चुनते हैं, जिसे मेयर (Mayor) कहते हैं। उसके प्रधान अधिकारी को कमिश्नर कहते हैं, जिसे सरकार नियुक्त करती है। यह प्रायः इण्डियन सिविल सर्विस का एक अनुभवी व्यक्ति होता है। कार्पोरेशन उसे अपने पद से पृथक् कर सकता है, बशर्ते कि कम से कम ६४ सदस्य उसे हटाने के पक्ष में वोट दें।

मद्रास और कलकत्ता के कार्पोरेशनों का संगठन भी बहुत कुछ इसी ढंग का है। इनके

कार्य प्रायः वे ही हैं, जो कि म्यूनिसिपैलिटियों के होते हैं। पर इनके अधिकार साधारण म्युनिसिपैलिटियों के मुकाबिले में कुछ अधिक होते हैं। क्योंकि इनका निर्माण बहुत बड़े नगरों में किया जाता है, और उनकी समस्याएँ अधिक जटिल होती हैं अतः इन्हें अधिक शक्ति व अधिकार प्रदान करने की आवश्यकता समझी जाती है।

म्यूनिसिपल कमेटी—बहुत बड़े नगरों के अतिरिक्त अन्य सब नगरों में म्युनिसिपैलिटियां कायम की गई हैं। भारत में इस समय इनकी संख्या ८०० के लगभग है। उत्तर प्रदेश में ही इनकी संख्या अब १२० के लगभग होगई है। किस म्युनिसिपैलिटी में कितने सदस्य हों, यह बात उस नगर की जनसंख्या पर निर्भर करती है। इनकी सदस्य संख्या प्रायः २० से ४५ तक होती है। जिन नगरों की आबादी २० से ३० हजार तक हो उनकी म्युनिसिपैलिटियों में २०, जिनकी आबादी ३० से ५० हजार तक हो उनमें २५, जिनकी आबादी ५० से ७५ हज़ार तक हो उनमें ३०, जिनकी आबादी ७५ हजार से १ लाख तक हो उनमें ३५, और जिनकी आबादी १ लाख से डेढ़ लाख तक हो, उनमें ४०, और जिन नगरों की आबादी डेढ़ लाख से दो लाख तक हो, उनकी म्युनिसिपैलिटियों में ४५ सदस्य होने की व्यवस्था की गई है। दो लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों के लिये उत्तरप्रदेश में कार्पोरेशन स्थापित करने की योजना को स्वीकार कर लिया गया है।

म्यूनिसिपैलिटी के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। पहले कुछ सदस्य सरकार द्वारा नामजद भी किये जाया करते थे, पर अब इस प्रथा को हटा दिया गया है। उत्तरप्रदेश में केवल तीन नगर—नैनीताल, मसूरी, और हलद्वानी ऐसे हैं, जिनमें अब भी कुछ सदस्य सरकार द्वारा नामजद किये जाते हैं। म्यूनिसिपल सदस्यों को चुनने के लिये वे व्यक्ति मतदाता हो सकते हैं, जो भारत के नागरिक हों, म्युनिसिपल क्षेत्र में जिनका सामान्य रूप से से निवास हो, और जो अपनी आयु के २१ वर्ष पूर्ण कर चुके हों। जो व्यक्ति पागल, दिवालिया व राज दण्डित हों, उन्हें भी कतिपय नियमों के अधीन वोट के अधिकार से वंचित रखा जाता है। पार्लियामेण्ट और विधान सभा के निर्वाचकों के समान म्यूनिसिपैलिटी के निर्वाचकों के लिये भी वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। यदि किसी व्यक्ति का नाम म्युनिसिपल निर्वाचकों की सूची में भूल से रह गया हो, तो वह एक निश्चित तारीख तक प्रार्थना पत्र देकर अपना नाम उसमें शामिल करा सकता है। चुनाव की तिथि से कुछ समय पूर्व तक भी १० रु० देकर इस प्रकार की भूलों का सुधार करवाया जा सकता है।

म्यूनिसिपलिटी की सदस्यता के लिये वे सब व्यक्ति उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं, जिनका नाम मतदाताओं की सूची में हो। पर उम्मीदवारों के लिये यह जरूरी है कि उनके नाम कोई म्यूनिसिपल टैक्स व अन्य देनदारी बाकी न हो, और साथ ही वे किसी सरकारी नौकरी में न हों, या कोई ऐसा सरकारी पद प्राप्त किये हुए न हों, जिससे उन्हें आर्थिक लाभ होता हो। आनरेरी मजिस्ट्रेट भी म्युनिसिपैलिटी के सदस्यता के लिये उम्मीदवार खड़े नहीं हो सकते।

म्युनिसिपल चुनाव के लिये नगर को अनेक चुनाव क्षेत्रों या वार्डों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक वार्ड से दो, तीन, चार या अधिक सदस्य चुने जाते हैं। जो व्यक्ति सदस्यता के लिये उम्मीदवार होना चाहें, वे एक नियत तिथि तक अपने नामिनेशन पेपर

दाखिल कर देते हैं। इन पर उम्मीदवार अपना हस्ताक्षर यह प्रदर्शित करने के लिये करता है, कि उसे उम्मीदवार होना स्वीकार है। एक मतदाता उसके नाम का प्रस्ताव करता है, और एक अन्य उसका अनुमोदन। उम्मीदवारों को १०० रु० जमानत के रूप में जमा करना पड़ता है। नामिनेशन पेपर दाखिल हो जाने के बाद एक दिन उनकी जांच की जाती है। बाद में एक निश्चित तिथि तक जो उम्मीदवार चाहे अपना नामिनेशन पेपर वापस ले सकता है।

वोट पर्चियों (वैलट) द्वारा लिये जाते हैं। जिस वार्ड से जितने सदस्य चुने जाने हों, प्रत्येक वोटर को उतनी ही पर्चियां दे दी जाती हैं। सब उम्मीदवारों के बक्स अलग-अलग एक ही कमरे में रखे रहते हैं। वोटर अपनी पर्चियों को उन उम्मीदवारों के बक्से में डाल देता है, जिन्हें वह अपना वोट देना चाहे। कोई वोटर अपनी सब पर्चियों को एक ही उम्मीदवार के बक्स में नहीं डाल सकता। यदि किसी वार्ड से तीन उम्मीदवार चुने जाने हों, और सात वहां से उम्मीदवार हों, तो जिन तीन को सबसे अधिक वोट मिलेंगे, वे ही निर्वाचित माने जायेंगे। भविष्य में म्युनिसिपैलिटी के चुनाव के लिए भी सम्भवत: उसी पद्धति का अनुसरण किया जायगा, जो कि अब लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव के लिए प्रयोग में आने लगी है, और जिनका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं।

पार्लियामेण्ट और विधान सभा के समान म्युनिसिपैलिटियों में भी मुसलमान, ईसाई व सिक्ख आदि अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों के लिये स्थान सुरक्षित नहीं रखे गये हैं। पर अछूत समझी जाने वाली जातियों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं, यद्यपि उनका चुनाव भी सब मतदाताओं के वोटों द्वारा होता है।

म्यूनिसिपैलिटी का प्रेसीडेण्ट––उत्तरप्रदेश में म्युनिसिपैलिटी के प्रधान (President) के चुनाव के लिये पहले यह व्यवस्था की गई थी कि उसे मतदाता सीधा चुना करें। जिस समय म्युनिसिपल सदस्यों का चुनाव हो, तभी प्रधान का भी चुनाव कर लिया जाए।

उत्तरप्रदेश में म्यूनिसिपल प्रधान का इस पद्धति से पहला निर्वाचन १८५३ में हुआ था। बाद में यह देखा गया कि अनेक म्यूनिसिपैलिटियों में सदस्यों की बहुसंख्या तो किसी एक पार्टी की है, और प्रधान किसी दूसरी पार्टी का है। इससे कार्य में बहुत परेशानी अनुभव होने लगी। प्रधान जो प्रस्ताव पेश करता था या जिस नीति का अनुसरण करता था, अन्य सदस्य उसका विरोध करते थे। इस कारण म्यूनिसिपल कार्य में अनेक दिक्कतें पेश आने लगीं। बाद में इस व्यवस्था में परिवर्तन किया गया और यह तय किया गया कि म्युनिसिपल सदस्य ही प्रधान का भी चुनाव किया करें।

म्यूनिसिपैलिटी के सदस्यों को अधिकार है कि वे प्रधान के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर सकें। इस प्रस्ताव के स्वीकार हो जाने पर राज्य की सरकार उस व्यक्ति को प्रधान-पद से हटा सकती है। पर इस ढंग का अविश्वास का प्रस्ताव प्रधान के चुनाव के एक साल बाद ही पेश किया जा सकता है, पहले नहीं।

म्यूनिसिपैलिटी के अन्य अधिकारी—प्रत्येक म्युनिसिपैलिटी का एक सीनियर उप-प्रधान (Senior Vice President) और एक जूनियर उप-प्रधान होता है। इनका चुनाव

म्युनिसिपल सदस्य अपने में से ही करते हैं। कार्य की सुविधा के लिये वे अनेक समितियों का निर्माण करते हैं, और उनके सदस्यों व अध्यक्षों (Chairman) की नियुक्ति चुनाव के द्वारा करते हैं। उपप्रधानों और उपसमितियों का चुनाव प्रतिवर्ष होता है, जब कि प्रधान को चार वर्ष के लिए निर्वाचित किया जाता है।

स्थायी अधिकारी—म्युनिसिपैलिटियों के कुछ स्थायी अधिकारी भी होते हैं, जिनकी नियुक्ति म्युनिसिपल सदस्यों द्वारा की जाती है। नगरों की म्युनिसिपैलिटियों में एक्जीक्यूटिव आफिसर नियुक्त होता है। छोटी म्युनिसिपैलिटियों में सेक्रेटरी वही कार्य करता है, जो बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में एक्जीक्यूटिव आफिसर के होते हैं। यद्यपि इनकी नियुक्ति म्युनिसिपैलिटी द्वारा की जाती है, पर इसके लिये सरकार की स्वीकृति आवश्यक होती है।

एक्जीक्यूटिव आफिसर या सेक्रेटरी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक स्थायी अधिकारी होते हैं। बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में म्युनिसिपल इंजीनियर, रेवेन्यू सुपरिन्टेंण्डेण्ट, म्युनिसिपल अस्पतालों के चिकित्सक आदि अनेक स्थायी अधिकारी होते हैं, जो म्युनिसिपल कार्यों को सम्पन्न करने का कार्य करते हैं। म्युनिसिपल कार्यों में सफाई का काम बहुत महत्त्व का होता है। इसके लिए बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में हेल्थ आफिसर होता है, जिसकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। उसकी सहायता के लिये एक चीफ सेनिटरी इन्स्पेक्टर व अनेक सेनिटरी इन्स्पेक्टर होते हैं, जो म्युनिसिपैलिटी द्वारा ही नियुक्त किये जाते हैं। छोटी म्युनिसिपैलिटियां एक या अधिक सैनिटरी इन्स्पेक्टरों से ही अपना काम चला लेती हैं।

म्यूनिसिपैलिटी के कार्य—म्युनिसिपैलिटी के कार्य दो प्रकार के होते हैं, अनिवार्य और ऐच्छिक। उनके अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) सार्वजनिक स्वास्थ्य—जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये समुचित प्रबन्ध करना म्युनिसिपैलिटी का प्रधान व अनिवार्य कार्य है। इसके लिये वह सड़कोंऔर नालियों की सफाई करवाती है, छूत के रोगों के लिये टीके लगवाने का इन्तजाम करती है, भोजन के पदार्थों का निरीक्षण करती है, और यह देखती है कि कोई व्यक्ति पानी मिला हुआ दूध, मिलावट वाला घी आदि न बेंचे, हलवाई व भोजन बेचने वाले अन्य लोग भोजन को ढककर रखें ताकि मक्खियां उस पर न बैठने पायें।

(२) सार्वजनिक सुरक्षा--नगर में निवास करने वाले लोग सुरक्षित रूप से रह सकें, इसके लिये म्युनिसिपैलिटयां अपने क्षेत्र में सड़कें बनवाती है, उनकी मरम्मत करवाती है, और उनपर रोशनी का प्रबन्ध करती है। नगर में जो गलियां व अन्य रास्ते हों, उनकी मरम्मत करवाना व उनमें रोशनी की व्यवस्था करना भी म्युनिसिपैलिटी का कार्य है।

म्युनिसिपैलिटी इस बात की भी व्यवस्था करती है कि लोग अपने मकान इस ढंग से बनवाएँ कि उनमें हवा और रोशनी का समुचित प्रबन्ध हो, और किसी के मकान से पड़ोसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचने पाये। इनके लिये यह प्रबन्ध किया जाता है कि जिस व्यक्ति ने कोई नया मकान बनवाना हो या पहले बने हुए मकान में कोई परिवर्तन व परिवर्धन करना हो, तो वह अपना नक्शा म्युनिसिपैलिटी के सम्मुख पेश करे और वहां से

स्वीकृत होने पर ही काम शुरू कर सके।

सार्वजनिक सुरक्षा को दृष्टि में रखकर ही म्युनिसिपैलिटी कारखानों पर भी नियन्त्रण रखती है। किसी कारखाने द्वारा उसके पड़ोस में रहने वाले लोगों को किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचने पाये, यह देखते रहना और इसके लिये समुचित नियम बनाना म्युनिसिपैलिटी का कार्य है।

(३) प्रारम्भिक शिक्षा——नगर के बालक-बालिकाओं की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करना म्युनिसिपैलिटियों का कार्य है। इसके लिये वे पाठशालाएँ खोलती है, और बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करती है। अनेक नगरों में बाधित शिक्षा की भी व्यवस्था की गई है, जिसके कारण एक निश्चित आयु तक के बच्चों को स्कूल जाना ही पड़ता है। यह भी म्युनिसिपैलिटियों द्वारा ही किया जाता है। बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में शिक्षा के लिये भी एक पृथक् अधिकारी की नियुक्ति की जाती है, जिसे एजुकेशन सुपरिन्टेंडेंट कहते हैं।

(४) सार्वजनिक सुविधा सम्बन्धी कार्य——प्रत्येक म्युनिसिपैलिटी जनता की सुविधा के लिये अनेकविध कार्य करती है। पीने के लिये साफ पानी मिल सके, इसके लिये वह जल-कल (Water works) स्थापित करती है, श्मशान और कब्रिस्तान की व्यवस्था करती है, आग बुझाने के इन्जन का प्रबन्ध करती है, और चिकित्सा के लिये डिस्पेंसरियां, अस्पताल और औषधालय खुलवाती है।

(५) जन्म मरण का रिकार्ड——प्रत्येक म्युनिसिपैलिटी का यह भी महत्त्वपूर्ण कार्य है, कि वह अपने क्षेत्र में जन्म-मरण का रिकार्ड रखे।

म्युनिसिपैलिटियों के ऐच्छिक कार्य निम्नलिखित हैं——

(१) जनता की सुविधा व मनोरंजन के लिये पार्क, तालाब, खेलने के मैदान आदि बनवाना।

(२) जनता की शिक्षा के लिये पुस्तकालय, वाचनालय, कला भवन आदि स्थापित करना या नगर की इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करना।

(३) अपने क्षेत्र में होने वाले मेलों व नुमायश आदि का प्रबन्ध करना।

(४) जनता के आने-जाने की सुविधा के लिये ट्राम, मोटर बस आदि चलाना।

(५) भिखमंगों व अपाहिजों के लिये दीन-गृहों (Poor Houses) की स्थापना करना।

(६) अनेक ऐसे कार्य करना जिनका सम्बन्ध व्यापार से होता है। अनेक म्युनिसिपैलिटियां बिजली पैदा करने के लिये अपना निजी कारखाना खोलती हैं, लोगों को शुद्ध दूध, घी, मक्खन मिल सके, इस प्रयोजन से डेयरी कायम करती हैं, और सस्ते किराये वाली सरायें स्थापित करती हैं, जिनमें यात्री लोग समुचित किराये पर ठहर सकते हैं।

(७) बाढ़, दुर्भिक्ष आदि आकस्मिक विपत्तियों के अवसर पर जनता की सहायता करने के लिये धन खर्च कर सकने का भी म्युनिसिपैलिटियों को अधिकार है।

म्युनिसिपल आमदनी के साधन——म्युनिसिपैलिटियों को जो अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य करने होते हैं, उनके लिये उन्हें आमदनी भी होनी चाहिये। इसे वे निम्नलिखित साधनों से प्राप्त करती हैं——

(१) म्युनिसिपल सीमा के भीतर जो मकान हों, व जो खाली जमीनें हों, उन पर वह टैक्स लगाती है।

(२) जो माल बाहर से नगर में आए, उस पर वह चुंगी लगाती है।

(३) वह पानी पर टैक्स लगाती है। मकान के टैक्स के साथ-साथ मकान मालिकों को पानी का टैक्स भी देना पड़ता है। जिन नगरों में जल-कल होती है, और पानी के नल मकानों में लगे रहते हैं, उनमें प्राय: प्रत्येक मकान में पानी का मीटर लगा होता है। यदि अधिक पानी खर्च हो, तो म्युनिसिपैलिटी उसकी कीमत वसूल करती है।

(४) म्युनिसिपैलिटी की चाहे अपनी बिजली हो और चाहे वह सरकारी बिजली खरीद कर उसका वितरण करे, दोनों दशाओं में बिजली की बिक्री द्वारा म्युनिसिपैलिटी को अच्छी आमदनी होती है।

(५) अनेक म्युनिसिपैलिटियां जनता से सफाई का टैक्स (Conservancy Tax) भी वसूल करती हैं। यह टैक्स मकान के किराये के अनुसार उसके निवासियों पर लगाया जाता है।

(६) नगर में जो विभिन्न प्रकार की सवारियां काम में आती हैं, उन पर भी म्युनिसिपैलिटी टैक्स लगाती है। यह टैक्स टांगा, मोटर, साइकिल, रिक्शा, ठेला, गाड़ी, बग्गी आदि पर लगाया जाता है।

(७) जिन नगरों में यात्री अधिक संख्या में बाहर से आते हैं, उनमें म्युनिसिपैलिटियां टाल टैक्स लगाती हैं। मसूरी में मोटर कार द्वारा आने वाले यात्रियों पर यह टैक्स दो रुपया प्रति व्यक्ति है। हरिद्वार, ऋषिकेश, आदि अन्य नगरों में भी यह टैक्स आने-जाने वाले लोगों से वसूल किया जाता है।

(८) म्युनिसिपल जायदाद के किराये से वसूल होने वाली आमदनी।

(९) स्कूलों में ली जाने वाली फीस।

(१०) गाय, भैंस, कुत्ता आदि पशुओं को रखने के लिये भी प्राय: म्युनिसिपैलिटी से लायसेन्स लेना पड़ता है। इस भी उसे आमदनी होती है।

(११) म्युनिसिपैलिटी जो व्यापार अपनी ओर से करे, उससे होने वाली आमदनी।

(१२) फेरीवालों और दुकानदारों से ली जाने वाली फीस।

इन या इसी तरह के कतिपय अन्य साधनों के अतिरिक्त राज्य सरकार द्वारा भी म्युनिसिपैलिटियों को विशेष कार्यों (सड़कें बनवाना, जल-कल खोलना आदि) के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है। साथ ही, वे सरकार की अनुमति से ऋण भी ले सकती हैं।

सरकारी नियन्त्रण—यद्यपि म्युनिसिपैलिटियों को स्वशासन सम्बन्धी बहुत से अधिकार प्राप्त हैं, पर उन पर राज्य की सरकार का नियन्त्रण भी कम नहीं है। एक्जीक्यूटिव आफिसर सदृश उच्च म्युनिसिपल अधिकारियों की नियुक्ति सरकार की स्वीकृति से ही हो सकती है। उनके वेतन, भत्ते, छुट्टी आदि के सम्बन्ध में नियमों का निर्माण सरकार द्वारा

ही किया जाता है। उन्हें अपने पद से पृथक् करने के सम्बन्ध में भी म्युनिसिपैलिटियों को अधिक स्वतन्त्रता नहीं है। यदि म्युनिसिपैलिटी के कुल सदस्यों का दो तिहाई बहुमत किसी एक्जीक्यूटिव आफिसर के कार्य को असतोषजनक समझे, तभी उसकी स्थिति डांवाडोल होती है, अन्यथा वह अपने पद पर आरूढ़ रहता है। म्युनिसिपैलिटी का प्रधान उसे अपने पद से सामयिक रूप से सस्पेण्ड अवश्य कर सकता है, पर जिन आधारों पर उसे सस्पेण्ड किया जाए, उनके सही होने या न होने का निर्णय राज्य सरकार द्वारा ही किया जाता है।

जिले के कलेक्टर को म्युनिसिपैलिटियों के कार्यों को नियन्त्रित करने के अनेक अधिकार दिये गये हैं। वह म्युनिसिपैलिटी द्वारा स्वीकृत किसी प्रस्ताव को क्रिया में परिणत करने से रोक भी सकता है। राज्य सरकार की सम्मति में यदि कोई म्युनिसिपैलिटी अपना कार्य भली-भांति न कर रही हो, तो वह उसे भंग कर सकती है, और म्युनिसिपल कार्यों के सम्पादन के लिये किसी विशेष आफिसर को नियुक्त कर सकती है, जिसे म्युनिसिपैलिटी सम्बन्धी सब अधिकार प्राप्त रहते हैं। यदि म्युनिसिपैलिटी कोई नया टैक्स लगाना चाहे, किसी टैक्स में कमी या वृद्धि करना चाहे, तो उसके लिये भी उसे राज्य की सरकार से अनुमति लेनी पड़ती है। उसके बजट पर सरकार का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता है।

राज्य की सरकार में एक पृथक् विभाग होता है, जिसे 'स्थानीय स्वशासन विभाग' कहते हैं। वह एक पृथक् मन्त्री के सुपुर्द होता है। यह विभाग म्युनिसिपैलिटियों व अन्य स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के कार्यों पर निरीक्षण रखता है।

किसी देश में लोकतन्त्र शासन किस हद तक सफल हो सकता है, इसकी सबसे उत्तम परख यह देखना है कि उसमें म्युनिसिपैलिटियां किस प्रकार अपना कार्य करती हैं। म्युनिसिपैलिटियां नगरों में होती हैं, जहां की जनता अधिक शिक्षित व समझदार होती है। उससे यह आशा की जाती है, कि वह अपने वोट के अधिकार का प्रयोग सोच-समझकर करेगी, और योग्य व निःस्वार्थ व्यक्तियों को ही म्युनिसिपैलिटी का सदस्य चुनेगी। साथ ही, वह निर्वाचित सदस्यों के कार्यों पर निगाह भी रखेगी, और स्वयं भी म्युनिसिपल मामलों में दिलचस्पी लेगी। खेद है, कि भारत में अभी वह समय नहीं आया है, जबकि म्युनिसिपैलिटियों के कार्य को संतोषजनक कहा जा सके। अभी म्युनिसिपल सदस्यों में दलबन्दी की भावना बहुत प्रबल है, और उनमें से अनेक सार्वजनिक सेवा की अपेक्षा स्वार्थ को अधिक महत्त्व देते हैं। इसीलिये अभी म्युनिसिपैलिटियों पर सरकारी नियन्त्रण का रहना अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। पर धीरे-धीरे इस दशा में सुधार हो रहा है।

इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट—बड़े नगरों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। रोजगार की तलाश में बहुत से लोग वहां आकर बस जाते हैं, और पूंजीपति लोग वहां पर ही नये कार-

खाने खोलते है। इस कारण नगरों के समीप की जमीनें भी आबाद होती जाती हैं, और नगर का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता जाता है। इस दशा में यह आवश्यक है, कि इन बड़े नगरों की वृद्धि एक ऐसी आयोजना के अनुसार की जाए, जिससे जो नये मकान बनें, उनमें हवा और रोशनी न रुकने पाए। साथ ही, नई बसने वाली बस्तियों में सड़कों, रोशनी आदि की भी समुचित व्यवस्था रहे। दिल्ली, लखनऊ, बनारस आदि बड़े नगरों में यह काम इतने महत्त्व का हो गया है कि वहां म्युनिसिपैलिटी के लिये इसे संभाल सकना सुगम नहीं रहा। इसीलिये इन नगरों में पृथक् इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्टों का संगठन किया गया है। इनका कार्य सड़कों को चौड़ी करना, अत्यन्त घनी बसी हुई बस्तियों का पुनर्निर्माण करना, पुराने घने बने हुए मकानों को गिरवा कर नये मकान बनवाना और नए बसने वाली बस्तियों को एक निश्चित योजना के अनुसार बनवाना है। पिछले कुल सालों में बड़े नगरों की आबादी में कई गुना की वृद्धि हो गई है। इसलिये नगर के मुख्य बाजारों और केन्द्रीय स्थानों में लोगों का आना-जाना बहुत बढ़ गया है। जो सड़कें पहले की बनी हुई हैं, वे इतनी चौड़ी नहीं हैं, कि मोटर बसें, मोटर कारें, तांगे, रिक्शा आदि उनमें अच्छी तरह से आ-जा सकें। यातायात के बढ़ जाने के कारण अब ये सड़कें तंग हो गई हैं। अतः जरूरत महसूस की जाती है, कि इन्हें चौड़ा किया जाए। यह काम इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट के ही हाथों में दिया गया है। आबादी के बढ़ जाने से इन बड़े नगरों में मकानों के किराये भी बहुत बढ़ गये हैं। जिस मकान में पहले एक परिवार रहता था, किरायों में वृद्धि हो जाने के कारण अब उसमें पांच-पांच, सात-सात परिवार निवास करने लगे हैं। इन लोगों को स्नान, टट्टी आदि की कोई भी सुविधा नहीं है। अब यह आवश्यक हो गया है कि इन घनी बसी हुई बस्तियों का इस ढंग से पुनर्निर्माण कराया जाए, ताकि उनमें रहने वाले लोगों को हवा व रोशनी भली-भांति मिल सके, और उन्हें स्नान-टट्टी आदि की भी समुचित सुविधाएँ मिलें। यह कार्य भी इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्टों के ही सुपुर्द है। बड़े नगरों की खाली पड़ी हुई जमीनों व साथ लगती हुई जमीनों पर जो नई बस्तियां बसने लगी हैं, उनमें सड़कें बनवाना, रोशनी का प्रबन्ध करना और वहां योजना के अनुसार इमारतें बनाने की अनुमति देना भी इन्हीं ट्रस्टों का कार्य है।

इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट के कुछ सदस्य म्युनिसिपैलिटी द्वारा चुने जाते हैं, और कुछ राज्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। इसका अध्यक्ष (चेयरमैन) भी सरकार द्वारा मनोनीत होता है। वह वैतनिक कर्मचारी होता है। उसके अधीन एक्जीक्यूटिव आफिसर, इन्जीनियर आदि अनेक कर्मचारी होते हैं।

इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट की आमदनी का मुख्य साधन जमीनों को बेंचना है। नगर के समीप की जिस जमीन पर नई बस्ती बसानी हो, उसे ट्रस्ट खरीद लेता है। फिर उसकी सफाई करवा कर, उसे समतल कराके, उसमें सड़कें व गलियां निकाल कर जमीन के छोटे-छोटे प्लाट बनवाये जाते हैं। ये प्लाट जनता को बेंचे जाते हैं, जिससे ट्रस्ट को बहुत आमदनी होती है। ट्रस्ट को यह भी अधिकार है कि वह नगर की पुरानी घनी बसी हुई बस्तियों की

जमीन व मकानों को उनके मालिकों से खरीद ले, और उनके पुराने मकानों को गिरवा कर नए प्लाट बनवाए, व उन्हें बेच कर कीमत वसूल कर ले। इससे भी उसे अच्छी अमदनी हो जाती है।

ट्रस्ट के कार्य के लिये सरकार आर्थिक सहायता भी देती है, और वे ऋण भी ले सकते हैं।

पोर्ट ट्रस्ट--जिन नगरों में बड़े-बड़े बन्दरगाह हैं, वहां पोर्ट ट्रस्ट स्थापित किये गए हैं। भारत में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास जहां बहुत बड़े नगर हैं, वहां साथ ही वे बन्दरगाह (Port) भी हैं। उनमें जहाजों का आना-जाना होता रहता है, जिससे न केवल समुद्र पार के यात्री बड़ी संख्या में आते-जाते रहते हैं, बल्कि वहां बहुत-सा माल भी विदेशों से आता है, व विदेशों को जाता है। जहाजों के लिये बन्दरगाहों में अनेक प्रकार के विशेष प्रबन्ध करने होते हैं, जैसे क्रेनों (Crane) द्वारा भारी माल को उतारना व चढ़ाना, माल के लिये गोदामों का प्रबन्ध करना, बन्दरगाह के क्षेत्र से जहाजों को खुले समुद्र में पहुँचवाना, यात्रियों के लिये कैन्टीन का प्रबन्ध करना, बन्दरगाह के क्षेत्र के समुद्र को इस योग्य रखना कि वहां बड़े जहाज भी आ-जा सकें और यह इन्तजाम करना कि जहाज ठीक प्लेटफार्म पर (जिन्हें क्वे कहते हैं) आकर लग जायें, जिससे यात्रियों को उतरने-चढ़ने और माल को उतारने-चढ़ाने की सुविधा हो।

ये सब कार्य इतने महत्त्व के हैं कि इनके लिये एक पृथक् संस्था बनाने की आवश्यकता होती है, जिसे 'पोर्ट ट्रस्ट' कहते हैं। इन ट्रस्टों के कुछ सदस्य राज्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं, कुछ म्युनिसिपैलिटी (कलकत्ते आदि में कार्पोरेशन) द्वारा चुने जाते हैं और कुछ चेम्बर आफ कामर्स सदृश व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि होते हैं।

पोर्ट ट्रस्ट की आमदनी के मुख्य साधन गोदामों का किराया, माल की लदाई व उतराई पर वसूल किया जाने वाला टैक्स, यात्रियों पर टैक्स और जहाजों से वसूल किया जाने वाला टैक्स होते हैं। पोर्ट ट्रस्ट को पुलीस रखने का भी अधिकार है, क्योंकि बन्दरगाह के क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना बहुत आवश्यक होता है।

कैन्टूनमेन्ट बोर्ड--भारत के अनेक नगर ऐसे हैं, जहां सेना की छावनियां हैं। छावनियों का क्षेत्र नगर से पृथक् होता है, पर वहां सेना के साथ-साथ ऐसी जनता भी पर्याप्त-संख्या में रहती है, जिसका सम्बन्ध सेना के साथ होता है। सेना के लिये माल सप्लाई करने व सैनिकों की दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये वहां बाजार बन जाता है, जिसमें भोजन, वस्त्र आदि सब जरूरी चीजों की दुकानें होती है। बहुत-सी सवारियां व मजदूरों की भी वहां जरूरत पड़ती है, और ये लोग भी वहां अच्छी संख्या में बस जाते हैं।

छावनी (कैन्टूनमेण्ट) के इन क्षेत्रों का प्रबन्ध नगर की म्युनिसिपैलिटी से पृथक् रखा जाता है, और उसके प्रबन्ध के लिये एक पृथक् संस्था बना दी जाती है, जिसे कैन्टूनमेन्ट बोर्ड कहते हैं। इनके कार्य प्रायः वे ही होते हैं, जो नगरों में म्युनिसिपैलिटियों के होते हैं। पर इनका संगठन म्युनिसिपैलिटियों से भिन्न होता है। इनमें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के अतिरिक्त सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य भी अच्छी संख्या में रहते हैं,

और प्रायः मनोनीत सरकारी सदस्यों की संख्या निर्वाचित सदस्यों की अपेक्षा अधिक होती है। उनका प्रधान भी कोई सैनिक आफिसर ही होता है। कैण्टूनमेण्ट बोर्ड राज्य सरकार के निरीक्षण व नियन्त्रण में न होकर भारतीय संघ की सरकार के सैनिक विभाग के नियन्त्रण में होते हैं।

टाउन एरिया कमेटी——जिन नगरों की जनसंख्या २०,००० से कम व १०,००० से अधिक हो, उनमें म्युनिसिपैलिटी के स्थान पर टाउन एरिया कमेटियां स्थापित की जाती हैं। इनके कार्य प्रायः वे ही हैं, जो म्युनिसिपैलिटियों के हैं। इनके सदस्यों की संख्या आबादी के अनुसार ५ से ७ तक होती है। वे भी सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। इनके प्रधान को या तो निर्वाचित सदस्य चुनते हैं, या उसे राज्य सरकार मनोनीत कर देती है।

टाउन एरिया कमेटी की आमदनी के साधन म्युनिसिपैलिटियों के मुकाबिले में बहुत कम होते हैं। इसीलिये ये प्रायः सरकारी सहायता से ही अपने खर्च को चलाने में समर्थ होती हैं। इनके अधिकार भी म्युनिसिपैलिटियों के मुकाबले में कम हैं, और जिले का कलेक्टर उनके कार्यों पर कड़ा नियन्त्रण रखता है।

नोटीफाइड एरिया कमेटी——जिन कसबों की आबादी १०,००० से कम व ५,००० से अधिक हो, उनमें भी सरकार एक कमेटी का निर्माण कर सकती है, जिसे 'नोटीफाइड एरिया कमेटी' कहते हैं। इसके सदस्य जन संख्या के अनुसार ३ या ४ होते हैं, जो या तो जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं या सरकार द्वारा मनोनीत। ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से कुछ निर्वाचित हों, और कुछ मनोनीत किये हुए हों। इन कमेटियों के कार्य भी प्रायः म्युनिसिपैलिटियों के ही सदृश होते हैं, यद्यपि इनके अधिकार बहुत कम होते हैं। जिन कस्बों में ये कमेटियां स्थापित की गई हैं, वे बड़े गांवों के सदृश ही होते हैं। हाउस टैक्स व पानी का टैक्स वसूल करना, चुंगी लगाना, व इसी तरह के अन्य साधनों से आमदनी करना इनके लिये सम्भव नहीं होता। वे अपने क्षेत्र में हैसियत टैक्स लगाकर व अन्य छोटे छोटे करों द्वारा आमदनी करती हैं, और अपने क्षेत्र में सफाई, रोशनी आदि के प्रबन्ध के लिये सरकारी सहायता पर ही निर्भर रहती हैं। अपने क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों की हैसियत के अनुसार उन पर टैक्स लगाकर आमदनी करना ही इनकी आय का मुख्य साधन होता है।

जिला बोर्ड

प्रत्येक जिले में कुछ नगर व कस्बे होते हैं, पर उसका बड़ा क्षेत्र ऐसे छोटे-छोटे गांवों द्वारा आबाद होता है, जिसकी जनसंख्या ५००० से भी कम होती है। इसे हम देहाती क्षेत्र (Rural Area) कह सकते हैं। जिस प्रकार नगरों में सड़कें बनवाने, सफाई रखने, महामारियों को रोकने, छूत की बीमारियों के लिए टीके लगवाने, शिक्षा का प्रसार करने और जनता के मनोरंजन आदि के लिये म्युनिसिपैलिटियों की आवश्यकता है, वैसे ही देहाती क्षेत्रों के लिये भी ऐसी संस्थाएँ होनी चाहियें, जो ग्रामों में निवास करने वाली जनता के लिये

इन सब कार्यों को कर सकें। जिला बोर्डों (डिस्ट्रिक्ट बोर्डों) की स्थापना इसी प्रयोजन से की जाती है।

देहाती क्षेत्र के लिये भारतीय संघ के विविध राज्यों में अनेक स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की स्थापना की गई है, जो निम्नलिखित हैं—डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, सब-डिविजनल बोर्ड और लोकल बोर्ड। कुछ राज्यों में ये तीनों प्रकार के बोर्ड हैं, कुछ में केवल दो प्रकार के हैं, और कुछ में केवल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ही हैं। उत्तरप्रदेश, बिहार और पंजाब में केवल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड हैं। इन राज्यों में सब-डिविजनल बोर्डों (जिन्हें ताल्लुकाबोर्ड भी कहते हैं) की सत्ता नहीं है। आसाम में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड नहीं हैं, वहां केवल लोकल बोर्ड हैं। बम्बई राज्य में पहले ताल्लुका बोर्डों की भी सत्ता थी, पर अब उन्हें हटा दिया गया है। बंगाल में लोकल बोर्ड भी हैं, पर अब उन्हें धीरे-धीरे हटाया जा रहा है।

सभी राज्यों में ग्राम पंचायतें संगठित की जा रही हैं, क्योंकि संविधान द्वारा प्रतिपादित राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में उनकी स्थापना का भी उल्लेख है।

जिला बोर्डों का संगठन—राज्य की विधानसभा के निर्वाचकों की सूची में जिन व्यक्तियों का नाम हो, और जो जिला बोर्ड के क्षेत्र के निवासी हों, वे सब जिला बोर्डों के सदस्यों के चुनाव के लिये भी मतदाता होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिलाबोर्ड के सदस्य भी वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं। २१ वर्ष की आयु के कोई भी स्त्री-पुरुष वोटर हो सकते हैं, बशर्ते कि वह पागल, दीवालिया व कुछ शर्तों के अधीन राजदण्डित न हों।

प्रत्येक मतदाता को अधिकार है कि वह जिला बोर्ड की सदस्यता के लिये उम्मीदवार हो सके, बशर्ते कि उसमें निम्नलिखित अयोग्यताएँ न हों—(१) वह सरकारी नौकरी में हो, (२) जिला बोर्ड की नौकरी में हो, (३) बोर्ड का ठेकेदार हो या बोर्ड द्वारा दिये गये ठेके में उसकी हिस्सेदारी हो, (४) भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में परिगणित कोई भी भाषा न जानता हो (५) जिसने जिला बोर्ड का कोई टैक्स न दिया हो, या अन्य प्रकार से जो बोर्ड का देनदार हो।

जिला बोर्ड का चुनाव ३ साल के लिये होता है। पर सरकार इस अवधि को बढ़ा सकती है। जिला बोर्ड के सदस्यों की संख्या जिले की आबादी के अनुसार निर्धारित की जाती है। नगरों और कसबों को छोड़ कर जिले के सब देहाती क्षेत्र को अनेक वार्डों में विभक्त कर दिया जाता है, और उनसे बोर्ड के सदस्य चुने जाते हैं। चुनाव का ढंग वही है, जो म्युनिसिपैलिटियों के लिये है। अब जिला बोर्डों में सरकार द्वारा कोई सदस्य मनोनीत नहीं किये जाते। पर निर्वाचित सदस्यों को अधिकार है कि वे कुछ सदस्यों को कोआप्ट कर सकें। इस प्रकार को-आप्ट किये गये सदस्यों में से कम से कम २ स्त्रियां और १ व्यक्ति ऐसी जाति का अवश्य होना चाहिये, जिनका कोई व्यक्ति चुनाव द्वारा बोर्ड का सदस्य न बन सका हो।

जिला बोर्डों के संगठन को लोकतन्त्रवाद के अनुरूप बनाने के प्रयोजन से इस समय अनेक राज्यों की सरकारें प्रयत्नशील हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार इस सम्बन्ध में शीघ्र ही एक बिल प्रस्तुत करने वाली है। अन्य राज्यों में भी इन बोर्डों के संगठन में सुधार करने के लिये विचार जारी है।

पदाधिकारी--जिला-बोर्ड का मुख्य अधिकारी 'चेयरमैन' (अध्यक्ष) होता है। उत्तर प्रदेश में उसके सम्बन्ध में भी यह व्यवस्था की गई थी कि मतदाताओं द्वारा उसका सीधा चुनाव किया जाया करे। जिले के वे सब व्यक्ति चेयरमैन पद के लिये उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं, जिनके नाम जिला बोर्ड के मतदाताओं की सूची में हों, और जो अपनी आयु के ३० वर्ष पूरे कर चुके हों। पहले बोर्ड के अध्यक्ष का चुनाव बोर्ड के सदस्यों द्वारा ही होता था, पर उत्तर प्रदेश में म्युनिसिपैलिटियों के समान जिला बोर्डों में भी अध्यक्ष का सीधा चुनाव होने की व्यवस्था स्वीकृत की गई थी, यद्यपि वर्तमान समय में जिला बोर्डों के संगठन का सारा प्रश्न ही विचाराधीन है।

जिला बोर्ड के भी सीनियर और जूनियर वाइस चेयरमैन होते हैं, जिनका चुनाव सदस्यों द्वारा एक-एक साल के लिये किया जाता है।

अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिला बोर्ड भी अनेक उपसमितियों को चुनता है, और उनके प्रधानों की भी चुनाव द्वारा नियुक्ति करता है। ये उपसमितियां प्रति वर्ष चुनी जाती है।

जिला बोर्ड के सब सदस्यों के लिए जल्दी-जल्दी बोर्ड की बैठकों में उपस्थित हो सकना सुगम नहीं होता, इसका कारण यह है कि जिले का क्षेत्र काफी बड़ा होता है, और बोर्ड के सदस्यों को बैठकों में उपस्थित होने के लिये कोई वेतन नहीं मिलता। इसलिये बोर्ड एक कार्यकारिणी समिति की नियुक्ति कर देता है। इस समिति में बोर्ड का अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, उपसमितियों के प्रधान और ३ अन्य व्यक्ति (जो बोर्ड के सदस्य होते हैं, और इस समिति में बोर्ड के सदस्यों द्वारा ही चुने जाते हैं) सदस्य होते हैं। इस कार्यकारिणी समिति की बैठकें आवश्यकतानुसार जल्दी-जल्दी की जा सकती हैं।

स्थायी अधिकारी--म्युनिसिपैलिटियों के समान जिला बोर्डों के कार्य को चलाने के लिये भी अनेक स्थायी अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। इनमें सेक्रेटरी, इन्जीनियर, हेल्थ आफिसर और एजुकेशन सुपरिन्टेण्डेण्ट मुख्य हैं। इनके अधीन अन्य भी बहुत से कर्मचारी कार्य करते हैं, यथा ओवरसियर, सेनीटरी इन्स्पेक्टर, एकाउन्टेन्ट, अध्यापक आदि।

जिला बोर्ड के कार्य--शहरी इलाकों में जो कार्य म्युनिसिपैलिटियों के हैं, प्रायः वे ही देहाती क्षेत्र में जिला बोर्ड के हैं। इन कार्यों को भी अनिवार्य और ऐच्छिक दो भागों में बांटा जा सकता है। जिला बोर्डों के अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं--

(१) आने-जाने के साधनों को उन्नत करने के लिये जिले में नई सड़कें बनवाना, सड़कों की मरम्मत करवाना और उन पर पुल बनवाना। सड़कों के किनारे वृक्ष लगवाना और उनकी रक्षा करना।

(२) देहाती इलाकों में औषधालय व डिस्पेंसरियां कायम करना, ताकि ग्राम निवासियों को चिकित्सा की सुविधा हो। जगह-जगह पर कुशल दाइयों (Nurses) की व्यवस्था करना।

(३) चेचक, हैजा आदि छूत की बीमारियों के लिये टीके लगवाना।

(४) कुएँ, तालाब आदि की मरम्मत व सफाई कराना और उनमें लाल दवाई

डाल कर उनके पानी को कीटाणु रहित बनाने का यत्न करना, और नए कुएँ व तालाब आदि बनवाना ।

(५) देहात में प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार के लिये पाठशालाएँ खोलना और योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्रदान करना ।

(६) जिले के देहाती क्षेत्र में लगने वाले मेलों, नुमायशों व पैठों का प्रबन्ध करना।

(७) पशुओं की चिकित्सा व उनकी नसल में उन्नति के उपाय करना ।

(८) जनता में सफाई व स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का प्रचार करना और जहां कहीं सम्भव हो, गन्दगी को दूर कर सफाई करवाना ।

(९) सरायों व डाक बँगलों को कायम करना व उनका प्रबन्ध करना ।

(१०) खोये हुए पशुओं को आश्रय देने के लिये कांजी हाउस बनवाना ।

(११) कृषि और पशु-पालन सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार करना ।

इन व इसी प्रकार के अनिवार्य कार्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे कार्य भी हैं, जिन्हें जिला बोर्ड ऐच्छिक रूप से कर सकते हैं--

(१) जन्म और मत्यु का रिकार्ड रखना और जनगणना करना ।

(२) मोटर-बस सर्विस और ट्राम आदि चलाना ।

(३) छोटे पैमाने पर सिचाई के लिये नहरें बनवाना ।

(४) किसानों के सम्मुख उदाहरण पेश करने के लिये आदर्श खेती प्रारम्भ करना और अच्छे बीजों व उत्कृष्ट नसल के पशुओं का प्रबन्ध करना ।

जिला बोर्ड की आमदनी के साधन--जिला बोर्डों की आमदनी के मुख्य साधन निम्नलिखित होते हैं--

(१) अबवाब--सरकार जमीन के मालिकों से जो मालगुज़ारी वसूल करती है उसके साथही यह अतिरिक्त टैक्स भी जोड़ दिया जाता है, और सरकारी मालगुजारी को वसूल करते हुए ही इसे भी वसूल कर लिया जाता है । इसकी दर प्राय: एक आना रुपया होती है । यदि कोई व्यक्ति १०० रु० सालाना मालगुजारी देता है, तो उसे ६ रु० ४ आने अबवाब भी देना होता है । यह टैक्स सरकार की ओर से जिला बोर्डों को दे दिया जाता है ।

(२) हैसियत टैक्स--जो लोग देहातों में रहते हैं पर मालगुजारी नहीं देते, उन पर यहटैक्स लगाया जाता है । देहातों में केवल जमींदार या किसान ही नहीं बसते,अपितु दूकानदार, बढ़ई, लोहार, महाजन आदि भी बसते हैं । ऐसे जिन लोगों की सालाना आमदनी कम से कम २०० रु० हो, उनसे यह कर वसूल किया जाता है, जिसकी दर ४ पाई प्रति रुपये से अधिक नहीं हो सकती ।

(३) जिला बोर्ड के इलाके में जो कल-कारखाने कायम हों, जिला बोर्ड उनसे भी टैक्स ले सकता है ।

(४) जिले में जो सवारियां (बैलगाड़ी, तांगे, ठेले, खच्चर आदि) चलती हों, उनसे टैक्स लिया जाता है ।

(५) मेलों, बाजारों व पेठों पर टैक्स ।

(६) पशुओं की बिक्री पर टैक्स ।

(७) जिले की नदियों को पार करने के लिये प्रायः नौकाओं के ठेके जिला बोर्ड की ओर से दिये जाते हैं। इसी प्रकार बरसात समाप्त हो जाने पर नदियों पर नौकाओं द्वारा पुल बनाने का ठेका भी दिया जाता है, जो ग्रीष्म ऋतु तक कायम रहता है। इन ठेकों से जिला बोर्ड को आमदनी होती है।

(८) कांजी हाउसों की आमदनी।

(९) जिले के देहाती क्षेत्रों में जो दलाल, आढ़ती व तोले (माल तोलने वाले) कार्य करते हैं, उन्हें भी जिला बोर्ड की ओर से लायसेन्स दिया जाता है। इससे भी उन्हें आमदनी होती है ।

(१०) जिला बोर्ड की अपनी जमीन पर जो फल होते हैं, उन्हें बेचने व पेड़ आदि को बेचने व इस भूमि को बेचने से होने वाली आमदनी।

इन साधनों के अतिरिक्त राज्य सरकार द्वारा भी जिला बोर्डों को आर्थिक सहायता दी जाती है, और वे विशेष कार्यों के लिये सरकार से कर्ज भी ले सकते हैं।

इन विविध साधनों से जिला बोर्डों को जो आमदनी होती है, उससे वे अपना खर्च चलाते हैं। पर यह आमदनी इतनी अधिक नहीं होती, कि देहाती क्षेत्र के निवासियों को भी स्वास्थ्य, सफाई, चिकित्सा, शिक्षा आदि की वे सब सुविधाएँ प्राप्त हो सकें, जो नगर-निवासियों को म्युनिसिपैलिटियों द्वारा प्राप्त होती हैं।

जिला बोर्डों का नया संगठन––स्थानीय स्वराज्य के आदर्श तक पहुँचने के लिये आजकल अनेक राज्य इस प्रयत्न में हैं कि जिला बोर्डों के स्वरूप व संगठन में कतिपय मौलिक परिवर्तन किये जाएँ। शहरी क्षेत्रों में कार्पोरेशन, म्युनिसिपैलिटी, टाउन एरिया कमेटी और नोटीफाइड एरिया कमेटी की सत्ता के कारण नगर निवासियों को अपने-अपने क्षेत्र में स्वशासन का उपयुक्त अवसर प्राप्त हो जाता है। पर यह बात देहाती क्षेत्रों में निवास करनेवाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। ग्रामों में ग्रामसभाओं और पंचायतों की स्थापना के कारण ग्रामवासियों को अपने क्षेत्र में प्रबन्ध व न्याय के कुछ अवसर अवश्य प्राप्त हो गये हैं, पर उनका क्षेत्र केवल अपने ग्राम तक ही सीमित होता है। प्रत्येक जिले में नगरों को अलग कर देने के बाद देहात का जो विशाल क्षेत्र शेष रहता है, उसमें भी स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था करना उपयोगी व आवश्यक है। इसी दृष्टि से उत्तर प्रदेश व पंजाब की सरकारें जिला बोर्डों का नये ढंग से संगठन करने के लिये बिल तैयार कर रही हैं (१९५८), जिनमें निम्नलिखित सिद्धान्तों को दृष्टि में रखा जायगा :––

(१) जिले के देहाती क्षेत्र में सड़कों, सफाई, चिकित्सा, प्रारम्भिक शिक्षा, रोशनी, स्वच्छ जल आदि की व्यवस्था जिला बोर्डों द्वारा उसी ढंग से की जाए, जैसे कि शहरों में म्युनिसिपैलिटियों द्वारा की जाती है।

(२) जिला बोर्ड (जिसे कि अब जिला परिषद् नाम से कहा जायगा) के सदस्य जिले के निवासियों द्वारा निर्वाचित किये जायें और उनका चुनाव वयस्क मताधिकार

द्वारा किया जाया करे।

(३) जिस प्रकार कार्पोरेशनों और म्युनिसिपैलिटियों के एक्जीक्यूटिव आफिसर होते हैं, वैसे ही जिला परिषदों के भी हों, जो कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों (जिलापरिषद् के सदस्यों) के निरीक्षण व आदेशों के अनुसार जिले में स्वच्छ जल, चिकित्सा, सफाई आदि की व्यवस्था किया करें। जिले के क्षेत्र में सड़कें, सफाई, चिकित्सा आदि के कार्य अब अनेक अंशों में राज्य सरकारों के हाथ में रहते हैं। इनको सम्पन्न करने वाले सरकारी अफसर जिला परिषद के तत्त्वावधान में ही अपने कार्य किया करें। एक प्रस्ताव यह भी है कि कि जिले के कलेक्टर की स्थिति भविष्य में जिला परिषद् के एक्जीक्यूटिव आफिसर की रहे, ताकि वह जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में रह कर जिले की व्यवस्था किया करे।

जब तक जिला बोर्डों के सम्बन्ध में नया कानून स्वीकार नहीं हो जाता, उत्तर प्रदेश में इन बोर्डों के नये चुनाव स्थगित हैं, और पुराने बोर्डों का भी अन्त कर दिया गया है। जिला बोर्डों के कार्यों का सम्पादन इस राज्य में अब जिला समितियों द्वारा किया जा रहा है, जिनके अध्यक्ष जिले के कलेक्टर होते हैं।

सरकारी नियन्त्रण——म्युनिसिपैलिटियों के समान जिला बोर्डों के कार्य पर भी राज्य सरकार का नियन्त्रण बहुत अधिक है। जिले का कलेक्टर ही इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। अनेक सरकारी आफिसर——यथा कलेक्टर, डिस्ट्रिक्ट इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स, डिस्ट्रिक्ट हेल्थ आफिसर आदि जिला बोर्डों की बैठक में उपस्थित हो सकते हैं, और उनके कार्यों के लिये पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। जिला बोर्ड जो प्रस्ताव स्वीकृत करे, उसे अमल में आने से रोक सकने का अधिकार भी कलेक्टर को है। उसके बजट पर भी सरकार का नियन्त्रण है। यदि बोर्ड अपना काम ठीक तरह से न करता हो, तो राज्य सरकार उसे भंग भी कर सकती है।

ग्राम पंचायतें

ब्रिटिश शासन के काल में भारत की ग्राम पंचायतों का ह्रास हो गया था, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। स्वतन्त्र भारत के संविधान में ग्राम पंचायतों को बहुत महत्त्व दिया गया है, और राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट रूप से लिख दिया गया है कि राज्य की ओर से ग्राम पंचायतों का संगठन करने पर विशेष ध्यान दिया जायगा और उन्हें वे सब शक्तियां व अधिकार प्रदान किये जाएँगे, जिससे कि वे स्वशासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने में समर्थ हो सकें। इसी को दृष्टि में रख कर भारतीय संघ के अनेक राज्यों ने ग्राम पंचायतों के संगठन के लिये कानून पास किये हैं। इनमें उत्तर प्रदेश का कानून बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कानून अपने वर्तमान रूप में १९५४ ई० में स्वीकृत किया गया था। इस कानून द्वारा यह यत्न किया गया है कि प्रत्येक ग्राम अपना शासन स्वयं करे, उसकी स्थिति एक छोटी-सी रिपब्लिक के समान हो, और ग्रामों के निवासियों को स्वशासन व स्वराज्य का पूरा-पूरा अवसर मिले।

ग्राम सभा——उत्तर प्रदेश के इस कानून के अनुसार ऐसे प्रत्येक गांव में, जिसकी जन-संख्या १००० या अधिक हो, एक ग्राम सभा बनायी जायगी। इससे कम जनसंख्या वाले अनेक ग्रामों को मिलाकर उनमें ग्राम सभा की स्थापना की जा सकेगी।

ग्राम के वे सब निवासी, जो अपनी आयु के २१ वर्ष पूरे कर चुके हों, ग्राम सभा के सदस्य समझे जाते हैं। इनकी सदस्यता के लिये किसी चुनाव की आवश्यकता नहीं। इस ढंग की सभाएँ भारत, ग्रीस, इटली आदि में प्राचीन समय में विद्यमान थीं, जिनमें सब वयस्क नागरिक एकत्रित हो सकते थे। ग्रामों में ऐसी सभाओं की पुनः स्थापना कर उत्तर प्रदेश की सरकार ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। साल में दो बार ग्राम सभा की बैठक अवश्य होनी चाहिये, एक बैठक खरीफ की फसल के बाद और दूसरी रबी की फसल के बाद। यदि ग्राम सभा के २० प्रतिशत सदस्य लिखित रूप से आवेदन करें, तो अन्य समय पर भी ग्रामसभा की बैठक बुलायी जायगी। खरीफ की फसल के बाद होने वाली ग्रामसभा की बैठक में सालाना बजट पर विचार किया जायगा, और रबी की फसल के बाद की बैठक में इस बात पर विचार होगा कि बजट के अनुसार रुपया ठीक ढंग से खर्च किया गया है या नहीं।

ग्रामसभा अपने प्रधान को स्वयं चुनती है। उसे पांच साल के लिये चुना जाता है। इस पद पर ऐसे व्यक्ति को ही चुना जा सकता है, जो तीस साल से अधिक आयु का हो। उसके लिये शिक्षित व साक्षर होना अनिवार्य नहीं है।

पंचायत——सब वयस्क ग्रामवासी ग्रामसभा के सदस्य होते हैं, अतः वह एक अच्छी बड़ी सभा होती है, जिसके अधिवेशन जल्दी-जल्दी नहीं किये जा सकते। उसकी कार्य-कारिणी समिति के रूप में पंचायत का चुनाव किया जाता है। गांव की जनसंख्या के अनुसार पंचायत की सदस्य संख्या ३० से ५१ तक होती है। पंचायत के सदस्यों का चुनाव ग्रामसभा द्वारा किया जाता है। ग्रामसभा में एकत्र हुए ग्रामवासी लोग हाथ खड़े करके पंचायत के सदस्यों को चुनते हैं। इसके लिये उन्हें पर्चियां नहीं डालनी होतीं। पंचायत की सदस्यता के लिये वे सब वयस्क ग्रामवासी उम्मीदवार हो सकते हैं, जो पागल, दीवालिये, कोढ़ी, सरकारी नौकर और राजदण्डित न हों, और जिन पर ग्रामसभा की कोई देनदारी न हो। अछूत समझी जाने वाली जातियों के लोगों के लिये, ग्राम में उनकी संख्या के अनुसार पंचायत में स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं।

ग्रामसभा का प्रधान ही पंचायत का भी प्रधान होता है। उपप्रधान को पंचायत के सदस्य स्वयं चुनते हैं, और वही ग्रामसभा का भी उपप्रधान माना जाता है। उसका चुनाव प्रतिवर्ष होता है।

पंचायतें वे सब कार्य करती हैं, जो कानून द्वारा ग्रामसभाओं के सुपुर्द किये गये हैं। इनकी स्थिति ग्राम-सभा की कार्यकारिणी समिति के सदृश होती है।

ग्रामसभा व पंचायतों के कार्य——पंचायत के कार्य भी दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, अनिवार्य और ऐच्छिक। उनके अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं——

(१) ग्राम के क्षेत्र में जो सार्वजनिक सड़कें हों, उनकी देखभाल और मरम्मत कराना। पंचायतों को चाहिये कि वे इन सड़कों व गलियों को चौड़ा करने, समतल करने पानी निकालने के लिये उन पर पुलिया बनवाने, आवश्यकतानुसार उनके दोनों ओर वृक्ष लगवाने आदि का प्रबन्ध करें।

(२) ग्राम की सफाई व स्वास्थ्य रक्षा का ध्यान रखना भी पंचायतों का अनिवार्य कार्य है। इस उद्देश्य से उसे कुओं और तालाबों की सफाई का प्रबन्ध करना होगा। किसी कुएँ व तालाब के बारे में वह यह व्यवस्था भी कर सकती है, कि उसके पानी का प्रयोग केवल पीने व भोजन पकाने के लिये ही किया जा सके। वहां कपड़े न धोये जायें या पशुओं के स्नान के लिये उसका प्रयोग न हो। यदि किसी मकान का पानी व मैला मकान के बाहर इस ढंग से इकट्ठा हो जाता हो, या रास्ते पर इस ढंग से बहने लगता हो, जिससे सार्वजनिक स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचने की सम्भावना हो, तो पंचायत उस मकान के मालिक को नोटिस देकर समुचित व्यवस्था करने के लिये विवश कर सकती है। ग्रामवासी गोबर, कूड़े आदि के ढेर इस ढंग से न कर सकें, जिससे स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचे, इस बात की व्यवस्था करने का अधिकार भी पंचायत को है।

(३) जन्म और मृत्यु का रिकार्ड रखना।

(४) प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिये पाठशालाएँ खोलना।

(५) यदि ग्राम के क्षेत्र में काम करने वाले किसी सरकारी कर्मचारी (पटवारी, चौकीदार, सिपाही, चपरासी, पतरौल, वेक्सिनेटर आदि) से ग्रामवासियों को कोई शिकायत हो, तो उसकी रिपोर्ट सरकारी अधिकारियों से करना, ताकि वे जांच के बाद यदि शिकायत को सही पायें, तो उचित कार्रवाई कर सकें। इस कार्रवाई की सूचना अधिकारी वर्ग ग्राम पंचायत को देगा।

ग्राम पंचायतों के ऐच्छिक कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) ग्राम में चिकित्सा के प्रबन्ध के लिये औषधालय व डिस्पेन्सरी खोलना।

(२) वाचनालय व पुस्तकालय स्थापित करना।

(३) खेती व पशुओं की नसल में उन्नति करने के लिये यत्न करना।

(४) ग्रामवासियों की शारीरिक उन्नति के लिये खेल-कूद व अखाड़ों का प्रबन्ध करना।

(५) जनता के मनोरंजन व ज्ञान वृद्धि के लिये सार्वजनिक रूप से रेडियो की व्यवस्था करना।

(६) ग्राम की रक्षा व पहरेदारी के लिये स्वयंसेवक दल को संगठित करना।

(७) मेलों, तमाशों व हाट बाजार की व्यवस्था करना।

(१०) पंचायतों को यह भी अधिकार है कि वे ग्राम के क्षेत्र से जिला बोर्ड के टैक्सों को स्वयं वसूल करके बोर्ड को दे सकें और इस कार्य के लिये अपना कमीशन ले सकें।

पंचायतों के अनिवार्य और ऐच्छिक कार्य इतने विस्तृत हैं, कि यदि पंचायतें उन्हें सुचारु रूप से करने लगें, तो वे ग्राम के सुधार व उन्नति के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। वे अपने-अपने ग्राम को एक स्वशासित रिपब्लिक के रूप में परिणत कर सकती हैं, जिसके कारण राज्य सरकार व संघ सरकार के हस्तक्षेप की कोई विशेष आवश्यकता ग्राम के क्षेत्र में नहीं रह जायगी।

आमदनी के साधन––ग्रामसभाओं को अपने कार्यों के लिये रुपये की भी आवश्यकता पड़ती है। इस रुपये को प्राप्त करने के लिये वे निम्नलिखित टैक्स लगा सकती हैं––

(१) गांव में जो लोग किसी प्रकार का व्यापार, मजदूरी व अन्य कारोबार करते हैं, उनसे ग्रामसभा टैक्स वसूल कर सकती है। इस कर की अधिकतम मात्रा इस दर से होगी–मजदूरों से २ रु० वार्षिक, पल्लेदारों से ३ रु० वार्षिक, गाड़ीवालों से १ रु० ८ आना वार्षिक, माल ढोने वाले पशुओं के मालिकों से २ रु० ८ आना वार्षिक, भेड़ व बकरी रखने वालों से २ रु० वार्षिक, व्यापार करने वालों से ९ रु० वार्षिक, और बैलगाड़ी व घोड़ा गाड़ी के मालिकों से ६ रु० वार्षिक।

(२) यू० पी० कास्तकारी कानून १९३९ के मातहत वसूल किये जाने वाले लगान पर एक आना प्रति रुपया के हिसाब से ग्राम सभा टैक्स ले सकती है।

(३) ग्रामसभा द्वारा संचालित बाजार, हाट, पैंठ या मेले में जो लोग माल बेचने के लिये आएँ, उनसे फीस ली जा सकती है, बशर्ते कि वे व्यापारी ग्रामसभा को वार्षिक फीस न देते हों। जो व्यापारी ग्राम के क्षेत्र से बाहर के रहने वाले हों, और सालाना टैक्स न देते हों, यह फीस उन्हीं से ली जाती है।

(४) पशुओं की बिक्री पर शुल्क वसूल करने का ग्रामसभा को अधिकार है।

(५) कसाईखानों पर शुल्क।

(३) निजी पायखानों की सफाई का शुल्क।

(७) जो ग्रामवासी कोई अन्य टैक्स न देते हों, और जिनकी वार्षिक आमदनी ३०० रु० या अधिक हो, ऐसे लोगों के मकानों पर ग्रामसभा टैक्स लगा सकती है।

(८) सीर और खुदकास्त जमीन पर और मकानों पर टैक्स लगाने का ग्रामसभा को अधिकार है।

(९) तालाब से मछलियां पकड़ने व सिंघाड़े आदि एकत्र करने पर भी ग्रामसभाएँ

टैक्स ले सकती हैं। इन साधनों के अतिरिक्त ग्रामसभाओं को राज्य सरकार द्वारा आर्थिक सहायता भी दी जाती है। १९५३-५४ में उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा ग्राम पंचायतों को कुल मिलाकर ६० लाख रुपये की आर्थिक सहायता दी गई थी।

पर ग्रामसभाओं की आमदनी के ये सब साधन पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। ये सभाएँ अपना कार्य तभी भलीभांति कर सकेंगी, जबकि इनकी आमदनी में वृद्धि हो और इन्हें कतिपय ऐसे टैक्स प्राप्त करने का भी अवसर हो, जो अब राज्य सरकार प्राप्त करती है।

इस प्रयोजन से उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था यह की है कि अपने क्षेत्र से लगान वसूल करने का कार्य ग्रामसभाओं के सुपुर्द कर दिया जाए, और इस वसूली के लिए उन्हें एक आना रुपया कमीशन दिया जाए। जमींदारी उन्मूलन के कारण अब सरकार ही जमीन की स्वामी है। किसानों और भूमिधरों से जो लगान व मालगुजारी सरकार प्राप्त करती है, उसकी मात्रा २० करोड़ रुपया वार्षिक के लगभग है। यदि इसकी वसूली का कार्य ग्राम सभाएँ करने लगें, तो उनकी आमदनी में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है।

उत्तरप्रदेश में ग्रामसभाएं——उत्तरप्रदेश में १,१२,००० गांव हैं। पर बहुत से गांव ऐसे हैं, जिनकी जनसंख्या १००० से कम है। उनमें पृथक ग्रामसभा की स्थापना नहीं की गई है। इस समय उत्तरप्रदेश में ३९,१३९ ग्रामसभाएँ स्थापित की जा चुकी हैं, और इतनी ही पंचायतें भी वहां कायम हैं।

न्याय पंचायतें——उत्तरप्रदेश में ग्रामसभाओं की संख्या ३९,१३९ है, पर न्याय पंचायतें संख्या में केवल ८,५४३ हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक ग्राम की अपनी न्याय-पंचायत नहीं है। प्रायः ३ से ५ ग्रामसभाओं के क्षेत्र को मिलाकर उनमें एक न्याय पंचायत बनायी गई है। इस प्रकार एक न्याय पंचायत चार से छः हजार तक की जनसंख्या के क्षेत्र में न्याय का कार्य करती है। इन पंचायतों का संगठन करने का प्रयोजन यह है कि ग्राम के लोग अपने साधारण झगड़ों का फैसला अपने पंचों द्वारा करा लिया करें। इनके लिये उन्हें अदालतों में जाकर व्यर्थ का खर्च व परेशानी न उठानी पड़े।

न्याय पंचायतों के सदस्य किस प्रकार नियुक्त किये जायें, यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। यदि उनका भी ग्रामवासियों द्वारा चुनाव हो, तो ऐसा होने से यह आशंका बनी रह सकती है कि निर्वाचित पंच अपना न्याय-कार्य भली भांति नहीं कर पाएँगे। वे अपने निर्वाचकों को नाराज नहीं करना चाहेंगे, और उनके लिये पक्षपात से ऊपर उठ सकना सम्भव नहीं होगा। इस बात को दृष्टि में रख कर उत्तरप्रदेश में यह व्यवस्था की गई है कि जब ग्राम-सभाएँ अपनी कार्यकारिणी समिति (पंचायत) का चुनाव कर रही हों, तभी वे पांच अति-

रिक्त व्यक्तियों का भी चुनाव कर लिया करें। इस प्रकार ग्रामसभा द्वारा चुने हुए व्यक्तियों में से सरकार द्वारा नियत अधिकारी न्याय पंचायत के पंचों की नियुक्ति करेगा। क्योंकि न्याय पंचायत के क्षेत्र (Circle) में अनेक गांव सभाएँ शामिल होती हैं, अतः इस न्याय-पंचायत के सदस्यों की संख्या २० व २५ के लगभग हो जाती है। न्याय पंचायत के सदस्य स्वयं एक सरपंच और एक सहायक सरपंच को चुनते हैं। सरपंच की अनुपस्थिति में सहायक सरपंच न्याय पंचायत के कार्य को चलाता है। सरपंच और सहायक सरपंच ऐसे व्यक्ति ही चुने जा सकते हैं, जो पढ़ना-लिखना जानते हों। शिक्षित होने पर ही वे पंचायत की कार्रवाई को लेखबद्ध कर सकते हैं।

जब कोई मामला न्याय पंचायत के सम्मुख पेश होता है, तो उसकी जांच व सुनवाई के लिए सरपंच द्वारा पांच पंचों की एक बेंच नियुक्त कर दी जाती है। यह आवश्यक है कि इन पांच में एक व्यक्ति ऐसा हो, जो कि पढ़-लिख सकता हो। यह भी जरूरी है कि इन पांच पंचों में एक उस ग्रामसभा के क्षेत्र का निवासी हो, जहां मुकदमे के वादी व प्रतिवादी निवास करते हों। मुकदमे की सुनवाई के लिये जो पांच पंच नियत किये जाते हैं, उनमें कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हो सकता, जिसकी वादी या प्रतिवादी से कोई रिश्तेदारी हो, या जिसका उनसे किसी अन्य प्रकार का निकट सम्बन्ध हो। पंच लोग बहुमत द्वारा जो निर्णय करें, वही मान्य समझा जाता है। इनके निर्णयों के खिलाफ किसी अदालत में अपील नहीं की जा सकती। पंचायत के सम्मुख कोई वकील किसी पक्ष की पैरवी के लिये नहीं आ सकता। कुछ विशेष दशाओं में पंचायत के फैसले की निगरानी मुंसिफ या उस क्षेत्र के मजिस्ट्रेट द्वारा की जा सकती है।

न्याय पंचायतों का अधिकार क्षेत्र——न्याय पंचायतों को फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के मुकदमों का फैसला कर सकने का अधिकार दिया गया है। यदि न्याय पंचायत के सर्कल में कोई ऐसी चोरी हो जाए, जिसमें ५० रु० मूल्य तक का माल चोरी गया हो, साधारण मार-पीट व गाली-गलौच हो गई हो, तो उनके मुकदमों का फैसला पंचों द्वारा ही किया जाता है। निम्नलिखित फौजदारी मामले इन पंचायतों के सम्मुख पेश होते हैं——कोई व्यक्ति यदि फौज में भरती न हो पर फौजी पोशाक पहने तो उसका फैसला, सरकारी कर्मचारियों द्वारा बुलाये जाने पर हाजिर न होना, अदालती सम्मन की तामील न करना, सड़क पर तेजी से गाड़ी या सवारी चलाना, कुएँ, जलाशय व पानी के अन्य स्थानों को गन्दा करना, आग लगाना या आग लगाने का यत्न करना, व्यभिचार करना, अश्लील कार्य करना, सार्वजनिक इमारतों और स्थानों को नुकसान पहुँचाना व गन्दा करना, बेगार लेना और किसी के मकान व अन्य संपत्ति पर बिना अधिकार के कब्जा कर लेना। इन मामलों में न्याय पंचायत १०० रु० तक जुरमाना कर सकती है, पर उसे जेल

की सजा देने का अधिकार नहीं है। यदि पंचायत के विचार में किसी व्यक्ति की हरकतों से शान्ति भंग होने की सम्भावना हो, तो वह उससे १०० रु० तक मुचलका ले सकती है। मुकदमों की जांच के लिये पंचायत किसी व्यक्ति को गवाही के लिये बुला सकती है। सम्मन जारी हो जाने पर यदि कोई व्यक्ति गवाही देने न आए, तो उस पर २५ रु० तक जुरमाना भी किया जा सकता है।

जिन दीवानी मामलों में १०० रु० तक की राशि का मुकदमा हो, उनका फैसला करने का न्याय पंचायतों का अधिकार है। इन मुकदमों को पेश करते हुए ढाई रुपया सैकड़ा के हिसाब से कोर्ट फीस लगानी होती है। जायदाद, वसीयत या नाबालिगों से सम्बन्ध रखने वाले मुकदमे न्याय पंचायतों के सम्मुख पेश नहीं किये जा सकते।

यदि कोई न्याय पंचायत अपने कार्य को अत्यन्त कुशलतापूर्वक करे, तो राज्य सरकार को अधिकार है कि वह उसे ५०० रु० तक के दीवानी मुकदमों के फैसले का अधिकार दे दे।

पंचायत राज विभाग--ग्राम पंचायतों के कार्य पर निगरानी रखने के लिये उत्तरप्रदेश की सरकार का एक पृथक विभाग है, जिसे 'पंचायत राज विभाग' कहते हैं। इसका एक पृथक् डाइरेक्टर होता है, जिसके अधीन प्रत्येक जिले में एक-एक पंचायत अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। पंचायत अधिकारी के अधीन प्रत्येक न्याय पंचायत के सर्कल में एक-एक सेक्रेटरी नियत किया जाता है। यह न्याय पंचायत के पेशकार का भी कार्य करता है। इस प्रकार सरकारी निरीक्षण व नियन्त्रण में ये पंचायतें जनता में राज्य के प्रति उत्तरदायिता और स्वशासन की भावना को विकसित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए अग्रसर हो रही हैं।

ग्राम समाज--जमींदारी उन्मूलन के बाद उत्तर प्रदेश के ऐसे प्रत्येक ग्राम में, जो मालगुजारी वसूल करने के लिये इकाई की स्थिति रखता हो, एक-एक 'ग्राम-समाज' की भी स्थापना की गई है। इस समय इन ग्राम समाजों की संख्या ८४,००० के लगभग है। गांव के क्षेत्र में जो भी वयस्क व्यक्ति स्थायी रूप से निवास करते हों, और जिनका उस गांव की खेती के साथ सम्बन्ध हो, ग्राम-समाज के सदस्य माने जाते हैं। ये समाज भी अपनी कार्यकारिणी समितियां चुनते हैं, जिन्हें 'भूमि प्रबन्ध समिति' कहते हैं। गांव के क्षेत्र की वह सब भूमि जो बंजर, चरागाह व परती पड़ी हुई हो, और जो अब राज्य के स्वत्त्व में आ गई है, इन ग्राम समाजों को सौंप दी गई हैं। वह इस भूमि की व्यवस्था करती है, और उसे भूमिहीन लोगों को खेती के लिये दे भी सकती है।

ग्राम पंचायतों का उपयोगी कार्य--जब से उत्तर प्रदेश में ग्राम सभाओं व पंचायत आदि का संगठन हुआ है, उन्होंने अनेक लोकहितकारी व उपयोगी कार्य किये हैं। १९५४ ई० से पहले के चार सालों में उन्होंने ८४८ मील पक्की सड़कों और १२८७१ मील कच्ची सड़कों

का निर्माण किया। उन्होंने ३२,१३४ नये कुएँ बनवाये, और ३१,००५ कच्चे कुओं को पक्के कुओं में परिवर्त्तित किया। ७००० पंचायतघर बनाये और लगभग २०० मील लम्बी नालियां बनाई। यह सब कार्य प्रायः श्रमदान द्वारा ही किया गया। इन कार्यों को यदि मजदूरी देकर कराया जाता, तो ६ करोड़ रुपये से भी अधिक मजदूरी में खर्च करना पड़ता। इन बातों के अतिरिक्त ग्राम पंचायतों द्वारा ९८०० पुस्तकालय भी गांवों में खोले गये, और २३०० ग्रामसभाओं ने सार्वजनिक उपयोग के लिये रेडियो सेट भी लगाये। बहुत से अखाड़े व व्यायामशालाएँ भी उन्होंने कायम कीं।

न्याय पंचायतों का कार्य भी कम महत्त्व का नहीं है। इसी अवधि में उनके सम्मुख १४,०२,०६७ मुकदमे पेश हुए, जिनमें से ४,९८,४०२ में समझौता करा दिया गया और शेष का फैसला किया गया।

अन्य राज्यों में ग्राम पंचायतें

उत्तरप्रदेश के समान भारतीय संघ के अन्तर्गत अन्य राज्यों में भी ग्राम पंचायतों का निरन्तर विकास किया जा रहा है। हमारे लिये यह सम्भव नहीं है कि सब राज्यों की पंचायतों पर विशद रूप से प्रकाश डालें। उत्तरप्रदेश के उदाहरण से अन्य राज्यों की पंचायतों के सम्बन्ध में अनुमान किया जा सकता है। पर अन्य राज्यों की पंचायतों के सम्बन्ध में कतिपय बातों का उल्लेख यहां उपयोगी होगा। यहां विविध राज्यों में ग्राम पंचायतों का जो विवरण दिया गया है, वह १९५६ से पूर्व का है, जबकि राज्यों का नया पुनः संगठन नहीं हुआ था। राज्यों के पुनः संगठन के कारण विविध राज्यों के ग्रामों व ग्राम पंचायतों की संख्या में अब अन्तर आ गया है।

बिहार—बिहार राज्य में गांवों की कुल संख्या ७१ ३१८ है। इन गांवों में १०,२८७ पंचायतें स्थापित की जा चुकी हैं। छोटा नागपुर में जिन गांवों की आबादी २५०० हो, उनमें एक पंचायत बनाई जाती है। इससे कम आबादी वाले गांवों को मिलाकर २५०० के लगभग की आबादी के लिये एक पंचायत बना दी जाती है। अन्यत्र आबादी अधिक घनी है, अतः वहां ५००० या अधिक आबादी के प्रत्येक गांव में या कम आबादी के गांवों को मिलाकर ५००० के लगभग की आबादी के लिये एक एक पंचायत की व्यवस्था की जाती है। पंचायत का चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा किया जाता है। वोट पर्चियों द्वारा डाले जाते हैं। क्योंकि पंचायत का क्षेत्र अधिक बड़ा है, अतः पंचायत के सदस्यों के चुनाव के लिये उसे अनेक वार्डों में विभक्त किया जाता है, और प्रत्येक वार्ड से उसकी जनसंख्या के अनुसार सदस्य चुने जाते हैं।

बिहार में भी पंचायतों के कार्य प्रायः वे ही हैं, जो उत्तरप्रदेश में हैं।

साधारण ग्राम पंचायतों के अतिरिक्त बिहार में न्याय पंचायतें भी स्थापित की गई हैं, जिन्हें 'ग्राम-कचहरी' कहते हैं। इनकी संख्या ३८१३ है। ग्राम कचहरियों के सदस्य भी वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं। इनकी संख्या प्रायः १५ होती है। ये अपने सरपंच का चुनाव स्वयं करते हैं। जो व्यक्ति साधारण ग्राम पंचायत का सदस्य हो, वह ग्राम कचहरी का सदस्य नहीं चुना जा सकता। इस प्रकार बिहार के देहाती क्षेत्र में शासन और न्याय को एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् रखा गया है।

राजस्थान--राजस्थान में ३२,०४० गांव हैं। उनके लिये १९,२४६ पंचायतें कायम की जा चुकी हैं। जिन ग्रामों की आबादी ५००० के लगभग हो, उनमें एक पंचायत और जिनकी आबादी ५००० से कम हो उन्हें मिलाकर ५००० की आबादी के लिये एक पंचायत कायम करने की व्यवस्था की गई है। पंचायत के सदस्य वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं। पंचायत के प्रधान (सरपंच) का चुनाव भी सर्व साधारण मतदाताओं द्वारा सीधा होता है।

राजस्थान में न्याय पंचायतें अलग नहीं हैं। ग्राम पंचायतें ही न्याय का कार्य भी करती हैं। उनके अन्य कार्य प्रायः वे ही हैं, जो उत्तरप्रदेश में पंचायतों के हैं।

पंजाब--पंजाब में १६,४५५ गांव हैं। उनके लिये ९१७७ पंचायतें कायम की गई हैं। ५०० की आबादी के गांवों या ग्रामसमूहों के लिये एक पंचायत का निर्माण किया जाता है। वयस्क मताधिकार के आधार पर पंचों का चुनाव होता है। उन्हें चुनने के लिये पर्चियां (बैलट) प्रयोग में लाई जाती हैं। पंचों की संख्या ग्राम की आबादी के अनुसार ५ से ९ तक होती है। पंचायत के प्रधान (सरपंच) का चुनाव पंचायत के सदस्यों द्वारा किया जाता है।

ग्राम पंचायत ही न्याय का कार्य भी करती है। उसके लिये अलग न्याय पंचायतों का संगठन पंजाब में नहीं किया गया है। २०० रु० तक की राशि के दीवानी मुकदमे इन पंचायतों के सम्मुख निर्णय के लिये पेश किये जा सकते हैं।

मध्यप्रदेश--१९५६ में राज्यों के पुनःसंगठन से पूर्व मध्यप्रदेश राज्य का जो क्षेत्र था, उसमें ४८,००० गांव थे, जिनमें ८००० पंचायतें कायम थीं। मध्यप्रदेश में पंचायतों के लिये इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया था, कि प्रत्येक गांव की अपनी अलग पंचायत हो। इसके लिये गांवों को तीन भागों में विभक्त किया गया था। १००० व अधिक आबादी वाले गांव, ५०० से १००० तक की आबादी के गांव, और ५०० से कम आबादी के गांव। अभी बड़े गांवों में ही पंचायतें स्थापित हुई हैं। उनके सदस्यों के चुनाव के लिये वयस्क मताधिकार को आधार माना गया है।

मध्यप्रदेश में न्याय पंचायतें पृथक् रूप से संगठित की गई हैं। प्रत्येक न्याय पंचायत का पृथक् क्षेत्र (सर्कल) होता है, जिसमें कम-से-कम तीन ग्राम पंचायतें या २० और ३० के बीच गैर पंचायती गांव होते हैं। साधारणतया इन न्याय-पंचायतों के सम्मुख १०० रु० तक के दीवानी मुकदमे पेश किये जा सकते हैं। पर यदि दोनों पक्ष सहमत हों, तो ५०० रु० तक के मुकदमे भी ये ले सकती हैं।

मध्यभारत--१९५६ में राज्यों के पुनः संगठन के पूर्व मध्यभारत का जो राज्य था, उसमें २१,९०० गांव थे। जिन गांवों की आबादी १५०० या अधिक थी, उनके लिये एक पृथक् पंचायत कायम की गई थी। कम आबादी वाले गाँवों को मिलाकर उनमें एक पंचायत स्थापित कर दी गई थी। पंचायतों के सदस्यों का चुनाव मतदाताओं द्वारा हाथ खड़े करके होता था। सरपंच का चुनाव पंचायत के सदस्य करते थे।

ग्राम पंचायतों को न्याय का अधिकार नहीं दिया गया था। अनेक ग्राम पंचायतों के क्षेत्र को मिलाकर एक सर्कल बना दिया गया था, जिसकी एक न्याय पंचायत होती थी।

ग्राम पंचायतों के सदस्यों में से ही बैलट द्वारा इस न्याय पंचायत के सदस्य चुने जाते थे। वर्तमान समय में मध्यभारत मध्यप्रदेश के अन्तर्गत हो गया है, पर ग्राम पंचायतों के सम्बन्ध में इस क्षेत्र के जिलों में पुरानी व्यवस्था ही कायम है।

माइसूर––ग्राम पंचायतों की दृष्टि से माइसूर बहुत उन्नत है। वहां १६,४३९ गांव हैं,और १२,६०६ पंचायतें हैं। २००० से ५००० तक की आबादी के ग्रामों व ग्राम-समूहों के लिये एक पंचायत बनाई जाती है। पंचों का चुनाव वयस्क मताधिकार के अनुसार होता है, पर पंच बनने के लिये वही व्यक्ति उम्मीदवार हो सकता है, जिसकी आयु कम से कम २५ वर्ष हो।

माइसूर में न पृथक् न्याय पंचायतें हैं, और न साधारण पंचायतों को ही न्याय सम्बन्धी अधिकार दिये गये हैं।

भारत और अन्य देशों की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में तुलना

नागरिक जीवन में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा मनुष्य उस शिक्षा को प्राप्त करते हैं, जिसके कारण वे उत्तम नागरिक बन सकते हैं। नवयुवक पहले ग्राम की पंचायत या नगर की म्युनिसिपैलिटी के सदस्य बनते हैं, और वहां जनता की सेवा कर वे उस योग्यता व अनुभव को प्राप्त करते हैं, जिसके कारण वे भविष्य में राज्य की विधान सभा या देश की पार्लियामेण्ट के सदस्य बनकर अधिक व्यापक क्षेत्र में जनता की सेवा कर सकते हैं। भारत में अब इन स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की सर्वत्र स्थापना हो गई है, और सार्वजनिक जीवन में दिलचस्पी लेने वाले व्यक्ति उनमें उत्साहपूर्वक कार्य करने लगे हैं। इस प्रसंग में यह उपयोगी होगा कि अन्य देशों की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के साथ भारत की इन संस्थाओं की तुलना की जाए।

इंगलैण्ड––इङ्गलैण्ड की ८० प्रतिशत जनता नगरों में निवास करती है। अतः वहां नगरों की म्युनिसिपैलिटियों का महत्त्व बहुत अधिक है। जिन नगरों की जनसंख्या एक लाख से अधिक हो, उन्हें पार्लियामेण्ट द्वारा स्वशासन के लिये अलग चार्टर दे दिया जाता है। इस प्रकार के नगरों की स्थानीय स्वशासन संस्था को 'काउन्टी बरो' कहते हैं। एक लाख से कम और २० हजार से अधिक आबादी के नगरों की स्थानीय स्वशासन संस्था को 'म्युनिसिपल बरो' कहा जाता है। इङ्गलैण्ड में काउन्टी बरो की संख्या ८३ है, और म्युनिसिपल बरो की ३९२। इन नगरों के अतिरिक्त देहाती क्षेत्रों के लिये भी वहां स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था है, जिसके लिये इङ्गलैण्ड को ५२ काउन्टियों में विभक्त किया गया है। इन काउन्टियों के भी अनेक उप-विभाग हैं। स्थानीय स्वशासन की इकाई को

'पेरिश' कहते हैं। एक पेरिश की आबादी प्रायः ३०० के लगभग होती है। पेरिश के सब निवासी एक स्थान पर एकत्र होकर अपने स्थानीय मामलों की देख-रेख करते हैं। काउन्टी कौंसिलों और बरो कौंसिलों के सदस्य वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं। इन कौंसिलों के कार्य प्रायः वही हैं, जो कि भारत में जिला बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के हैं। नगरों (बरों) के क्षेत्र में पुलीस का कार्य भी बरो कौंसिल के नियन्त्रण में रहता है, अतः वहां पुलीस के प्रधान अधिकारी--जिसे इङ्गलैण्ड में 'चीफ कान्स्टेबल' कहते हैं, की नियुक्ति भी बरो कौंसिल द्वारा की जाती है। पुलीस पर नियंत्रण रखने के कारण इङ्गलैण्ड की म्युनिसिपैलिटियों की शक्ति व स्थिति बहुत उच्च व सम्मानास्पद है।

फ्रान्स--फ्रान्स में स्थानीय स्वशासन की इकाई को 'कम्यून' कहते हैं, जिनकी कुल संख्या ३८,००० के लगभग है। प्रत्येक कम्यून की एक कौंसिल होती है, जिसकी सदस्य-संख्या कम्यून के क्षेत्रफल और आबादी पर निर्भर करती है। प्रायः इन 'कम्यूनल कौंसिलों' की सदस्य संख्या १० से १६ तक होती है, जिन्हें वयस्क मताधिकार द्वारा चुना जाता है। कम्यून दोनों प्रकार के हैं, देहाती भी और शहरी भी। दोनों प्रकार के कम्यूनों के अधिकार, कार्य व शक्ति एक सदृश हैं। कम्यून के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर विचार करने, उनके विषय में नीति का निर्धारण करने और उनका संचालन करने के सम्बन्ध में इन कौंसिलों को पर्याप्त अधिकार दिये गए हैं। कम्यून के अन्तर्गत सड़कें, गलियां, उद्यान पार्क, जल का प्रबन्ध, अग्नि से रक्षा आदि ऐसे मामले हैं, जिनके विषय में कम्यूनल कौंसिलों को पूरा पूरा अधिकार है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, पुलीस, सार्वजनिक इमारतों का क्रय-विक्रय, व निर्माण, कम्यून के बजट आदि ऐसे विषय हैं, जिनको कम्यूनल कौंसिलें अपने जिले की कौंसिल के नियन्त्रण में संपादित करती हैं।

शासन के लिये फ्रान्स ९७ जिलों में विभक्त है। इन जिलों का क्षेत्रफल व जनसंख्या भारत के जिलों की तुलना में कम है। प्रत्येक जिला बहुत से कम्यूनों में विभक्त है। शासन के सम्बन्ध में इन जिलों की कौंसिलों--जिनके सदस्य वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं--को बहुत अधिकार प्राप्त है। ये कौंसिलें जिले की विधान सभा का कार्य करती हैं, और अपने क्षेत्र के लिये कानून भी बना सकती हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, पुलीस आदि सब इसी के अधीन रहते हैं। ये कार्य अपने-अपने क्षेत्र में कम्यूनों की कौंसिलों द्वारा किये जाते हैं, पर जिला कौंसिलों का उन पर नियन्त्रण रहता है।

रूस--रूस में शासन की इकाई ग्राम को माना जाता है, जिनकी संख्या ६ लाख के लगभग है। इनके सब वयस्क नागरिक साल में छः या आठ बार एक सभा में एकत्र होते हैं, और ग्राम सम्बन्धी मामलों पर विचार करते हैं। इन सभाओं का मुख्य प्रयोजन यह है कि सरकार को जनता के विचार ज्ञात होते रहें। क्योंकि रूस के बहुसंख्यक ग्राम छोटे-छोटे हैं, और उनकी जनसंख्या भी कम है, अतः प्रत्येक ग्राम में पृथक् सोवियत (पंचायत) की स्थापना नहीं की गई है। जो ग्राम बड़े हैं, उनमें पृथक् सोवियत की सत्ता है। अनेक छोटे

गांवों को मिलाकर उनके क्षेत्र में एक-एक सोवियत की स्थापना कर दी गई है। सबसे छोटे स्तर की इन सोवियतों को 'सेलो सोवियत' कहते हैं, जिनकी संख्या ७० हजार के लगभग है। इन सेलो सोवियतों के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा किया जाता है। अपने क्षेत्र में शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, स्थानीय उद्योग धंधे, व्यापार और खेती आदि की व्यवस्था सेलो सोवियतों द्वारा ही की जाती है। रूस में बड़े नगर भी पर्याप्त संख्या में हैं। उनमें स्थानीय स्वशासन के लिये जो संस्थाएँ कायम हैं, उन्हें 'म्युनिसिपल सोवियत' कहते हैं। इनके सदस्य भी वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं, और इनके कार्य प्रायः वही हैं, जो कि देहाती क्षेत्र में सेलो सोवियतों के हैं। कम्युनिस्ट व्यवस्था के कारण रूस में खेती, व्यापार, और उद्योग का संचालन भी राज्य द्वारा किया जाता है, अतः ये स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ जहां शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि की देख-रेख करती हैं, वहां साथ ही अपने क्षेत्र में आर्थिक विषयों का भी संचालन करती हैं।

भारत और अन्य देशों की स्वशासन संस्थाओं में तुलना—स्वराज्य के बाद भारत में इस बात का यत्न किया जा रहा है कि ग्राम पंचायतों व अन्य स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार दिये जाएँ, और धीरे-धीरे उनकी स्थिति छोटी-छोटी रिपब्लिकों के समान हो जाए। पर अभी तक वे सच्चे अर्थों में शासन की इकाई नहीं बन सकी हैं। यदि फ्रान्स और रूस के समान भारत में भी पुलीस (शांति और व्यवस्था स्थापित करने) के कार्य इन संस्थाओं के अधीन कर दिये जाएँ, और शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सफाई आदि के सम्बन्ध में भी उनके अधिकारों में वृद्धि कर दी जाए, तो वे वस्तुतः उस लक्ष्य को पूर्ण कर सकेंगी, जिसका प्रतिपादन स्वतन्त्र भारत के संविधान में किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की सरकारें इस सम्बन्ध में अग्रसर होने के लिये प्रयत्नशील हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) उत्तर प्रदेश में जिला बोर्ड के क्या कार्य हैं? (यू० पी० १९५५)

(२) उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में क्या दोष हैं? ये दोष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं? (यू० पी० १९५४)

(३) पंचायत राज पर टिप्पणी लिखिये। (यू० पी० १९५४)

(४) ग्राम पंचायतों का संगठन किस प्रकार किया गया है? उनके अधिकारों और कार्यों का वर्णन कीजिये (यू० पी० १९५१, १९५३)

(५) भारत में म्युनिसिपैलिटियों के शासन के सफलतापूर्वक चलने में कौन-सी रुकावटें हैं? म्युनिसिपैलिटियों के मुख्य कार्य क्या हैं, और उनकी आमदनी के मुख्य साधन कौन से हैं? (राजपूताना, १९५४)

(६) भारत में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के विविध प्रकार कौन-कौन से हैं? उन पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालिये।

(७) उत्तर प्रदेश में म्युनिसिपैलिटियों के संगठन व कार्यों का उल्लेख कीजिये ।

(८) स्थानीय स्वशासन संस्थाओं पर सरकारी नियन्त्रण किस हद तक व किस रूप में है ?

(९) ग्राम पंचायतों के न्याय संबंधी कार्यों पर प्रकाश डालिये ।

(१०) 'ग्राम पंचायतों द्वारा भारत में जनता को वास्तविक अर्थों में स्वशासन का अधिकार दिया गया ।' क्या आप इस बात से सहमत हैं ?

सोलहवां अध्याय

सरकारी नौकरियां

असैनिक सर्विस

राज्य की शासन पद्धति चाहे किसी प्रकार की हो, चाहे उसमें संसदात्मक (Parliamentary) शासन हो और चाहे अध्यक्षात्मक (Presidential), शासन का असली कार्य उस कर्मचारी वर्ग द्वारा किया जाता है, जो स्थायी सरकारी नौकरी में होता है। पार्लियामेण्ट कानून बनाती है और मन्त्रिपरिषद् सरकारी नीति का निर्धारण करती है, पर कानूनों और राजकीय नीति को क्रिया में परिणत करना इस स्थायी कर्मचारी वर्ग का ही कार्य है। देश में चाहे किसी भी राजनीतिक दल की मन्त्रिपरिषद् हो, अध्यक्षात्मक शासन वाले देशों में राष्ट्रपति चाहे किसी भी पार्टी का हो, ये सरकारी कर्मचारी स्थायी रूप से अपने पदों पर रहते हैं। राजनीतिक दलबन्दी से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये राष्ट्रपति व मन्त्रिपरिषद् के आदेशों को आंख मीचकर स्वीकार करते हैं, और उसकी नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये ईमानदारी से यत्न करते हैं। पार्लियामेण्ट व विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्री लोग तभी अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकते हैं, जब उन्हें स्थायी सरकारी कर्मचारियों का सहयोग अविकल रूप से प्राप्त हो। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि इन सरकारी कर्मचारियों को भी इस बात का पूरा भरोसा हो कि उनका पद व नौकरी स्थिर रहेगी और मन्त्रिपरिषद् में परिवर्तन आ जाने व किसी अन्य पार्टी का बहुमत हो जाने के कारण उन पर कोई आंच नहीं आएगी। उन्हें अपने पद से केवल उसी दशा में पृथक् किया जा सकेगा, जब वे अपने कार्य में अयोग्य होंगे, या पक्षपात, रिश्वत आदि के अपराध उनके खिलाफ सिद्ध हो जाएँगे।

किसी भी राज्य का शासन तभी भलीभांति चल सकता है, जब उसके स्थायी कर्मचारी अपने-अपने कार्य में दक्ष व योग्य हों, उन्हें अपनी नौकरी के स्थायित्व का भरोसा हो, वे दलबन्दी से पृथक् हों, और उनकी नौकरी की शर्तें व दशाएँ ऐसी हों, जिनके कारण वे अपनी सारी शक्ति सरकारी सेवा में ही लगाएँ, उन्हें अन्य प्रकार से आमदनी करने का कोई लालच न हो। इन्हीं बातों को दृष्टि में रखकर स्वतन्त्र भारत के संविधान में सरकारी नौकरियों के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं, जिनका प्रयोजन जहां सरकारी कर्मचारियों के हितों की रक्षा करना है, वहां साथ ही इस बात की भी व्यवस्था करना है, कि सरकारी सर्विस में केवल ऐसे ही व्यक्ति आ सकें, जो कि अपने कार्य के लिये वस्तुतः योग्य हों।

सरकारी नौकरियों का वर्गीकरण—भारत की सरकारी नौकरियों को स्थूल रूप

से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है (१) असैनिक नौकरियाँ (Civil Services) और (२) सैनिक नौकरियाँ (Defence Services)।

असैनिक नौकरियाँ भी तीन प्रकार की हैं—(१) अखिल भारतीय, (२) संघीय, और (३) राज्यों की नौकरियाँ। हम इन विविध प्रकार की नौकरियों पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालेंगे।

अखिल भारतीय नौकरियाँ—अखिल भारतीय नौकरियों में सबसे प्रमुख स्थान 'इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस' (Indian Administrative Service) का है। अंग्रेजी शासन के समय में ब्रिटिश शासकों ने भारत का शासन करने के लिये 'इण्डियन सिविल सर्विस' का संगठन किया था। शासन-सम्बन्धी सब महत्त्वपूर्ण पद इसी सर्विस के व्यक्तियों को दिये जाते थे। शुरू में इस सर्विस की परीक्षाएँ इङ्गलैण्ड में ही होती थीं, और उनमें अंग्रेज लोग ही अधिक संख्या में उत्तीर्ण हो सकते थे। १६२२ ई० से इस सर्विस की परीक्षाएँ भारत में भी होने लगीं, और भारतीयों को भी इनमें बैठने का अवसर प्राप्त होने लगा। १६४७ ई० में जब भारत स्वतन्त्र हुआ, और अंग्रेज इस देश से विदा हुए, तो भारतीय भी इस सर्विस में अच्छी बड़ी संख्या में थे।

स्वराज्य के बाद इण्डियन सिविल सर्विस का अन्त कर दिया गया है, और उसके स्थान पर इण्डियन एड्मिनिस्ट्रेटिव सर्विस का प्रारम्भ किया गया है। पर पुरानी सिविल सर्विस के व्यक्तियों के वेतन, भत्ते, पेंशिन आदि के सम्बन्ध में पुराने नियमों को कायम रखा गया है।

इण्डियन एड्मिनिस्ट्रेटिव सर्विस में भरती करने के लिये यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा परीक्षा ली जाती है, और उसमें उत्तीर्ण हुए व ऊँचा स्थान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को इस सर्विस में लिया जाता है। संघ सरकार व राज्यों की सरकारों में ऊँचे शासक पदों पर इसी सर्विस के व्यक्ति नियत किये जाते हैं। जिलों में कलेक्टर, कमिश्नर आदि पदों पर और संघ सरकार व राज्यों की सरकारों के डिप्टी सेक्रेटरी, सेक्रेटरी, डाइरेक्टर आदि ऊँचे पदों पर इसी सर्विस के व्यक्ति नियुक्त होते हैं। इस सर्विस के जो व्यक्ति राज्यों के सरकारी पदों पर कार्य करते हैं, वे राज्यों की सरकारों के ही अधीन रहते हैं। पर उनकी भरती यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा होती है। यह व्यवस्था इस प्रयोजन से की गई है, ताकि सारे भारत में शासक पदों पर कार्य करने वाले व्यक्तियों की योग्यता, कार्यक्षमता आदि एक निश्चित स्टैन्डर्ड की रहे, और इन राज-कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि की दरों का घटा सकना राज्यों की सरकारों के हाथों में न हो।

एक अन्य महत्वपूर्ण अखिल भारतीय सर्विस 'इण्डियन पुलीस सर्विस' है। इसके सदस्यों की नियुक्ति भी यूनियन सर्विस कमीशन द्वारा की जाती है। इन्हें राज्यों में पुलीस सुपरिन्टेन्डेन्ट, डिप्टी इन्स्पेक्टर जनरल आफ पुलीस, इन्स्पेक्टर जनरल आफ पुलीस आदि उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता है।

स्वराज्य के बाद जब भारत ने अन्य देशों के साथ स्वतन्त्र रूप से सम्पर्क

कायम करना शुरू किया, तो एक तीसरी अखिल भारतीय सर्विस का संगठन किया गया, जिसे 'इण्डियन फॉरन सर्विस' कहते हैं। भारत के दूतावास व कान्सलेट अब प्राय: सभी विदेशों में स्थापित हो गये हैं। उनके उच्च पदाधिकारी इण्डियन फॉरन सर्विस के सदस्य होते हैं, और उनकी नियुक्ति भी यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा की जाती है।

संघीय नौकरियाँ—रेलवे, डाक, तार, टेलीफोन, रेडियो, इन्कम टैक्स, सर्वे, आयात-निर्यात कर, केन्द्रीय एक्साइज आदि कितने ही विषय हैं, जो संघ सरकार के अधीन हैं। इनके उच्च राजकर्मचारी संघ सरकार की सेवा में होते हैं। इनकी नियुक्ति भी यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा की जाती है। पर रेलवे की सर्विस में भरती करने के लिये पृथक् रेलवे कमीशन विद्यमान है।

राज्यों की नौकरियाँ—इण्डियन एड्मिनिस्ट्रेटिव सर्विस और इण्डियन पुलीस सर्विस के राजकर्मचारियों के अतिरिक्त राज्य सरकार के अधीन कार्य करने वाले अन्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति "राज्य पब्लिक सर्विस कमीशनों" द्वारा की जाती है, और ये कर्मचारी राज्य सरकार की अधीनता व नियन्त्रण में रहते हुए ही अपने कार्य करते हैं। ये राजकीय सर्विसें अनेक प्रकार की हैं यथा—

(१) प्रान्तीय सिविल सर्विस—इसके सदस्य डिप्टी कलेक्टर आदि प्रशासन-सम्बन्धी पदों पर नियत किये जाते हैं। राज्य सरकार में असिस्टेन्ट सेक्रेटरी आदि पदों पर भी ये कार्य करते हैं।

(२) प्रान्तीय ज्युडिशियल सर्विस—इसके सदस्य मुंसिफ, सिविल जज आदि न्याय सम्बन्धी पदों पर काम करते हैं, और उन्नति करते हुए डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन्स जज के पद तक पहुँच जाते हैं। कतिपय योग्य व्यक्ति हाईकोर्ट के जज का पद भी प्राप्त कर लेते हैं।

(३) प्रान्तीय पुलीस सर्विस—इसके सदस्य सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस से नीचे के पुलीस के पद प्राप्त करते हैं।

(४) प्रान्तीय स्वास्थ्य (Health) सर्विस—इसके सदस्य हेल्थ आफिसर, इन्स्पेक्टर जनरल आफ पब्लिक हेल्थ आदि स्वास्थ्य विभाग से सम्बन्ध रखने वाले पदों पर नियत किये जाते हैं।

(५) प्रान्तीय मेडिकल सर्विस—इसके सदस्य असिस्टेन्ट सर्जन, सिविल सर्जन आदि का कार्य करते हैं।

(६) प्रान्तीय एजुकेशनल सर्विस—इसके सदस्यों की नियुक्ति सरकारी कालिजों में अध्यापक व प्रिंसिपल के रूप में और इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स आदि पदों पर की जाती है।

(७) प्रान्तीय इन्जीनियरिंग सर्विस—सड़क, नहर, बिजली आदि के महकमों में इनकी नियुक्ति असिस्टेन्ट इन्जीनियर, एक्जीक्यूटिव इन्जीनियर आदि पदों पर होती है।

इनके अतिरिक्त कृषि, जंगलात, पशु-चिकित्सा आदि कितने ही अन्य कार्यों के

लिये विविध राज्यों में प्रान्तीय सर्विसों की सत्ता है, जिनके सदस्य राज्य के पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा नियुक्त होते हैं, और राज्य सरकार की अधीनता में ही अपना कार्य करते हैं।

अधीन स्थिति की नौकरियाँ (Subordinate Services)—इन उच्च स्थिति की सरकारी नौकरियों के अतिरिक्त अनेक अधीन स्थिति की सरकारी नौकरियाँ भी हैं। संघ सरकार के अधीन इन नौकरियों की चार श्रेणियाँ हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय श्रेणी के कर्मचारी महत्त्व के पदों पर नियत होते हैं, और उन्हें गजटेड आफिसर की स्थिति प्रदान की जाती है। वे अखिल भारतीय व संघीय सर्विसों के कर्मचारियों के अधीन जिम्मेवारी के पदों पर काम करते हैं, और आफिस सुपरिन्टेन्डेन्ट, असिस्टेन्ट सेक्रेटरी आदि के पदों पर नियुक्त होते हैं। तीसरी श्रेणी की नौकरी में सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले क्लार्क, टाइपिस्ट, स्टेनो आदि की गिनती होती है, और चौथी श्रेणी में उनसे भी नीचे दर्जे के कर्मचारियों की। इनमें से अधिकांश की नियुक्ति पब्लिक सर्विस कमीशनों द्वारा की जाती है, पर कुछ कर्मचारियों को विभाग के अधिकारी भी नियुक्त कर सकते हैं।

इसी प्रकार की अधीन स्थिति की नौकरियाँ राज्यों की सरकारों में भी होती हैं। स्वास्थ्य विभाग में चीफ सेनिटरी इन्स्पेक्टर व सैनिटरी इन्स्पेक्टर, इन्जीनियरिंग विभाग में ओवरसियर, शासन विभाग में तहसीलदार और नायब तहसीलदार इसी प्रकार की अधीन स्थिति की नौकरी में होते हैं।

सरकारी कर्मचारी तन्त्र की स्थिति—संविधान द्वारा संघ पार्लियामेण्ट और राज्यों के व्यवस्थापन विभागों को यह अधिकार दिया गया है कि वे अपने-अपने क्षेत्र की सरकारी सर्विसों के लिये नियम बनाएँ। साथ ही, वे यह भी निश्चय करें कि इन सर्विसों के लिये व्यक्तियों को किस ढंग से रिक्रूट किया जायगा व इन सर्विसों की क्या शर्तें होंगी। पर जब तक पार्लियामेण्ट व राज्यों की विधानसभाएँ इस प्रकार के कानून नहीं बनातीं, इन सर्विसों की शर्तों आदि को निर्धारित करने का कार्य संघक्षेत्र के लिये राष्ट्रपति के और राज्यों के क्षेत्र के लिये राज्यपालों के सुपुर्द है। इन उच्च सर्विसों के कर्मचारी तभी तक अपने पदों पर रहते हैं, जब तक कि राष्ट्रपति (राज्य के क्षेत्र में राज्यपाल) उन्हें उनके पदों पर रखना चाहें। पर क्योंकि ये कर्मचारी स्थायी सरकारी नौकरी में होते हैं, अतः इनकी सेवा की अवधि भी नियमों द्वारा निश्चित होती है। उस अवधि से पूर्व इन्हें तभी अपने पद से पृथक किया जाता है, जब कि ये अपने कार्य के लिये अयोग्य साबित हों, या इनके खिलाफ कदाचार का दोष सिद्ध हो जाए। संविधान के अनुसार कोई सरकारी (संघ सरकार व राज्य सरकार की सर्विस में नियुक्त) कर्मचारी, अपनी नियुक्ति करने वाले अधिकारी से निचले दर्जे के अधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जा सकता। उसके विरुद्ध कोई भी निर्णय तब तक नहीं किया जायगा, जब तक कि उसके खिलाफ जो अभियोग लगाये जाएँ, उनके बारे में अपनी सफाई देने का उसे पूरा अवसर न दिया जाए। पर कतिपय विशेष दशाओं में बिना सफाई देने का अवसर दिये भी किसी राजकर्मचारी को उसके

पद से पृथक् किया जा सकता है।

पब्लिक सर्विस कमीशन (लोक सेवा आयोग)—सरकार के कर्मचारियों की नियुक्ति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह आवश्यक है, कि सरकारी पदों पर ऐसे व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाए, जो अपने कार्य के लिये उपयुक्त योग्यता रखते हों। सरकारी कर्मचारियों को नियत करते हुए पक्षपात आदि से ऊपर उठना बहुत जरूरी होता है। शासन का कार्य इतने महत्त्व का है कि उसे सब कोई नहीं कर सकते। मध्यकाल में सरकारी पद भी वंशक्रमानुगत हुआ करते थे। इस कारण अयोग्य व्यक्ति भी उच्च सरकारी पदों पर नियुक्त हो जाते थे। राजा भी अपने कृपापात्रों को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर दिया करते थे। पर आजकल के लोकतन्त्र राज्यों में सरकारी कर्मचारियों के चुनाव का कार्य पब्लिक सर्विस कमीशनों के सुपुर्द कर दिया जाता है, जो योग्यता और कार्यक्षमता को दृष्टि में रख कर ही सरकारी पदों के लिये उपयुक्त व्यक्तियों को चुनता है।

भारत के संविधान के अनुसार संघ सरकार का एक अलग पब्लिक सर्विस कमीशन है, जिसे 'यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन' कहते हैं। राज्यों के लिये अलग पब्लिक सर्विस कमीशनों की व्यवस्था की गई है। पर यदि दो या अधिक राज्यों के व्यवस्थापन विभाग यह प्रस्ताव स्वीकार कर लें कि उनके लिये एक संयुक्त पब्लिक सर्विस कमीशन बना दिया जाए, तो संघ की पार्लियामेण्ट इन राज्यों के लिये एक संयुक्त पब्लिक कमीशन का निर्माण करने की अनुमति दे सकती है। यदि कोई राज्य चाहे कि उसकी सब सर्विसों या किन्हीं सर्विसों के व्यक्तियों की नियुक्ति यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा किया जाया करे, तो राष्ट्रपति इसके लिये भी अनुमति दे सकता है।

पब्लिक सर्विस कमीशनों का संगठन—यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्यों के पब्लिक सर्विस कमीशनों के अध्यक्ष व सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार उन राज्यों के राज्यपाल के हाथों में है। यह आवश्यक है कि इन कमीशनों के आधे सदस्य ऐसे हों, जो कि कम-से-कम दस वर्ष तक भारत सरकार व राज्य सरकार के अधीन किसी उच्च पद पर कार्य कर चुके हों।

इन कमीशनों के सदस्यों का कार्य काल ६ वर्ष नियत किया गया है। पर यदि इस अवधि के पूरा होने से पूर्व ही यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन का कोई सदस्य ६५ वर्ष की आयु का हो जाय, और राज्य पब्लिक सर्विस कमीशन का कोई सदस्य ६० वर्ष की आयु का हो जाए, तो वह अपने पद पर नहीं रह सकेगा। इसके पूर्व भी कोई सदस्य अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है, और उसे अपने पद से हटाया भी जा सकता है, बशर्ते कि उस पर कदाचार का दोष सिद्ध हो जाए। कदाचार का दोष लगाये जाने पर सुप्रीम कोर्ट द्वारा उसकी जाँच की जायगी, और यदि सुप्रीम कोर्ट उसके खिलाफ आरोप को सत्य पाये, तो राष्ट्रपति उसे अपने पद से पृथक् कर सकेगा। पब्लिक सर्विस कमीशनों की सदस्यता से पृथक् करने का अधिकार केवल राष्ट्रपति को

है, राज्यपालों को यह अधिकार नहीं दिया गया है। जिस समय किसी सदस्य के मामले की जाँच सुप्रीम कोर्ट द्वारा की जा रही हो, राष्ट्रपति (राज्य के कमीशन के सदस्य के बारे में जाँच की दशा में राज्यपाल भी) उस काल के लिये उसे कार्यमुक्त (suspend) भी कर सकता है।

पब्लिक सर्विस कमीशन का कोई सदस्य यदि दीवालिया हो जाय, किसी अन्य सवैतनिक कार्य को भी स्वीकार कर ले, या शारीरिक और मानसिक अपंगता के कारण राष्ट्रपति की सम्मति में अपने कार्य के लिये असमर्थ हो जाय, तो भी उसे अपने पद से राष्ट्रपति द्वारा पृथक् कर दिया जा सकेगा।

यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्यों व अन्य कर्मचारियों की संख्या राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती है। राज्यों के पब्लिक सर्विस कमीशनों के सदस्यों व अन्य कर्मचारियों की संख्या का निर्धारण उन राज्यों के राज्यपालों द्वारा किया जाता है। इनकी सेवा की शर्तें भी राष्ट्रपति द्वारा और राज्यों में राज्यपालों द्वारा ही निर्धारित होती हैं। पर जब कोई व्यक्ति इन कमीशनों का अध्यक्ष व सदस्य नियुक्त हो जाये, तो उसके कार्यकाल की अवधि में उसके वेतन, भत्ते आदि में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता, जो उसके लिये हानिकारक हो। इन कमीशनों के अध्यक्ष और सदस्यों के वेतन आदि संघ व राज्यों से संचित फण्ड (Consolidated Fund) से दिये जाते हैं, और पालियामेण्ट व विधानसभाओं को उनमें कमी करने का अधिकार नहीं है।

पब्लिक सर्विस कमीशनों के कार्य—भारतीय संघ और राज्यों के पब्लिक सर्विस कमीशनों का मुख्य कार्य क्रमशः अखिल भारतीय व संघीय सर्विसों और राज्य की सर्विसों के लिये परीक्षाओं की व्यवस्था करना है। भारत में सरकारी सर्विसों के लिये व्यक्तियों की नियुक्ति परीक्षाओं द्वारा की जाती है। जो व्यक्ति इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाएँ और परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करें, उन्हीं को इन सर्विसों में नियुक्त किया जाता है। इस प्रयोजन से ये कमीशन इन परीक्षाओं के नियम, कोर्स, विषय आदि का निर्धारण करते हैं, और फिर इन परीक्षाओं की व्यवस्था करते हैं।

संविधान के अनुसार यह भी आवश्यक है कि संघ सरकार यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन से और राज्यों की सरकारें अपने राज्य पब्लिक सर्विस कमीशन से निम्नलिखित विषयों पर परामर्श किया करें—

(१) असैनिक (civil) सर्विसों और असैनिक पदों के लिये भरती करने की पद्धति के साथ सम्बन्ध रखने वाले सब विषयों पर।

(२) असैनिक सर्विसों और पदों पर नियुक्ति के लिये, पद की तरक्की के लिये और एक सर्विस से दूसरी सर्विस में बदली के लिये किन सिद्धान्तों का अनुकरण किया जाये।

(३) असैनिक सर्विस में कार्य करने वाले व्यक्तियों के अनुशासन के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर।

(४) असैनिक सर्विस में कार्य करने वाले किसी व्यक्ति के इस दावे पर कि

कर्तव्य का पालन करते हुए उसके किसी कार्य के लिये उसके विरुद्ध जो कानूनी कार्रवाई की गई, उसमें जो खर्च उसने अपने को निर्दोष साबित करने के लिये किया, वह उसे सरकार द्वारा दिया जाना चाहिए।

(५) असैनिक सर्विस में कार्य करते हुए किसी व्यक्ति को यदि अपना कर्तव्य पालन करते हुए कोई चोट वे अन्य क्षति पहुँच जाये, तो उसे पैंशिन दिये जाने के सम्बन्ध में और पैंशिन की मात्रा के दावे के सम्बन्ध में।

इन सब विषयों पर सरकार के लिये पब्लिक सर्विस कमीशन की सम्मति लेना अनिवार्य है।

वार्षिक रिपोर्ट—यूनियन पब्लिक सर्विस के लिये आवश्यक है कि वह प्रतिवर्ष अपने कार्य की वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति की सेवा में प्रस्तुत करे। राष्ट्रपति इस रिपोर्ट की एक-एक प्रति पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करता है। यदि कोई ऐसा मामला हो, जिसमें कमीशन के परामर्श को स्वीकृत न किया गया हो, तो राष्ट्रपति के लिये आवश्यक है कि वह एक मेमोरेण्डम द्वारा उन कारणों को स्पष्ट करे, जिनसे कमीशन के परामर्श को अस्वीकृत किया गया। यह मेमोरेण्डम भी पार्लियामेण्ट के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत किया जायगा।

राज्यों के पब्लिक सर्विस कमीशन अपने कार्य की वार्षिक रिपोर्ट राज्यपाल की सेवा में प्रस्तुत करते हैं। वह उन्हें (किसी परामर्श के अस्वीकृत करने की दशा में उसके कारणों के विवरण के मेमोरेण्डम के साथ) विधान सभा (व विधान परिषद्) के समक्ष प्रस्तुत कराता है। यदि कोई पब्लिक सर्विस कमीशन दो या अधिक राज्यों के लिये कार्य करता है, तो वह अपनी वार्षिक रिपोर्ट उन सब राज्यों के राज्यपालों की सेवा में प्रस्तुत करता है,. जिनके लिये वह कार्य करता हो। वार्षिक रिपोर्टों से उनके कार्यों का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है।

पब्लिक सर्विस कमीशनों की स्वतन्त्रता—जिस प्रकार न्याय विभाग के लिये स्वतन्त्र, सुसंगठित और शक्तिसम्पन्न होना उपयोगी है, वैसे ही पब्लिक सर्विस कमीशनों के लिये भी है। इन कमीशनों का कार्य बहुत महत्व का है। ये ही उन व्यक्तियों की नियुक्ति करते हैं, जिन्हें स्थायी रूप से सरकारी सेवा में रहकर राज्य के कार्य का संचालन करना होता है। यदि इन कमीशनों के कार्य में मन्त्रिवर्ग व उच्च सरकारी कर्मचारी हस्तक्षेप कर सकें, तो ये कभी भी उत्कृष्ट व्यक्तियों को सरकारी सेवा के लिए नहीं चुन सकते। भारत के संविधान द्वारा इन कमीशनों की स्थिति को स्वतन्त्र व शक्तिसम्पन्न बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। यदि इन कमीशनों के सदस्य निष्पक्ष, निर्भीक व ईमानदार हों, तो वे वस्तुतः देश के लिए बड़ा उपयोगी कार्य कर सकते हैं।

सैनिक नौकरियाँ (Defence Services) और सैन्य संगठन

जिस प्रकार देश के शासन के लिए अनेकविध राजकर्मचारियों को सरकारी सेवा में रखने की आवश्यकता होती है, वैसे ही देश की रक्षा के लिए सेना की सत्ता

अनिवार्य है। सेना का मुख्य कार्य विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना है। पर आन्तरिक विद्रोह व अशान्ति के लिए भी उसका उपयोग किया जाता है। अंग्रेजी शासन के युग में भारत की सेना का मुख्य प्रयोजन आन्तरिक विद्रोहों को दबाना और देश में ब्रिटिश शासन को कायम रखना ही था। आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में ब्रिटेन के पक्ष में भी किया जाया करता था। भारत के देशभक्त नेता इसे बहुत अनुचित समझते थे, और इसीलिए वे सेना के व्यय में कमी करने के लिए भी आन्दोलन किया करते थे।

स्वराज्य के बाद इस स्थिति में परिवर्त्तन हो गया है। अब भारत एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) राज्य है। अतः विदेशी शत्रुओं से उसकी रक्षा करने की उत्तरदायिता भी भारत की संघ सरकार पर ही है। भारत सरकार भी अब देश की सैनिक शक्ति की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है, और अब सेना के खर्च में कमी करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती। भारत में जो अंग्रेजी पलटनें थीं, वे अब भारत से विदा हो चुकी हैं।

भारत की संघ सरकार का एक विभाग 'रक्षा विभाग' (Defence) भी है, जिसका मुख्य अधिकारी एक मन्त्री होता है। मन्त्रि-परिषद् के सदस्य के रूप में यह रक्षा विभाग के कार्यों के लिए जनता द्वारा निर्वाचित लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इस रक्षा मन्त्री (Defence Minister) का कार्य सेना सम्बन्धी नीति का निर्धारण करना और उसे कार्य में परिणत करना है। इस कार्य में रक्षा-मन्त्री को परामर्श देने के लिए मन्त्रि-परिषद् की एक विशेष उपसमिति भी है, जिसे 'डिफेन्स कमेटी' कहते हैं। इस कमेटी के सदस्य प्रधानमन्त्री, रक्षामन्त्री, अर्थमन्त्री और रेलवे मन्त्री होते हैं। सेना के तीनों विभागों (जल, स्थल और वायु) के प्रधान सेनापति और रक्षा विभाग का सेक्रेटरी भी इस कमेटी की बैठकों में सम्मिलित हो सकते हैं। यह कमेटी रक्षासम्बन्धी विषयों पर विचार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।

भारतीय सेना के तीन विभाग—भारत की सेना के तीन भाग हैं, जल, स्थल और वायु। ब्रिटिश शासन के काल में इन तीनों का एक ही प्रधान सेनापति हुआ करता था। पर अब तीनों को एक-दूसरे से अलग कर दिया गया है, और इन तीनों के प्रधान सेनापति अलग-अलग हैं। ये तीनों रक्षामन्त्री के अधीन हैं।

स्थल सेना—इसके प्रधान को कमान्डर-इन-चीफ या प्रधान सेनापति कहते हैं। इसके अधीन एक 'आर्मी हेडक्वार्टर्स' संगठित है, जिसके छः विभाग हैं—जनरल स्टाफ ब्रांच, एड्ज्युटेन्ट-जनरल ब्राच, क्वार्टर-मास्टर-जनरल ब्रांच, मास्टर-जनरल ऑफ आर्डिनान्स ब्रांच, इन्जीनियर-इन-चीफ ब्रांच और मिलिटरी सेक्रेटरी ब्रांच।

आर्मी हेड क्वार्टर्स के अधीन भारतीय सेना को तीन कमानों (Commands) में बाँटा गया है, जिन्हें पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी कमान कहते हैं। प्रत्येक कमान को एक लेफ्टिनेन्ट-जनरल के अधीन रखा जाता है। कमान के उपविभाग को

'एरिया' कहते हैं, और एरिया के उपविभाग को 'सब-एरिया'। एरिया का बड़ा अफसर मेजर-जनरल और सब-एरिया का बड़ा अफसर ब्रिगेडियर होता है। स्थल सेना के सैनिक अनेक वर्ग के होते हैं, यथा आर्मड कोर, आर्टिलरी इन्जीनियर्स, इन्फैन्ट्री, आर्डिनान्स, एजुकेशनल कोर आदि। इन सबके सैनिक और अफसर अलग-अलग होते हैं, और इनके कार्य भी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।

आर्मी हेडक्वार्टर्स के अधीन जो छः विभाग हैं, उनमें से जनरल स्टाफ ब्रांच का कार्य सैन्य-संचालन की नीति का निर्धारण करना है, एड्ज्युटेन्ट जनरल ब्रांच का कार्य सैनिकों की भरती करना है, क्वार्टर-मास्टर-जनरल का कार्य सेना के सामान को जुटाना है, मास्टर जनरल ऑफ आर्डिनान्स का कार्य हथियार आदि युद्ध सामग्री को प्राप्त कराना है, इन्जीनियर-इन-चीफ का काम सेना के लिए आवश्यक इमारतों, सड़कों व पुलों आदि का बनवाना व उनकी मरम्मत करवाना है, और मिलिटरी सेक्रेटरी ब्रांच का कार्य राष्ट्रपति की रक्षा की व्यवस्था करना है।

भारत की जहाँ एक स्थायी स्थल सेना है, वहाँ साथ ही इस सेना के दो अन्य वर्ग हैं, जिनके सदस्य स्थायी रूप से सैनिक सेवा में नहीं होते। ये वर्ग 'टेरीटोरियल आर्मी', और 'नेशनल कैडेट कोर' कहाते हैं। टैरीटोरियल आर्मी का साल में कुछ समय के लिए कैम्प लगाया जाता है, जिसमें उसके सैनिकों को सैनिक शिक्षा दी जाती है। इस शिक्षा के अभ्यास को जारी रखने के लिए प्रति सप्ताह उन्हें ड्रिल भी करनी होती है। युद्ध व अन्य राष्ट्रीय आपत्ति के समय इस सेना के शिक्षाप्राप्त सैनिक भी देश की रक्षा के लिए काम में लाये जा सकते हैं। नेशनल कैडेट कोर का उद्देश्य भारत के नवयुवकों व नवयुवतियों को सैनिक शिक्षा देना है। इस कोर के सीनियर विभाग में यूनिवर्सिटियों के छात्र भरती किये जाते हैं, और जूनियर विभाग में स्कूलों और कालिजों के। इस शिक्षा के कारण ये विद्यार्थी आवश्यकता पड़ने पर देश की रक्षा के लिए काम कर सकते हैं। नेशनल कैडेट कोर में केवल छात्र भरती होते हैं, पर टैरीटोरियल आर्मी में अन्य नागरिकों को भी भरती होने व सैनिक शिक्षा प्राप्त कर देश सेवा करने का अवसर मिलता है।

जल सेना और वायु सेना—अंग्रेजी शासन के समय में भारत की जल और वायु सेनाएँ नाममात्र को ही थीं। पर स्वराज्य के बाद संघ सरकार ने इनके विकास और उन्नति पर बहुत ध्यान दिया है, और अनेक जंगी जहाज व युद्ध के काम आने वाले हवाई जहाजों का क्रय किया है। अब भारत की ये सेनाएँ भी निरन्तर उन्नति पथ पर अग्रसर हो रही है। जलसेना के कार्यों की शिक्षा देने के लिए कोचीन, विजगापट्टम, लोनावला, जामनगर आदि अनेक स्थानों पर स्कूल खोले गये हैं। वायु सेना के कार्यों की शिक्षा के लिए भी अनेक स्थानों पर व्यवस्था की गई है।

सैनिक सर्विस—भारत की सैनिक सर्विस में जो व्यक्ति कार्य करते हैं, स्थिति व पद की दृष्टि से उनके अनेक वर्ग हैं, यथा जवान, लान्स नायक, नायक, हवलदार, हवलदार-मेजर, जमादार, सूबेदार, सूबेदार-मेजर, सैकिण्ड लेफ्टिनेन्ट, लेफ्टिनेन्ट, कैप्टिन, मेजर, लेफ्टिनेन्ट कर्नल, कर्नल, ब्रिग्रेडियर, मेजर जनरल, लेफ्टिनेन्ट जनरल

और जनरल ।

इनमें से अफसर पद पर उन्हीं सैनिकों को नियुक्त किया जाता है, जिन्होंने सैनिक शिक्षणालय में भरती होकर अफसर पद के लिए ट्रेनिंग प्राप्त की हो। स्थल सेना की शिक्षा के लिए देहरादून में मिलिटरी एकेडमी स्थापित है, जिसमें ट्रेनिंग पाये हुए व्यक्तियों को सेकण्ड लेफ्टिनेन्ट के पद पर नियुक्त किया जाता है। बाद में अपने अनुभव और योग्यता के आधार पर ये निरन्तर उन्नति करते जाते हैं, और लेफ्टिनेन्ट, कैप्टिन आदि ऊँचे पदों को प्राप्त करते हुए मेजर जनरल व जनरल के पद तक भी पहुँच सकते हैं।

योग्य अफसरों की कमी को पूरा करने व उनकी समुचित शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए संघ सरकार ने पूना के निकट खड़कवासला नामक स्थान पर एक नये सैनिक शिक्षणालय की स्थापना की है, जिसे 'नेशनल डिफेन्स एकेडमी' कहते हैं। इस एकेडमी में स्थल, जल व वायु तीनों प्रकार की सेनाओं के लिए अफसरों की ट्रेनिंग की व्यवस्था की गई है।

सेना के अन्य विभागों के लिए अफसरों की ट्रेनिंग के लिए भी पृथक् शिक्षणालय हैं। जालन्धर, देहरादून, बंगलोर आदि में ऐसे स्कूल व कालिज भी हैं, जिनमें किशोर आयु के बालकों को इस ढंग से शिक्षा दी जाती है, जिससे वे बड़े होकर मिलिटरी एकेडमी में भरती हो सकें। वैलिंगटन (नीलगिरि पर्वत) नामक स्थान पर एक स्टाफ कालिज भी स्थापित किया गया है, जहाँ सैनिक स्टाफ के लिए ट्रेनिंग दी जाती है। सैनिक चिकित्सकों की ट्रेनिंग के लिए पूना में एक 'आर्म्ड फोर्सज मेडिकल कालिज' कायम किया गया है। रुड़की में सैनिक इंजीनियरों की शिक्षा की व्यवस्था की गई है, और इसी उद्देश्य से एक संस्था किरकी में भी खोली गई है। इन व अन्य संस्थाओं में जो व्यक्ति शिक्षा पूर्ण कर लें, और जिन्हें सैनिक सेवा के लिए उपयुक्त समझा जाय, उन्हें ही विविध सैनिक पदों पर नियुक्त किया जाता है। सेना के साधारण सैनिकों व जवानों की भरती एड्जुटैन्ट जनरल के महकमे द्वारा की जाती है।

सैनिकों को वीर कृत्यों के लिए सम्मानित करने के प्रयोजन से भारत सरकार वीरचक्र, महावीरचक्र, परमवीरचक्र आदि सम्मानसूचक पदक भी प्रदान करती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) भारत में सरकारी नौकरी का वर्गीकरण आप किस प्रकार करेंगे ?

(२) पब्लिक सर्विस कमीशन का क्या अभिप्राय है ? उसका निर्माण किस प्रयोजन से किया जाता है ?

(३) यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन के संगठन का वर्णन कीजिये। कौनसे ऐसे विषय हैं, जिनके लिए पब्लिक सर्विस कमीशन की सम्मति लेना सरकार के लिए अनिवार्य है ? (यू० पी० १९५१)

(४) 'अखिल भारतीय सर्विस' और 'पब्लिक सर्विस कमीशन' पर टिप्पणियाँ लिखिये।

सत्रहवाँ अध्याय

भारतीय संविधान की कुछ ज्ञातव्य बातें

राजभाषा हिन्दी

ब्रिटिश शासन के समय अंग्रेजी भारत की राजभाषा थी। विदेशी अंग्रेज शासकों के लिये यह स्वाभाविक ही था, कि वे अपनी भाषा ओैर संस्कृति को अपने अधीनस्थ देशों में प्रचारित कगने का प्रयत्न करें। उस समय न केवल सरकारी कार्यों में मुख्यतया अंग्रेजी का ही प्रयोग होता था, अपितु उच्चशिक्षा का माध्यम भी यही भाषा थी। स्कूलों और कालिजों में अंग्रेजी का पढ़ना सब के लिये अनिवार्य था।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तो यह भी स्वाभाविक था कि सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) भारतीय गणराज्य की सरकार अंग्रेजी के बजाय किसी भारतीय भाषा को ही सरकारी कार्यों के लिये प्रयुक्त करने की बात को तय करे। इसीलिये संविधान में कहा गया है कि देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा ही भारत की राजभाषा (Official language) होगी, पर अंकों को उनके अन्तर्राष्ट्रीय रूप में ही लिखा जायगा। भारत की बहुसंख्यक जनता हिन्दी भाषा-भाषी है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और पंजाब के पूर्वी जिलों की जनता की यही भाषा है। इनके अतिरिक्त बंगाल, बम्बई आदि राज्यों में भी इस भाषा को बोलने वाले लोग अच्छी बड़ी संख्या में बसते हैं। अन्य कोई भाषा बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से भारत में हिन्दी का मुकाबिला नहीं कर सकती। इसीलिये इसे भारत की राजभाषा स्वीकार किया गया है।

पर सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के उपयोग को तुरन्त शुरू कर सकने में अनेक कठिनाइयाँ भी हैं। डेढ़ सदी के लगभग भारत में अंग्रेजों का राज रहा। इस सुदीर्घ काल में भारतीय भाषाओं का समुचित विकास नहीं हो पाया। सब सरकारी कार्य अंग्रेजी में होते रहे और शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी ही रही। इस कारण जिन लोगों को सरकारी कार्य का संचालन करना है, जो सरकार के स्थायी कर्मचारी हैं, उन्हें हिन्दी का समुचित ज्ञान नहीं है। साथ ही, भारत के सब कानून भी अंग्रेजी में हैं। उन सब का हिन्दी में तुरन्त अनुवाद कर सकना सुगम कार्य नहीं है। भारत में ऐसे लोग भी बहुत काफी संख्या में हैं, हिन्दी जिनकी मातृभाषा नहीं है और जो उसकी बिलकुल भी जानकारी नहीं रखते। इस दशा में क्रियात्मक दृष्टि से यह उचित समझा गया कि संविधान के लागू होने के १५ वर्ष बाद तक भारत में अंग्रजी को भी राजभाषा के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहे। पर राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि इस काल में संघ सरकार के

कतिपय कार्यों के लिये अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी के प्रयोग का भी आदेश दे सके। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई है, कि १५ वर्ष समाप्त हो जाने के बाद भी संघ पार्लियामेण्ट यदि उचित समझे तो कानून बना कर कतिपय सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी भाषा के प्रयोग को जारी रख सके। १५ वर्ष की अवधि के समाप्त होने के बाद पार्लियामेण्ट को यह भी अधिकार है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के स्थान पर देवनागरी लिपि के अंकों के प्रयोग को कानून द्वारा जारी करा सके।

हिन्दी कमीशन—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के लिये आवश्यक है कि वह संविधान के लागू होने के पाँच साल बाद एक हिन्दी कमीशन की स्थापना करे। इस कमीशन का एक अध्यक्ष होगा, और इसके सदस्य संविधान की आठवीं अनुसूची में परिगणित भाषाओं (आसामी, उड़िया, उर्दू, कन्नड, गुजराती, हिन्दी, काश्मीरी, मलयालम, मराठी, पंजाबी, तामिल, तैलगू, संस्कृत और बंगाली) का प्रतिनिधित्व करने वाले होंगे। इस कमीशन का कार्य निम्नलिखित विषयों पर राष्ट्रपति को परामर्श देना होगा--(१) संघ सरकार के कार्यों में हिन्दी भाषा के अधिकाधिक प्रयोग के सम्बन्ध में। (२) संघ सरकार के सब व कतिपय कार्यों में अंग्रेजी भाषा के प्रयोग को सीमित करने के सम्बन्ध में। (३) सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों में किस भाषा का प्रयोग किया जाए, इस सम्बन्ध में। (४) संघ सरकार और राज्य सरकारों के बीच पत्र व्यवहार व सम्पर्क के लिये प्रयुक्त होने वाली भाषा के सम्बन्ध में और राज्यों की सरकारों के पारस्परिक सम्पर्क व व्यवहार के लिये प्रयुक्त होने वाली भाषा के सम्बन्ध में। (५) संघ सरकार के कार्यों के लिए किन अंकों को प्रयुक्त किया जाए, इस सम्बन्ध में। (६) संघ सरकार की राजभाषा विषयक कोई अन्य विषय, जिसे राष्ट्रपति कमीशन के विचारार्थ प्रस्तुत करे।

संविधान के लागू होने के पाँच वर्ष बाद राष्ट्रपति द्वारा हिन्दी कमीशन का निर्माण कर दिया गया था, जिसके अध्यक्ष श्री खेर थे। यह कमीशन अपनी रिपोर्ट दे चुका है।

पार्लियामेण्ट की कमेटी—संविधान के अनुसार जब हिन्दी कमीशन अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दे, तो उस पर विचार करने के लिए संघ पार्लियामेण्ट की एक कमेटी नियुक्त की जायगी, जिसके ३० सदस्य होंगे। इनमें से २० का चुनाव लोकसभा द्वारा किया जायगा और १० का राज्यसभा द्वारा। इन सदस्यों का चुनाव समानुपाती प्रतिनिधित्व की पद्धति से होगा। यह कमेटी हिन्दी कमीशन की सिफारिशों पर विचार कर उन पर अपनी सम्मति राष्ट्रपति की सेवा में प्रस्तुत करेगी। डा० खेर की अध्यक्षता में नियुक्त हिन्दी कमीशन की रिपोर्ट इस समय पार्लियामेण्ट की कमेटी के समक्ष विचार के लिए विद्यमान है।

संघ के अन्तर्गत राज्यों की सरकारी भाषा—भारतीय संघ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य को अधिकार है कि वह अपने सरकारी कार्यों के लिये हिन्दी को या राज्य में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक को कानून द्वारा सरकारी भाषा के रूप में स्वीकृत कर सके। जब तक कोई राज्य कानून द्वारा किसी भाषा को

अपनी सरकारी भाषा व राजभाषा स्वीकार न कर ले, तब तक राज्यों में भी अंग्रेजी ही सरकारी कार्यों के लिये प्रयुक्त होती रहेगी। राज्यों की राजभाषा क्या रहे, इसके निर्धारण का अधिकार राज्य के व्यवस्थापन विभाग के हाथों में ही रखा गया है।

संघ सरकार अपने कार्यों के लिये जिस भाषा (अंग्रेजी या हिन्दी) को प्रयोग करती हो, संघ सरकार और राज्य सरकारों के आपसी व्यवहार के लिये और विविध राज्यों की सरकारों के पारस्परिक व्यवहार के लिये उसी भाषा का प्रयोग किया जायगा। पर दो या अधिक राज्य आपस में यह इकरार कर सकते हैं कि वे आपस के व्यवहार के लिये हिन्दी भाषा का ही प्रयोग किया करेंगे।

अगर किसी राज्य में वहाँ के निवासियों का अच्छा बड़ा भाग यह माँग करे कि उसके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को भी उस राज्य में सरकारी कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिये और राष्ट्रपति की सम्मति में यह माँग जनता के अच्छे बड़े भाग की माँग हो, तो वह उस राज्य में उस भाषा को सर्वत्र या राज्य के किसी भाग में सरकारी कार्यों के लिये प्रयोग का आदेश दे सकता है।

संविधान द्वारा स्वीकृत भाषाएँ—भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची (Schedule) में उन भाषाओं का परिगणन किया गया है, जो संविधान द्वारा स्वीकृत भाषाएँ हैं। ये भाषाएँ निम्नलिखित हैं—आसामी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, काश्मीरी, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, तामिल, तेलगू, मलयालम और उर्दू।

सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों की भाषा—जब तक पार्लियामेण्ट कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे, सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट की सब कार्रवाई अंग्रेजी भाषा में ही होगी। पर राज्यपाल और राजप्रमुख को अधिकार है कि वे राष्ट्रपति की अनुमति से हिन्दी या किसी अन्य भाषा को, जो कि उनके राज्य में सरकारी कार्यों के लिये प्रयुक्त होती हो, हाईकोर्ट में प्रयुक्त होने के लिये भी अधिकृत कर सकें। पर हाईकोर्ट अपने निर्णय व आज्ञाएँ अंगेजी में ही देंगे।

संघ पार्लियामेण्ट और राज्यों की विधानसभाओं (विधान परिषदों) में पेश किये जाने वाले सब बिलों, व उनके संशोधन आदि के अधिकृत पाठ (Authoritative texts) भी अंग्रेजी में ही होंगे। पार्लियामेण्ट और राज्यों के व्यवस्थापन विभागों द्वारा जो कानून पास किये जाएँगे, और राष्ट्रपति व राज्यपाल द्वारा जो अध्यादेश (आर्डिनान्स) जारी किए जाएँगे, उनके अधिकृत पाठ भी अंग्रेजी में ही होंगे।

पर ये सब व्यवस्थाएँ क्रियात्मक कठिनाइयों को दृष्टि में रख कर ही की गई हैं। संविधान के अनुसार संघ सरकार का कर्त्तव्य है कि वह हिन्दी भाषा के प्रचार व विकास के लिये प्रयत्न करे, ताकि भारत में एक ऐसी भाषा का विकास हो जाए, जो सारे देश में प्रयुक्त हो सके। हिन्दी के विकास के लिये संविधान की आठवीं अनुसूचि में परिगणित सब भाषाओं के शब्दकोश व शैली आदि से भी पूरा-पूरा लाभ उठाया जायगा।

भारत के कतिपय महत्वपूर्ण राजपदाधिकारी

भारत का एटार्नी-जनरल—भारत के संविधान में कतिपय ऐसे उच्च राज-पदाधिकारियों का उल्लेख किया गया है, जिन पर इस पुस्तक में अब तक प्रकाश नहीं डाला गया। एनार्टी-जनरल (Attorney General) इनमें से एक है। इस पद पर ऐसे ही व्यक्ति को नियत किया जा सकेगा, जिसमें सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश होने की सब योग्यताएँ हों। इसकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा की जायगी, और वह तब तक अपने पद पर रह सकेगा, जब तक राष्ट्रपति उसे उस पद पर रखना चाहे। उसके वेतन, भत्ते आदि का निर्धारण भी राष्ट्रपति द्वारा ही किया जायगा। जनवरी, १६५० में राष्ट्रपति ने एक आदेश द्वारा एटार्नी जनरल का मासिक वेतन ४००० रु० नियत किया है। इसके अतिरिक्त उसे भत्ते आदि दिये जाने की भी व्यवस्था की गई है। एटार्नी जनरल का कार्य भारत की संघ सरकार को ऐसे मामलों में कानूनी परामर्श देना और कानून से सम्बन्ध रखने वाले अन्य ऐसे कर्त्तव्यों को करना है, जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर उसके सुपुर्द करे। अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए एटार्नी जनरल को अधिकार है कि वह भारत के किसी भी न्यायालय में अपनी सुन-वाई करा सके।

एडवोकेट जनरल—जिस प्रकार भारत की संघ सरकार के लिए एटार्नी जनरल की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है, वैसे ही राज्यों के लिये एड्वोकेट-जन-रलों की नियुक्ति की व्यवस्था है। इस पद पर ऐसे व्यक्ति को ही नियत किया जा सकता है, जिसमें हाईकोर्ट के न्यायाधीश होने की योग्यताएँ हों। इसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है, और वह तभी तक अपने पद पर रहता है, जब तक कि राज्यपाल उसे उस पद पर रखना चाहे। उसके वेतन-भत्ते आदि का निर्धारण भी राज्य-पाल द्वारा ही किया जाता है। एड्वोकेट जनरल का कार्य राज्य सरकार को ऐसे मामलों में कानूनी परामर्श देना और कानून से सम्बन्ध रखने वाले अन्य ऐसे कर्त्तव्यों को करना है, जिन्हें राज्यपाल समय-समय पर उसके सुपुर्द करें। उसे यह भी अधि-कार है कि वह राज्य की विधान सभा (व विधान परिषद्) में उपस्थित होकर उसमें भाषण कर सके। पर उसे वहाँ वोट देने का अधिकार नहीं है।

भारत का कन्ट्रोलर और आडीटर-जनरल—सरकारी कार्यों के सुचारु रूप से संचालन के लिये यह परम आवश्यक है कि सरकारी आमदनी और खर्च का हिसाब भी सही-सही रखा जाए, और उसकी निष्पक्ष रूप से जाँच (Audit) होती रहे। इसीलिए भारत में आडिट का एक पृथक् विभाग संगठित किया गया है, जिसका प्रधान अधिकारी 'कण्ट्रोलर और आडीटर जनरल' (Comptroller and Auditor General of India) कहाता है। इस पदाधिकारी की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उसे अपने पद से हटाने के सम्बन्ध में वही विधि है, जो सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों के सम्बन्ध में है। कण्ट्रोलर एण्ड आडीटर जनरल का वेतन, भत्ते व सर्विस की अन्य शर्तें पार्लियामेण्ट द्वारा कानून बनाकर निश्चित की जायँगी, पर जब

तक पार्लियामेण्ट इस विषय में कानून द्वारा कोई निश्चय नहीं करती, उसे ४,००० रु० मासिक वेतन मिलेगा। इसके अतिरिक्त उसे भत्ते आदि भी दिये जायँगे। इस पद का अधिकारी जब अपने कार्य से मुक्त हो जाये, तो वह संघ सरकार के अधीन किसी अन्य पद को ग्रहण नहीं कर सकेगा। उसके वेतन आदि भारत के संचित फण्ड (Consolidated Fund) से दिये जाते हैं, और पार्लियामेण्ट उन पर वोट नहीं देती।

कण्ट्रोलर एण्ड आडीटर जनरल का कार्य यह देखना है कि सरकारी विभाग उतना ही खर्च करें, और उन्हीं कामों पर खर्च करें, जितना जिस काम के लिए पार्लियामेण्ट ने स्वीकार किया हो। संघ सरकार व राज्यों की सरकारें अपने आय-व्यय का हिसाब किस प्रकार रखें, इसका निर्धारण वही राष्ट्रपति की सहमति द्वारा करता है। सब सरकारी विभागों के हिसाब की जाँच कर वह अपनी रिपोर्ट तैयार करता है, और उसे राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति द्वारा उसे पार्लियामेण्ट के पास भेजा जाता है। राज्य सरकारों के आय-व्यय के हिसाब के सम्बन्ध में वह अपनी रिपोर्ट उस राज्य के राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है, जिसके द्वारा वह उस राज्य के व्यवस्थापन विभाग के पास भेजी जाती है।

एंग्लो-इण्डियन वर्ग के लिए कतिपय विशेष व्यवस्थाएँ

भारत एक राष्ट्र है, उसके सब निवासी एक ही राष्ट्रीयता के अंग हैं। इसीलिए भारत के संविधान में धर्म, नस्ल, भाषा आदि के भेदों के कारण किसी वर्ग के प्रति विशेष बरताव नहीं किया गया है। पर भारत की जनता में एक वर्ग ऐसा है, जिसके लिए संविधान में कतिपय विशेष व्यवस्थाएँ करना आवश्यक समझा गया है। यह वर्ग एंग्लो-इण्डियन लोगों का है। डेढ़ सदी के लगभग अंग्रेजी शासन रहने के कारण भारत में एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया है, जो नस्ल की दृष्टि से भारतीयों और अंग्रेजों का वर्णसंकर है, जिसकी भाषा अंग्रेजी, जिसकी संस्कृति पाश्चात्य है, और जिसका धर्म ईसाई है। अंग्रेजी शासन के समय में सरकारी नौकरियों में—विशेषतया रेलवे, कस्टम्स आदि के विभागों में—इस वर्ग के लोग बहुत बड़ी संख्या में कार्य करते थे, और सरकार की ओर से इसे शिक्षा आदि की भी अनेक विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। यदि इस वर्ग के लिए कतिपय विशेष व्यवस्थाएँ न की जातीं तो इसे बहुत असन्तोष होता।

क्योंकि एंग्लो-इण्डियन लोगों का भारत की सर्वसाधारण जनता से बहुत कम सम्पर्क है, अतः इसकी सम्भावना न के बराबर थी कि कोई एंग्लो-इण्डियन सर्वसाधारण मतदाताओं के वोटों से पार्लियामेण्ट व राज्यों की विधानसभाओं में निर्वाचित हो सके। अतः संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति लोकसभा के लिये और राज्यपाल राज्य की विधान सभाओं के लिये कुछ एंग्लो-इण्डियन व्यक्तियों को सदस्य के रूप में नामजद कर सकें। क्योंकि इस वर्ग के लोगों की आजीविका का प्रधान साधन रेलवे, कस्टम्स, पोस्ट आफिस आदि सरकारी विभागों की सर्विस था, अतः यह भी जरूरी समझा गया कि स्वराज्य के बाद इनकी आजीविका के साधन में

कोई आकस्मिक परिवर्तन न होने पाये। इस कारण संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि संविधान के लागू होने के दो साल बाद तक संघ सरकार के रेलवे, कस्टम्स, टैलीग्राफ आदि विभागों में इस वर्ग के व्यक्तियों की नियुक्ति उसी आधार पर की जाती रहे, जिस आधार पर १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व इनकी नियुक्ति की जाया करती थी। संविधान लागू होने के प्रत्येक दो वर्षों की समाप्ति पर इस वर्ग के लिये रिजर्व किये गये स्थानों में दस प्रतिशत के हिसाब से कमी की जाया करेगी। इस प्रकार संविधान के लागू होने के दस वर्ष बाद एङ्गलो-इण्डियन लोगों के लिए सरकारी नौकरी में कोई भी स्थान रिजर्व नहीं रह जायँगे।

भारत में अनेक ऐसे शिक्षणालय अंग्रेजी शासन के समय कायम किये गये थे, जो एंग्लो-इण्डियन लोगों की शिक्षा के लिये थे। इन्हें सरकार की ओर से विशेष आर्थिक सहायता दी जाती थी। संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि संविधान के लागू होने के तीन साल तक इन स्कूलों को वही आर्थिक सहायता दी जाती रहे, जो ३१ मार्च, १९४८ को समाप्त होने वाले वित्त सम्बन्धी वर्ष (Financial year) में इन्हें दी गई थी। इस अवधि के बाद प्रति तीन वर्षों की समाप्ति पर इस आर्थिक सहायता में १० प्रतिशत के हिसाब से कमी होती जायगी। संविधान लागू होने के दस वर्ष बाद ऐंग्लो-इण्डियन स्कूलों को कोई विशेष आर्थिक सहायता सरकार द्वारा नहीं दी जायगी।

संविधान की प्रस्तावना—भारत के संविधान के प्रारम्भ में प्रस्तावना के रूप में निम्नलिखित वाक्य लिखे गए हैं—

"हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य बनाने तथा उसके सब नागरिकों को

न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक,
स्वतन्त्रता, विचार की, अभिव्यक्ति की, विश्वास की, धर्म की और पूजा की,
समता, स्थिति और अवसर की,
प्राप्त कराने,
तथा उन सब में
बन्धुत्व, जिससे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित रहे
का वर्धन करने

के हेतु इस संविधान सभा में आज २६ नवम्बर, १९४९ ई० को इसके द्वारा इस संविधान को स्वीकार करते हैं, कानून का रूप देते हैं; और अपने को इस संविधान के अर्पण करते हैं।"

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) संविधान के अनुसार देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी भाषा और अन्तर्राष्ट्रीय रूप में लिखित भारतीय अंकों को संघ की राजभाषा स्वीकृत किया गया है। उन बाधाओं का उल्लेख कीजिये, जो हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रयुक्त

होने के मार्ग में उपस्थित होती हैं। इन बाधाओं को कैसे दूर किया जा सकता है ? (अजमेर १९५३)

(२) संविधान में भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों की राजभाषा के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की गई हैं ? इसे आप कहाँ तक उचित समझते हैं ?

(३) संविधान में एंग्लो-इंडियन वर्ग के लिये कौन सी विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं ?

(४) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये—

हिन्दी कमीशन, भारत का एटार्नी-जनरल, भारत का कन्ट्रोलर और आडीटर-जनरल।

अठारहवाँ अध्याय

भारत में नवयुग का सूत्रपात

स्वतन्त्र भारत के संविधान का अनुशीलन करने से हमें यह ज्ञात हो गया कि अब भारत एक सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य (Sovereign Democratic Republic) है, और हमारे देश में किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग का शासन न होकर जनता का शासन है। प्रत्येक नागरिक के अधिकार भली भाँति सुरक्षित हैं, और देश की राजकीय नीति का प्रयोजन यह है कि सब लोग सुखी, सम्पन्न व समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकें। पर संविधान के अनुशीलन के साथ-साथ यह अध्ययन करना भी उपयोगी है कि भारत में नागरिक जीवन का विकास किस ढंग से हो रहा है, यहाँ के नागरिक जीवन की मुख्य-मुख्य समस्याएँ कौन-सी हैं, और उन्हें हल करने के क्या उपाय है।

इस पुस्तक के अगले अध्यायों में इन्हीं बातों पर प्रकाश डाला जायगा।

इतिहास में आधुनिक युग (Modern Age) का प्रारम्भ

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संसार के इतिहास में आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ था। इसका सूत्रपात यूरोप में हुआ, जहाँ पहले व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और बाद में राजनीतिक क्रान्ति।

व्यावसायिक क्रान्ति—अठारहवीं सदी के शुरू में इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि यूरोपियन देशों का आर्थिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि भारत, चीन, ईरान, बरमा आदि एशियन देशों का था। उस समय यूरोप का किसान लकड़ी के हलों से जमीन जोतता था, खुरपी से उसकी नलाई करता था, और दरांती से फसल को काटता था। कारीगर तकुए व चरखे पर सूत कातते थे, और लकड़ी की खड्डियों पर कपड़े की बुनाई करते थे। लुहार लोग पुराने जमाने के घन व हथौड़े से अपना काम करते थे। लकड़ी की बनी हुई गाड़ियाँ असबाब ढोने व यात्रा करने के काम आती थीं। घोड़े की अपेक्षा अधिक तेज चलने वाली किसी सवारी का परिज्ञान उस समय के यूरोपियन लोगों को नहीं था। समुद्र को पार करने वाले जहाज भी उस समय पाल व चप्पुओं से ही चला करते थे।

पर अठारहवीं सदी के मध्य में इस दशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ। नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण यूरोप के लोग नये व उन्नत ढंग के औजारों का प्रयोग करने लगे। उन्होंने भाप की शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर उसका उपयोग करना शुरू किया और ऐसे कारखाने कायम करने प्रारम्भ किये, जिनमें यान्त्रिक शक्ति से काम लिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि वे बहुत बड़ी मात्रा में माल तैयार करने लगे और जो काम

पहले कारीगर अपने हाथ से दिन भर में करता था, वह अब यन्त्र की सहायता से मिनटों में होने लगा। इतिहास में इसी को 'व्यावसायिक क्रान्ति' (Industrial Revolution) कहा जाता है।

व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ पहले-पहल इङ्गलैण्ड में हुआ था। वहाँ से शुरू होकर वह पहले पश्चिमी यूरोप के देशों में और फिर संसार के अन्य देशों में फैल गई। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने इङ्गलैण्ड में व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) ऐसे नवीन यान्त्रिक आविष्कार, जिनसे मानव श्रम की बचत होती हो।
(२) भाप और बिजली का यान्त्रिक शक्ति के लिये प्रयोग।
(३) रसायन शास्त्र की नवीन प्रक्रियाओं का आविष्कार।

यहाँ इन आविष्कारों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। इतना निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि १७६७ ई० में इङ्गलैण्ड में एक ऐसे चरखे का आविष्कार हुआ, जिससे आठ व दस सूत एक साथ काते जा सकते थे। १७८४ ई० में कार्टराइट नामक शिल्पी ने एक ऐसी खड्डी तैयार की, जो जल की शक्ति से चलती थी और जिससे ताना-बाना अपने आप बुना जाता था। इस नई खड्डी से १५ साल की आयु का बालक उतना कपड़ा तैयार कर लेता था, जितना कि पुराने ढंग की खड्डी से दस कारीगर कर पाते थे। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही भाप की शक्ति का आविष्कार हुआ, और पत्थर के कोयले को तीव्र अग्नि और जल के संयोग से प्रचुर मात्रा में भाप को उत्पन्न कर उसका उपयोग मशीनों को चलाने के लिये किया जाने लगा। इसके लिये 'स्टीम इंजन' बनाये जाने लगे। अठारहवीं सदी के समाप्त होने से पूर्व ही इङ्गलैण्ड में हजारों की संख्या में स्टीम इंजन प्रयुक्त होने लग गये थे। इंजन के आविष्कार के कारण अब मनुष्य के हाथ में एक ऐसा दानव आ गया था, जो मानव शरीर के समान श्रान्ति व क्लान्ति का शिकार सुगमता से नहीं हो सकता था, और जिससे मनुष्य गुलाम के समान काम ले सकता था। १८१४ ई० में लोकोमोटिव का भी आविष्कार हुआ, जो लोहे की पटरी पर भाप की शक्ति से न केवल स्वयं चल सकता था, अपितु बोझ से लदी हुई गाड़ियों को भी अपने साथ खींच सकता था। इसी आविष्कार के कारण रेलवे लाइनों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, और १८२५ ई० में इङ्गलैण्ड में पहले-पहल रेलवे का प्रयोग होने लगा।

व्यावसायिक क्रान्ति के कारण बड़े-बड़े कल कारखाने खुलने शुरू हुए और आर्थिक उत्पादन में बहुत वृद्धि होने लगी। मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की और वह प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग कर अपनी सुख-समृद्धि के लिये तत्पर हुआ। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण मनुष्य के आर्थिक जीवन में जो महान् परिवर्तन हुआ, वह आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

राजनीतिक क्रान्ति—अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग (१७८९ ई०) में ही फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई। इससे पूर्व यूरोप के प्रायः सभी देशों में स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे। पर फ्रांस की

राज्यक्रान्ति द्वारा संसार के इतिहास में दो नई प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुई, जिन्हें लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता कहते हैं। भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि की दृष्टि से जो लोग एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिये; और इस राज्य में किसी एक राजा या किसी एक वर्ग का शासन न होकर सर्वसाधारण जनता का शासन होना चाहिये, ये विचार फ्रांस की राज्यक्रान्ति की मुख्य देन थे। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने अपने देश में वंशक्रमानुगत राजा के निरंकुश शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की। अन्य अनेक देशों ने भी उनका अनुकरण किया, और धीरे-धीरे सारे यूरोप में लोकतन्त्र शासनों की स्थापना हो गई।

नवयुग का प्रारम्भ—व्यावसायिक और राजनीतिक क्रान्तियों के कारण यूरोप में एक नवयुग का प्रारम्भ हुआ। इसी को इतिहास में आधुनिक युग (Modern Age) कहा जाता है। विचार व वैज्ञानिक आविष्कार किसी एक देश या भूभाग तक ही सीमित नहीं रह सकते। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि के क्षेत्र में जो आविष्कार प्राचीन समय में भारत में हुए थे, वे धीरे-धीरे पहले अरब में और फिर अरबों द्वारा यूरोप में चले गये थे। छापेखाने, कागज, दिग्दर्शन-यन्त्र आदि का आविष्कार पहले-पहल चीन में हुआ था, पर बाद में अन्य सब देशों ने उन्हें अपना लिया था। इसी प्रकार अठारहवीं सदी में जो नये वैज्ञानिक आविष्कार हुए और लोकतन्त्रवाद व राष्ट्रीयता के जो नये विचार उत्पन्न हुए, वे भी केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहे। धीरे-धीरे वे अन्य देशों में भी गये, और उनके कारण संसार के अन्य देशों में भी नवयुग का सूत्रपात हुआ।

भारत में नवयुग का सूत्रपात—नवयुग की प्रवृत्तियाँ यूरोप से शुरू हुईं, पर धीरे-धीरे वे अन्य देशों में भी फैल गईं। भारत भी इन प्रवृत्तियों के प्रभाव से बचा नहीं रहा। अंग्रेजों के सम्पर्क से इस प्रक्रिया में बहुत सहायता मिली।

भारत में अंग्रजों का शासन किस प्रकार स्थापित हुआ, इसे यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं। अठारहवीं सदी के शुरू में जब मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो अंग्रेजों को इस देश को अपने अधीन करने का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। भारत में अंग्रेजों का शासन अठारहवीं सदी में ही स्थापित होना शुरू हो गया था, और १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध के परिणामस्वरूप बंगाल उनके प्रभुत्त्व में आ गया था। १७५७ से १८४९ तक एक सदी का काल अंग्रेजों को भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के संघर्ष में लगाना पड़ा। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत में अंग्रेजी शासन की नींव भली भाँति दृढ़ हो गई थी।

अंग्रेजी शासन द्वारा भारत में नवयुग प्रारम्भ होने में बहुत सहायता मिली। यह नहीं समझना चाहिये कि अंग्रेजी राज्य के अभाव में नये युग की प्रवृत्तियाँ भारत में शुरू न हो पातीं। जापान कभी किसी पाश्चात्य देश के अधीन नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जापान की प्राय: वही दशा थी, जो अठारहवीं सदी में भारत की थी। पर जब जापानी लोगों ने एक बार अनुभव कर लिया कि वे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पाश्चात्य लोगों के मुकाबिले में बहुत पीछे रह गये हैं, तो वे भी अपनी उन्नति के लिये तत्पर हो

गये, और आधी सदी के स्वल्प काल में ही वे पाश्चात्य लोगों के समकक्ष हो गये। यह ठीक है कि राजनीतिक दृष्टि से अठारहवीं सदी के भारत की दशा जापान से बहुत भिन्न थी। अनेक छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता और उनके राजाओं के निरन्तर संघर्ष के कारण इस देश के लिये उन्नति-पथ पर अग्रसर हो सकना उतना सुगम नहीं था, जितना कि उन्नीसवीं सदी में जापान के लिये था। पर फिर भी यह सत्य है कि अंग्रेजी शासन के अभाव में भी भारत पाश्चात्य देशों के ज्ञान-विज्ञान को अपना कर उन्नति कर सकता था। विचार व ज्ञान-विज्ञान किसी एक देश की सम्पत्ति बन कर नहीं रह सकते। वे वायु के समान होते हैं, जो सर्वत्र फैल जाते हैं। पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के कारण यूरोप के ज्ञान-विज्ञान व विचारों के भारत में फैलने की प्रक्रिया में सहायता अवश्य मिली। आज जो भारत व्यावसायिक व राजनीतिक क्षेत्र में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, उसका कारण वे प्रवृत्तियाँ ही हैं, जो अंग्रेजी शासन के समय इस देश में बलवती होनी शुरू हो गई थीं। अंग्रेजी शासन द्वारा भारत में नवयुग आने में अनेक प्रकार से मदद मिली—

(१) ब्रिटिश युग में सम्पूर्ण भारत एक शासन की अधीनता में आ गया। औरङ्गजेब के बाद मुगल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर भारत में जो बहुत से छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये थे, उन सबकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर अंग्रेजों ने एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना की। इस कारण एक सदी के लगभग समय तक भारत में इस ढंग की शान्ति और व्यवस्था कायम रही, जैसी कि शायद मौर्य युग के बाद फिर कभी कायम नहीं रही थी।

(२) अंग्रेजी शासन के समय में भारत पर कोई ऐसे विदेशी आक्रमण नहीं हुए, जो इस देश की शान्ति और व्यवस्था को भंग कर सकते। बीसवीं सदी के दो महा-युद्धों (१९१४-१८ और १९३९-४५) के अवसर पर भी भारत विदेशी सेनाओं द्वारा आक्रान्त होने से बचा रहा।

(३) सम्पूर्ण भारत में एक सुव्यवस्थित व सुसंगठित सरकार स्थापित कर अंग्रेजों ने इस देश की राजनीतिक एकता का प्रादुर्भाव करने में बहुत सहायता पहुँचाई।

(४) अंग्रेजी शासन द्वारा भारत में अंग्रेजी भाषा का भी प्रवेश हुआ। अंग्रेजों ने अपनी भाषा को ही सरकारी कार्य के लिये प्रयुक्त किया और विवश होकर उन सब भारतीयों को अंग्रेजी भाषा सीखनी पड़ी, जो राज्यकार्य में ब्रिटिश सरकार के सहयोगी बने। अंग्रेजी भाषा के प्रवेश के कारण उन सब ज्ञान-विज्ञानों व विचारों का स्रोत भारत के लिये खुल गया, जिनका विकास इस युग में इङ्गलैण्ड व यूरोप के अन्य देशों में हो रहा था। इससे न केवल भारत की वैज्ञानिक व व्यावसायिक उन्नति में सहायता मिली, अपितु राष्ट्रीयता, लोकतन्त्रवाद, समाजवाद आदि के नये विचार भी इस देश में प्रसारित हुए। ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी भाषा के कारण भारत का अन्य देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित हुआ।

(५) अंग्रेज लोग भारत को अपनी अधीनता में रखने के लिये सेना पर ही निर्भर

करते थे। पर वे केवल अंग्रेजी सेना द्वारा भारत को अपने अधीन नहीं रख सकते थे। उन्होंने भारतीयों को सेना में भरती करके ही इस देश की विजय की थी, और भारतीय सेना द्वारा ही इस देश को अपनी अधीनता में रखा था। धीरे-धीरे भारतीयों की एक ऐसी सेना तैयार हो गई, जो युद्ध-नीति व शस्त्र-संचालन के सब आधुनिक तरीकों से परिचित थी। अंग्रेजों का प्रयत्न था, कि यह सेना देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओं से दूर रहे। बहुत समय तक वे इस प्रयत्न में सफल भी रहे। पर भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव होने के साथ-साथ सेना में भी देशभक्ति की भावना उत्पन्न होने लगी, और १९४७ तक यह स्थिति आ गई कि अंग्रेजों के लिये भारत में अपने आधिपत्य को कायम रखने के लिये भारतीय सैनिकों पर निर्भर कर सकना कठिन हो गया।

ये सब बातें थीं, जिन्होंने ब्रिटिश युग में भारत में 'आधुनिकता' व नवयुग का सूत्रपात करने में सहायता की।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत की दशा—भारत में नवयुग का सूत्रपात उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में हुआ, जब कि इस देश में भी नये कल-कारखाने खुलने लगे, रेलवे लाइनों का निर्माण होने लगा, ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी और नये धार्मिक व सुधार सम्बन्धी आन्दोलन शुरू हुए। उससे पूर्व भारत की जो दशा थी, उसको जानने के लिये निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिये।

(१) साहित्य, शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में भारत की वही दशा थी, जो मध्यकाल में यूरोप के देशों की थी। शिक्षा के केन्द्र प्रायः धार्मिक संस्थाएँ हुआ करती थीं। मंदिरों और मस्जिदों में पाठशालाएँ व मदरसे स्थापित थे, जिनमें पण्डित व मौलवी लोग शिक्षक का कार्य किया करते थे। इनमें संस्कृत और अरबी-फारसी की शिक्षा दी जाती थी। गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि आधुनिक विषयों के पठन-पाठन की इनमें कोई भी व्यवस्था नहीं थी। पुराने धर्मशास्त्रों व प्राचीन भाषाओं के ग्रन्थों में जो कुछ ज्ञान उपलब्ध था, विद्यार्थी केवल उसे ही प्राप्त कर सकते थे। पण्डित लोग प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन करने, संस्कृत व्याकरण पढ़ने और प्राचीन दुरूह ग्रन्थों की व्याख्या करने में ही पाण्डित्य समझते थे। यही दशा मुस्लिम विद्वानों की थी। हिन्दी, उर्दू आदि आधुनिक भाषाओं का जो साहित्य था, वह प्रायः कविता, कहानी आदि से सम्बन्ध रखता था। नये ढंग के साहित्य का विकास इस युग में नहीं हुआ था।

(२) धर्म के मामले में लोग पुरानी रूढ़ियों के अनुयायी थे। शास्त्रों में जो कुछ लिखा है, उसे आँख मीच कर मानना और पुरानी परम्पराओं व रूढ़ियों का अनुसरण करना ही वे अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। सत्य-असत्य का निर्णय करने के लिये वे बुद्धि व तर्क की अपेक्षा शास्त्र की पंक्तियों पर अधिक निर्भर करते थे, और उन्हीं के आधार पर किसी बात को सत्य व असत्य मानते थे। हिन्दू धर्म में बहुत संकीर्णता व अनेक प्रकार की बुराइयाँ प्रवेश कर चुकी थीं। छूत-अछूत के भेद ने उग्र रूप धारण कर लिया था, कुछ जातियों को जन्म के कारण ही ऊँचा माना जाता था, और कुछ को नीच। वर्ण-व्यवस्था बिगड़कर जात-पाँत का रूप धारण कर चुकी थी। स्त्रियों

को शिक्षा देना अनुचित माना जाता था। शूद्रों के लिए भी शिक्षा निषिद्ध थी। बहुत से प्रदेशों में स्त्रियाँ परदे में रखी जाती थीं, और छोटी आयु में ही उनका विवाह कर दिया जाता था। कुछ कुलों व जातियों में सती प्रथा का भी प्रचार था। विधवा विवाह को अनुचित समझा जाता था। हिन्दू धर्म के संकीर्ण रूप के कारण हिन्दुओं की जीवन-शक्ति निरन्तर क्षीण होती जा रही थी। इस्लाम की दशा हिन्दू धर्म से अच्छी अवश्य थी, पर उसमें भी ह्रास व विकृति के चिह्न प्रगट होने शुरू हो गये थे।

(३) आर्थिक क्षेत्र में भी भारत यूरोप व अमेरिका के मुकाबिले में बहुत पिछड़ा हुआ था। अठारहवीं सदी के मध्यभाग में जो व्यावसायिक क्रान्ति इंग्लैण्ड में प्रारम्भ हो चुकी थी, उसका विशेष प्रभाव अभी भारत पर नहीं पड़ा था। भारत के कारीगर अभी घर पर बैठकर ही गृह-व्यवसायों द्वारा आर्थिक उत्पादन का कार्य किया करते थे, और यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कल-कारखानों का विकास अभी इस देश में नहीं हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के कारीगर बहुत कुशल थे, और इस देश के बने हुए माल की यूरोप में भी बहुत कदर थी, पर अब भारतीय माल के लिए यह सुगम नहीं रहा था कि वह यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले यूरोप के कल-कारखानों में तैयार हुए माल के मुकाबिले में बाजार में टिक सके।

(४) भारत के जिन राजाओं व नवाबों को जीतकर अंग्रेजों ने यहाँ अपने शासन की स्थापना की थी, वे स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासक थे। लोकतन्त्र विचारों से वे सर्वथा अपरिचित थे और राष्ट्रीयता की भावना उन्हें छू तक नहीं गई थी। न केवल राजाओं व कुलीन लोगों में, अपितु अर्वसाधारण जनता में भी राष्ट्रीयता व देश-प्रेम की भावनाओं का प्रायः अभाव था। भारत में ग्राम-पंचायतें अवश्य विद्यमान थीं, और इनकी सत्ता के कारण स्थानीय मामलों में जनता बहुत कुछ स्वतन्त्रता व स्वशासन का उपभोग भी करती थी, पर अधिक व्यापक क्षेत्र में उस समय लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता के विचारों का अभाव ही था।

पर इस प्रसंग में यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि ये सब बातें कोई भारत की ही अपनी विशेषताएँ नहीं थीं। मध्यकाल में—आधुनिक नवयुग के प्रारम्भ से पूर्व—प्रायः सभी देशों में यही दशा थी। इसी कारण उस युग में नागरिक जीवन का भलीभाँति विकास नहीं हो पाया था। जिसे हम नागरिक जीवन कहते हैं, जिसमें सब मनुष्य केवल अपने प्रति कर्तव्यों का ही पालन नहीं करते, अपितु अपने राज्य व देश के प्रति कर्तव्य-पालन में ही अपनी उन्नति समझते हैं, उसका विकास मध्यकाल में बहुत सीमित क्षेत्र में ही हुआ था।

नवयुग के प्रारम्भ की प्रक्रिया—यूरोप में जब नये युग का प्रारम्भ हुआ, तो उसमें निम्नलिखित बातों ने सहायता पहुँचाई थी—

(१) विद्या का पुनः जागरण (Renaissance) तेरहवीं सदी में ही यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न होने शुरू हो गये थे, जो धार्मिक रूढ़ियों व शास्त्र-प्रमाण के विरुद्ध थे, और जो बुद्धि-स्वातन्त्र्य व वैज्ञानिक विधि से सत्य की खोज के पक्षपाती थे। रोजर बेकन (१२१०-१२९३) सदृश अनेक विचारकों ने इस बात पर

जोर देना शुरू किया था कि हमें पुरानी लकीर का फकीर न होकर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए। सत्य को जानने का यह साधन नहीं है कि प्राचीन धर्मग्रन्थों को कण्ठस्थ किया जाय व उनके शब्दार्थ पर बहस की जाए। इसके लिए हमें अपने दिमाग को प्रमाणवाद से मुक्त कर वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए तत्पर होना चाहिए। बुद्धि-स्वातन्त्र्य के इसी आन्दोलन के कारण यूरोप में अनेक विचारक परीक्षणों द्वारा सत्य की खोज के लिए प्रवृत्त हुए। कोपर्निकस (१४७३-१५४३) और गेलेलियो (१५६४-१६४२) जैसे व्यक्तियों ने परीक्षण द्वारा अनेक ऐसे मतों का खण्डन किया, जो ईसाई धर्मग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित थे। ईसाई धर्माचार्यों ने इन्हें कड़े-से-कड़े दण्ड दिये, अनेक स्वतन्त्र विचारकों को जीते-जी आग में भी जलाया गया। पर इन सब अत्याचारों के बावजूद भी यूरोप में बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति रुकी नहीं, और धीरे-धीरे यूरोप के लोगों ने उन वैज्ञानिक तथ्यों का पता कर लिया, जिनके कारण संसार में नवयुग का प्रारम्भ हुआ।

(२) धार्मिक सुधारणा (Reformation)—पन्द्रहवीं सदी में यूरोप में धार्मिक सुधारणा का आन्दोलन शुरू हुआ, जिसके कारण ईसाई चर्च का आधिपत्य बहुत कुछ शिथिल हो गया, और ईसाइयों में अनेक ऐसे नये सम्प्रदाय शुरू हुए, जिनमें नवचेतना और अनुपम स्फूर्ति थी।

(३) व्यावसायिक क्रान्ति—बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति के कारण अठारहवीं सदी में व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण यूरोप के आर्थिक व सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

(४) इङ्गलिश राज्यक्रान्ति (सत्रहवीं सदी) और फ्रांस की राज्यक्रान्ति (अठारहवीं सदी) ने यूरोप में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिनके कारण सर्वसाधारण जनता को सामाजिक जीवन और राजनीतिक क्षेत्र में समुचित स्थान प्राप्त करने का अवसर मिला।

भारत में नवयुग के स्थापित होने की प्रक्रिया—भारत के इतिहास में नवयुग का सूत्रपात होने में न इतना समय लगा, और न ये सब प्रवृत्तियां भिन्न भिन्न कालों में ही प्रगट हुईं। अंग्रेजों के शासन के कारण भारत का सम्पर्क अकस्मात् ही एक ऐसे देश के साथ हो गया, जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नत था, और जो व्यावसायिक उन्नति और लोकतन्त्र शासन में अन्य देशों का अग्रणी था। इसीलिए नवजागरण और धार्मिक सुधारणा से पूर्व ही भारत में यातायात के साधनों में उन्नति प्रारम्भ हो गई और अनेक कल-कारखाने भी खुलने शुरू हो गये। १८५३ ई० में भारत में रेलवे का प्रयोग शुरू हुआ, और नई व पक्की सड़कों के निर्माण द्वारा स्थल-मार्गों में उन्नति होने लगी। नई-नई नहरें निकाल कर जमीन की सिंचाई प्रारम्भ हुई, जिससे कृषि की उन्नति में बहुत सहायता मिली। रेलवे, पोस्ट आफिस, तार आदि के प्रयोग से भारत के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आने लगा, और बाद में वस्त्र, लोहा, जूट आदि के कारखानों द्वारा व्यावसायिक क्रान्ति के चिह्न भी इस देश में प्रकट होने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश के कारण भारतीयों ने अनुभव किया कि इस ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में

पाश्चात्य देशों के मुकाबले में हम बहुत पीछे रह गये हैं ।

इस अनुभूति ने दो प्रवृत्तियों को जन्म दिया । कुछ विचारकों ने कहा कि पाश्चात्य विद्वानों ने जिन तथ्यों का अब पता किया है, भारत के प्राचीन विद्वानों को वे पहले ही ज्ञात थे । सूर्य स्थिर रहता है, पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती है; विविध नक्षत्र, तारा, ग्रह आदि गुरुत्वाकर्षण के कारण ही अपनी-अपनी जगह पर स्थित हैं—ये सब वैज्ञानिक तथ्य वेद-शास्त्रों में प्रतिपादित हैं । अतः यूरोप के ज्ञान-विज्ञान को सीखना किसी नये तथ्य को अवगत करना नहीं है, अपितु उन बातों को जानना है, जिन्हें भारतीय लोग विस्मृत व उपेक्षित करते रहे हैं । अन्य विचारकों ने कहा कि हमें अपनी सब शक्ति पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को सीखने में ही लगानी चाहिए, पुराने शास्त्रों को कण्ठस्थ करने व उनके अनुशीलन में सारा समय लगा देने से अब कोई लाभ नहीं है । यद्यपि इन विचारकों के विचार एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत थे, पर उनके चिन्तन का परिणाम एक ही हुआ । भारत में नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी, और लोग प्रमाणवाद की जंजीरों से मुक्त होकर बुद्धि और तर्क द्वारा सत्य का पता करने के लिये प्रवृत्त होने लगे । इस प्रकार भारत में भी नवजागरण का प्रारम्भ हुआ ।

भारत के विविध धर्मों व सम्प्रदायों में सुधार की प्रवृत्ति भी इस समय में शुरू हुई, और ब्राह्म-समाज, आर्य समाज आदि के रूप में अनेक ऐसे नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ, जिनका उद्देश्य धर्म के क्षेत्र में सुधार करना था । इन नये धार्मिक आन्दोलनों के कारण भारत की पुरानी सामाजिक रूढ़ियों व परम्पराओं में भारी परिवर्तन हुआ, और पुराने सिद्धान्तों व मन्तव्यों की इस ढंग से व्याख्या प्रारम्भ हुई, जो नवयुग की विचारधारा के अनुकूल है ।

भारत एक राष्ट्र है, उसका अपना स्वतन्त्र राज्य होना चाहिये और इस राज्य का शासन लोकतन्त्रवाद के अनुसार होना चाहिए—ये विचार भी इस युग में उत्पन्न हुए, और इनके कारण वे आन्दोलन शुरू हुए, जिनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन का अन्त करके स्वराज्य की स्थापना करना था । महात्मा गांधी जैसे नेताओं के नेतृत्व में सर्व-साधारण जनता में स्वराज्य की भावना ने इतना प्रबल रूप धारण कर लिया कि अंग्रेजों के लिये भारत पर शासन कर सकना सम्भव नहीं रहा, और १९४७ में भारत पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया ।

भारत में नवयुग की स्थापना—आधुनिक युग की नई प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव व उनकी सफलता ही भारतीय इतिहास के ब्रिटिश युग की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है । उन्नीसवीं सदी के शुरू में जब अंग्रेज लोग भारत में अपने शासन का विस्तार कर रहे थे, इस देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक दशा बहुत शोचनीय थी । पर डेढ़ सदी के बाद १९४७ ई० में जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तो

(१) यह विशाल देश राष्ट्रीय दृष्टि से एक सुदृढ़ संगठन में संगठित हो गया था । काश्मीर से कन्याकुमारी तक और राजस्थान से आसाम तक के सब निवासी अपने को एक राष्ट्र का अंग समझने लग गये थे और भाषा, धर्म, नसल आदि की

भिन्नताओं के बावजूद भी इस देश में राष्ट्रीय एकता की भावना प्रादुर्भूत हो गई थी ।

(२) लोकतन्त्रवाद के विचार भी भारत में भली भाँति विकसित हो गये थे । अंग्रेजी शासन के समय जनता के आन्दोलन से विवश होकर ब्रिटिश शासकों ने इस देश में स्वशासन की संस्थाओं के विकास पर ध्यान दिया, और स्वराज्य से पूर्व ही यहाँ मताधिकार, प्रतिनिधियों का चुनाव और प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ हो गया । जिस लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिये यूरोप के प्रायः सभी देशों में अनेक क्रान्तियाँ हुईं और अनेक बार खून-खराबियाँ तक हुईं, उसकी स्थापना भारत में जन-आन्दोलन और शान्तिमय उपायों द्वारा ही हो गई ।

(३) व्यावसायिक उन्नति के क्षेत्र में भी भारत ने बहुत सन्तोषजनक उन्नति कर ली थी । बहुत-से कल-कारखाने इस देश में स्थापित हो गये थे; और रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि का यहाँ भली भाँति विकास हो गया था ।

(४) भारत में नवजागरण भी भली भाँति प्रारम्भ हो गया था । अनेक ऐसे विश्वविद्यालय व बहुत से अन्य शिक्षणालय कायम हो गये थे, जिनमें नवीन ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी । भारतीय भाषाओं में उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण होने लगा था, और लोग केवल प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणवाद पर आश्रित न रहते हुए सत्य की खोज के लिये वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करने लग गये थे ।

(५) भारत के प्रायः सभी धर्मों में सुधार के आन्दोलन जारी थे, और लोग पुरानी रूढ़ियों व संकीर्ण विचारों का परित्याग कर धर्म के उदात्त व सुधारवादी रूप को अपनाने में तत्पर थे ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत में पूर्णतया नवयुग का प्रारम्भ हो चुका था । यहाँ की जनता उत्कृष्ट नागरिक जीवन की ओर तेजी के साथ अग्रसर होने लग गई थी, और सर्वत्र नवजीवन का संचार होने लग गया था ।

यूरोप में पहले प्रमाणवाद के विरुद्ध आवाज उठी और पुनःजागरण के चिह्न प्रगट हुए, फिर धार्मिक सुधार के आन्दोलन चले, फिर व्यावसायिक क्रान्ति हुई और उसके बाद राजनीतिक क्रान्तियों द्वारा राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियों ने बल पकड़ा । पर भारत के इतिहास में यह प्रक्रिया नहीं हुई । यहाँ ये सब बातें साथ-साथ ही शुरू हो गईं । उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ही भारत में कपड़े के कारखाने खुलने शुरू हो गये थे, और रेलवे का प्रारम्भ १८५३ ई० में हो गया था । एक ओर जहाँ भारत आर्थिक क्षेत्र में नये ज्ञान को अपनाने में तत्पर था, वहाँ दूसरी ओर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ही अनेक धार्मिक सुधारक इस देश की धार्मिक दशा को सुधारने के लिये प्रयत्नशील हो गये थे । १८२८ ई० में ब्राह्मसमाज के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ और उसके कुछ वर्ष बाद स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की । १८५७ ई० में कलकत्ता यूनिवर्सिटी कायम हुई, यद्यपि अनेक कालेज उससे पूर्व ही भारत में स्थापित हो गये थे । स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी इस देश में उन्नीसवीं सदी के मध्य

में ही शुरू हो गया था। १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की असफलता से देशभक्त लोग निराश नहीं हो गये थे, और कुछ समय बाद १८८५ ई० में उस 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई, जिसके नेतृत्व में आगे चलकर भारत विदेशी शासन से स्वाधीन हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नवयुग का सूत्रपात करने वाले विविध आन्दोलन भारत में एक समय में ही हुए, और वे एक साथ ही निरन्तर उन्नति करते गये।

पिछली डेढ़ सदी में भारत की उन्नति के लिए और इस देश में नवयुग लाने के लिए जो अनेक आन्दोलन व कार्य हुए, उनका अध्ययन करना भारत के निरन्तर विकसित होते हुए नागरिक जीवन को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। इन आन्दोलनों व कार्यों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) भारत में नवीन शिक्षा का प्रारम्भ और उसके कारण नवजागरण का सूत्रपात।

(२) धार्मिक और सामाजिक सुधार के आन्दोलनों का प्रारम्भ।

(३) राष्ट्रीयता और स्वराज्य के आन्दोलन का विकास।

(४) आर्थिक उन्नति व व्यावसायिक क्रान्ति।

(५) भारत की स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में स्वतन्त्र भारत की स्थिति।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत उन्नति के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिस मंजिल तक भारत को पहुँचना है, वह अभी बहुत दूर है। इसीलिए भारत की आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक उन्नति के लिए पंचवर्षीय आयोजनाओं का निर्माण किया गया है। अगले अध्यायों में हम उन आन्दोलनों पर प्रकाश डालेंगे, जिनके कारण भारत के नागरिक जीवन की अब तक उन्नति हुई है, और साथ ही उन आयोजनाओं का भी उल्लेख करेंगे, जिनके द्वारा भारत भविष्य में अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) संसार के इतिहास में आधुनिक युग का प्रारम्भ कब और किन कारणों से हुआ?

(२) उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत की क्या दशा थी? विशद रूप से लिखिये। ब्रिटिश शासन ने भारत में नवयुग का सूत्रपात करने में किस प्रकार सहायता पहुँचाई?

(३) भारत में नया युग किस प्रक्रिया द्वारा प्रारम्भ हुआ, विशद रूप से प्रतिपादित कीजिए।

उन्नीसवाँ अध्याय

नवीन शिक्षा का विकास

प्राचीन भारत में शिक्षा की दशा

मनुष्य के जीवन में शिक्षा का बहुत अधिक महत्त्व है। उसी से मनुष्य के व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है, और मनुष्य इस योग्य बनता है कि वह समाज में रहकर अन्य व्यक्तियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सके। पर शिक्षा अच्छी भी हो सकती है, और बुरी भी। वह मनुष्य के हृदय को विशाल व उदार भी बना सकती है और संकीर्ण भी। इसीलिए विविध विचारक सदा इस बात पर जोर देते रहे हैं कि शिक्षा-पद्धति इस ढंग की होनी चाहिये, जो मानव-समाज की उन्नति में सहायक हो और जिसके द्वारा मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान हो।

प्राचीन समय में भारत शिक्षा की दृष्टि से बहुत उन्नत था। उस समय इस देश में शिक्षा का बहुत प्रचार था। समाज में ब्राह्मणों को बहुत उच्च स्थान प्राप्त था, और ब्राह्मणों का यही काम माना जाता था कि वे सदा अध्ययन और अध्यापन में तत्पर रहें। रुपया कमाना वे हीन बात समझते थे और त्याग का जीवन बिताते हुए शिक्षा देना ही अपना कर्त्तव्य मानते थे। इसी का यह परिणाम था कि जनता शिक्षित होती थी, और केकय देश का राजा अश्वपति अभिमान के साथ यह दावा कर सका था कि मेरे राज्य में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो अशिक्षित हो। उस समय भारत में अनेक बड़े शिक्षा-केन्द्र थे, जिनमें तक्षशिला और काशी सर्वप्रधान थे। तक्षशिला में बहुत से ऐसे विश्वविख्यात आचार्यों का निवास था, जिनसे शिक्षा प्राप्त करने के लिये दूर-दूर से विद्यार्थी आया करते थे। एक आचार्य के शिक्षणालय में प्रायः पाँच सौ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण किया करते थे। आचार्यों द्वारा संचालित ये शिक्षणालय किसी धर्म व सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे। इनके विद्यार्थी या तो शिक्षा का शुल्क देकर शिक्षा प्राप्त करते थे, और या शिक्षणालय में कोई कार्य करके अपना निर्वाह करते थे।

मध्यकाल में भी भारत में शिक्षा के अनेक केन्द्र रहे। उस समय बौद्ध बिहार और सनातन धर्म के मठ शिक्षा के बड़े केन्द्र हो गये। नालन्दा, विक्रमशिला और उड्यन्तपुरी के महाविहारों में हजारों की संख्या में विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने लगे, और इनके आचार्यों की विद्वत्ता से आकृष्ट होकर चीन, कोरिया, तिब्बत, बरमा आदि विदेशों से भी बहुत से विद्यार्थी भारत आने लगे। राजा लोग भी इन विहारों को प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता दिया करते थे। इनमें केवल धर्म-ग्रन्थों की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, अपितु आयुर्वेद, शस्त्रविद्या, रसायन आदि लौकिक विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे। मुसलमानों के आक्रमणों के कारण मध्यकालीन भारत के ये विद्यापीठ नष्ट हुए और बारहवीं सदी के बाद इस देश में कोई ऐसे केन्द्र नहीं रह गये, जहाँ दूर-दूर

से विद्यार्थी आएँ और जिनकी कीर्ति देश-विदेश में सर्वत्र फैली हुई हो।

भारत के तुर्क-अफगान सुलतान शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सके। उनकी सब शक्ति इस देश को विजय करने और यहाँ अपने शासन को स्थापित करने में ही लगी रही। पर उन्होंने अनेक ऐसी मसजिदें अवश्य कायम कीं, जिनके साथ मदरसे भी विद्यमान थे। इनमें इस्लाम के धर्मग्रन्थों की शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा, विक्रमशिला और उड्यन्तपुरी के महाविहारों के नष्ट हो जाने के बाद मन्दिर और मसजिदें ही शिक्षा की केन्द्र रह गई थीं। मन्दिरों के साथ स्थापित पाठशालाओं में हिन्दू धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा दी जाती थी, और मसजिदों के मकतबों व मदरसों में मुसलिम धर्म-ग्रन्थों की। इन धार्मिक शिक्षणालयों का खर्च जहाँ जनता द्वारा दिये जाने वाले दान से चलता था, वहाँ मुसलिम शासक व उनके बड़े-बड़े अमीर-उमरा भी इन्हें आर्थिक सहायता व जागीरें प्रदान करते थे। मुगल बादशाहों के शासनकाल में भी भारत में शिक्षा का यही ढंग जारी रहा। भेद केवल इतना था, कि मुगल बादशाहों ने मसजिदों के साथ विद्यमान मकतबों व मदरसों की दिल खोलकर सहायता की, और विद्वानों के संरक्षण व सहायता में भी उन्होंने बहुत उदारता दिखाई। इन शिक्षणालयों में विशेषतया मुसलिम धर्म-ग्रन्थों और अरबी व फारसी की ही शिक्षा दी जाती थी। पर कुछ मदरसे ऐसे भी थे, जिनमें इतिहास, चिकित्सा-शास्त्र आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध था।

मुसलिम शासन के काल में हिन्दुओं की शिक्षा केवल उन पाठशालाओं व टोलों में ही केन्द्रित रह गई थी, जो मन्दिरों के साथ स्थापित थे। पर काशी, नवद्वीप आदि कतिपय स्थान ऐसे भी थे, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् व्याकरण, साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, इतिहास-पुराण आदि की भी शिक्षा दिया करते थे और विद्वान् आचार्यों की विद्वत्ता से आकृष्ट होकर विद्यार्थीगण दूर-दूर से इनसे पढ़ने के लिये आया करते थे। ये आचार्य त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे, और गरीबी को गौरव की बात समझते थे।

ब्रिटिश शासन में शिक्षा का विकास

शुरू-शुरू में जब बंगाल पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ, तो उन्होंने भी अपने राज्य में नई शिक्षा के प्रचार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अंग्रेजों का विचार था कि भारतीयों के लिये वही शिक्षापद्धति उपयुक्त है, जो इस देश में परम्परागत रूप से चली आ रही है। संस्कृत, अरबी व फारसी के अध्ययन से ही इस देश के लोगों का काम चल सकता है, उन्हें नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अठारहवीं सदी के मध्यभाग में जब अंग्रेजों ने बंगाल पर अपना आधिपत्य कायम किया, तो इङ्गलैण्ड में नई शिक्षा का प्रारम्भ हो चुका था। वहाँ धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि विषयों को शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था, और इङ्गलिश विद्यार्थी अपने स्कूलों में इन विषयों की शिक्षा प्राप्त करने लग गये थे। पर अठारहवीं सदी के मध्यभाग तक इङ्गलैण्ड की शिक्षा में भी ईसाई धर्मग्रन्थों और लैटिन व ग्रीक भाषाओं को मुख्य स्थान प्राप्त था।

आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज जैसे बड़े विश्वविद्यालयों पर भी ईसाई चर्च का प्रभाव था, और उनमें ग्रीक और लैटिन के अध्ययन को बहुत महत्त्व दिया जाता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि बंगाल के अंग्रेज शासक भी इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि की शिक्षा के मुकाबिले में अरबी, फारसी आदि को अधिक महत्त्व दें। इसीलिए १७८१ ई० में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने कलकत्ता में मदरसे की स्थापना की, जिसमें अरबी और फारसी के उच्चतम अध्ययन का प्रबन्ध किया गया। १७८४ में सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' का संगठन किया, जिसका उद्देश्य भारत के प्राचीन ज्ञान का अनुशीलन करना था। १७९२ में जोनाथन डंकन् द्वारा काशी में संस्कृत कालिज कायम किया गया। ये तीनों संस्थाएँ भारतीय ज्ञान के अनुशीलन व अध्ययन के लिए ही स्थापित की गई थीं। अठारहवीं सदी के अन्त तक भारत के ब्रिटिश शासकों ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि सर्वसाधारण जनता को शिक्षित करने व यूरोप में विकसित हुए नवीन ज्ञान से भारतीयों को परिचित कराने के सम्बन्ध में भी सरकार का कोई कर्त्तव्य है।

इसके दो कारण थे। एक तो अभी इङ्गलैण्ड के शिक्षणालयों में भी लैटिन, ग्रीक व ईसाई धर्म-ग्रन्थों का बहुत स्थान था, और दूसरे भारत के ब्रिटिश शासक इस देश के निवासियों को नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, इङ्गलैण्ड के स्कूलों में इस समय तक गणित, भूगोल, विज्ञान आदि विषयों का अध्यापन शुरू हो गया था; पर भारत के लिए अंग्रेज शासकों का यही विचार था कि यहाँ के लोगों के लिए पुराने ढंग की शिक्षा ही पर्याप्त है।

ईसाई मिशनरियों के शिक्षणालय—यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी नवीन शिक्षा के सम्बन्ध में उदासीन थे, पर ईसाई पादरियों की दृष्टि में नवीन शिक्षा भारतीयों के लिए बहुत उपयोगी थी। उनका विचार था कि भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए नवीन शिक्षा बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकती है। इसीलिए अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उन्होंने मद्रास प्रान्त में अनेक शिक्षा-संस्थाओं का प्रारम्भ किया। इनमें ईसाई धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा के साथ-साथ गणित, भूगोल व अंग्रेजी भाषा आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। १७९३ में विलियन केरी नाम का पादरी कलकत्ता आया, और उसके प्रयत्न से अनेक स्कूल बंगाल में कायम हुए। इनमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था, और इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थी अंग्रेजी के साथ-साथ गणित, इतिहास, भूगोल, भौतिक विज्ञान आदि आधुनिक विषयों की भी शिक्षा प्राप्त करते थे। विलियम केरी के प्रयत्न से ही पहले-पहल बाइबल का बंगला भाषा में अनुवाद हुआ, और इस भारतीय भाषा में गद्य-साहित्य के निर्माण का सूत्रपात हुआ।

हिन्दू कालिज की स्थापना—ईसाई पादरियों के अनुकरण में अनेक विचारशील व देशभक्त भारतीयों का ध्यान भी नवीन शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ और राजा राममोहन राय व उनके साथियों के प्रयत्न से कलकत्ता में हिन्दू कालिज की

स्थापना की गई। यह कालिज १८१६ ई० में स्थापित हुआ था। आगे चलकर यही कालिज 'प्रेज़िडेन्सी कालिज' के नाम से विख्यात हुआ। १८१७ ई० में राजा राममोहन राय ने भी कलकत्ता में एक अंग्रेजी स्कूल कायम किया, जिसका उद्देश्य भारतीय बालकों को अंग्रेजी व आधुनिक विषयों की शिक्षा देना था।

सरकार द्वारा शिक्षा का प्रारम्भ—ईसाई पादरियों और राजा राममोहन राय सदृश भारतीयों के प्रयत्न से भारत में नवीन शिक्षा का जो प्रचार होने लगा था, अंग्रेजी सरकार के लिए उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। इसीलिए जब १८१३ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को नया चार्टर दिया, तो उसमें इस बात को स्वीकार किया गया कि भारत में शिक्षा का प्रसार करना भी कम्पनी का अन्यतम कर्त्तव्य है, और उसे कम-से-कम एक लाख रुपया प्रतिवर्ष इस कार्य में खर्च करना चाहिए। पर अब तक भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी भारत में नवीन शिक्षा के प्रचार को अनावश्यक समझते थे। इसीलिए उन्होंने शिक्षा-प्रसार के लिए खर्च की जाने वाली धनराशि का उपयोग संस्कृत व अरबी-फारसी की शिक्षा के लिए करना ही उपयुक्त समझा। इस राशि से १८२४ ई० में कलकत्ता में संस्कृत कालिज की स्थापना की गई।

पर १८१३ ई० के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों ने इस प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया कि भारत में शिक्षा का प्रचार किस ढंग से किया जाए। इस देश में शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए, इस विषय पर अंग्रेज विचारकों में मतभेद था। बहुसंख्यक अंग्रेजों का यह विचार था कि भारत के लिए संस्कृत, अरबी व फारसी की शिक्षा ही अधिक उपयुक्त है, और सरकार को उसी के लिए अपने धन व शक्ति का उपयोग करना चाहिए।

लार्ड मैकाले—पर कुछ विचारक ऐसे भी थे, जो यह प्रतिपादित करते थे कि शासन-कार्य की सुविधा के लिए कतिपय भारतीयों का अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी विचारसरणी से भलीभाँति परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। भारत जैसे विशाल देश में शासन के कार्य को चलाने के लिए बहुत से भारतीय कर्मचारियों का सहयोग आवश्यक होगा, और ये तभी अपना कार्य भलीभाँति कर सकेंगे, जब कि अंग्रेजी भाषा और इङ्गलिश संस्थाओं से अच्छी तरह परिचित हों। इस मत के प्रधान प्रतिपादक लार्ड मैकाले थे। उन्होंने यह योजना प्रस्तुत की कि भारत में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा होनी चाहिए। ऐसा हो जाने से भारतीयों की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न हो जायगी, जो केवल जन्म व रंग की दृष्टि से तो भारतीय होंगे, पर जो रहन-सहन, खान-पान, विचार, संस्कृति और भाषा में पूरे अंग्रेज होंगे। अंग्रेज लोग इस वर्ग की सहायता व सहयोग से भारत पर अपने शासन को सुदृढ़ बना सकेंगे, क्योंकि इस वर्ग के भारतीय अंग्रेजियत को गौरव की बात समझेंगे। मैकाले का यह भी विचार था कि संस्कृत, अरबी व फारसी साहित्य से जो ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, वह अंग्रेजी साहित्य के मुकाबिले में बिलकुल अगण्य है। उसका कथन था कि भारत और अरब के सम्पूर्ण साहित्य की अपेक्षा किसी यूरोपियन पुस्तकालय के केवल एक खाने

(Shelf) की पुस्तकों की उपयोगिता कहीं अधिक है। इसीलिए वह अंग्रेजी शिक्षा को बहुत अधिक महत्त्व देता था। उसे आशा थी कि अंग्रेजी शिक्षा को प्राप्त कर भारतीय लोग इङ्गलिश संस्कृति के परम भक्त हो जाएँगे, और इस प्रकार भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ बहुत मजबूत हो जायगी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लार्ड मैकाले के मत को स्वीकार कर लिया, और इसी लिये १८३५ ई० के बाद इस देश में अंग्रेजी शिक्षा तेजी के साथ फैलनी शुरू हुई। १८३५-३६ में अँग्रेजी सरकार की ओर से २३ सरकारी स्कूल खोले गए, जिनमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्रधान स्थान दिया गया था और शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी ही रखी गई थी। १८४२ ई० तक इन स्कूलों की संख्या ५१ हो गई और १८५५ तक १५१। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात हुआ।

चार्ल्स वुड योजना—सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल का अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड था। उसने भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में एक नई योजना तैयार की, जिसे भारत की आधुनिक शिक्षा के इतिहास में युगप्रवर्तक माना जाता है। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) भारत के प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा विभाग स्थापित किया जाए, जो एक-एक डाइरेक्टर के अधीन रहे।

(२) भारत के प्रमुख नगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाए।

(३) अध्यापकों की ट्रेनिंग के लिये संस्थाएँ खोली जाएँ।

(४) सरकारी कालिजों और स्कूलों की संख्या में वृद्धि की जाए।

(५) प्रारम्भिक व माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के लिये विशेष यत्न किया जाए, और इस उद्देश्य से नये स्कूल खोले जाएँ।

(६) प्राइवेट स्कूलों को आर्थिक सहायता दी जाए और योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दी जाएँ।

(७) प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हों, और अधिक ऊँची शिक्षा अंग्रेजी द्वारा दी जाए।

(८) स्त्रियों की शिक्षा के लिये भी विशेष ध्यान दिया जाए।

सर चार्ल्स वुड की योजना की बहुसंख्यक बातों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया, और उसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में तीन विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। साथ ही, उस समय भारत में जो विविध प्रान्त थे, उन सबमें एक-एक शिक्षा-विभाग की स्थापना की गई। कुछ वर्ष बाद १८८२ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय और १८८७ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय स्थापित हुए, और इस प्रकार भारत में उच्च शिक्षा के अनेक महत्त्वपूर्ण केन्द्र कायम हो गये। पर शुरू में ये विश्वविद्यालय प्रधानतया परीक्षाएँ लेने का ही कार्य करते थे। इनकी ओर से मैट्रिकुलेशन, इन्टरमीडियेट, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाएँ ली जाती थीं। शिक्षा का कार्य मुख्यतया उन कालिजों के ही हाथों में था, जो इन विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध थे।

हण्टर कमीशन—१८८२ ई० में लार्ड रिपन भारत के गवर्नर-जनरल थे। उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिए २२ सदस्यों का एक कमीशन नियुक्त किया (१८८२), जिसके अध्यक्ष श्री हण्टर थे। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया कि भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान देना चाहिये और भारतीय भाषाओं की उन्नति का भी यत्न किया जाना चाहिये। जो लोग अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से नई शिक्षा संस्थाएँ खोलें, उन्हें सरकार की ओर से उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता दी जानी चाहिये।

लार्ड कर्जन का यूनिवर्सिटीज एक्ट—लार्ड कर्जन जब भारत के गवर्नर जनरल पद पर रहे (१८९९-१९०५), तो उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने १९०१ ई० में शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिये एक कान्फरेन्स बुलाई, और फिर अगले साल एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष श्री टामस रेले थे। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर १९०४ ई० में एक यूनिवर्सिटीज़ एक्ट स्वीकृत किया गया, जिसके द्वारा विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण को अधिक दृढ़ कर दिया गया। इस एक्ट के कारण विश्वविद्यालय कोई भी कार्य सरकार की अनुमति व स्वीकृति के बिना नहीं कर सकते थे। इसी एक्ट द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से शिक्षण का कार्य भी शुरू किया गया।

१९१० ई० में केन्द्रीय भारत सरकार के अधीन एक पृथक् शिक्षा विभाग खोला गया, और इसके द्वारा भारत में शिक्षा के प्रसार में बहुत उपयोगी कार्य हुआ।

१९१९ ई० के सुधार—प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति पर भारत में शासन सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। इन सुधारों द्वारा प्रान्तों में दोहरा शासन (Dyarchy) स्थापित किया गया। प्रान्तीय शासन के अनेक विषय उन मन्त्रियों के सुपुर्द कर दिये गये, जो विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी होते थे। शिक्षा का विषय भी इन्हीं हस्तान्तरित विषयों में से था। शिक्षा का कार्य उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथों में आ जाने के कारण शिक्षा में बहुत वृद्धि हुई। १९१७ से १९२२ तक के पाँच वर्षों में भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या ५ से बढ़कर १४ तक पहुँच गई। पटना, बनारस, लखनऊ आदि अनेक स्थानों पर नये विश्वविद्यालय कायम हुए।

१९१७ ई० में ही लार्ड चेम्सफोर्ड ने श्री सेडलर की अध्यक्षता में कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने भारत में उच्च शिक्षा का नये सिरे से संगठन करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। इनमें एक सुझाव यह था कि भारत में ऐसे विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिये, जिनका मुख्य कार्य शिक्षा देना ही हो। साथ ही, इस कमीशन ने यह सुझाव भी दिया कि हाई स्कूल और इन्टर-मीडियेट की परीक्षाओं का कार्य विश्वविद्यालयों के हाथों में नहीं रहना चाहिये। इसके लिये पृथक् बोर्ड स्थापित होने चाहियें, जो इन परीक्षाओं के कोर्स भी नियत करें और साथ ही इन परीक्षाओं की व्यवस्था भी किया करें।

१९१९ से १९४७ ई० तक ब्रिटिश शासन में भारत में शिक्षा की बहुत उन्नति

हुई। बहुत से नये विश्वविद्यालय, कालेज और स्कूल कायम हुए। स्वराज्य के बाद शिक्षा की प्रगति और भी अधिक तेजी से होने लगी है। पर अभी तक भारत में ८० प्रतिशत के लगभग व्यक्ति अशिक्षित हैं, और शिक्षा प्रसार के सम्बन्ध में बहुत कार्य करना अभी शेष है।

शिक्षा विभाग का संगठन

वर्तमान समय में भारत में शिक्षा विभाग के संगठन का क्या प्रकार है, इस विषय पर विचार करना शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं को समझने के लिये उपयोगी है। स्वतन्त्र भारत के संविधान के अनुसार शिक्षा का विषय राज्यसूची के अन्तर्गत है। परन्तु संघ सरकार में भी एक शिक्षा विभाग है, जिसके अधीन चार विश्वविद्यालय और अनेक शिल्प सम्बन्धी (Technical) स्कूल हैं। अलीगढ़, दिल्ली, बनारस और विश्वभारती विश्वविद्यालय संघ सरकार के ही अधीन हैं। संघ सरकार में शिक्षा-विभाग एक पृथक् मन्त्री के हाथों में है, और उसकी सहायता के लिये एक डिपुटी मिनिस्टर भी है।

क्योंकि शिक्षा का विषय भारतीय संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों के अधिकार क्षेत्र में है, अतः शिक्षा का संचालन प्रधानतया राज्यसरकारों द्वारा ही किया जाता है।

विश्वविद्यालय—भारत में इस समय बहुत से विश्वविद्यालय हैं, जो उच्च शिक्षा के केन्द्र हैं। इनमें सबसे पुराने कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालय हैं, जिनकी स्थापना १८५७ ई० में हुई थी। इनके बाद १८८२ में पंजाब विश्वविद्यालय और १८८७ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना की गई थी। अन्य सब विश्वविद्यालय बीसवीं सदी में स्थापित हुए। इसके नाम व स्थापना का वर्ष निम्नलिखित हैं—माइसूर (१९१६), पटना (१९१७), (बनारस) (१९१६), उसमानिया, हैदराबाद (१९१८), अलीगढ़ (१९२१), लखनऊ (१९२१), दिल्ली (१९२२), नागपुर (१९२३), आंध्र (१९२६), आगरा (१९२७), अन्नामलाई (१९२९), त्रावनकोर (१९३७), उत्कल (१९४३), सागर (१९४६), राजपूताना (१९४७), पंजाब (१९४७), गोहाटी (१९४७), पूना (१९४८), रुड़की इन्जीनियरिंग यूनीवर्सिटी (१९४८), काश्मीर (१९४८), वड़ोदा (१९४९), कर्नाटक (१९५०), गुजरात (१९५०), विश्वभारती (१९५१), महिला, बम्बई (१९५१), बिहार (१९५२), जादवपुर (१९५५), तिरुपति (१९५४), वल्लभनगर, आनन्द (१९५५), कुरुक्षेत्र (१९५६), गोरखपुर (१९५७), विक्रम, उज्जैन (१९५७), जबलपुर (१९५७), मराठावाडा (१९५८)।

कतिपय संस्थाएँ ऐसी हैं, जो अपनी परीक्षाएँ लेती हैं और स्वतन्त्र विश्वविद्यालय की स्थिति रखती हैं। इनमें गुरुकुल कांगड़ी, इलाहाबाद का हिन्दी विश्वविद्यालय, पूना की वीमेन्स यूनीवर्सिटी, काशी विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विभिन्न प्रकार के विश्वविद्यालय—भारत के ये सब विश्वविद्यालय एक ही ढंग के नहीं हैं। इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) शिक्षक (Teaching) विश्वविद्यालय—इनमें शिक्षा की व्यवस्था की गई है, और ये केवल उन्हीं विद्यार्थियों की परीक्षा लेते हैं, जिनकी शिक्षा इन्हीं द्वारा हुई हो। लखनऊ, बनारस, पटना, अलीगढ़, दिल्ली आदि के बहुत से विश्वविद्यालय इसी प्रकार के हैं। इन्हें यह अधिकार नहीं होता कि ये अपने क्षेत्र के बाहर स्थित किसी कालिज को अपने साथ सम्बद्ध कर सकें, या उन विद्यार्थियों की परीक्षा ले सकें, जिन्होंने कहीं अन्यत्र शिक्षा प्राप्त की हो।

(२) कालिजों को सम्बद्ध करने वाले (Affiliating) विश्वविद्यालय—इनमें स्वयं शिक्षा की व्यवस्था नहीं होती है। इनके साथ सम्बद्ध बहुत से कालिज होते हैं, जिनमें पढ़ाई का प्रबन्ध होता है। इन विश्वविद्यालयों द्वारा इन सम्बद्ध कालिजों का पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाता है, और ये उन कालिजों के कार्य पर निरीक्षण भी रखते हैं। इन कालिजों के छात्रों की परीक्षा भी इन्हीं द्वारा ली जाती है। उत्तरप्रदेश में आगरा और बिहार में बिहार विश्वविद्यालय इसी ढंग के हैं। राजस्थान का विश्वविद्यालय भी इसी वर्ग के अन्तर्गत है।

(३) शिक्षक और कालिजों को सम्बद्ध करने वाले विश्वविद्यालय—कतिपय विश्वविद्यालय ऐसे भी हैं, जो जहाँ स्वयं शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, वहाँ साथ ही अन्य कालिजों को भी अपने साथ सम्बद्ध करते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय इसी प्रकार का है।

विश्वविद्यालयों का संगठन—प्रत्येक विश्वविद्यालय की स्थापना एक एक्ट द्वारा की जाती है, और उस एक्ट के अधीन उन्हें अपने प्रबन्ध व व्यवस्था में स्वतन्त्र सत्ता (autonomy) प्राप्त रहती है। विश्वविद्यालय का सर्वोच्च अधिकारी कुलपति (चान्सलर) कहाता है। जो कतिपय विश्वविद्यालय संघ सरकार के अधीन हैं, उनके अतिरिक्त अन्य सब में कुलपति का पद उस राज्यपाल व राजप्रमुख के पास होता है, जिसके क्षेत्र में वह विश्वविद्यालय स्थित हो। कुलपति के नीचे एक उपकुलपति (वाइस-चांसलर) होता है, जो वस्तुत: विश्वविद्यालय के कार्यों का संचालन करता है। उसकी सहायता के लिए एक कार्यकारिणी समिति (Executive Council) होती है जिसमें सब बातें बहुमत द्वारा निर्णय की जाती हैं। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय की नीति के निर्धारण व प्रबन्ध के लिये एक अन्य सभा भी होती है, जिसे किसी विश्वविद्यालय में कोर्ट कहते हैं, और किसी में सीनेट। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये कि सब विश्वविद्यालयों का संगठन एक ही ढंग से नहीं किया गया है। कोर्ट या सीनेट और कार्यकारिणी समिति के निर्माण के प्रकार में विविध विश्वविद्यालयों में बहुत पर्याप्त भेद पाया जाता है।

विश्वविद्यालयों का कार्य उच्च शिक्षा की व्यवस्था करना, पाठ्यक्रम निर्धारित करना और परीक्षाएँ लेना है। उत्तीर्ण विद्यार्थियों को इनकी ओर से डिग्रियाँ भी दी

जाती हैं। साधारणतया, प्रत्येक विश्वविद्यालय में चार फैकल्टियाँ होती हैं—आर्ट्स, सायन्स, लॉ और कामर्स। इसके अतिरिक्त कुछ विश्वविद्यालयों में कृषि, चिकित्सा प्राच्य ज्ञान (Oriental Learning), इन्जीनियरिंग व कतिपय अन्य फैकल्टियाँ भी हैं। ये फैकल्टियाँ अपने-अपने क्षेत्र में पाठ्यक्रम निर्धारित करने का कार्य करती हैं। इनके अधीन विविध विषयों के लिये पृथक्-पृथक् बोर्ड आफ स्टडीज़ भी संगठित होते हैं।

उच्च शिक्षा की कतिपय कमियाँ—इसमें सन्देह नहीं कि पिछली आधी सदी में भारत ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति की है। इस समय हमारे देश में प्रायः सभी आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों की उच्च शिक्षा की सुविधाएँ विद्यमान हैं, और विद्यार्थी लोग उनसे बहुत लाभ उठा सकते हैं। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि भारत में उच्च शिक्षा की जो व्यवस्था है, उसमें अनेक कमियाँ भी हैं—

(१) भारत के विश्वविद्यालयों की शिक्षा क्रियात्मक दृष्टि से बहुत उपयोगी नहीं है। उनमें विषय का सिद्धान्त-सम्बन्धी ज्ञान तो विद्यार्थी प्राप्त कर लेते हैं, पर उस ज्ञान का व्यावहारिक रूप में उपयोग करने की शिक्षा उन्हें प्राप्त नहीं हो पाती। जो विद्यार्थी रसायन शास्त्र की उच्च शिक्षा पा लेते हैं, उनमें से बहुत से साबुन, मोमबत्ती आदि साधारण-सी वस्तुएँ भी स्वयं नहीं बना सकते। कॉमर्स पढ़े हुए बहुत-से विद्यार्थी व्यापार का सामान्य व्यावहारिक ज्ञान भी नहीं रखते। शिक्षा का प्रयोजन मन का विकास अवश्य है, किसी विषय का सिद्धान्त-ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है, पर उसे क्रियात्मकता व व्यवहार से सर्वथा पृथक् रखना कदापि उचित नहीं है।

(२) विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए व्यक्ति सर्वसाधारण जनता से अपने को अलग-सा समझने लगते हैं। उनका जनता से सम्पर्क छूट जाता है, और वे इस योग्य नहीं रह जाते कि जनता के बीच में रहकर उनके सुख-दुःख में हाथ बटा सकें।

(३) भारत में अभी तक उच्च शिक्षा की जो संस्थाएँ हैं, उनमें आर्ट्स और सायंस की शिक्षा की अधिक सुविधा है। चिकित्सा शास्त्र, इन्जीनियरिंग, कृषि आदि क्रियात्मक दृष्टि से उपयोगी विषयों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था अभी भारत में बहुत कम है। इसका परिणाम यह है कि एक ओर तो एम० ए० और एम० एस०-सी० पास किये हुए बहुत से नवयुवक बेकार रहते हैं, और दूसरी ओर चिकित्सक, इन्जीनियर आदि पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं होते।

(४) भारत में उच्च शिक्षा कुछ निष्प्रयोजन सी हो गई है। बहुत से विद्यार्थी केवल इसलिये कालिजों और विश्वविद्यालयों में भरती होते हैं, क्योंकि उनके सम्मुख कोई अन्य मार्ग नहीं होता। मैट्रिक या इन्टर पास करके उन्हें कोई काम नहीं मिलता, तो वे बी० ए० पास कर लेते हैं, और जब बी० ए० पास करके भी उनकी बेकारी की समस्या हल नहीं होती, तो वे एम० ए० और पी०-एच० डी० पास करने का यत्न करते हैं। पर इन उच्च डिग्रियों को प्राप्त कर लेने पर भी उनकी बेकारी दूर नहीं हो पाती। इस कारण विद्यार्थियों के हृदय में शिक्षा के प्रति आस्था नहीं रहती, और

वे गम्भीरतापूर्वक अपने समय व शक्ति को अध्ययन में नहीं लगा पाते।

(५) बहुसंख्यक विद्यार्थी उच्च शिक्षा का प्रयोजन यही समझते हैं कि उससे उन्हें अच्छी नौकरी प्राप्त हो सकेगी। विद्या प्राप्ति का उद्देश्य प्राचीन शास्त्रों में इस प्रकार कहा गया है—"सा विद्या या विमुक्तये"। विद्या वह है, जो मनुष्य को बन्धनों से मुक्त करती है, जो उसे संकीर्णता से ऊँचा उठा कर विशालता की ओर ले जाती है, और जो उसके हृदय में सेवा और मानव प्रेम आदि सद्गुणों को उत्पन्न करती हैं। पर भारत के विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी उच्च शिक्षा के इन प्रयोजनों को दृष्टि में नहीं रखते, और नौकरी प्राप्त कर बेकारी की समस्या को हल कर लेना ही अपनी शिक्षा का चरम लक्ष्य समझने लगते हैं।

(६) भारत में परीक्षाएँ पास कर लेना ही किसी विद्यार्थी की योग्यता की एक मात्र परख है। इसका परिणाम यह है कि विद्यार्थी परीक्षाएँ पास करने में ही अपनी सब शक्ति लगा देते हैं, असली योग्यता की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। परीक्षा पास करना भी भारत में एक कला बन गई है। इस कारण विद्यार्थी परीक्षा से कुछ समय पूर्व कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर रटने में लग जाते हैं, और साल भर विषय के अनुशीलन को वे महत्त्व नहीं देते।

(७) भारत में अब तक उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही थी। अब तक भी बहुसंख्यक विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी द्वारा ही पढ़ाई होती है। यह बात एकदम अनुचित व अस्वाभाविक है। किसी विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाई करके विद्यार्थी कभी असली योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते। उन की सब शक्ति अंग्रेजी सीखने व उसमें निपुणता प्राप्त करने में ही लग जाती है। अब इस स्थिति में सुधार हो रहा है, और कई कालिजों व विश्वविद्यालयों में हिन्दी द्वारा पढ़ाई होने लगी है।

(८) भारत में उच्च शिक्षा मँहगी भी बहुत है। विश्वविद्यालयों की फीस जनता की आमदनी की दृष्टि में रखते हुए बहुत अधिक है, और वहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को भोजन व निवास आदि में भी बहुत खर्च करना पड़ता है। विद्यार्थी जीवन में शिक्षा प्राप्त करते हुए वे जितना रुपया प्रतिमास खर्च करते हैं, शिक्षा समाप्त करने के बाद उतनी कमाई कर सकना भी बहुसंख्यक विद्यार्थियों के लिये सुगम नहीं होता।

राधाकृष्णन कमीशन—विश्वविद्यालयों की विविध समस्याओं पर विचार करने के लिये स्वतन्त्र भारत की सरकार ने १९४९ ई० में एक कमीशन की नियुक्ति की थी, जिसके अध्यक्ष श्री राधाकृष्णन् थे। इस कमीशन की रिपोर्ट मार्च, १९५० प्रकाशित हो गई थी। इस रिपोर्ट में विश्वविद्यालयों की शिक्षापद्धति में सुधार करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव पेश किये गये थे, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) विश्वविद्यालयों में केवल उन्हीं विद्यार्थियों को प्रविष्ट किया जाए, जो उनकी पढ़ाई से वास्तविक लाभ उठा सकें। प्रत्येक विद्यार्थी विश्वविद्यालय की शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकता। बहुसंख्यक विद्यार्थियों के लिये औद्योगिक (Industrial) और शिल्प विषयक (Technical) शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिये, ताकि

वह शिक्षा क्रियात्मक दृष्टि से उनके काम आ सके।

(२) ग्राम-विश्वविद्यालयों (Rural Universities) की स्थापना की जाए, जिनका वातावरण जहाँ ग्राम्य जीवन के अनुकूल हो, वहाँ उनमें कृषि, ग्रामसुधार आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाली शिक्षा भी दी जाए। इस प्रकार के विश्व-विद्यालयों में पढ़े हुए विद्यार्थी सर्वसाधारण जनता के सम्पर्क में रहेंगे और वे देहाती जीवन में सक्रिय रूप से भाग ले सकेंगे।

(३) विश्वविद्यालयों व उनसे सम्बद्ध कालिजों में विद्यार्थियों की संख्या को कम किया जाए, जिससे शिक्षकों और विद्यार्थियों में निकट सम्पर्क कायम रह सके। शिक्षकों और विद्यार्थियों में सम्पर्क बढ़ाने के लिये ट्यूटोरियल पद्धति का भी अनुसरण किया जाए।

(४) उच्च शिक्षा-संस्थाओं में छुट्टियों की संख्या कम कर दी जाय, ताकि पढ़ाई अधिक हो सके।

(५) पढ़ाई किसी विशेष पुस्तक द्वारा न कराई जाए, अपितु विद्यार्थियों को इस बात के लिये प्रेरित किया जाय कि वे विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अधिक-से-अधिक पुस्तकों का अनुशीलन किया करें।

(६) राजभाषा हिन्दी का अध्ययन विश्वविद्यालयों के सब विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य हो। अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन अनिवार्य विषय के रूप में न होकर ऐच्छिक विषय के रूप में हो। जब तक हिन्दी में प्रामाणिक पुस्तकों का अभाव है, शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही रहे।

(७) शिक्षकों के वेतन में वृद्धि की जाए।

(८) बी० ए० का कोर्स तीन साल का हो। इसलिये इन्टरमीडियेट कक्षा को हटा दिया जाए और उसके स्थान पर हायर सेकन्डरी कोर्स प्रारम्भ किया जाए। विश्वविद्यालयों में वे ही विद्यार्थी प्रविष्ट हों, जो हायर सेकन्डरी कोर्स पास कर लें। बी० ए० के बाद एम० ए० का कोर्स दो साल का हो। बी० ए० ऑनर्स पास किये हुए विद्यार्थियों के लिये एम० ए० का कोर्स एक साल का रहे।

विवेचना

इसमें सन्देह नहीं कि राधाकृष्णन् कमीशन के ये सब सुझाव बहुत ही महत्त्व के हैं। देश को इस समय ऐसे शिक्षणालयों की बहुत आवश्यकता है, जिनमें उद्योग और शिल्प की उच्च शिक्षा दी जाए। देश का औद्योगिक व आर्थिक विकास तभी सम्भव है, जब कि कल कारखानों और कुटीर उद्योगों के संचालन के लिये कुशल शिल्पी व इन्जीनियर आदि प्रचुर संख्या में उपलब्ध हों। देश के कोने-कोने में चिकित्सा की सुविधाएँ हों, इसके लिये कुशल चिकित्सकों की भी बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता है। अतः भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आधारभूत परिवर्त्तन किया जाना चाहिये। बहुसंख्यक विद्यार्थियों को उद्योग, शिल्प, इन्जीनियरिंग व चिकित्सा आदि की ही शिक्षा दी जानी चाहिये। इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य, समाज-

शास्त्र आदि आर्ट्स की उच्च शिक्षा केवल उन विद्यार्थियों के लिये ही उपयोगी हो सकती है, जो समाज सेवा, दार्शनिक चिन्तन और नये साहित्य के निर्माण आदि में रुचि रखते हों, और जो अपने बौद्धिक विकास के लिये ही उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हों। बेकारी की समस्या को हल करने के लिये विश्वविद्यालयों में भरती होना कोई अर्थ नहीं रखता। जो विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करें, उनका अपने शिक्षकों के साथ घनिष्ट सम्पर्क होना बहुत आवश्यक है। ऐसा होने पर ही वे अपना बौद्धिक विकास भली भाँति कर सकते हैं। इसलिये उच्च शिक्षासंस्थाओं में विद्यार्थियों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये। ग्राम विश्वविद्यालयों की स्थापना का सुझाव भी बड़े महत्त्व का है। भारत की बहुसंख्यक जनता ग्रामों में ही निवास करती है। देहात के लोग जब नगरों में स्थापित कालिजों में शिक्षा प्राप्त करते हैं, तो उनका उस वातावरण से बिलकुल भी सम्पर्क नहीं रह जाता, जिसमें कि वे उत्पन्न हुए थे। वे ग्रामों में निवास करने के अयोग्य हो जाते हैं, और खेती सदृश कार्य को छोड़कर नौकरी की तलाश में लग जाते हैं। ग्राम विश्वविद्यालयों की स्थापना से जहाँ देहाती लोगों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलेगा, वहाँ वे अपने कुल क्रमानुगत पेशे को घृणा की दृष्टि से भी नहीं देखेंगे। वे देहाती वातावरण में रहते हुए ही उच्च शिक्षा प्राप्त करेंगे और शिक्षा समाप्त कर अपने ज्ञान व योग्यता का उपयोग देहाती लोगों की सेवा व उन्नति के लिये कर सकेंगे।

भारत की संघ सरकार और राज्य सरकारें राधाकृष्णन् कमीशन के सुझावों को क्रिया में परिणत करने के लिये प्रयत्नशील हैं। इस कार्य में कुछ समय लगना अवश्यम्भावी है। अंग्रेजी शासन की डेढ़ सदी में भारत जिस शिक्षापद्धति का विकास हुआ, वह हमारे देशवासियों के मन में इतना गहरा स्थान पा चुकी है कि उसमें शीघ्र परिवर्तन कर सकना सुगम नहीं है। उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं को बनाया जा सकता है, अभी तो इस साधारण-सी बात पर भी सब लोग एकमत नहीं हो सके हैं। जब से उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि के अनेक विश्वविद्यालयों ने परीक्षा और शिक्षा के लिये हिन्दी को माध्यम के रूप में स्वीकार किया है, सभी विषयों पर हिन्दी में उच्च कोटि की पुस्तकें प्रकाशित होने लग गई हैं। जब किसी चीज की माँग हो, तभी उसे तैयार भी किया जाता है। यदि उत्कृष्ट पुस्तकों की उपलब्धि होने तक हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा देने की बात को स्थगित रखा जाए, तो इन भाषाओं में कभी भी उत्कृष्ट पुस्तकें तैयार नहीं हो पाएँगी। पर यदि शुरू में अंग्रेजी पुस्तकों की सहायता से ही हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में शिक्षा दी जाए, तो इन भाषाओं में भी उच्च कोटि की पुस्तकों के तैयार होने में अधिक देर नहीं लगेगी। कम-से-कम हिन्दी भाषा में तो अब ऐसी पुस्तकों का अभाव नहीं रहा है, जिन द्वारा बी० ए० तक शिक्षा दी जा सके।

औद्योगिक व शिल्पसम्बन्धी शिक्षा—अभी भारत में ऐसे शिक्षणालय पर्याप्त संख्या में नहीं है, जिनमें कि औद्योगिक व शिल्प सम्बन्धी शिक्षा का प्रबन्ध हो। इसीलिये अभी हमारे देश में कुशल इन्जीनियर व शिल्पी प्रचुर संख्या में नहीं मिलते, और

इस कारण देश की औद्योगिक व आर्थिक उन्नति में बाधा पड़ती है। स्वराज्य की स्थापना के समय १९४७ ई० में इन संस्थाओं की संख्या इस प्रकार थी—

इञ्जीनियरिंग व टेक्नोलोजी	५०९ स्कूल और १७ कालिज
चिकित्सा (मैडिसन व वैटेरिनेरी)	२० स्कूल और २९ कालिज
कृषि तथा वनसम्बन्धी	१५ कालिज

स्वराज्य के बाद इन संस्थाओं की संख्या में सन्तोषजनक वृद्धि हुई है। पर अभी इस वृद्धि को पर्याप्त नहीं समझा जा सकता। देश की आवश्यकता की दृष्टि से यह वृद्धि बहुत कम है।

माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education)

विश्वविद्यालयों व उनसे सम्बद्ध कालिजों द्वारा उच्च शिक्षा दी जाती है। पर उनके नीचे वे शिक्षा संस्थाएँ होती हैं, जिनमें माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था रहती है। इन शिक्षणालयों में इन्टर कालिजों, हाई स्कूलों व मिडिल स्कूलों को अन्तर्गत किया जाता है। छठी कक्षा से लगा कर बारहवीं कक्षा तक की पढ़ाई को माध्यमिक शिक्षा कहते हैं। सम्पूर्ण भारत में इस शिक्षा की व्यवस्था एक सदृश नहीं है। भारत के कुछ राज्यों में इन्टरमीडियेट कक्षाओं की शिक्षा का प्रबन्ध भी विश्वविद्यालयों द्वारा किया जाता है, और वहाँ माध्यमिक शिक्षा छठी से दसवीं तक ही मानी जाती है। कतिपय राज्य ऐसे भी हैं, जहाँ मैट्रिक परीक्षा भी विश्वविद्यालय द्वारा ली जाती है, और वही उसके कोर्स आदि का निर्धारण करता है। पंजाब यूनिवर्सिटी मैट्रिक और इन्टरमीडियेट के पाठ्यक्रम निश्चित करती है, और उनकी परीक्षा भी लेती है। देहली में इन्टर के कोर्स को दो भागों में बाँट दिया गया है। एक साल हाई स्कूल के साथ मिलाकर उसका कोर्स ग्यारह साल का कर दिया गया है, और इन्टर का दूसरा साल बी० ए० के साथ मिला कर बी० ए० का कोर्स तीन साल का कर दिया गया है। बिहार में इन्टर का पाठ्यक्रम भी यूनिवर्सिटी द्वारा निर्धारित होता है, और वही उसकी परीक्षा भी लेती है। उत्तर प्रदेश में हाई स्कूल और इन्टरमीडियेट के लिये एक पृथक् बोर्ड है, और उसी द्वारा इनके पाठ्यक्रम का निर्माण व परीक्षाओं की व्यवस्था की जाती है। उत्तर-प्रदेश में छठी, सातवीं और आठवीं कक्षाओं के लिये सरकार का एक पृथक् विभाग है। इस प्रकार स्पष्ट है कि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था भारत के सब राज्यों में एक सदृश नहीं है।

माध्यमिक शिक्षा के लिए जो बहुत से शिक्षणालय भारत में विद्यमान हैं, उनमें से कुछ सरकारी हैं, पर बहुसंख्या गैरसरकारी शिक्षणालयों की है। सरकारी स्कूलों व कालिजों का सारा खर्च सरकार द्वारा किया जाता है, और उनके शिक्षकों की नियुक्ति भी सरकार द्वारा ही होती है। ये शिक्षक सरकारी सेवा में होते हैं। गैरसरकारी शिक्षणा-लयों को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता अवश्य दी जाती है, पर वह उनके खर्च के लिये पर्याप्त नहीं होती। अतः उन्हें अपना खर्च चलाने के लिये जनता के दान व चन्दे पर आश्रित रहना पड़ता है। फीस दोनों प्रकार के शिक्षणालयों में ली जाती है, पर

अकेली फीस से इनका खर्च पूरा नहीं होता। गैरसरकारी शिक्षणालयों पर भी सरकार का पूरा नियन्त्रण रहता है। इनमें सरकार द्वारा निर्धारित कोर्स ही पढ़ाया जाता है, और सरकार द्वारा नियुक्त इन्सपेक्टर समय-समय पर इनका निरीक्षण करते रहते हैं। शिक्षकों की नियुक्ति आदि के सम्बन्ध में भी ये शिक्षणालय सरकार द्वारा निर्मित नियमों का पालन करते हैं।

माध्यमिक शिक्षा के शिक्षणालयों में अंग्रेजी, हिन्दी व अन्य भारतीय भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, विज्ञान, ड्राइंग, कामर्स आदि विषय पढ़ाये जाते हैं। छठी, सातवीं और आठवीं कक्षाओं का कोर्स इस ढंग से बनाया जाता है कि विद्यार्थियों को जहाँ अपनी मातृभाषा का भली भाँति ज्ञान हो जाए, वहाँ साथ ही वे अंग्रेजी, गणित, इतिहास आदि उपयोगी विषयों का भी सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लें। हाई स्कूल और इन्टरमीडियेट कक्षाओं में हिन्दी व मातृभाषा का अध्ययन तो अनिवार्य होता है, पर अन्य विषयों में से विद्यार्थी कुछ को अपनी रुचि के अनुसार चुन सकते हैं। उत्तरप्रदेश के हाई स्कूलों में निम्नलिखित विषय अनिवार्य रखे गये हैं—(१) हिन्दी, (२) एक अन्य भारतीय भाषा या अंग्रेजी, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं में से कोई एक, (३) गणित या गृहविज्ञान (केवल बालिकाओं के लिये)। इन अनिवार्य विषयों के अतिरिक्त प्रत्येक विद्यार्थी को साहित्यिक ग्रुप, विज्ञान ग्रुप, कृषि ग्रुप, कामर्स ग्रुप और शिल्प सम्बन्धी ग्रुप में से किसी एक ग्रुप को वैकल्पिक रूप से लेना पड़ता है। अन्य राज्यों के कोर्स इससे कुछ भिन्न प्रकार के हैं। पर माध्यमिक शिक्षा के कोर्स को निर्धारित करते हुए यही विचार सम्मुख रखा जाता है कि विद्यार्थी जहाँ अपनी मातृ-भाषा और एक अन्य आधुनिक भाषा का भली भाँति ज्ञान प्राप्त कर लें, वहाँ साथ ही उन्हें अन्य विषयों का इतना ज्ञान अवश्य हो जाए कि यदि वे उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सकें, तो जीवन संघर्ष में आगे बढ़ने के लिये आवश्यक शिक्षा उन्हें प्राप्त हो जाए।

माध्यमिक शिक्षा की कमियाँ—स्वराज्य के बाद भारत में माध्यमिक शिक्षा के दोषों को दूर करने का बहुत गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न किया गया है। अतः जिन दोषों का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, वे इस समय सब प्रदेशों की माध्यमिक शिक्षा पद्धति पर लागू नहीं होते। ये दोष निम्नलिखित हैं—

(१) माध्यमिक शिक्षा की जो प्रणाली अंग्रेजी शासन के युग में विकसित की गई थी, उसका सबसे बड़ा दोष यह था कि वह विद्यार्थियों के लिये व्यावहारिक जीवन में उपयोगी नहीं थी। स्कूलों में जो शिक्षा विद्यार्थी प्राप्त करते थे, उससे वे जीवन संघर्ष में विशेष लाभ नहीं उठा सकते थे। इन स्कूलों में पाठ्यक्रम का निर्धारण इस दृष्टि से किया जाता था कि विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिये उपयुक्त योग्यता प्राप्त कर लें। केवल माध्यमिक शिक्षा को प्राप्त कर किसी विद्यार्थी का न मानसिक विकास ही भली भाँति हो पाता था, और न वह जीवन संघर्ष के योग्य ही बन सकता था।

(२) इस शिक्षा में विद्यार्थियों की रुचि व विशिष्ट योग्यता को ध्यान में नहीं रखा जाता था। सब के लिये पाठ्यक्रम प्रायः एक-सा ही होता था। कुछ विद्यार्थी

काव्य, कला और साहित्य में रुचि रखते हैं, कुछ की रुचि विज्ञान व व्यवसाय की ओर होती है, कुछ व्यापार के प्रति रुचि रखते हैं। माध्यमिक शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे विभिन्न रुचि के विद्यार्थियों का मानसिक विकास भली भाँति हो सके, और भावी जीवन के लिये वे अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की योग्यता प्राप्त कर सकें।

(३) भारत के विभिन्न राज्यों में माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम व संगठन अलग-अलग ढंग का है। इससे उन विद्यार्थियों को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता है, जो किन्हीं कारणों से एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर निवास करने के लिये विवश होते हैं।

(४) माध्यमिक शिक्षा में मानसिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। विद्यार्थियों की न शारीरिक उन्नति पर ध्यान दिया जाता है, और न उन्हें कोई इस प्रकार के उद्योग-धन्धे ही सिखाये जाते हैं, जो भावी जीवन में उनके काम आ सकें।

(५) स्कूलों में विद्यार्थी कौन से विषय पढ़ें, इसका चुनाव करने के लिये उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं दी जाती। यदि सरकार की ओर से ऐसे मनोवैज्ञानिकों की नियुक्ति की जाए, जो विद्यार्थियों के मानसिक विकास, रुचि व विशिष्ट योग्यता का अध्ययन कर उनका मार्ग-प्रदर्शन करें, तो विद्यार्थी ऐसे विषयों को चुन सकते हैं, जो उनके लिये उपयोगी सिद्ध हों।

नरेन्द्रदेव कमेटी—माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिये उत्तरप्रदेश की सरकार ने एक कमेटी की नियुक्ति की थी, जिसके अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव थे। इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है। इसका मुख्य सुझाव यह था कि—

उच्चतर माध्यमिक स्कूलों (Higher secondary schools) में पाठ्यक्रम इस ढंग से बनाया जाए, कि विद्यार्थियों को अपनी रुचि के अनुसार साहित्यिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक और रचनात्मक कोर्सों में से किसी एक कोर्स को चुनने का अवसर मिले। विद्यार्थियों की रुचि इन चार प्रकार की ही होती है। कुछ विद्यार्थी साहित्य में रुचि रखते हैं, और वे इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों को पढ़कर अपना मानसिक विकास करना चाहते हैं। अन्य विद्यार्थी रसायन, भौतिक विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि में रुचि रखते हैं। कुछ विद्यार्थियों की रुचि व्यवसाय व उद्योग में होती है। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं, जो बढ़ईगिरी, जिल्द-साजी, कताई-बुनाई, दर्जी का काम आदि रचनात्मक धन्धों में रुचि रखते हैं। इन सब विविध रुचियों के विद्यार्थियों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाए, ताकि ये माध्यमिक शिक्षा समाप्त कर जीवन संघर्ष में सफल हो सकें।

उत्तरप्रदेश की सरकार ने नरेन्द्रदेव कमेटी के सुझावों को स्वीकृत कर लिया है, और उन्हीं के अनुसार माध्यमिक शिक्षा के कोर्स को बनाया है।

मुदालियर कमेटी—१९५२ ई० में भारत की संघ सरकार की ओर से भी माध्यमिक शिक्षा में सुधार करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की गई थी, जिसके अध्यक्ष श्री लक्ष्मीस्वामी मुदालियर थे। इस समिति ने जो सुझाव दिये थे, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) माध्यमिक शिक्षा को दो भागों में विभक्त करना चाहिए, जूनियर हाई स्कूल (५वीं कक्षा से ८वीं कक्षा तक) और हायर सेकन्डरी स्कूल (९वीं से १२वीं कक्षा तक)।

(२) जूनियर हाई स्कूलों में मातृभाषा, एक अन्य भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि सभी विषयों की साधारण शिक्षा दी जानी चाहिए। पर हायर सेकेन्डरी स्कूलों में विद्यार्थियों को यह अवसर मिलना चाहिए कि वे अपनी रुचि के अनुसार साहित्यिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक आदि ग्रुपों में से किसी एक को चुन सकें, और उसी की शिक्षा प्राप्त करें।

(३) किस विद्यार्थी की रुचि किस ग्रुप की ओर है, और कौन किस ग्रुप को लेकर अपनी विशिष्ट योग्यता का भली-भाँति विकास कर सकता है, इस विषय पर विद्यार्थियों को परामर्श देने के लिये मनोवैज्ञानिकों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

(४) माध्यमिक शिक्षा का माध्यम राज्यों की अपनी भाषाएँ होनी चाहियें। पर राजभाषा हिन्दी और एक विदेशी भाषा का ज्ञान भी प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अनिवार्य होना चाहिए।

विवेचन—इसमें सन्देह नहीं कि भारत की संघ सरकार और विविध राज्यों की सरकारें माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिये गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न कर रही है। इन सुधारों का लक्ष्य यह होना चाहिए कि माध्यमिक शिक्षा अपने आप में पूर्ण हो जाए। प्रत्येक विद्यार्थी के लिये न तो विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकना सम्भव ही होता है और न इसकी आवश्यकता ही होती है। अतः माध्यमिक शिक्षा का कोर्स इस ढंग से बनाया जाना चाहिए, जिसे पूरा कर विद्यार्थी जीवन-संघर्ष में सफल होने के लिये उपयुक्त योग्यता प्राप्त कर लें। जो विद्यार्थी उच्च शिक्षा न पा सकें, वे माध्यमिक शिक्षा द्वारा ही अपने जीवन में सफल हो सकें। इसलिए हायर सेकण्डरी स्कूलों के कोर्स को अनेक ग्रुपों में विभक्त करना वस्तुतः बहुत उपयोगी है। रचनात्मक, कृषि और व्यावसायिक ग्रुपों को लेकर बहुत से विद्यार्थी ऐसी शिक्षा प्राप्त कर लेंगे, जिससे वे विद्यार्थी अच्छे शिल्पी, उत्तम किसान व व्यवसायी बन सकेंगे। जो विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति में होंगे, वे भी आर्ट्स कालिजों, इंजीनियरिंग कालिजों आदि में भरती होकर अपने उस ज्ञान को आगे बढ़ा सकेंगे, जिसे उन्होंने माध्यमिक शिक्षणालयों में प्राप्त किया था। यह योजना बहुत ही उपयोगी है। इसीलिए अनेक राज्यों में इसके अनुसार कार्य प्रारम्भ भी कर दिया गया है।

प्रारम्भिक शिक्षा (Primary Education)

स्वराज्य के बाद भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक महत्त्वपूर्ण

सुधार किये गये हैं। अंग्रेजी शासन के समय में भारत में प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर बहुत कम ध्यान दिया गया था। इसीलिए यहाँ अब तक भी ८० फीसदी के लगभग व्यक्ति सर्वथा अशिक्षित व निरक्षर हैं। पहली से पाँचवीं कक्षा तक की शिक्षा को प्रारम्भिक शिक्षा कहा जाता है। मातृभाषा का पढ़ना व लिखना, गणित का प्रारम्भिक ज्ञान, इतिहास व अन्य सामान्य ज्ञान प्रारम्भिक शिक्षा के विषय होते हैं। ब्रिटिश युग में प्रारम्भिक स्कूलों की व्यवस्था बहुत ही शोचनीय थी। इनका वातावरण ऐसा नहीं था, जिससे बच्चे हर्ष और उल्लास का अनुभव कर सकते। स्वतन्त्र भारत की सरकार इस दशा को ठीक करने का यत्न कर रही है, पर अभी तक बहुत काम करना बाकी है। प्रारम्भिक शिक्षा का जो ढंग अभी भारत में है, उसकी मुख्य कमियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) बहुसंख्यक प्राइमरी स्कूलों में बच्चों के खेल-कूद व शारीरिक उन्नति के समुचित साधनों का अभाव है। बच्चे खेल-कूद को पसन्द करते हैं, अतः उनकी पढ़ाई में जहाँ खेल-कूद के साधन प्रचुर मात्रा में होने चाहिएँ, वहाँ साथ ही शिक्षा का ढंग भी मनोरंजक होना चाहिए। आधुनिक समय में शिक्षा को मनोरंजक बनाने के जिन अनेक उपायों का आविष्कार हो चुका है, भारत के प्राइमरी स्कूलों में उनका प्रयोग अभी शुरू नहीं हुआ है।

(२) प्राइमरी स्कूलों के शिक्षकों को बहुत कम वेतन दिया जाता है। प्रायः सभी भारतीय राज्यों में सरकारी चपरासी का वेतन प्राइमरी स्कूल के अध्यापक की अपेक्षा अधिक है। इसका परिणाम यह है कि योग्य व्यक्ति शिक्षक का कार्य करने के बजाय अन्य कार्य करना अधिक पसन्द करते हैं। शिक्षकों को जो वेतन मिलता है, वह उनके निर्वाह के लिए अपर्याप्त होता है। इस कारण वे अन्य उपायों से आमदनी करने का यत्न करते हैं, और अपना सारा ध्यान पढ़ाई पर नहीं लगा पाते।

(३) देहातों के बालकों की पढ़ाई में कृषि व गृह उद्योगों को भी स्थान दिया जाना चाहिए, ताकि शिक्षित हो जाने के कारण बालक खेती व शिल्प से घृणा न करने लगें, और अपने घर के काम को छोड़कर नौकरी की तलाश में न लग जाएँ। ब्रिटिश युग में प्राइमरी शिक्षा में खेती व शिल्प को कोई भी स्थान नहीं दिया गया था। इसका परिणाम यह था कि देहात के लोग अपने बच्चों को पढ़ाना अनुचित समझते थे और उनका विचार यह होता था कि पढ़-लिखकर उनके बच्चे घर के काम के लायक नहीं रह जाएँगे।

बुनियादी तालीम (Basic Education)—इन्हीं कमियों को दृष्टि में रखकर भारत में बुनियादी तालीम की पद्धति का प्रारम्भ किया गया है। इस पद्धति का मुख्य तत्त्व यह है कि प्राइमरी स्कूलों में बच्चे केवल पढ़ना-लिखना व हिसाब करना ही न सीखें, अपितु मानसिक शिक्षा के साथ-साथ वे हाथ के काम भी किया करें। खेती, बागबानी, सूत कातना व बुनना, बढ़ईगिरी, जिल्दसाजी, सिलाई आदि कितने ही ऐसे काम हैं, बच्चे जिन्हें पढ़ाई के साथ-साथ सीख सकते हैं। इन कामों को सीख लेने से बच्चों को पढ़ाई में सहायता ही मिलेगी, उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं

होगी। बुनियादी तालीम में हाथ के ये काम सिखाते हुए उनको आधार बनाकर ही बच्चों को बहुत-सी ज्ञान की बातें बता दी जाती हैं। उदाहरण के लिए कताई और बुनाई के काम को लीजिए। जब बच्चों को सूत कातना सिखाया जाता है, तो उन्हें यह भी बताया जाता है कि रुई कहाँ व किस प्रकार पैदा होती है, रुई किन-किन कामों में आती है, उसका बिनौला किन कामों में आता है, कपड़े के क्या-क्या उपयोग हैं, रुई किन अन्य देशों से भारत में आती है और किन अन्य देशों में भारत की रुई व उससे बना हुआ कपड़ा भेजा जाता है। बच्चे सूत कातते हुए ही इन सब बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इससे पढ़ाई में उनका मन भी लगता है और हँसते-खेलते वे उन बहुत-सी बातों को जान जाते हैं, जिन्हें वे पुस्तकों द्वारा बहुत समय में जान पाते। मानसिक शिक्षा के साथ-साथ हाथ का काम करने के कारण बच्चों में श्रम के प्रति आदर की भावना भी विकसित होती है। प्रायः देखा जाता है, कि पढ़-लिखकर लोग अपने हाथ से काम करना बुरा समझने लगते हैं। वे श्रम का आदर नहीं करते और श्रमिक वर्ग को हीन समझने लगते हैं। पर यदि प्राइमरी स्कूलों में प्रत्येक बच्चे के लिये खेती, बागबानी, जिल्दसाजी, कताई-बुनाई आदि में से किसी एक को करना अनिवार्य कर दिया जाय, तो बच्चे इन कामों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखेंगे। इसके विपरीत वे श्रम करना गौरव की बात समझने लगेंगे, और जो शिल्प व धन्धा उन्होंने स्कूल में सीखा होगा, भावी जीवन में भी वह उनके काम आ सकेगा।

बुनियादी तालीम का विचार पहले-पहल महात्मा गांधी ने जनता के सम्मुख रखा था। उस समय गांधीजी वर्धा के आश्रम में निवास किया करते थे। इसी कारण इसे 'वर्धा शिक्षा योजना' भी कहते हैं। महात्मा गांधी का विचार था, कि प्रारम्भिक शिक्षा में जो व्यय होता है, उसका बड़ा अंश विद्यार्थी हाथ से काम करके स्वयं भी पैदा कर सकते हैं। यदि प्रत्येक स्कूल के साथ खेती की जमीन हो, जिस पर शिक्षक और बच्चे मिलकर खेती करें, तो उससे इतना अनाज पैदा किया जा सकता है, जो उस स्कूल के खर्चे को चलाने के लिए पर्याप्त हो। इसी प्रकार स्कूल में पढ़ते हुए बच्चे जो कताई व बुनाई करेंगे, बढ़ईगिरी आदि के जो अन्य धन्धे करेंगे, उनसे भी स्कूल के खर्चे को पूरा करने में सहायता मिल सकती है। इस प्रकार प्राइमरी स्कूलों को बहुत अंशों में स्वावलम्बी भी बनाया जा सकता है। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ बहुसंख्यक जनता अभी निरक्षर है, शिक्षा की सुविधाएँ जुटाने में बहुत अधिक धन की आवश्यकता है। सरकार के लिए इस धन की व्यवस्था कर सकना सुगम नहीं है। अतः यदि प्राइमरी स्कूलों को स्वावलम्बी बनाया जा सके, तो शिक्षा का प्रचार बहुत तेजी से हो सकेगा।

भारत के अनेक राज्यों ने बुनियादी तालीम की योजना को स्वीकार कर लिया है, और वे इस यत्न में हैं कि प्राइमरी स्कूलों की शिक्षा इसी पद्धति के अनुसार हो। वे यह तो नहीं समझते कि इस योजना द्वारा इन स्कूलों का आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाया जाना क्रियात्मक है, पर वे मानसिक शिक्षा के साथ-साथ हाथ के काम को सिखाने की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। साथ ही, वे यह भी मानते हैं कि

कताई-बुनाई, खेती, बढ़ईगिरी आदि के कार्यों को आधार बनाकर बच्चों को बहुत-सी बातें सिखाई जा सकती हैं। इसीलिए उत्तरप्रदेश के प्राइमरी स्कूलों में प्रायः दो घण्टे प्रतिदिन हाथ के कामों में लगाये जाते हैं। बुनियादी तालीम के स्कूलों में काम करने वाले शिक्षकों को ट्रेनिंग देने के लिए अनेक ट्रेनिंग स्कूल भी इस समय स्थापित हैं, जिनसे शिक्षा प्राप्त कर अध्यापक लोग इस पद्धति के अनुसार शिक्षा देने में समर्थ हो जाते हैं। अभी इस पद्धति को सब प्राइमरी स्कूलों में आरम्भ नहीं किया जा सकता है, पर सरकार इसे अपनाने की नीति को स्वीकार कर चुकी है।

विवेचन—इसमें सन्देह नहीं कि बुनियादी तालीम के अनेक लाभ हैं। यद्यपि इसे अपना कर स्कूलों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बना सकना तो सुगम नहीं है, पर यदि विद्यार्थी पढ़ना-लिखना सीखने के साथ-साथ हाथ के कामों को भी सीखें, तो उन्हें बहुत लाभ होगा। देहातों के बच्चे यदि पढ़ाई के साथ खेती व बागवानी भी करें, तो बड़े होकर वे अच्छे किसान बन सकेंगे। नगरों के बालक शिक्षा के साथ कई प्रकार की दस्तकारी भी सीख लेंगे, जो भावी जीवन में उनके लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगीं। इसलिये बुनियादी तालीम के आधारभूत सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से भारत के बालक-बालिकाओं की शिक्षा में उन्नति ही होगी।

पर प्रारम्भिक शिक्षा के सुधार व उन्नति के लिये कतिपय अन्य बातों का होना भी जरूरी है। यह शिक्षा प्रत्येक बालक व बालिका के लिये अनिवार्य और निःशुल्क होनी चाहिये। कतिपय म्युनिसिपल क्षेत्रों में अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को प्रारम्भ भी किया गया है, और संविधान में इस बात को प्रतिपादित किया गया है कि दस वर्ष के अन्दर-अन्दर १४ वर्ष की आयु तक सब बालक या बालिकाओं को निःशुल्क व अनिवार्य रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था की जायगी। जब तक यह आदर्श क्रिया में परिणत नहीं किया जाता, भारत में प्रारम्भिक शिक्षा का विकास भली भांति नहीं हो सकेगा।

छोटे बच्चों के स्कूल ऐसे होने चाहियें, जहाँ जाने में बच्चे भय अनुभव न करें। उनका वातावरण आकर्षक होना चाहिये, ताकि बच्चे वहाँ जाकर पढ़ने में आनन्द व उल्लास अनुभव करें। शिक्षक भी ऐसे होने चाहियें, जो अपने कार्य को गौरव की दृष्टि से देखें। उन्हें इतना वेतन अवश्य मिलना चाहिये, जिससे उन्हें सन्तोष अनुभव हो, और वे अपना सब समय व शक्ति बच्चों की उन्नति में लगा सकें।

भारत की शिक्षा सम्बन्धी समस्याएं

डेढ़ सदी के लगभग तक विदेशी शासन में रहने के बाद अब भारत स्वाधीन हुआ है। विदेशी शासन में देश की उन्नति का हो सकना सम्भव नहीं। अब भारत उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है। कोई भी देश तभी उन्नति कर सकता है, जब उसकी जनता शिक्षित हो। अशिक्षित लोगों को न अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है, और न अधिकारों का। इस कारण उस देश में, जिसकी बहुसंख्यक जनता अशिक्षित हो, लोकतन्त्र शासन कभी सफल नहीं हो सकता। भारत में अभी शिक्षित

लोगों की संख्या २० प्रतिशत के लगभग है। शेष ८० प्रतिशत जनता को शीघ्र-से-शीघ्र शिक्षित करना देश की उन्नति और लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये बहुत अधिक आवश्यक है।

शिक्षा प्रचार—यद्यपि यह कार्य बहुत कठिन है, पर असम्भव नहीं है। १९१७ ई० में जब रूस में जारशाही का अन्त हुआ, तो वहाँ शिक्षित लोगों की संख्या ३० प्रतिशत से कम थी। २५ साल से भी कम समय में रूस की सरकार ने अपने देश से निरक्षरता को समूल नष्ट कर दिया है। चीन में पाँच साल के स्वल्प समय में साक्षरता में १०० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। भारत में शिक्षा प्रसार के लिये बहुत अधिक यत्न हो रहा है। पर इस देश से निरक्षरता तभी दूर होगी, जब गाँव-गाँव में प्राइमरी स्कूल खुल जाएँगे, और उनमें पढ़ना प्रत्येक बालक व बालिका के लिये अनिवार्य होगा। बहुत से गरीब लोग अपने बच्चों को इसलिये स्कूल नहीं भेज सकते, क्योंकि फीस देने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती। अतः प्रारम्भिक शिक्षा का निःशुल्क होना भी अत्यन्त आवश्यक है। पर शिक्षा को निःशुल्क कर देने मात्र से भी काम नहीं चल सकता। बहुत से गरीब लोग आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर अपने बच्चों से मजदूरी करवाते हैं। वे समझते हैं कि यदि उनके बच्चे स्कूल जाने लगेंगे, तो वे मजदूरी कैसे कर सकेंगे। इसलिए यह भी आवश्यक है कि अत्यन्त गरीब घरों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा के साथ साथ कुछ वृत्ति भी दी जाए, ताकि वे विद्यार्थी दशा में मजदूरी करके अपना पेट पालने के लिए विवश न हों। भारत के करोड़ों गरीब परिवारों के बच्चों को विद्यार्थी दशा में वृत्ति दे सकना क्रियात्मक दृष्टि से सुगम नहीं है। इसीलिए महात्मा गांधी ने वर्धा शिक्षा योजना द्वारा प्राइमरी स्कूलों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने का विचार प्रस्तुत किया था। गांधीजी की योजना को इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है, जिससे गरीब विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते हुए स्कूल में कुछ काम भी कर सकें, और अपने निर्वाह योग्य धन कमाने का अवसर उन्हें प्राप्त हो जाए। यदि स्कूलों का वातावरण इस ढंग का हो, जिसमें हाथ द्वारा काम करना बुरा न समझा जाए और बच्चे श्रम करना गौरव की बात समझने लगें, तो बहुत से गरीब विद्यार्थी श्रम व शिल्प द्वारा कुछ-न-कुछ रुपया अवश्य कमा सकते हैं।

शिक्षा के प्रसार के लिये यह भी आवश्यक है कि प्रौढ़ आयु के नर-नारियों को भी शिक्षित करने का प्रयत्न किया जाए। इसके लिये रात्रि पाठशालाएँ खोलना आवश्यक होगा। इन पाठशालाओं में शिक्षा देने के लिये वैतनिक शिक्षकों को नियुक्त करने में बहुत धन खर्च होगा। यह कार्य उन स्वयंसेवकों से ही लेना होगा, जो अवैतनिक रूप से कुछ समय नियमित रूप से शिक्षा प्रसार के लिये देने को उद्यत हों।

शिक्षा का पुनः संगठन और सार्जेन्ट योजना—शिक्षा के प्रसार के समान शिक्षा-पद्धति का पुनः निर्माण करना भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। शिक्षा का एक निश्चित प्रयोजन व उद्देश्य होना चाहिये। अब तक हमारे देश में जो शिक्षा पद्धति है, उसका कोई निश्चित प्रयोजन नहीं है। जो लोग धनी व सम्पन्न हैं, जो स्कूलों व विश्व-विद्यालयों का खर्च उठा सकते हैं, वे अपनी सन्तान को शिक्षा देते है। पर वे यह नहीं

सोचते कि उनके बालक व बालिका की योग्यता क्या है, उसके लिये किस प्रकार की शिक्षा उपयुक्त है। यही कारण है कि हर साल हजारों विद्यार्थी बी० ए० आदि की उच्च डिग्रियाँ प्राप्त करते हैं, पर ये डिग्रियाँ उनकी समस्या को हल नहीं कर पातीं। शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिये सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की थी, जिसके अध्यक्ष सर जॉन सार्जेन्ट थे। इस कमेटी की रिपोर्ट १६४४ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस कमेटी के मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे—

(१) प्रारम्भिक शिक्षा के पूर्व छोटे बच्चों के लिये नर्सरी स्कूल खोले जाएँ, जिनमें २ से ६ साल की आयु तक के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाए। पर यह शिक्षा सब के लिये अनिवार्य न हो।

(२) प्रारम्भिक शिक्षा दो भागों में विभक्त हो—जूनियर बेसिक शिक्षा और सीनियर बेसिक शिक्षा। जूनियर बेसिक स्कूलों में ६ से ११ वर्ष की आयु के बच्चे शिक्षा प्राप्त करें, और सीनियर बेसिक स्कूलों में ११ से १४ वर्ष की आयु के। यह शिक्षा निःशुल्क व अनिवार्य हो। इन स्कूलों में जहाँ पढ़ने-लिखने व शिक्षा के सामान्य विषयों की पढ़ाई हो, वहाँ साथ ही किसी उद्योग, शिल्प व धन्धे की शिक्षा भी इनमें अनिवार्य रूप से सब बालक-बालिकाओं को दी जाए। इस प्रकार १४ वर्ष की आयु तक सब बालक व बालिकाएँ अनिवार्य रूप से शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे और जब वे सीनियर बेसिक स्कूल की शिक्षा समाप्त कर लेंगे, तो जहाँ उनका मानसिक विकास भली भाँति हो जायगा, वहाँ वे किसी शिल्प व धन्धे की शिक्षा भी प्राप्त कर लेंगे।

(३) हाई स्कूल दो प्रकार के हों, ज्ञानसम्बन्धी (Academic) और शिल्प-सम्बन्धी (Technical)। हाई स्कूल की शिक्षा सब के लिये आवश्यक व अनिवार्य नहीं होनी चाहिये। जो विद्यार्थी योग्य हों, उन्हें ही इस शिक्षा का अवसर दिया जाना चाहिये। जिन विद्यार्थियों की रुचि शिल्प व उद्योग-धन्धों की ओर हो, उन्हें शिल्प विद्यालयों में शिक्षा दी जाए, ताकि वे भावी जीवन में उत्तम शिल्पी व व्यवसायी बन सकें। जिनकी रुचि साहित्य, कला, विज्ञान आदि की हो, उन्हें ज्ञानसम्बन्धी विद्यालयों में शिक्षा दी जाए, ताकि वे वहाँ शिक्षा पूर्ण कर उच्च शिक्षा के लिये विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो सकें।

(४) विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा केवल उन्हीं विद्यार्थियों के लिये हो, जो वस्तुतः योग्य हों और विद्या के प्रति अनुराग रखते हों। यदि कोई गरीब विद्यार्थी सचमुच योग्य हो, तो उसे उच्च शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति भी दी जानी चाहिये।

सार्जेण्ट कमेटी के ये सुझाव वस्तुतः बहुत उपयोगी व महत्त्वपूर्ण हैं। यदि इन्हें क्रिया में परिणत किया जाए, तो भारत की शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन हो जायगा। सार्जेण्ट कमेटी की इस योजना को अपना लेने से प्रत्येक विद्यार्थी के सम्मुख शिक्षा का एक निश्चित प्रयोजन होगा। बेसिक शिक्षणालयों की शिक्षा भी अपने-आप में पूर्ण होगी। जो विद्यार्थी पढ़ाई में बहुत अच्छे नहीं होंगे व अन्य कारणों से उसकी पढ़ाई को जारी रखने में असमर्थ होंगे, उनकी शिक्षा भी बेकार नहीं जायगी। वे देश

के उत्तम नागरिक बन सकेंगे और किसी शिल्प व उद्योग-धन्धे का समुचित ज्ञान प्राप्त करके जीवन में उसका उपयोग भी कर सकेंगे। हाई स्कूलों की शिक्षा दो प्रकार की (ज्ञानसम्बन्धी और शिल्पसम्बन्धी) होने के कारण बहुत से विद्यार्थी तो टेकनिकल स्कूलों में ही शिक्षा प्राप्त करेंगे, और वहाँ किसी शिल्प व धन्धे में अच्छी निपुणता प्राप्त कर लेंगे। साहित्य, कला और विज्ञान आदि की शिक्षा हाई स्कूलों व विश्वविद्यालयों में केवल वे ही विद्यार्थी प्राप्त करेंगे, जो वस्तुतः इस ढंग की शिक्षा के योग्य हों।

स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इस योजना और राधाकृष्णन् कमीशन के सुझावों के अनुसार शिक्षा को पुनः संगठित करने का बहुत स्तुत्य प्रयत्न किया है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत शिक्षा के क्षेत्र में तेजी के साथ उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रहा है, और वह समय दूर नहीं है जब कि भारत की शिक्षा-पद्धति पूर्णतया देश की आवश्यकता के अनुकूल हो जायगी।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) भारत की वर्तमान शिक्षाप्रणाली में क्या दोष हैं? आप उनमें कौन-कौन से सुधार चाहेंगे? (यू० पी० १९५५)

(२) बुनियादी शिक्षा से आप क्या समझते हैं? भारत में अब तक यह शिक्षा कहाँ तक सफल हुई है? (यू० पी० १९५४)

(३) शिक्षा के डाइरेक्टर पर टिप्पणी लिखिये। (यू० पी० १९५३)

(४) उत्तर प्रदेश में १९४७ से अब तक शिक्षा में जो उन्नति हुई है, उसका सूक्ष्म दिग्दर्शन कीजिये। (यू० पी० १९५२)

(५) शिक्षा के क्या लाभ हैं? जिस प्रदेश से आप परिचित हैं, उसमें शिक्षा की क्या सुविधाएँ प्राप्त हैं? (मध्य भारत १९५३)

(६) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये—
सेकन्डरी शिक्षा में सुधार की आवश्यकता, राधाकृष्णन् यूनिवर्सिटी कमीशन, वर्धा शिक्षा योजना। (राजपूताना, १९५३)

(७) भारत की वर्तमान शिक्षापद्धति की रूपरेखा का प्रदर्शन कीजिये। (मध्यभारत, १९५२)

(८) कहा जाता है कि हमारा आधुनिक शिक्षा संगठन भारत की आवश्यकताओं के प्रतिकूल है? इसमें कैसे सुधार किया जा सकता है? (यू० पी० १९३३)

(९) यूनिवर्सिटी कमीशन की मुख्य सिफारिशें क्या थीं? विशेष रूप से लिखिये।

(१०) भारत में नवीन शिक्षा का विकास किस प्रकार हुआ?

बीसवाँ अध्याय

धार्मिक सुधार के आन्दोलन

अनेक विचारक भारत को धर्म प्रधान देश समझते हैं। उनका मत है कि भारत के लोगों ने भौतिक उन्नति की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व दिया, और इसीलिये सांसारिक दृष्टि से वे अन्य देशों के मुकाबिले में पिछड़ गये। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीयों के जीवन में धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे धर्म को 'इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष का साधन' मानते हैं। उनके सामाजिक आचार-विचार, रीति-रिवाज व परम्पराएँ सब धर्म पर आश्रित हैं। यह सब होते हुए भी यह तो स्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत की अवनति का कारण इस देश के लोगों की धर्मनिष्ठा ही है। यह ठीक है कि भारत के लोग धर्म को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। पर अब से केवल चार सदी पूर्व तक यूरोप की भी यही दशा थी। वहाँ के लोग तो वैज्ञानिक तथ्यों के लिये भी धर्म ग्रन्थों का आश्रय लिया करते थे। वे कहते थे कि जमीन गोल नहीं है, अपितु चपटी है, क्योंकि ईसाई धर्म पुस्तकों में यही लिखा है। जमीन स्थिर है, और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है, क्योंकि क्रिश्चियन चर्च का यही मन्तव्य था। यूरोप में कितने ही वैज्ञानिकों को केवल इसलिये प्राण-दण्ड दिया गया, क्योंकि उन्होंने परीक्षण द्वारा ऐसे वैज्ञानिक तथ्यों को प्रगट किया था, जो ईसाइयों के धार्मिक मन्तव्यों के विपरीत थे। मध्यकालीन यूरोप में धार्मिक सहिष्णुता का सर्वथा अभाव था। ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व ग्रीस में प्लेटो, अरिस्टोटल आदि जो अनेक दार्शनिक हुए थे, यूरोप के ईसाई उन्हें काफिर मानते थे, और उनकी पुस्तकों को पढ़ना कुफ्र समझते थे। जब लूथर आदि के नेतृत्व में ईसाई चर्च के एकाधिपत्य के विरुद्ध प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन शुरू हुए, तो उन को कुचल डालने के लिये कितने ही प्रयत्न रोम के पोप व उसके अनुयायी राजाओं द्वारा किये गये। रोमन कैथोलिक राजाओं ने प्रोटेस्टेन्ट लोगों पर अत्याचार किये, और जिन यूरोपियन देशों के राजाओं ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म को स्वीकृत कर लिया, उन्होंने अपनी रोमन कैथोलिक प्रजा पर अत्याचार करने में कोई भी कसर नहीं उठा रखी। वस्तुतः, मध्यकाल में यूरोप के लोग भी धर्मप्राण ही थे, और वे भी धर्म को अन्य सब बातों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया करते थे। जब से यूरोप में नव-जागरण हुआ, और वहाँ के लोगों ने परीक्षण व वैज्ञानिक विधि द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय करना शुरू किया, तभी से वहाँ की जनता में धर्म व सम्प्रदायवाद का महत्त्व घटने लगा, और यूरोप में नवयुग का सूत्रपात हुआ।

भारत में उस ढंग की धार्मिक असहिष्णुता कभी भी नहीं थी, जैसी कि मध्यकाल में यूरोप में थी। यहाँ के लोग सब सम्प्रदायों के साधु-महात्माओं का आदर करते थे,

और सब के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुना करते थे। जब भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, तो यहाँ की जनता ने मुसलिम पीरों व फकीरों का भी आदर किया। अनेक मुसलमान भी हिन्दू साधु-सन्तों के शिष्य बने। धार्मिक सहिष्णुता भारत की संस्कृति की एक अनुपम विशेषता है। इसीलिये इस देश में धर्म ने कभी वह क्रूर व खूनी रूप धारण नहीं किया, जैसा कि मध्यकाल में यूरोप में हुआ था।

पर फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि अठारहवीं सदी के अन्त तक भारत के पुराने धर्मों में अनेक ऐसी बुराइयाँ उत्पन्न हो गई थीं, जो यहाँ की जनता की उन्नति में रुकावटें पैदा करने लगी थीं। इसीलिये उन्नीसवीं सदी में भारत में अनेक ऐसे आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिनका उद्देश्य इस देश की परम्परागत सामाजिक रुढ़ियों व धार्मिक परम्पराओं में सुधार करना था। ये आन्दोलन अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल भी हुए, और इनके कारण अब भारत के विविध धर्मों व सम्प्रदायों का स्वरूप इतना बदल गया है कि उनमें वे बुराइयाँ नहीं रह गई हैं, जो उन्नीसवीं सदी के शुरू में इन धर्मों में पाई जाती थीं। जो बुराइयाँ अब तक भी हैं, उनका कारण धार्मिक मन्तव्य उतने नहीं हैं, जितना कि जनता का अशिक्षित होना है। धार्मिक सुधार के इन आन्दोलनों ने भारत के राजनीतिक और राष्ट्रीय जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। आज भारत में जो नवजागरण हुआ है, जो राष्ट्रीय जागृति हुई है, उसमें धार्मिक सुधार के इन आन्दोलनों का बहुत बड़ा हाथ है।

भारत के विविध धर्म—भारत की बहुसंख्यक जनता हिन्दू धर्म की अनुयायी है। यह धर्म संसार के सब वर्तमान धर्मों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, इसलिए इसे 'सनातन धर्म' भी कहा जाता है। हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, पर ये सब सम्प्रदाय वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास रखते हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त ये तीन हिन्दू धर्म के मुख्य सम्प्रदाय हैं। इन तीनों के देवी-देवता व पूजा की विधि में भेद है। पर बहुसंख्यक हिन्दू मत-मतान्तर को विशेष महत्व नहीं देते, और विभिन्न देवी-देवताओं के रूप में ईश्वर की विविध शक्तियों की पूजा करते हैं। दार्शनिक चिन्तन, अध्यात्म-भावना और वर्ण-व्यवस्था हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषताएँ हैं। सब हिन्दू आत्मा को शरीर से पृथक् मानते हैं, और पुनर्जन्म व आत्मा की अमरता में विश्वास रखते हैं। हिन्दुओं का दार्शनिक चिन्तन व अध्यात्मवाद बहुत ऊंचे हैं। पर उनका सामाजिक संगठन अनेक ऐसी रूढ़ियों व परम्पराओं पर आश्रित है, जो समय के अनुकूल नहीं है। किसी को जन्म के कारण ऊँचा या नीच मानना, कुछ लोगों को अछूत समझना और सामाजिक भेद-भाव रखना ऐसी बातें हैं, जो वास्तविक हिन्दू धर्म के विपरीत हैं। पर हिन्दुओं में ये विचार इतने बढ़ गये थे, कि ये ही उसकी अवनति के कारण बने। प्राचीन समय में विदेशी व विधर्मी जातियां भी हिन्दू धर्म को स्वीकार कर सकती थीं। ग्रीक (यवन), शक, कुशाण, हूण, पल्हव आदि कितनी ही विदेशी जातियाँ भारत में आईं, और यहाँ आकर हिन्दू धर्म को स्वीकार कर वे हिन्दू समाज में ही विलीन हो गईं। इसीलिए पुराणों में भगवान् विष्णु को पतितपावन कहा गया है, और यह लिखा है कि विष्णु की भक्ति को स्वीकार कर कितनी ही पापरूप जातियाँ शुद्ध हो गईं, और हिन्दू बन गईं।

पर मध्यकाल में हिन्दू धर्म में इतनी संकीर्णता आ गई थी, कि उसके लिए किसी भी विदेशी व विधर्मी को अपने में सम्मिलित कर सकना सम्भव नहीं रह गया था। हिन्दू लोग अपने में से ही कितने ही लोगों को अछूत व नीच मानने लगे थे, और उनसे मनुष्यता का भी बरताव नहीं करते थे। उन्नीसवीं सदी में भारत में धार्मिक सुधार के जो अनेक आन्दोलन शुरू हुए, उनका उद्देश्य जहाँ हिन्दू धर्म की इन बुराइयों को दूर करना था, वहाँ साथ ही उन्होंने इस प्राचीन धर्म के वास्तविक व शुद्ध रूप को भी फिर से प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। इसीलिए उन्नीसवीं सदी को हिन्दू धर्म की धार्मिक सुधारणा (Reformation) का युग कहा जाता है।

हिन्दू धर्म से सम्बद्ध ही कतिपय अन्य धर्म भी हैं, जो भारत में विद्यमान हैं। इनमें जैन धर्म सबसे मुख्य है। संस्कृति की दृष्टि से जैन लोग हिन्दुओं से भिन्न नहीं हैं। पर वे वेदों में विश्वास नहीं रखते, और न ही सृष्टि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जैन धर्म भी हिन्दू धर्म के समान ही प्राचीन है। जैन धर्म के समान ही बौद्ध धर्म भी है, जिसका प्रारम्भ छठी सदी ईस्वी पूर्व में बुद्ध द्वारा हुआ था। किसी समय बौद्ध धर्म भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में प्रचलित था, और एशिया के अनेक अन्य देश भी उसके अनुयायी थे। यद्यपि चीन, जापान, बरमा, सियाम, लंका आदि देशों में अब भी यह धर्म प्रचलित है, पर भारत में इसका लोप हो चुका है। आधुनिक समय में एक बार फिर बौद्ध धर्म का भारत में प्रचार करने का यत्न शुरू हुआ है, और कुछ लोगों ने इसे अपनाया भी है, पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है।

सिक्ख लोग भी संस्कृति की दृष्टि से हिन्दू धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ पन्द्रहवीं सदी में गुरु नानक द्वारा किया गया था। नानक हिन्दू धर्म में सुधार करना चाहते थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में भारत में अनेक ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने प्राचीन हिन्दू धर्म में सुधार करने का उद्योग किया था। गुरु नानक उन्हीं में से एक थे। इसलिए सिक्ख सम्प्रदाय को भी हिन्दू धर्म की ही एक शाखा समझा जा सकता है। पर पिछले कुछ वर्षों से सिक्खों में कतिपय ऐसी प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं, जिनके कारण इस धर्म के अनुयायी अन्य हिन्दुओं से अलग होते जा रहे हैं।

भारत में प्रचलित जिन धर्मों का हिन्दुओं के साथ सम्बन्ध नहीं हैं, वे तीन हैं, पारसी, मुसलिम और ईसाई। पारसी लोग ईरान के निवासी हैं। जब ईरान पर अरबों का प्रभुत्व हो गया, और वहाँ के लोगों ने इस्लाम को अपना लिया, तो कुछ पारसी लोग अपनी मातृभूमि को सदा के लिए नमस्कार कर भारत चले आए, और गुजरात व बम्बई में बस गये। इन्होंने अपने प्राचीन धर्म को कायम रखा, और ये अब तक भी ज़रदुस्थ् द्वारा प्रतिपादित प्राचीन धर्म के अनुयायी हैं।

ईसाई धर्म का विशेष रूप से भारत में प्रचार उस समय हुआ, जब इस देश पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ। पर ईसाइयों में प्रचलित विश्वास के अनुसार इस धर्म का सबसे पूर्व भारत में प्रवेश सेण्ट टामस द्वारा हुआ था, जिसने पहली सदी

में धर्म प्रचार के प्रयोजन से एशिया के अनेक देशों में भ्रमण किया था। चौथी सदी ईस्वी पश्चात् कुछ ईसाई सीरिया से भारत में आए, और वे इस देश के पश्चिमी समुद्रतट पर बस गये। जब सोलहवीं सदी में पुर्तगीज लोग भारत में आए, तो उन्होंने भी यहाँ अपने धर्म के प्रचार का उद्योग किया। अंग्रेजों का शासन स्थापित होने पर ईसाई धर्म का इस देश में बहुत प्रचार हुआ, और विशेषतया निम्नवर्ग के बहुत से लोगों ने इस धर्म को अपना लिया।

अरब, तुर्क-अफगान और मुगल आक्रान्ताओं ने जब भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपने राज्य स्थापित किये, तो इस्लाम का भी भारत में प्रवेश हुआ। कई सदियों तक इस्लाम भारत का राजधर्म रहा, क्योंकि इस देश के सुलतान व बादशाह इसी धर्म के अनुयायी थे। कुछ मुसलिम शासकों ने भारतीय जनता को इस्लाम का अनुयायी बनाने के लिए शक्ति का भी प्रयोग किया। इसी का यह परिणाम हुआ कि बहुत से हिन्दू मुसलमान बन गये। मुसलिम पीरों व फकीरों ने भी सर्वसाधारण जनता को मुसलमान बनाने के लिए बहुत उद्योग किया। यही कारण है, जो इस्लाम भी भारत का एक प्रधान धर्म बन गया। पाकिस्तान के पृथक् हो जाने पर भी भारत में इस समय मुसलमानों की संख्या चार करोड़ के लगभग है। जब तक पाकिस्तान का निर्माण नहीं हुआ था, भारत की जनसख्या का २५ प्रतिशत के लगभग भाग इस्लाम का अनुयायी था।

इतने अधिक धर्मों की सत्ता के कारण भारत में साम्प्रदायिक समस्या उग्र रूप में रही है। अंग्रेजी शासन के समय विदेशी शासकों ने विविध धर्मों के अनुयायियों में विद्वेष को उत्पन्न करने की नीति का भी अनुसरण किया, ताकि इस देश में राष्ट्रीय एकता का विकास न हो सके। भारत का विभाजन इसी नीति का परिणाम था। स्वराज्य के बाद भारत में साम्प्रदायिक समस्या बहुत कुछ हल हो गई है, पर अब भी इस बात की आवश्यकता है, कि धार्मिक सहिष्णुता पर जोर दिया जाए।

धार्मिक सुधार के विविध आन्दोलन

प्राचीन हिन्दू धर्म में जो अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस दशा में सुधार करने के लिए उन्नीसवीं सदी में अनेक सुधार आन्दोलन शुरू हुए। इन आन्दोलनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) अंग्रेजों के सम्पर्क से नई शिक्षा को ग्रहण कर भारत के अनेक विचारकों का ध्यान अपने धर्म की बुराइयों की ओर आकृष्ट हुआ। इस कारण उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि हिन्दू धर्म में आमूल परिवर्तन व सुधार की आवश्यकता है। ब्राह्मसमाज इस प्रकार के आन्दोलनों में सर्वप्रधान है।

(२) उन्नीसवीं सदी में कुछ सुधारक ऐसे भी हुए, जिनका कथन था कि हिन्दू धर्म में जो अनेक बुराइयाँ व अन्धविश्वास प्रचलित हैं, वे असली व सनातन

हिन्दू धर्म के अनुकूल नहीं हैं। हिन्दू धर्म का वर्तमान रूप प्राचीन वेद-शास्त्रों के प्रतिकूल है। इन सुधारकों में स्वामी दयानन्द सबसे मुख्य थे। वे न अंग्रेजी जानते थे, और न उन्होंने किसी अंग्रेजी स्कूल व कालिज में शिक्षा ही पाई थी। वे एक पण्डित थे, जिन्होंने वेद-शास्त्रों के अध्ययन में ही अपना समय व्यतीत किया था। इन्हें पढ़कर उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दू धर्म के विकृत रूप को हटाकर सत्य सनातन वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करनी चाहिए। इसी उद्देश्य से उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। हम इन दोनों प्रकार के धार्मिक सुधार आन्दोलनों पर इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

ब्राह्म समाज—इस आन्दोलन के प्रवर्तक राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) थे। वे एक वैष्णव परिवार में उत्पन्न हुए थे, और प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत की ही शिक्षा प्राप्त की थी। बाद में उन्होंने अंग्रेजी का भी अध्ययन किया। शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सर्विस कर ली, और अपनी योग्यता के कारण अच्छे ऊँचे पद पर पहुँच गये। राजा राममोहन राय संस्कृत और अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू और फारसी भी जानते थे, और उन्होंने इस्लाम, क्रिश्चिएनिटी व अन्य धर्मों का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया था। विविध धर्मों का अध्ययन करने और नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने के कारण उनका ध्यान भारत की धार्मिक दुर्दशा की ओर आकृष्ट हुआ, और उन्होंने अपने जीवन को धार्मिक सुधार में व्यतीत करने का संकल्प कर लिया। इसीलिए १८१४ में सरकारी सर्विस से त्यागपत्र देकर वे स्थिर रूप से कलकत्ता जा बसे। १८२८ में उन्होंने वहाँ 'ब्राह्म सभा' नाम से एक नई धार्मिक संस्था की स्थापना की। इस सभा में वे सब लोग सम्मिलित हो सकते थे, जो ईश्वर में विश्वास रखते हों, और मूर्तिपूजा के विरोधी हों। इस सभा के लिए कलकत्ता में एक भवन का निर्माण किया गया, जिसके विक्रय पत्र (Sale Deed) में राजा राममोहन राय ने लिखा था कि नसल, जाति व धर्म का भेदभाव रखे बिना सब प्रकार के लोग इस भवन में आकर एक ईश्वर की उपासना कर सकते हैं, और इस उपासना के लिए किसी प्रतिमा, मूर्ति व कर्मकाण्ड का प्रयोग किया नहीं जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि राजा राममोहन राय एक महान् सुधारक थे। उन्होंने हिन्दू धर्म की कुरीतियों को अनुभव करके ही ब्राह्मसभा की स्थापना की थी।

१८३३ ई० में राजा राममोहन राय की मृत्यु हो गई, पर उन द्वारा स्थापित ब्राह्मसभा उनकी मृत्यु के बाद भी कायम रही। १८४३ ई० में श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर (श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता) ब्राह्मसभा में सम्मिलित हुए, और उनके प्रयत्न से राजा राममोहन राय द्वारा प्रारम्भ किये गए सुधार आन्दोलन ने एक पृथक् समाज व सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। जो व्यक्ति ब्राह्मसभा या समाज में शामिल होते थे, उन्हें एक नई दीक्षाविधि द्वारा अब दीक्षा दी जाने लगी और उन्होंने यह अनुभव करना शुरू किया कि हम सर्वसाधारण हिन्दुओं से भिन्न एक पृथक् समाज व सम्प्रदाय के सदस्य हैं। पर राजा राममोहन राय और श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर दोनों ही वेदों में विश्वास रखते थे, और उन्हीं को सब धर्मों का आदिस्रोत मानते थे।

बाद में ब्राह्मसमाज में अनेक ऐसे प्रभावशासी व्यक्ति सम्मिलित हुए, जो वेदों की प्रामाणिकता की अपेक्षा बुद्धि और तर्क को अधिक महत्त्व देने के पक्षपाती थे। इनके नेता श्री अक्षयकुमार दत्त थे। दत्त महोदय व उनके साथी वेदों की अपौरुषेयता में सन्देह प्रकट करते थे, और पाश्चात्य विचारों के अनुसार सामाजिक सुधार के आन्दोलन को चलाना चाहते थे। इन लोगों के कारण ब्राह्मसमाज धीरे-धीरे हिन्दू धर्म व समाज से दूर हटने लगा। सन् १८५७ में श्री केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज में सम्मिलित हुए, और उनके कारण इस समाज में नवीन स्फूर्ति और उत्साह का संचार हुआ। केशवचन्द्र की प्रेरणा से बहुत से ऐसे लोग ब्राह्मसमाज में शामिल हुए, जिन्होंने कि सांसारिक सुख व उत्कर्ष को लात मार कर समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में ही अपने जीवन को लगा देने का संकल्प किया। इन उत्साही लोगों के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि १८६५ ई० तक भारत के विविध प्रदेशों में ब्राह्मसमाज की ५४ शाखाएँ स्थापित हो गईं।

केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाज ने बहुत उन्नति की, पर बाद में देवेन्द्रनाथ टैगोर से उनका मतभेद हो गया। केशवचन्द्र सेन अन्तर्जातीय विवाह और विधवा विवाह के पक्षपाती थे। उनका यह भी कहना था कि यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुराने ढंग के ब्राह्मण पण्डितों को ब्राह्मसमाज की वेदी से उपदेश देने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए। ये लोग 'आधुनिकता' के पक्षपाती थे, और ब्राह्मसमाज को हिन्दू धर्म से पृथक् कर देना चाहते थे। देवेन्द्रनाथ टैगोर इन बातों से सहमत नहीं थे, वे ब्राह्मसमाज को हिन्दू धर्म का ही अंग बनाये रखने के पक्षपाती थे।

इस मतभेद के कारण ब्राह्मसमाज दो दलों में विभक्त हो गया। देवेन्द्रनाथ टैगोर व उनके अनुयायियों से पृथक् होकर केशवचन्द्र सेन के दल ने अपना पृथक् संगठन बना लिया। बहुसंख्यक ब्राह्मसमाजियों ने श्री केशवचन्द्र सेन का साथ दिया।

ब्राह्मसमाज का प्रादुर्भाव बंगाल में हुआ था, और वहाँ इसने बहुत उन्नति की। बहुत से बंगाली हिन्दू इस समाज में शामिल हुए, और उन्होंने पुरानी रूढ़ियों का परित्याग कर सुधार के मार्ग को अपनाया। इस समाज के मुख्य मन्तव्य निम्न-लिखित हैं—

(१) ईश्वर एक है, जो सृष्टि का कर्ता तथा पालक है, वह सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है। वह न कभी जन्म लेता है और न कभी उसकी मृत्यु होती है। वह अजर, अमर और अनश्वर है।

(२) ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है, अतः मनुष्यों को उसकी उपासना करनी चाहिए। नसल, वर्ण, जाति आदि के भेदभाव को भुला कर सब मनुष्यों को समान रूप से ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। इस उपासना के लिए मन्दिर, मस्जिद व कर्मकाण्ड की कोई आवश्यकता नहीं है। सच्चे हृदय से ईश्वर की भक्ति करना ही उसकी सच्ची उपासना है।

(३) प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार फल मिलता है।

(४) ब्राह्मसमाज बालविवाह का विरोधी और विधवा विवाह का पक्षपाती

है। बहु विवाह को वह मानव समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक मानता है। स्त्री-शिक्षा का वह प्रबल समर्थक है, और परदे की प्रथा का विरोधी है।

(५) ब्राह्मसमाजी लोग सब धर्मों के प्रति सम्मान की भावना रखते हैं, और यह भी समझते हैं कि विविध धर्मों के धर्मग्रन्थों का अध्ययन बहुत उपयोगी होता है। वे धार्मिक सहिष्णुता और विश्वबन्धुत्व की भावना के समर्थक हैं।

(६) विविध जातियों में विवाह सम्बन्ध स्थापित करना और खान-पान सम्बन्धी संकीर्ण विचारों का विरोध करना भी ब्राह्मसमाज के लोग अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

बंगाल के हिन्दुओं में पुरानी रूढ़ियों व सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए ब्राह्मसमाज ने बहुत उपयोगी कार्य किया। ईसाइयों व मुसलमानों को अपने समाज में शामिल करने में यद्यपि उन्हें सफलता नहीं हुई, पर हिन्दुओं में उन्होंने एक ऐसा वर्ग अवश्य उत्पन्न कर दिया, जो पुरानी रूढ़ियों का विरोध करके एक उन्नत प्रकार के सामाजिक जीवन का पक्षपाती था। शुरू में बंगाल के सनातनी हिन्दुओं ने ब्राह्मसमाज का बहुत विरोध किया। वे इस समाज के सदस्यों को विधर्मी व विजातीय समझने लगे। पर धीरे-धीरे उनकी मनोवृत्ति में अन्तर आने लगा। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ अन्य हिन्दुओं ने भी अनुभव किया कि बाल-विवाह बुरी बात है, और स्त्री-शिक्षा व विधवा-विवाह सामाजिक उन्नति के लिए उपयोगी हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्राह्मसमाज के मन्तव्य बहुत क्रान्तिकारी समझे जाते थे। पर बीसवीं सदी में हिन्दू धर्म के प्रायः सभी प्रगतिशील लोग उनका समर्थन करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि सुशिक्षित हिन्दुओं और ब्राह्मसमाजियों में भेद कम होता गया। इस समय बंगाल के सुशिक्षित व प्रगतिशील हिन्दू ब्राह्मसमाज की प्रायः उन सब बातों को स्वीकार करते हैं, जिनका सम्बन्ध समाज-सुधार से है। पर वे अपनी पूजा की विधि को छोड़ देने के लिए उद्यत नहीं हैं। हिन्दू लोग ईश्वर में विश्वास रखते हैं, पर साथ ही यह भी मानते हैं कि विविध देवी-देवता सर्वशक्तिमान् भगवान् की विविध शक्तियों के प्रतीक हैं। इसीलिए वे देवी-देवताओं के रूप में ईश्वर की पूजा करने में कोई हानि नहीं समझते।

आर्य समाज

उन्नीसवीं सदी में प्राचीन हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार करने और हिन्दू जाति की सामाजिक दशा में सुधार करने के लिए जिन विविध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, उनमें आर्य समाज का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है। जो कार्य बंगाल में राजा राममोहन राय ने किया, वही उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३) ने किया। दयानन्द काठियावाड़ के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध और वर्द्धमान महावीर के समान उन्हें भी युवावस्था में ही सांसारिक जीवन से वैराग्य हो गया, और वे घर-बार का परित्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े। ईश्वर का क्या स्वरूप है, हिन्दू शास्त्रों की क्या शिक्षाएँ हैं, ईश्वर के

ज्ञान व मोक्ष के क्या साधन हैं—इन बातों की जिज्ञासा को लेकर उन्होंने दूर-दूर तक भ्रमण किया, बहुत से साधु-महात्माओं व विद्वानों का सत्संग किया, और अनेक प्रकार से तपस्या की। भारत भ्रमण में जनता की दुर्दशा को देखते हुए और वेदादि प्राचीन धर्म ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दू धर्म का जो रूप उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में विद्यमान था, वह प्राचीन आर्य (वैदिक) धर्म से बहुत भिन्न है। दयानन्द अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अपरिचित थे, न वे ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आए थे, और न ही उन्हें पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला था। केवल वेद-शास्त्रों का अध्ययन करके ही वे इस परिणाम पर पहुँच गये कि बाल-विवाह सर्वथा अनुचित है, विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह शास्त्रसम्मत है, और समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव धर्म के विरुद्ध है। जात-पाँत का भेद उस वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप है, जिसमें कि गुण-कर्म और स्वभाव के अनुसार मानव-समाज को चार भागों (वर्णों) में विभक्त किया गया था, और प्रत्येक मनुष्य को यह अवसर था कि वह अपनी योग्यता व गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र वर्ण को प्राप्त कर सके। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा दी जानी चाहिये, छूत-अछूत का भेद धर्मविरुद्ध है, प्राचीन समय में आर्य लोग समुद्र को पार कर दूर-दूर तक यात्रा किया करते थे, और अब भी भारत के लोगों को अपने संकीर्ण विचारों का परित्याग कर देश-विदेश की यात्रा करनी चाहिये। ईश्वर एक है, और सब को उस एक ईश्वर की ही उपासना करनी चाहिये। ईश्वर निराकार है, अतः उसकी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। ईश्वर मानवरूप धारण कर अवतार नहीं लेता। राम और कृष्ण जैसे अवतार माने जाने वाले व्यक्ति वस्तुतः महापुरुष थे, जिनका हमें समुचित आदर तो करना चाहिये, पर उन्हें ईश्वर का अवतार नहीं मानना चाहिये। मृत्यु के बाद आत्मा पुनः जन्म ग्रहण करता है, अतः श्राद्ध द्वारा उसे जल या भोजन पहुँचाने का यत्न करना सर्वथा निरर्थक है।

हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में दयानन्द के ये विचार सचमुच क्रान्तिकारी थे। इनके प्रतिपादन के लिये उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'सत्यार्थ प्रकाश' मुख्य है। वेदों की शिक्षा सर्वसाधारण जनता तक पहुँचाने के लिये उन्होंने वैदिक संहिताओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया। भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब कि वेदों का अनुवाद जनता की भाषा में किया गया था। दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी, पर उन्होंने अपनी पुस्तकें हिन्दी में लिखीं, क्योंकि वे समझते थे कि हिन्दी द्वारा ही वे अपने विचारों को उत्तर भारत की सर्वसाधारण जनता तक पहुँचा सकते हैं। दयानन्द पहले लेखक थे, जिन्होंने हिन्दी में बड़े-बड़े गद्य ग्रन्थों की रचना की।

अपने विचारों व सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की, जिसकी शाखाएँ शीघ्र ही भारत के प्रायः सभी प्रधान नगरों में कायम हो गईं। दयानन्द ने हिन्दू धर्म की बुराइयों को दूर कर केवल सुधार का ही प्रयत्न नहीं किया, अपितु यह भी प्रतिपादित किया कि अन्य धर्मों के अनुयायी भी आर्य समाज में प्रवेश कर हिन्दू समाज के अंग बन सकते हैं। हिन्दू लोग अच्छी बड़ी

संख्या में इस्लाम और क्रिश्चएनिटी को अपना रहे थे। कोई मनुष्य हिन्दू धर्म का त्याग तो कर सकता था, पर कोई विधर्मी हिन्दू धर्म में प्रविष्ट नहीं हो सकता था। दयानन्द ने कहा कि सब मनुष्यों को आर्य समाज का सदस्य होने का अवसर है। कोई भी विधर्मी 'शुद्धि' द्वारा हिन्दू बन सकता है। दयानन्द कहा करते थे कि किसी समय वेदों का धर्म सारे संसार में प्रचलित था, और अब आर्य समाज को यह यत्न करना चाहिये कि एक बार फिर देश-देशान्तर और द्वीप-दीपान्तर में वैदिक धर्म का प्रचार हो जाए। निःसन्देह, ये विचार एकदम मौलिक व क्रान्तिकारी थे।

दयानन्द केवल वेदों के विद्वान् और सुधारक ही नहीं थे। भारत की राजनीतिक दुर्दशा व पराधीनता का भी उन्होंने तीव्र रूप से अनुभव किया। उन्होंने अपने अनुयायियों का ध्यान भारत के उस लुप्त गौरव की ओर आकृष्ट किया, जब कि इस देश के प्रतापी सम्राट् भारत से बाहर के देशों को भी अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया करते थे। दयानन्द ने कहा कि आपसी फूट के कारण ही भारत का प्राचीन गौरव नष्ट हुआ, और यह देश पहले मुसलमानों के अधीन हुआ और बाद में अँग्रेजों के। विदेशी शासन का अन्त कर भारत में 'स्वराज्य' की स्थापना होनी चाहिये, यह आवाज सबसे पहले दयानन्द ने ही उठाई थी। उन्होंने यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया कि 'सुशासन' कभी 'स्वशासन' का स्थान नहीं ले सकता।

दयानन्द की शिक्षाओं का प्रचार करने के लिये आर्य समाज ने जहाँ बहुत से धर्म प्रचारकों को नियत किया, वहाँ वहुत से विद्यालयों, कालिजों, अनाथालयों, विधवाश्रमों, चिकित्सालयों और आश्रमों की भी स्थापना की। ईसाइयों के प्रचार को दृष्टि में रखकर आर्य समाज ने भी उपदेशक मंडलियाँ तैयार कीं, जो नगरों और ग्रामों में घूम-घूम कर जनता को सच्चे वैदिक धर्म का सन्देश सुनाती थीं, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करती थीं, और विधर्मी लोगों को आर्य समाजी व हिन्दू बनाने के लिये प्रयत्न करती थीं। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में आर्य समाज ने अनुपम कार्य किया। प्रायः सभी आर्य समाज मन्दिरों के साथ पुत्री पाठशालाओं की स्थापना की गई। अछूतों का उद्धार आर्य समाज का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य था। कितने ही चमार व भंगी आर्य समाज द्वारा 'महाशय' व 'आर्य' बना लिये गये, और वे शिक्षित हो जाने पर पुरोहित व उपदेशक आदि पदों पर भी नियत किये गये।

धर्म तथा समाज-सुधार के लिये आर्यसमाज ने जो कार्य किया, वह वस्तुतः बहुत महत्त्व का है। उसके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) ईश्वर एक है, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, निराकार, अजर अमर और सृष्टिकर्ता है। क्योंकि वह निराकार है, अतः उसकी मूर्ति व प्रतिमा नहीं बनाई जा सकती। ईश्वर की पूजा के लिये मन्दिरों व मूर्तियों की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वर जन्म ग्रहण नहीं करता, अतः वह अवतार भी नहीं लेता।

(२) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, और उसका पढ़ना-पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है।

(३) मनुष्य को अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये, अपितु सबकी

उन्नति में ही अपनी उन्नति समझना चाहिये। सबसे प्रीतिपूर्वक यथायोग्य बरताव करना चाहिये, और संसार के उपकार को अपना उद्देश्य मानना चाहिये।

(४) सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने, व अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि में तत्पर रहना चाहिये। सब कार्य सत्य और असत्य का विचार करके ही करने चाहियें।

(५) जन्म के कारण न कोई ऊँचा होता है, न कोई नीच। छूत-अछूत का भेद सर्वथा अनुचित है। वर्ण भेद का आधार गुण, कर्म और स्वभाव की भिन्नता है, न कि जन्म।

(६) सब को योग्यता प्राप्त करने का समान रूप से अवसर दिया जाना चाहिये। शिक्षा-प्राप्ति के काल में सब बालकों व बालिकाओं का एक सदृश खानपान व रहन-सहन होना चाहिये। गुरुजनों को ही यह निर्णय करना चाहिये कि कौन व्यक्ति किस कार्य के योग्य है, और उनके निर्णय के अनुसार ही प्रत्येक को कार्य मिलना चाहिये।

(७) स्त्रियों को शिक्षित करना परम आवश्यक है। विवाह तभी होना चाहिये जब कि कुमार व कन्या युवा हो जाएँ, और ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर लें।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म के एक ऐसे रूप को जनता के सम्मुख रखा, जो बहुत ही उदात्त व उच्च है। इसीलिये बहुत से हिन्दू आर्यसमाज के सदस्य बने, और इस समाज द्वारा हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार हुआ।

रामकृष्ण मिशन

जिस समय स्वामी दयानन्द उत्तरी भारत में धर्मसुधार का कार्य कर रहे थे, बंगाल में एक अन्य महात्मा का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका नाम रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६) था। उन्होंने किसी नये समाज व संस्था की स्थापना नहीं की। पर उनके अध्यात्म चिन्तन, त्यागमय जीवन और उच्च आदर्शों ने बहुत से लोगों को आकृष्ट किया, और कलकत्ता के बहुत से सुशिक्षित नवयुवक उनके दर्शनों के लिये आने लगे। श्री रामकृष्ण कलकत्ता के समीप ही एक मन्दिर में निवास करते थे। उनके भक्तों में नरेन्द्रनाथ दत्त नाम के तेजस्वी व प्रतिभाशाली युवक का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। ये ही आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, और इन्होंने रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं का देश-विदेश में प्रसार करने के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया। विवेकानन्द का व्यक्तित्व अनुपम था, और उनकी विद्वत्ता अगाध थी। १८९३ ई० में वे शिकागो की विश्व धर्म परिषद् (Parliament of Religions) में शामिल हुए, और वहाँ भारत के अध्यात्मवाद पर जो व्याख्यान उन्होंने दिया, उन्हें सुनकर लोग चकित रह गये। तीन साल के लगभग वे अमेरिका में रहे, और वहाँ वेदान्त, अध्यात्म आदि विषयों पर प्रवचन करते रहे। कुछ ही समय में पाश्चात्य संसार में उनकी कीर्ति फैल गई, और वहाँ के लोग हिन्दू धर्म और उसके अध्यात्मवाद को आदर की दृष्टि से देखने लगे।

रामकृष्ण की शिक्षाओं के अनुसार जन समाज की सेवा करने के लिये उनके शिष्यों ने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की, जिसकी शाखाएँ कुछ ही समय में भारत तथा अन्य देशों में अनेक स्थानों पर कायम हो गईं। इस मिशन के सदस्य जहाँ अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों व मन्तव्यों का उपदेश करते हैं, वहाँ साथ ही चिकित्सा-लय, शिक्षणालय आदि खोलकर जनता की सेवा भी करते हैं। रामकृष्ण के अनुसार ईश्वर एक है, और अध्यात्मवाद का अनुसरण कर ब्रह्म में लीन हो जाना ही मनुष्य का चरम ध्येय है। पर विविध देवी-देवताओं के रूप में विश्व की इस सर्वोपरि शक्ति की पूजा की जा सकती है, और प्रतिमा पूजन द्वारा मनुष्य अपनी अध्यात्म शक्ति का विकास कर सकता है। रामकृष्ण परमहंस विविध धर्मों व सम्प्रदायों की आधार-भूत एकता में भी विश्वास रखते थे। उनका मन्तव्य था कि विविध धर्म उन विविध मार्गों के समान हैं, जो मनुष्य को एक ही मंजिल की ओर ले जाते हैं। जिस प्रकार जल के पानी, वाटर आदि कितने ही नाम हैं, वैसे ही हरि, अल्लाह, कृष्ण आदि एक ही ईश्वर के बोधक हैं। ईश्वर एक है, पर एक होते हुए भी वह अपने को अनेक रूपों में प्रगट करता है। इसीलिये उसकी उपासना के भी अनेकविध ढंग हैं।

इस युग के अन्य धार्मिक आन्दोलनों के समान रामकृष्ण मिशन ने भी हिन्दू जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारत की अशिक्षित, रोग पीड़ित, पद-दलित और दुखी जनता की सेवा करना और उसकी दशा को उन्नत करना इस मिशन का मुख्य उद्देश्य है। स्वामी विवेकानन्द जहाँ भारत के अध्यात्मवाद का देश-विदेश में प्रचार करते थे, वहाँ साथ ही भारत की वर्तमान दुर्दशा की ओर भी संसार का ध्यान आकृष्ट करते थे। उनका विश्वास था, कि भौतिक सुखों के पीछे पागल हुई दुनिया को भारत का अध्यात्मवाद सच्ची शान्ति का सन्देश दे सकता है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब कि भारत अपनी तमोमयी निद्रा से जागकर संसार में अपने लिये उपयुक्त स्थान प्राप्त कर ले। इसीलिये उन्होंने भारत में नवजीवन का संचार करने का प्रयत्न किया।

थियोसोफिकल सोसायटी

इस सोसायटी की स्थापना १८७५ ई० में अमेरिका में हुई थी, और इसके संस्थापक मदाम ब्लावत्स्की और कर्नल ऑलकॉट थे। स्वामी दयानन्द के निमन्त्रण पर ये १८७६ ई० में भारत आए, और इन्होंने उन नये धार्मिक आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित किया, जो उस समय भारत में जारी थे। आर्यसमाज के कार्य से ये बहुत प्रभावित हुए, और इन्होंने यह प्रयत्न किया कि थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज मिलकर एक हो जाएँ, और साथ मिलकर ही कार्य करें। पर दयानन्द वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। ब्लावत्स्की और ऑलकॉट यह स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुए। आर्य-समाज से मिलकर एक हो जाने की बात से निराश होकर इन्होंने मद्रास के अदयार नामक स्थान पर अपना केन्द्र स्थापित किया, और वहाँ से भारत के विविध प्रदेशों में अपने मन्तव्यों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। शुरू में इस सोसायटी को विशेष सफलता नहीं मिली, पर जब १८९३ ई० में श्रीमती एनी बीसेन्ट—जो एक अत्यन्त

प्रतिभाशाली और प्रबल व्यक्तित्व वाली महिला थीं—ने स्थिर रूप से भारत में बस-कर थियोसोफिकल सोसायटी का कार्य शुरू किया, तो इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा और बहुत से शिक्षित भारतीय इसकी ओर आकृष्ट हुए।

श्रीमती बीसेन्ट का कहना था कि भारत अपनी सब समस्याओं को सुगमता से हल कर सकता है, बशर्ते कि वह अपने प्राचीन आदर्शों व संस्थाओं का पुनरुद्धार करे। भारत के लिए यह परम आवश्यक है कि उसके निवासियों में आत्मसम्मान की भावना जागृत हो, वे अपने गौरवमय भूतकाल पर गर्व करें, और अपने भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास रखें। भारत में नवजीवन का संचार तभी हो सकेगा, जबकि इस देश के लोग अपने धर्म, सभ्यता व संस्कृति के लिए गर्व अनुभव करने लगेंगे। निःसन्देह, श्रीमती बीसेन्ट के इन विचारों से भारतीय जनता में स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ। श्रीमती बीसेन्ट लिखने और भाषण करने में अनुपम योग्यता रखती थीं। उनके भाषण को सुनते हुए श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। भारत से उन्हें सच्चा प्रेम था, और वे भारत के स्वराज्य आन्दोलन से सच्ची सहानुभूति रखती थीं। इसी लिए जनता ने उन्हें इण्डियन नेशनल कांग्रेस का अध्यक्ष भी निर्वाचित किया था।

श्रीमती बीसेन्ट के प्रयत्न से थियोसोफिकल सोसायटी की शाखाएँ भारत के अनेक नगरों में स्थापित हुईं, और उनके सम्पर्क में आकर सुशिक्षित भारतीयों ने अपने देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को गौरव की दृष्टि से देखना शुरू किया। श्रीमती बीसेन्ट द्वारा ही बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना की गई, जो बाद में एक कालिज के रूप में परिवर्तित हो गया।

राधास्वामी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय की स्थापना १८६१ ई० में श्री शिव नारायण जी (१८१८-१८७८) द्वारा की गई थी। आगरा इसका प्रधान केन्द्र है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी ईश्वर में विश्वास रखते हैं, पर अपने गुरु को ईश्वर का अवतार व साक्षात् भगवान् मानते हैं। गुरु की भक्ति करना और गुरु के अनुयायियों में जाति-पांति व ऊँच-नीच का भेद न मानना इनके सिद्धान्तों की विशेषता है। श्री शिवनारायण इस सम्प्रदाय के प्रथम गुरु थे, और उनके बाद गुरुओं की परम्परा अब तक कायम है। अपने अनुयायियों के लाभ के लिए इस सम्प्रदाय ने आगरा में एक महान् शिक्षा संस्था भी कायम की है, जिसमें साधारण कालिज के अतिरिक्त एक इंजीनियरिंग इन्स्टिट्यूट भी विद्यमान है। राधास्वामी सम्प्रदाय के लोग सब धर्मों का आदर करते हैं, और भक्ति, प्रेम व भ्रातृत्व भाव को बहुत महत्त्व देते हैं।

विविध धार्मिक आन्दोलनों में समानता

उन्नीसवीं सदी में हिन्दू धर्म का सुधार करने के लिए जो अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनमें अनेक समानताएँ पाई जाती हैं—

(१) इन सब ने यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर एक है। विविध देवी-

देवताओं की सत्ता को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। यदि किया भी, तो ईश्वर की विविध शक्तियों के प्रतीक के रूप में।

(२) इन सब ने उन सामाजिक कुरीतियों व रूढ़ियों को दूर करने का प्रयत्न किया, जो हिन्दू धर्म में उत्पन्न हो गई थीं। ये सब आन्दोलन स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह के पक्षपाती थे; और बाल-विवाह, छूत-अछूत, जात-पांत आदि के विरोधी थे।

(३) इन आन्दोलनों ने भारतीय-संस्कृति पर जोर दिया और प्राचीन शास्त्रों से प्रेरणा प्राप्त की।

(४) इन सब ने देश भक्ति, राष्ट्रीय एकता और जातीय गौरव की भावनाओं को जागृत कर भारत में नवजागरण को उत्पन्न करने में सहायता पहुँचाई।

नये धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम

ब्राह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि के रूप में जो अनेक धर्म सुधार आन्दोलन उन्नीसवीं सदीं में प्रचलित हुए, उन्होंने हिन्दू जाति में एक नई जागृति उत्पन्न कर दी। जो लोग इन सुधार आन्दोलनों के विरोधी थे और पुराने परम्परागत धर्म के अनुयायी थे, उन पर भी इन आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा। उत्तरी भारत में आर्यसमाज के अनुकरण में सनातन धर्म सभाओं का संगठन शुरू हुआ, जिनके प्रचारक आर्य समाजी उपदेशकों के समान ही अपने मन्तव्यों के प्रचार में तत्पर हुए। वेदशास्त्रों की शिक्षा के लिये यदि आर्य समाज ने गुरुकुलों की स्थापना की, तो सनातनी लोगों ने भी ऋषिकुल कायम किए। सनातनी लोग भी युक्ति और तर्क द्वारा पौराणिक सिद्धान्तों की पुष्टि करने लगे, क्योंकि वे भी अब भली भाँति अनुभव करते थे कि आधुनिक युग में कोई धार्मिक सिद्धान्त तब तक जनता में प्रचलित नहीं रह सकता, जब तक कि तर्क द्वारा उसे पुष्ट न किया जाए। आर्य समाज के समान सनातन धर्म सभाओं ने भी स्त्री शिक्षा के लिए पाठशालाएँ कायम कीं, और दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालिज के अनुकरण में सनातन धर्म कालिज भी स्थापित किये गए।

सुधारवादियों और सनातनियों के ये सब प्रयत्न जहाँ शिक्षित वर्ग में नव-जागरण उत्पन्न कर रहे थे, वहाँ साथ ही अशिक्षित जगता में भी वे धर्म के ज्ञान और सत्य असत्य के विवेचन की प्रवृत्ति को विकसित कर रहे थे। आर्य समाजी और सनातनी दोनों उपदेशक ग्रामों में जाकर उपदेश देते थे, भजन गाते थे और शास्त्रार्थ करते थे। अशिक्षित जनता भी इन भजनों और शास्त्रार्थों को शौक से सुनती थी।

इस्लाम के नए धार्मिक आन्दोलन

हिन्दुधर्म में सुधार आन्दोलनों द्वारा जो नवजागरण हो रहा था, उसने इस्लाम को भी प्रभावित किया। हिन्दुओं के समान मुसलमानों में भी अनेक सामाजिक कुरीतियाँ व अन्धविश्वास उत्पन्न हो गये थे। भारत के बहुसंख्यक मुसलमान पहले

हिन्दू ही थे। धर्म परिवर्तन के बाद भी वे अपनी पुरानी रूढ़ियों और विश्वासों को नहीं छोड़ सके। इस्लाम मूर्तिपूजा का विरोधी है, पर भारत के मुसलमान पीरों के मकबरों की पूजा करते थे, उन पर दिये जलाते थे और उनसे मानता मानते थे। ये सब बातें इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों के विपरीत थीं।

साथ ही, अंग्रेजी शासन की स्थापना होने पर शुरू में मुसलमान लोग अंग्रेजी भाषा और नये ज्ञान-विज्ञान से घृणा करते थे। उनका विचार था, कि जो कुछ भी जानने योग्य है, वह सब कुरान में विद्यमान है। इस विश्वास के कारण मुसलमान लोगों ने अंग्रेजी पढ़ने और नये ज्ञान-विज्ञान को अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। परिणाम यह हुआ कि वे उन्नति की दौड़ में बहुत पिछड़ गये।

इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि मुसलमानों में भी ऐसे आन्दोलन शुरू हों, जिनका उद्देश्य इस्लाम की कुरीतियों को दूर करना व जनता में नवजागरण उत्पन्न करना हो।

वहाबी आन्दोलन—अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में अरब में एक सुधारक उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम मुहम्मद अब्दुल वहाब था। इसने इस्लाम में एक नये सुधार आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसे 'वहाबी आन्दोलन' कहते हैं। अन्य मुसलिम देशों पर भी इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा, और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में भी इसका प्रवेश हुआ। भारत में इस आन्दोलन के प्रमुख संचालक सैयद अहमद बरेलवी और शेख करामत अली थे। वहाबी लोग इस्लाम से कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करते थे, और पीरों, मकबरों आदि की जो पूजा भारत के मुसलमानों में प्रचलित थी, उसका घोर विरोध करते थे। वहाबी लोग भारत में इस्लाम का प्रचार करने के लिए भी प्रयत्नशील थे और उस उद्देश्य से शक्ति से प्रयोग को भी अनुचित नहीं समझते थे।

अहमदिया आन्दोलन—उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में इस्लाम में एक अन्य सुधार आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, जिसके प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद (१८३८-१९०८) थे। ये पंजाब के गुरुदासपुर जिले के कादियान नामक स्थान के निवासी थे। उनके नाम से इस आन्दोलन को 'अहमदिया' कहते हैं, और क्योंकि इसका केन्द्र कादियान था, अतः इसे 'कादियानी' भी कहा जाता है। अहमदिया लोग केवल मुहम्मद को ही पैगम्बर नहीं मानते, अपितु यह भी कहते हैं कि अन्य धर्मों के पैगम्बरों का भी सब को आदर करना चाहिये। साथ ही, वे यह कहते हैं कि मुहम्मद के साथ पैगम्बरों की परम्परा का अन्त नहीं हो गया। भविष्य में भी ईश्वर मनुष्यों को मार्ग प्रदर्शित करने के लिये पैगम्बर भेज सकता है। कादियानी लोग मिर्जा गुलाम अहमद को इसी प्रकार का पैगम्बर मानते हैं। यही कारण है कि अन्य मुसलमान उन्हें इस्लाम का सच्चा अनुयायी नहीं समझते, और उन्हें काफिरों की श्रेणी में रखते हैं। बहुत से मुसलमान इस सम्प्रदाय में शामिल हुए, और अनेक गैरमुसलिमों ने भी इस आन्दोलन को आदर की दृष्टि से देखा। कादियान इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का मुख्य केन्द्र व तीर्थस्थान है।

अलीगढ़ आन्दोलन—इस आन्दोलन के प्रवर्तक सर सैयद अहमद खाँ (१८१७-१८९८) थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा सीख कर नये ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त किया था। उन्होंने देखा कि मुसलमान लोगों की दुर्दशा का मुख्य कारण यह है कि वे नई शिक्षा को ग्रहण नहीं कर रहे हैं। जब अंग्रेजों ने भारत को अपने अधीन किया, तो उत्तरी भारत के बड़े भाग पर मुसलिम लोगों का शासन था। उन्हें अपने धर्म व संस्कृति का गौरव था। इस कारण उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को अपनाने में उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। इसके विपरीत हिन्दू लोग अंग्रेजी शिक्षा को प्राप्त कर उच्च सरकारी नौकरी पाने लगे, और भारत के सार्वजनिक जीवन में उनका महत्त्व निरन्तर बढ़ने लगा। सर सैयद अहमद खाँ ने इस सचाई को अनुभव कर मुसलमानों को इस बात के लिये प्रेरित करना शुरू किया कि उन्हें भी नये ज्ञान-विज्ञान को अपनाना चाहिये और जीवन-संघर्ष में आगे बढ़ना चाहिये। इसी प्रयोजन से उन्होंने अलीगढ़ में 'मोहम्मडन एंग्लो-ओरियन्टल कालिज' की स्थापना की। इस कालिज में मुसलमान युवकों को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी, और साथ ही वहाँ अरबी, फारसी व मुसलिम साहित्य के उच्च अध्ययन का भी समुचित प्रबन्ध था। बाद में अलीगढ़ का यह कालिज मुसलिम संस्कृति और इस्लाम के नवजागरण का प्रधान केन्द्र बन गया। इसकी महत्ता इतनी बढ़ गई कि १९२० ई० में इसे मुसलिम यूनिवर्सिटी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

सर सैयद अहमद खाँ उर्दू के सुयोग्य साहित्यिक व पत्रकार भी थे। उन्होंने 'तहज़ीबुल अखलाक' नाम से एक उर्दू पत्रिका भी प्रकाशित करनी शुरू की, जिसमें लेख लिख कर वे मुसलमानों में सामाजिक सुधार का प्रचार करते थे। इस पत्रिका का उद्देश्य मुसलमानों में जागृति उत्पन्न करना था।

अनेक मुसलिम कवियों, साहित्यकारों और लेखकों ने सर सैयद के साथ सहयोग किया। पानीपत के ख्वाजा अल्ताफ हुसैन हाली बड़े प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उन्होंने अपने काव्य द्वारा मुसलमानों का ध्यान उनके पुराने गौरव की ओर आकृष्ट किया, और साथ ही उन्हें इस बात के लिए भी प्रेरित किया कि वे भविष्य में भी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों।

शीघ्र ही अलीगढ़ इस्लाम के नवजागरण का केन्द्र बन गया। वहाँ पढ़ने वाले विद्यार्थी उच्च शिक्षा के साथ-साथ इस्लाम के प्रति भक्ति व उत्साह का भी पाठ सीखते थे। सर सैयद अहमद खाँ का कथन था कि मुसलमानों को अंग्रेजों के साथ सहयोग करना चाहिये और हिन्दुओं द्वारा संचालित राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन से पृथक् रहना चाहिये। मुसलमानों की राष्ट्रीय जागृति जो हिन्दुओं से पृथक् होकर हुई, उसका प्रधान श्रेय अलीगढ़ के वातावरण को ही है।

अन्य धर्मों में जागृति व सुधार आन्दोलन

हिन्दुओं और मुसलमानों के समान अन्य धर्मों में भी उन्नीसवीं सदी में अनेक नये सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए। १८५१ ई० में पारसियों ने 'रहनुमाई मज्दयासना'

नाम की सभा की स्थापना की, जिसका उद्देश्य पारसियों में समाज सुधार करना था।

सिक्ख धर्म में भी नई जागृति के चिह्न प्रगट होने शुरू हुए। सिक्ख लोग जहाँ अपने धर्म का प्रचार करने में तत्पर हुए, वहाँ साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि सिक्ख गुरुद्वारों पर महन्तों का प्रभुत्व न होकर सिक्ख जनता द्वारा उनका प्रबन्ध किया जाना चाहिये। इसीलिये बीसवीं सदी में गुरुद्वारा आन्दोलन ने जोर पकड़ा, और खालसा दीवान व शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी सदृश संस्थाओं की स्थापना हुई।

जैनियों में भी इस युग में नवजीवन का संचार हुआ, और उन्होंने अपने पुराने धार्मिक साहित्य व ज्ञान का अनुशीलन करने के लिये अनेक संस्थाओं को स्थापित किया।

अंग्रेजी शासन के स्थापित हो जाने के कारण ईसाई मिशनरी भी भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील हुए।

हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई सब धर्म उन्नीसवीं सदी में नये जीवन व नई स्फूर्ति से अनुप्राणित थे। सब का प्रयत्न था, कि अपने सिद्धान्तों का प्रचार करें और अधिक-से-अधिक लोगों को अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न करें। निःसन्देह, भारत में इस समय धार्मिक सुधार की लहर-सी चल पड़ी थी, जिसने इस देश की उन्नति व जागृति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) उन्नीसवीं सदी में हिन्दू धर्म में सुधार के लिये कौन से मुख्य आन्दोलन शुरू हुए?

(२) ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज के मन्तव्यों में तुलना कीजिये।

(३) स्वामी दयानन्द के जीवन की मुख्य घटनाओं का परिचय देकर आर्यसमाज के कार्य का उल्लेख कीजिये।

(४) उन्नीसवीं सदी के विविध धार्मिक आन्दोलनों ने भारत में क्या परिणाम उत्पन्न किये?

(५) इस्लाम के नये आन्दोलनों का परिचय दीजिये।

इक्कीसवाँ अध्याय

समाज सुधार के आन्दोलन

भारतीय समाज की बुराइयाँ

भारत जो देर तक विदेशियों की अधीनता में रहा और उन्नति की दौड़ में पाश्चात्य देशों के मुकाबिले में पीछे रह गया, इसका एक प्रधान कारण इस देश के सामाजिक जीवन का दोषपूर्ण होना था। उन्नीसवीं सदी में जब भारत का नवजागरण हुआ, तो इन सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए अनेक आन्दोलन शुरू हुए। उन्हें आंशिक रूप में सफलता भी हुई। ये आन्दोलन अब भी जारी हैं। पर अब तक भी भारत के सामाजिक जीवन से वे बुराइयाँ पूरी तरह से दूर नहीं हो पाई हैं, जिनके कारण इस देश का पतन हुआ था। भारत का भविष्य इसी बात पर निर्भर करता है कि इस देश के नेता और सुधारक इन बुराइयों को दूर करने में कहाँ तक सफल हो सकेंगे। ये बुराइयाँ निम्नलिखित हैं—

(१) **जात-पाँत का भेदभाव**—भारत में जात-पाँत का भेद-भाव बहुत अधिक है। कुछ लोग जन्म के कारण ही ऊँचे माने जाते हैं, और कुछ लोग जन्म के कारण ही नीच। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति चाहे कितना ही मूर्ख व अशिक्षित हो, उसकी स्थिति समाज में सम्मानास्पद होती है। चमार या भंगी कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति चाहे कितना ही विद्वान् व गुणी क्यों न हो, वह समाज में समुचित आदर नहीं प्राप्त कर पाता। जात-पाँत के कारण भारत की जनता में एकानुभूति का अभाव है। ठाकुर अपने को वैश्यों व जाटों से अलग समझता है, और कायस्थ अपने को अन्य जातियों से पृथक् मानते हैं। आजकल की इन जातियों का आधार कर्म नहीं है। कितने ही ब्राह्मण बरतन मलने का या चपरासी का कार्य करते हैं, पर फिर भी वे ब्राह्मण माने जाते हैं। कितने ही क्षत्रिय दूकानें खोलकर सौदा बेचते हैं, पर फिर भी अपने को वैश्य न कहकर क्षत्रिय कहने में अभिमान अनुभव करते हैं। कितने ही वैश्य आज न्यायाधीश, अध्यापक आदि का कार्य कर रहे हैं, पर समाज की दृष्टि में उन्हें 'बनिया' ही समझा जाता है। अपने कुल का गौरव कोई बुरी बात नहीं है। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी कुल में उत्पन्न होता है, और अपने कुल को आदर की दृष्टि से देखता है। पर जब जाति-भेद के कारण एक जाति के मनुष्य अपने को अन्य जातियों से पृथक् अनुभव करने लगते हैं, तो राष्ट्रीय जीवन का विकास कठिन हो जाता है।

(२) **अछूतपन**—भारत में छः करोड़ के लगभग ऐसे मनुष्य हैं, जिन्हें अछूत समझा जाता है। इन्हें मनुष्यता के साधारण अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। अब से कुछ समय पूर्व तक ये अछूत लोग न सार्वजनिक कुओं व जलाशयों से पानी भर सकते थे,

न मन्दिरों में जाकर देव दर्शन कर सकते थे, न तीर्थों में स्नान कर सकते थे, और न सार्वजनिक स्थानों का उपयोग ही कर पाते थे। कानून द्वारा अब किसी को अछूत समझना दण्डनीय मान लिया गया है। पर इससे अछूतपन की समस्या हल नहीं हो गई है। अब तक भी भारत के देहातों में अछूतों को मानवता के साधारण अधिकार भी उपलब्ध नहीं हुए हैं, और नगरों के निवासी भी उनके साथ बराबरी का व्यवहार करने को उद्यत नहीं हैं। अछूत समझे जाने वाले लोग शिक्षा, सम्पत्ति आदि सब क्षेत्रों में बहुत पिछड़े हुए हैं, और उनका जीवन गुलामों से किसी भी प्रकार अच्छा नहीं है। हिन्दू धर्म के लिए अछूतपन एक भारी कलंक है। इसके कारण हिन्दू समाज का एक बहुत बड़ा भाग अन्य लोगों से बिलकुल पृथक् हो गया है। पर यह कलंक केवल हिन्दुओं के माथे पर ही नहीं है। भारतीय समाज में कतिपय जातियों को नीच मानने का विचार इतना दृढ़मूल है कि धर्म परिवर्तन के बाद भी इन जातियों के लोग अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा नहीं कर पाते। सिक्ख धर्म में अछूतपन को कोई स्थान नहीं है, पर जिन भंगियों ने सिक्ख धर्म को अपनाया है, वे अब भी अछूत माने जाते हैं और उच्च जातियों के सिक्ख उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं करते। मुसलमानों में भी अछूतपन की सत्ता है। जो भंगी मुसलमान हो गए हैं, उन्हें 'लाल-बेगी' कहा जाता है, और अन्य मुसलमान उन्हें नीची निगाह से देखते हैं। ईसाई बन जाने पर भी अछूत लोग अन्य ईसाइयों के बराबर नहीं हो जाते। भारत के ईसाई भी जात-पाँत व छूत-अछूत के भेद-भाव से पूरी तरह ऊपर नहीं उठ सके हैं। वस्तुतः भारत में सामाजिक ऊँच-नीच की भावना इतनी गहरी है कि इस्लाम और क्रिश्चिए-निटी तक भी उसके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके हैं।

(३) **स्त्रियों की दुर्दशा**—किसी भी समाज का आधा अंग स्त्रियाँ होती हैं। भारत में इस आधे अंग की बहुत अधिक दुर्दशा है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में भारत की अनेक जातियों में सती की प्रथा भी विद्यमान थी। विधवा हो जाने पर स्त्री अपने पति के शव के साथ चिता पर भस्म हो जाया करती थी। अपनी इच्छा के विरुद्ध भी बहुत सी स्त्रियों को सती हो जाने के लिए विवश किया जाता था। समाज में स्त्री की दशा बहुत हीन थी। इसी कारण यदि कन्या उत्पन्न हो, तो शोक मनाया जाता था। राजस्थान आदि कुछ प्रदेशों में तो बहुत सी कन्याओं को जन्म लेते ही मार भी दिया जाता था। अब कानून द्वारा इन वीभत्स प्रथाओं का अन्त किया जा चुका है। पर अब तक भी स्त्रियों की दशा में सुधार नहीं हो पाया है। स्त्रियों के सम्बन्ध में जो अनेक कुरीतियाँ उन्नीसवीं सदी में भारत में प्रचलित थीं, और जो अब तक भी पूरी तरह से दूर नहीं हो सकी हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(क) स्त्रियों को शिक्षा देना बुरा समझा जाता था। इस कारण वे प्रायः निरक्षर व मूर्ख बनी रहती थीं।

(ख) उनका विवाह बहुत छोटी आयु में कर दिया जाता था। बाल-विवाह के कारण स्त्रियाँ अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाती थीं, और वे छोटी आयु में ही माता बन जाती थीं। यह बात स्त्रियों और उनकी सन्तान दोनों के लिए

हा हानिकारक थी।

(ग) दहेज की प्रथा के कारण भी स्त्रियों की बहुत दुर्दशा थी। माता-पिता अपनी कन्या का विवाह तभी कर सकते थे, जब कि वे वर पक्ष को प्रचुर मात्रा में दहेज देने को तैयार हों। विवाह से पूर्व ही दहेज के बारे में ठहराव कर लिया जाता था। मध्य श्रेणी के और गरीब लोगों के लिए दहेज एक भारी बोझ होता था, और अनेक बार वे दहेज न दे सकने के कारण अपनी कन्याओं का विवाह बूढ़ों व अन्य प्रकार से अयोग्य पुरुषों के साथ कर दिया करते थे।

(घ) बहु विवाह की प्रथा भी भारत में प्रचलित थी। इस्लाम के अनुसार पुरुष चार स्त्रियों तक से विवाह कर सकता है। हिन्दुओं में भी बहु विवाह की प्रथा विद्यमान है, यद्यपि एक से अधिक स्त्री से केवल राजा महाराजा, जमींदार व धनी लोग ही विवाह करते थे। किसी-किसी जाति में बहुपति-विवाह की भी प्रथा है, और एक स्त्री के एक से अधिक पति भी होते हैं।

(ङ) हिन्दुओं की बहुसंख्यक जातियों में विधवा विवाह निषिद्ध समझा जाता था। मृत्यु पर किसी का भी बस नहीं होता। यह स्वाभाविक है कि बहुत-सी स्त्रियाँ युवावस्था में ही विधवा हो जाएँ। हिन्दू समाज में विधवाओं की दशा बहुत ही शोचनीय है। वे पुनः विवाह तो कर ही नहीं सकतीं, पर साथ ही शिक्षा के अभाव के कारण आजीविका कमाना भी उनके लिए कठिन होता है। हिन्दुओं में स्त्रियों को विरासत में सम्पत्ति का भी अधिकार प्राप्त नहीं था। इस कारण विधवा स्त्री के लिए अपना निर्वाह करना भी कठिन हो जाता था, और उन्हें पेट भरने के लिए अपने जेठ या देवर का मुँह ताकना पड़ता था। समाज में विधवाओं को बहुत नीची निगाह से देखा जाता है। इसी कारण बहुत सी युवती विधवाएँ या तो आत्महत्या कर अपने कष्टमय जीवन का अन्त कर लेती है, या घर से निकलकर विधर्मियों की शरण में चली जाती हैं।

(च) उत्तरी भारत में परदे की भी प्रथा है। युवती स्त्रियाँ पुरुष के सम्मुख मुँह खोलकर नहीं आ सकतीं। स्वतन्त्रता के साथ बाजार आना-जाना या सामाजिक जीवन में हाथ बटा सकना तो उनके लिए सम्भव ही नहीं होता।

समाज सुधार के आन्दोलन

उन्नीसवीं सदी में जब भारत में नवजागरण प्रारम्भ हुआ, तो इस देश के विचारकों और सुधारकों का ध्यान समाज की बुराइयों की ओर भी आकृष्ट हुआ। इससे पूर्व भी भारत में अनेक बार इन बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया था। महात्मा बुद्ध एक महान् समाज-सुधारक थे। उन्होंने जाति भेद के विरुद्ध आवाज उठाई थी, और उनकी दृष्टि में ब्राह्मण व चाण्डाल में कोई भेद नहीं था। मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण या जाति का हो, बौद्ध संघ में सम्मिलित हो सकता था। भागवत सम्प्रदाय के अनुयायी भी जाति भेद में विश्वास नहीं रखते थे। छठी सदी ईस्वी पूर्व व उससे भी पहले के ये सुधार आन्दोलन अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल भी हुए, पर बाद में एक बार

फिर ये सब बुराइयाँ भारत के सामाजिक जीवन में उठ खड़ी हुईं।

मध्यकाल में जब भारत पर तुर्क-अफगान आक्रान्ताओं का शासन कायम हुआ, तो इस देश में अनेक ऐसे सन्त-महात्मा पैदा हुए, जिन्होंने हिन्दू समाज की इन बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। स्वामी रामानन्द (१४८६-१५१७), चैतन्य (१४८५-१५३३), कबीर, नानक, रैदास आदि कितने ही सन्त इस युग में उत्पन्न हुए, जिन्होंने जाति-भेद और छूत-अछूत के भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाई, और सब जातियों के लोगों को अपना शिष्य बनने का अवसर दिया। पर मध्यकालीन सन्तों के ये सब प्रयत्न हिन्दू समाज से ऊँच-नीच के भेद को मिटा सकने में असमर्थ रहे।

उन्नीसवीं सदी में जब ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी आदि के रूप में नये धार्मिक आन्दोलन शुरू हुए, तो उन्होंने भी इन सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध कार्य किया। ये सब नये धार्मिक आन्दोलन सुधारवादी थे। इन सब के अनुसार—

(१) जात-पाँत, ऊँच-नीच व छूत-अछूत का भेद अनुचित व धर्मविरुद्ध था। आर्यसमाज वर्ण-व्यवस्था में विश्वास रखता है, पर उसका आधार जन्म को न मान कर कर्म को मानता है। जो अध्ययन-अध्यापन का कार्य करे, वह ब्राह्मण है; चाहे उसका जन्म किसी भी कुल में हुआ हो। जो मनुष्य अशिक्षित है, मजदूरी व भोजन पकाने आदि की नौकरी करके अपना निर्वाह करता है, वह शूद्र है; चाहे उसका जन्म ब्राह्मण कुल में भी क्यों न हुआ हो। जो व्यापार व दूकानदारी करता है, वह वैश्य है। आर्यसमाज के अनुसार कोई व्यक्ति जन्म के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र नहीं होता, अपितु कार्य के अनुसार ही उसका वर्ण निश्चित किया जाता है। प्रत्येक समाज स्वाभाविक रूप से चार वर्गों में विभक्त होता है। कुछ लोगों की रुचि विद्याध्ययन व ज्ञान-विज्ञान की खोज की ओर होती है—उन्हें ब्राह्मण कहा जा सकता है। कुछ लोग सेना या पुलीस में भरती होकर देश की बाह्य व आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करते हैं, या देश में शान्ति व व्यवस्था स्थापित करने के लिए सरकार के अंग बनकर कार्य करते हैं, उन्हीं को क्षत्रिय कहते हैं। जो लोग व्यापार, व्यवसाय, शिल्प आदि द्वारा आर्थिक उत्पादन का कार्य करें, वे वैश्य होते हैं; और जो मजदूरी द्वारा अपना निर्वाह करें, वे शूद्र कहाते हैं। वर्णव्यवस्था का यह स्वरूप बहुत ही मौलिक व क्रान्तिकारी है। भारत के वर्तमान जाति-भेद से इसका कोई भी सामंजस्य नहीं हो सकता। आर्यसमाज ने जाति-भेद के विरुद्ध आवाज उठाई और वर्ण-व्यवस्था का यह रूप जनता के सम्मुख रखा। साथ ही, उसने यह भी प्रतिपादित किया कि हिन्दू शास्त्रों द्वारा यही वर्ण-व्यवस्था प्रतिपादित की गई है, जाति-भेद उनके प्रतिकूल है।

(२) अछूत समझे जाने वाली जातियों के उद्धार के लिए नये धार्मिक आन्दोलनों द्वारा बहुत उपयोगी कार्य किया गया। ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन आदि के अनुसार किसी मनुष्य को अछूत समझना सर्वथा अनुचित व धर्म विरुद्ध है। आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में बहुत उपयोगी कार्य किया। उसने अछूतों की

शिक्षा के लिए पाठशालाएँ स्थापित कीं, अपने शिक्षणालयों में अछूत बालकों को भी भरती किया, और अछूतों को शिक्षा देकर उन्हें अध्यापक, उपदेशक आदि के पदों पर भी नियत किया। आर्यसमाज के प्रयत्न से कितने ही भंगी पंडितजी बन गये, और कितने ही चमार ठाकुर। बहुत सी अछूत जातियों को आर्यसमाज ने यज्ञोपवीत धारण कराके 'आर्य' व 'महाशय' बना लिया। सवर्ण लोग अछूतों के साथ एकता अनुभव करें, इस प्रयोजन से आर्यसमाज ने सहभोजों की व्यवस्था की, जिनमें सब जातियों के लोग एक पंक्ति में बैठकर भोजन करते थे। निःसन्देह, यह अत्यन्त उपयोगी कार्य था।

(३) स्त्रियों की दशा की उन्नति करने के लिए नये धर्म सुधार आन्दोलनों ने बहुत महत्त्व का कार्य किया। वे स्त्री शिक्षा का प्रचार करते थे, बालिकाओं के लिए पाठशालाएँ, स्कूल व कालिज खोलते थे, बाल विवाह का विरोध करते थे, परदे की प्रथा के विरुद्ध प्रचार करते थे, और विधवा विवाह का समर्थन करते थे। आर्य-समाज ने अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए ही स्त्री-उपदेशिकाओं को भी नियुक्त किया। आर्य समाजी लोग स्त्रियों को भी यज्ञोपवीत धारण कराते हैं, उन्हें भी वेद-शास्त्रों और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देते हैं, और उनका परदे में रहना अनुचित मानते हैं। आर्य समाज की ओर से कितने ही विधवाश्रम और विधवा विवाह सहायक सभाएँ स्थापित की गईं, और अन्य अनेक उपायों द्वारा स्त्रियों की दशा को सुधारने का प्रयत्न किया गया।

आज भारत में जो आंशिक रूप से सामाजिक बुराइयाँ दूर हो सकी हैं, उसका श्रेय इन नये धर्म सुधार आन्दोलनों को ही है। इन्हीं के कारण सनातनी हिन्दुओं का ध्यान भी सामाजिक कुरीतियों की ओर आकृष्ट हुआ, और वे भी इन्हें दूर करने के लिए तत्पर हुए।

समाजसुधार के अन्य आन्दोलन

पर भारत में समाजसुधार का कार्य केवल उन नये धार्मिक आन्दोलनों द्वारा ही नहीं हुआ, जिनका प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी में हुआ था। उन्नीसवीं सदी और उसके बाद भी इस देश में अनेक ऐसे आन्दोलन शुरू हुए, जिनका उद्देश्य केवल समाज सुधार ही था। इन्होंने धर्म के सिद्धान्तों की कोई नई व्याख्या नहीं की, और न ही पूजा-पाठ की कोई नई विधि ही चलाई। ये आन्दोलन केवल समाजसुधार के उद्देश्य से ही प्रारम्भ किये गए थे।

प्रार्थना समाज—बंगाल में ब्राह्मसमाज द्वारा समाज-सुधार का जो कार्य हो रहा था, उससे प्रभावित होकर १८६७ ई० में महाराष्ट्र में एक नई संस्था की स्थापना की गई, जिसे 'प्रार्थना समाज' कहते हैं। महाराष्ट्र के लोगों को हिन्दू धर्म के प्रति प्रगाढ़ अनुराग था। नामदेव, ज्ञानदेव, तुकाराम, रामदास आदि महात्माओं ने वहाँ की जनता में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा की भावना को बहुत बढ़ा दिया था। अतः वहाँ के लोग किसी ऐसे आन्दोलन में सहयोग नहीं दे सकते थे, जो हिन्दू धर्म के

मन्तव्यों के विरुद्ध आवाज उठाता हो। पर महाराष्ट्र के लोग भी यह अनुभव करते थे कि हिन्दू समाज में अनेक सुधारों की आवश्यकता है। अछूतोद्धार, जाति-भेद का विरोध, अन्तर्जातीय खान-पान व विवाह सम्बन्ध, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि को वे हिन्दू-समाज को उन्नति के लिए आवश्यक समझते थे। इसी कारण प्रार्थना-समाज के सदस्यों ने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों व पूजा-पाठ की विधि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन किये बिना ही सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया।

प्रार्थना समाज के प्रमुख नेताओं में श्री महादेव गोविन्द रानाडे, श्री आर० जी० भाण्डारकर और श्री नारायण चन्दावरकर के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री रानाडे बम्बई हाईकोर्ट के न्यायाधीश थे। उन्होंने प्रार्थना समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। उनका मत था कि सामाजिक सुधार के जोश में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मनुष्य और समाज का अपने भूतकाल के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होता है। पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं को एकदम तोड़ देना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता। अतः सुधारक का कर्तव्य है कि वह समाज के भूतकाल को दृष्टि में रखते हुए और मनुष्य के संस्कारों का आदर करते हुए ही उनमें सुधार का यत्न करे।

प्रार्थना समाज के सदस्यों ने अनेक अनाथालयों, विधवा आश्रमों और कन्या पाठशालाओं की स्थापना की, और अछूतों की दशा को सुधारने के लिए एक 'दलितोद्धार मिशन' कायम किया। बम्बई और मद्रास प्रान्तों में इस समाज की अनेक शाखाएँ स्थापित हुईं, और ये प्रान्त ही इस समाज के कार्यक्षेत्र रहे।

श्री रानाडे की प्रेरणा से १८८४ ई० में पूना में 'दक्खन एजुकेशन सोसायटी' कायम हुई। गोपालकृष्ण गोखले और बालगंगाधर तिलक जैसे व्यक्ति उसके सदस्य बने। इस सोसायटी की ओर से अनेक शिक्षणालय खोले गये, जिनमें पूना का फर्ग्युसन कालिज सबसे प्रसिद्ध है। इस कालिज के प्रोफेसर सेवाभाव से देश के नवयुवकों को शिक्षित करने का कार्य करते थे, और केवल ७५ रु० मासिक वेतन लिया करते थे। प्रार्थना समाज ने महाराष्ट्र के शिक्षित युवकों में देश-सेवा और समाज-सुधार की जो भावना उत्पन्न कर दी थी, यह उसी का परिणाम था।

सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी—दक्खन एजुकेशन सोसायटी के अन्यतम सदस्य श्री गोपालकृष्ण गोखले ने १९०५ ई० में पूना में एक अन्य सोसायटी स्थापित की, जिसका नाम 'सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी' है। इसका उद्देश्य भी प्रार्थना समाज के समान ही जनता की सेवा और समाज का सुधार करना था। इसके सदस्य आजन्म देश-सेवा का व्रत लेते थे, और विविध क्षेत्रों में समाज की सेवा करते थे। इसी के एक सदस्य श्री नारायण मल्हार जोशी ने बम्बई में 'सोशल सर्विस लीग' कायम की, और मजदूरों की दशा का सुधार करने के लिए ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस को स्थापित किया। भारत में मजदूर आन्दोलन का प्रारम्भ इसी संस्था द्वारा हुआ। सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी के अन्यतम सदस्य पण्डित हृदयनाथ कुँजरू ने इलाहाबाद में 'सेवा समिति' का संगठन किया, जिसका उद्देश्य मेलों और अन्य अवसरों पर जनता की सेवा करना है। सोसायटी के एक अन्य सदस्य श्री श्रीराम

बाजपेयी ने स्काउट्स एसोसिएशन का संगठन किया। श्री बापा ठक्कर भी इसी सोसायटी के सदस्य थे। उन्होंने गुजरात में भीलों की दशा का सुधार करने के लिये 'सेवा मंडल' की स्थापना की, और अछूतोद्धार के लिये बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया।

सरकार द्वारा अनेक कुरीतियों का अन्त

भारत में जो नवजागरण हो रहा था, और विविध सुधार आन्दोलन जिस ढंग से सामाजिक कुरीतियों का अन्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, उसका प्रभाव सरकार पर भी पड़ा, और भारत ने ब्रिटिश शासकों के कानून बनाकर अनेक कुरीतियों का अन्त किया।

इस प्रकार कानून द्वारा जो सुधार किये गए, उनमें सती प्रथा का अन्त सबसे मुख्य है। ब्राह्मसमाज के प्रवर्त्तक श्री राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध बहुत प्रचार किया था। उसी से प्रभावित होकर लार्ड विलियम बैन्टिक ने १८२९ ई० में सती प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया, और तब से सती होना व सती होने में सहायता करना कानून द्वारा दण्डनीय अपराध है।

बाल विवाह को सभी सुधारक अनुचित मानते थे। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज ने इस प्रथा के खिलाफ उग्र रूप से आवाज़ उठाई थी। साथ ही ये आन्दोलन यह भी कहते थे कि बहुविवाह अनुचित है, और अन्तर्जातीय विवाह उपयोगी हैं। इन आन्दोलनों से प्रभावित होकर सबसे पूर्व १८७२ में 'नेटिव मैरिज एक्ट' पास किया गया, जिसके द्वारा विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाह को कानून द्वारा अभिमत मान लिया गया। जो लोग स्वेच्छापूर्वक इस कानून के अधीन विवाह करना चाहें, वे अन्तर्जातीय विवाह कर सकते थे, और विधवाएँ भी इसके अधीन अपना पुनर्विवाह कर सकती थीं। इस कानून के अधीन विवाह करने वाले व्यक्ति न बहुविवाह कर सकते थे, और न छोटी आयु में ही विवाह कर सकते थे।

१८९१ ई० में सरकार ने 'एज आफ कान्सेण्ट एक्ट' पास किया, जिसके अनुसार बारह वर्ष से कम आयु में विवाह करने को कानून के विरुद्ध करार दे दिया गया। १९३० ई० में 'शारदा एक्ट' का निर्माण हुआ, जिसके अनुसार १८ वर्ष से कम आयु के लड़कों और १४ वर्ष से कम आयु की लड़कियों के विवाह को कानून द्वारा दंडनीय अपराध घोषित किया गया। शारदा एक्ट पूर्ण रूप से क्रिया में परिणत नहीं किया जा सका, क्योंकि सुधारकों के आन्दोलन के बावजूद अभी सर्वसाधारण जनता अपनी पुरानी प्रथाओं व परम्पराओं का परित्याग कर देने के लिए उद्यत नहीं हुई है। समाज सुधार सम्बन्धी कानून तभी सफल हो सकते हैं, जब कि लोकमत उनके साथ हो। उन्हें जबर्दस्ती क्रिया में परिणत करना सुगम नहीं होता।

स्वराज्य के बाद तो स्वतन्त्र भारत की सरकार हिन्दू कानून में आमूल-चूल परिवर्तन कर देने के लिए प्रयत्नशील है। उसका यत्न है कि न केवल बाल-विवाह और बहुविवाह का अन्त हो जाए, अपितु तलाक को भी कानून द्वारा अभिमत मान लिया जाए। इस विषय में कानून स्वीकृत भी हो चुका है। पर इन कानूनों को क्रिया

में परिणत होने के लिये जनता का पूरा सहयोग परम आवश्यक है ।

स्त्रियों की दशा के सुधार के लिये आन्दोलन

उन्नीसवीं सदी में भारत में स्त्रियों की दशा बहुत शोचनीय थी । प्राचीन काल में चाहे स्त्रियों को शिक्षा का पूरा अवसर इस देश में मिलता हो, और चाहे कितनी ही विदुषी व वीर महिलाएँ उस समय भारत में हुई हों, पर ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में स्त्रियों को न शिक्षा का अवसर था, और न समाज में उनकी कोई स्थिति ही थी । धर्म सुधार के लिये जो भी आन्दोलन उन्नीसवीं सदी में भारत में प्रचलित हुए, उन सबने स्त्रियों की दशा को उन्नत करने का प्रयत्न किया ।

बालविवाह और बहुविवाह की कुरीतियों को दूर करने के लिये जो प्रयत्न सुधारकों व सरकार द्वारा किया गया, उसका उल्लेख अभी ऊपर किया गया है । विधवाओं के पुनर्विवाह के लिये सबसे प्रबल आन्दोलन श्री ईश्वरचन्द विद्यासागर (१८०२-१८६१) ने किया । इसके लिये उन्होंने भारत सरकार की सेवा में एक आवेदन-पत्र भी भेजा, जिसके परिणाम स्वरूप १८५६ ई० में विधवाओं के पुनर्विवाह और उनकी सन्तान को कानून द्वारा जायज मान लिया गया ।

१८६१ ई० में बम्बई प्रान्त में विधवा विवाह संस्था कायम की गई । अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार की संस्थाएँ स्थापित हुईं । ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थनासमाज के प्रयत्न से बहुत-सी विधवाओं ने पुनर्विवाह किये । सर गंगाराम ने पंजाब में 'विधवा विवाह सहायक सभा' को कायम किया, और उसका खर्च चलाने के लिये अपनी अपार सम्पत्ति का बड़ा भाग दान में दे दिया । इस सभा की शाखाएँ उत्तरी भारत के अनेक बड़े नगरों और तीर्थस्थानों में खोली गईं, जहाँ आश्रयहीन विधवाएँ आश्रय पा सकती हैं, और उनके पुनर्विवाह की व्यवस्था भी की जाती है ।

स्त्रियों की दशा को उन्नत करने में स्त्री शिक्षा ने बहुत सहायता पहुँचाई है । मध्यकालीन भारत में हिन्दू पण्डित यह कहा करते थे कि "स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्" । स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षा नहीं दी जानी चाहिये । इसी कारण भारत की स्त्रियाँ और निम्न वर्ग की जातियों के लोग शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रहे, और वे उन्नति की दौड़ में बहुत पिछड़ गये । पर अंग्रेजी शासन के स्थापित होने पर जब भारत में नवजागरण का प्रारम्भ हुआ, तो स्त्री शिक्षा की ओर भी सुधारकों का ध्यान गया । सबसे पहले ईसाई मिशनरियों ने लड़कियों के लिये भी स्कूल कायम किए । इनके देखा-देखी १८४९ ई० में कलकत्ता में 'हिन्दू बालिका विद्यालय' की स्थापना हुई । जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने भारत में शिक्षणालय खोलने प्रारम्भ किये, तो कन्याओं की शिक्षा के लिये भी स्कूल कायम किये गए । १८५७ ई० तक लड़कियों के सौ के लगभग स्कूल भारत में स्थापित हो गये थे । ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज आदि संस्थाओं ने इस दिशा में बहुत उपयोगी कार्य किया । १९०७ ई० में इण्डियन वीमेन्स एसोशियेशन की स्थापना हुई, जिसने स्त्री शिक्षा की ओर बहुत ध्यान दिया । १९०९ ई० में श्रीमती रानाडे द्वारा पूना में सेवासदन कायम किया

गया, जिसका एक मुख्य कार्य स्त्री शिक्षा की व्यवस्था करना ही था। इन सब प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि भारत में स्त्रियों की शिक्षा बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी, और बहुत-सी स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर भारत के सामाजिक व सार्वजनिक जीवन में हाथ बँटाने लगीं। भारत में सुशिक्षित स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया, जो परदा नहीं करता और जो स्त्रियों को पुरुषों के सदृश ही सब प्रकार के अधिकारों को दिलाने का पक्षपाती है।

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा जब भारत में विधान सभाओं का सूत्रपात हुआ, और लोकमत द्वारा प्रतिनिधियों के निर्वाचन की पद्धति शुरू हुई, तो स्त्रियों को भी वोट का अधिकार मिला, और अनेक स्त्रियाँ विधानसभाओं और म्युनिसिपैलिटी आदि में चुनी भी जाने लगीं। १९३५ ई० के 'गवर्नमेण्ट आॅफ इण्डिया एक्ट' के अनुसार जब वोट के अधिकार को और अधिक विस्तृत किया गया, तो भारत में ६० लाख के लगभग स्त्रियों को वोट देने का अधिकार प्राप्त हुआ, और केन्द्रीय विधानसभा व प्रान्तीय विधानसभाओं में उनके लिए कतिपय स्थान सुरक्षित भी कर दिये गए। स्वतन्त्र भारत के संविधान द्वारा तो सब वयस्क स्त्रियों को वोट का अधिकार प्राप्त है, और वे किसी भी राजकीय व सार्वजनिक पद को प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं।

भारत में स्त्रियों के अनेक संगठन इस समय कायम हैं, जिनमें 'इण्डियन वीमेन्स एसोशियेशन' सबसे पुराना है। यह १९१७ ई० में स्थापित हुआ था। इसका उद्देश्य स्त्री शिक्षा, स्त्रियों की दशा में सुधार और उनके राजनीतिक अधिकारों के लिये आन्दोलन करना है। १९२६ ई० में 'आल इण्डिया वीमेन्स कान्फरेन्स' नाम से एक नये संगठन की स्थापना हुई, जो इस समय भारत में स्त्रियों की सबसे प्रधान संस्था है। इसकी शाखाएँ भारत में सर्वत्र विद्यमान हैं, और यह कान्फरेन्स जहाँ स्त्री शिक्षा व सुधार के लिए आन्दोलन करती है, वहाँ स्त्रियों की राजनीतिक समस्याओं पर भी विचार करती है। इस कान्फरेन्स में प्रायः सम्पन्न व धनी वर्ग की महिलाएँ शामिल हैं, अतः पिछले तीन वर्ष से स्त्रियों की एक लोकतन्त्र कान्फरेन्स का भी संगठन हुआ है, जिसमें प्रायः वामपक्षी (Leftist) विचारों की महिलाएँ सम्मिलित हुई हैं।

हिन्दू कोड बिल—स्त्रियों की दशा को उन्नत करने के लिये जो विविध आन्दोलन पिछली एक सदी में हुए, उनके कारण सरकार को इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि हिन्दू कानून में ऐसे परिवर्तन किये जाएँ, जिनसे स्त्रियों की दशा में सुधार हो। इसी उद्देश्य से हिन्दू कोड बिल संघ पार्लियामेण्ट में पेश किया गया। पुराने विचारों के हिन्दुओं ने इस बिल का बहुत विरोध किया। अब इसे अनेक भागों में पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत किया जा रहा है, और इसके कुछ भाग कानून का रूप भी धारण कर चुके हैं। नये हिन्दू कोड की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) लड़कियों को भी लड़कों के समान ही विरासत में भाग प्राप्त करने का अधिकार हो। अपनी सम्पत्ति को बेच सकने या किसी को दे सकने का भी उन्हें अधिकार हो।

(२) बहु विवाह को कानून के विरुद्ध माना जाए, पहली स्त्री के रहते हुए पति या पहले पति के रहते हुए पत्नी दूसरा विवाह न कर सके।

(३) हिन्दुओं को तलाक का अधिकार भी रहे, जिससे विशेष परिस्थितियों में वे विवाह-सम्बन्ध का उच्छेद भी कर सकें। ये तीनों ही बातें अब कानून का रूप प्राप्त कर चुकी हैं।

अनेक विचारक हिन्दू कोड बिल का विरोध इस आधार पर भी करते हैं कि इस बिल के सुधार केवल हिन्दुओं के लिये ही हैं। सरकार कानून द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों में तो हस्तक्षेप कर रही है, पर मुसलमानों में बहुविवाह आदि की जो बुराइयाँ हैं, उन्हें वह कानून द्वारा दूर करने के लिये पग नहीं उठाती। इन विचारकों के अनुसार 'हिन्दू कोड' के बजाय एक 'इण्डियन कोड' का निर्माण किया जाना चाहिये, और सब भारतीयों पर यह समान रूप से लागू होना चाहिये।

दलितोद्धार के आन्दोलन

अछूतों की समस्या भारत के सामाजिक जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण व जटिल समस्या है। समाज के एक अंग को अछूत मानना और उन्हें सामाजिक जीवन के आधारभूत अधिकारों से भी वंचित रखना किसी भी प्रकार से उचित व न्याय्य नहीं समझा जा सकता। भारत में इस प्रथा का प्रारम्भ किस प्रकार और किन कारणों से हुआ, इसका विवेचन कर सकना न यहाँ सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। सम्भवतः, यह पुरानी दासप्रथा का अवशेष है।

अछूतों की समस्या के अनेक रूप हैं। जिन जातियों को अछूत समझा गया है, वे आर्थिक दृष्टि से बहुत ही हीन दशा में हैं। देहात के आर्थिक जीवन का आधार भूमि होती है। जिस व्यक्ति के पास अपनी जमीन हो, या जमीन पर जिसका किसी भी रूप में अधिकार हो, उसकी दशा हीन नहीं होती। पर अछूत समझे जाने वाली जातियों के लोग देहातों में प्रायः खेती-मजदूर के रूप में ही काम करते हैं। उनके पास भूमि नहीं है, और वे अपने निर्वाह के लिये मजदूरी पर ही निर्भर करते हैं। भंगी जाति के लोग मैला साफ करके अपना गुजर करते हैं, और इस महत्त्वपूर्ण व उपयोगा कार्य के लिये उन्हें इतनी कम मजदूरी दी जाती है कि उससे वे अपना पेट भी नहीं भर पाते। वे प्रायः झूठ खाकर अपना पेट भरते हैं। चमार लोग या तो पशुओं की खाल उतार कर व उनसे जूते आदि बना कर अपना निर्वाह करते हैं, या किसानों के अधीन मजदूरी करते हैं। अन्य अछूत जातियों के लोग भी प्रायः इस प्रकार के शिल्प व धन्धों का अनुसरण करते हैं, जो उनके निर्वाह के लिये बहुत अपर्याप्त होते हैं। इस अवस्था में इन जातियों के लोग अत्यधिक गरीब हैं। गरीबी के कारण उनके रहन-सहन का स्तर बहुत ही नीचा है, और वे प्रायः बहुत गन्दे व मैले रहते हैं।

गरीबी के कारण इन जातियों के लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का भी समुचित अवसर नहीं मिलता। शिक्षा प्राप्त कर जीवन संघर्ष के मार्ग पर अग्रसर हो सकना उनके लिये असम्भव-सा हो जाता है, और वे ऐसे कुलक्रमागत धन्धों को करने

के लिये विवश होते हैं, जिनसे उन्हें पर्याप्त आमदनी नहीं होती। अछूतों की समस्या का जहाँ यह आर्थिक पहलू है, वहाँ एक सामाजिक पहलू भी है। समाज में उन्हें हीन स्थिति का व अछूत समझा जाता है, इस कारण वे न कुओं का उपयोग कर सकते हैं, और न अन्य सार्वजनिक स्थानों का। मन्दिरों में जाकर देव-दर्शन करने की अनुमति भी उन्हें प्राप्त नहीं है। कहीं-कहीं तो उन्हें सड़कों का प्रयोग करने से भी रोका जाता है। उनकी छाया तक तो उच्च जाति के लोग अपवित्र समझते हैं।

उन्नीसवीं सदी में जो अनेक सुधार आन्दोलन भारत में प्रचलित हुए, उन सब ने अछूतों का उद्धार करने के लिये यत्न किया। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज किसी मनुष्य को जन्म के कारण ही नीच व अछूत नहीं मानते। इसीलिये इन समाजों ने अछूत समझी जाने वाली जातियों में शिक्षा प्रसार का उद्योग किया, और उनमें नशीली वस्तुओं का प्रयोग करने व इसी प्रकार की जो अन्य बुराइयाँ विद्यमान थीं, उन्हें दूर करने के लिये आन्दोलन किया। आर्यसमाज द्वारा 'दलितोद्धार सभा' आदि कितने ही ऐसे संगठन कायम किये गये, जिनका कार्य ही अछूतों में शिक्षा का प्रसार करना और उनकी दशा को सुधारना था। इन्हीं प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि अनेक चमार व भंगी जाति के लोगों ने शिक्षा प्राप्त कर चिकित्सक, अध्यापक व उपदेशक आदि का कार्य करना शुरू किया। कुछ अछूतों ने आर्यसमाज के प्रयत्न से व्यापार करना भी प्रारम्भ किया, और कुछ ने तो हलवाई की दूकानें भी खोल डालीं। इन सुधारक समाजों ने उच्च जाति के लोगों में इस बात का प्रबल रूप से प्रचार किया कि वे किसी मनुष्य को अछूत न मानें, और छुआछूत को दूर कर अछूत समझे जाने वाले लोगों को अपने घरों में नौकर आदि नियुक्त करें, और उनसे मनुष्यता का व्यवहार करें। इसीलिये उन्होंने सार्वजनिक रूप से सहभोजों की भी व्यवस्था की, जिसमें अछूत लोग भोजन परोसते थे, और सब वर्णों व जातियों के लोग एक पंक्ति में बैठ कर भोजन करते थे।

हरिजन आन्दोलन—जब महात्मा गांधी ने दक्षिणी अफ्रीका से लौट कर भारत के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया, तो उनका ध्यान अछूतों की दुर्दशा की ओर भी आकृष्ट हुआ। वे इसे हिन्दू जाति का सब से बड़ा कलंक समझते थे। इसीलिए उन्होंने अछूतोद्धार को कांग्रेस के कार्यक्रम में सम्मिलित किया। उनका कहना था कि अछूतोद्धार के विना स्वराज्य असम्भव है। किसी को अछूत कहना उन्हें बुरा प्रतीत होता था, इस कारण उन्होंने इन जातियों के लोगों को 'हरिजन' नाम दिया, और इनकी दशा का सुधार करने के लिये 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। इस संघ की शाखाएँ भारत के सब प्रान्तों में स्थापित हुईं, और इसके कार्यकर्त्ताओं ने अछूतों की दशा को सुधारने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। गांधीजी ने 'हरिजन' नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित करना प्रारम्भ किया, जिसमें वे इस समस्या की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया करते थे।

गांधीजी हरिजनों को हिन्दू जाति का अंग मानते थे। जब दूसरी राउण्ड टेबल कान्फरेन्स के बाद ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री श्री रामजे मेकडानल्ड ने अपना साम्प्र-

दायिक निर्णय (Communal Award) देते हुए अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् मानकर उन्हें पृथक् प्रतिनिधित्त्व का अधिकार दिया, तो गांधीजी ने उसके विरोध में अनशन व्रत किया, और सरकार को इस बात के लिये विवश किया कि वह अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् न मानें।

गांधीजी के हरिजन आन्दोलन का उद्देश्य यह था, कि उच्च जाति के लोगों के हृदय में परिवर्तन हो, और वे हरिजनों के साथ समानता का बरताव करें। सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में उन्हें जो अधिकार प्राप्त नहीं हैं, लोग स्वेच्छापूर्वक उन्हें प्रदान कर दें। इस उद्देश्य में उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिली, और बहुत से शिक्षित हिन्दुओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ।

अछूतों के अपने आन्दोलन—अछूतों की दशा को सुधारने के लिये विविध आन्दोलनों का सूत्रपात उच्च जाति के लोगों द्वारा ही हुआ था। पर अनेक अछूत व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त करने के कारण स्वयं भी अपनी दुर्दशा का अनुभव करने लग गये थे। इन्होंने अपने अधिकारों की माँग करने के लिये अनेक संस्थाएँ संगठित कीं, जिनमें 'दलित वर्ग का फिडरेशन' मुख्य है। इसके प्रधान नेता श्री अम्बेदकर थे, जिन्होंने अछूत कुल में उत्पन्न होने पर भी अत्यन्त उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने अछूत वर्ग का अपना संगठन बनाया, जिसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक था। श्री अम्बेदकर के अनुसार अछूत समझे जाने वाले लोग तभी समाज में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सकते हैं, जब उन्हें विधानसभाओं में विशेष प्रतिनिधित्त्व दिया जाए, और सरकारी सर्विस प्राप्त करने के लिये विशेष अवसर दिये जाएँ। उन्हें अपने आन्दोलन में सफलता भी प्राप्त हुई है। अछूत वर्ग के लिये स्वतन्त्र भारत में भी जो सामयिक रूप से विधानसभाओं में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं, वह इसी आन्दोलन का परिणाम है।

अछूतपन का अन्त—स्वतन्त्र भारत के संविधान के अनुसार किसी मनुष्य को अछूत समझना कानून के विरुद्ध है। राज्य की दृष्टि में सब की एक समान स्थिति है, और सबके एक समान अधिकार हैं। अछूत समझे जाने वाले लोग भी कुएँ, जलाशय, उद्यान, सड़क आदि सार्वजनिक स्थानों का बिना किसी रोक-टोक के प्रयोग कर सकते हैं, शिक्षणालयों में भरती हो सकते हैं, और सार्वजनिक भोजनालयों का उपयोग कर सकते हैं। उन्हें मन्दिरों में प्रवेश से भी नहीं रोका जा सकता। संविधान द्वारा अछूतों को वे सब अधिकार प्राप्त हैं, जो किसी भी अन्य नागरिक के हैं। उनकी पिछड़ी हुई दशा को दृष्टि में रख कर संविधान में उनके लिये कुछ विशेष व्यवस्थाएँ भी की गई हैं। विधान सभाओं में उनके लिये स्थान सुरक्षित रखे गये हैं, और सरकारी सर्विसों के लिये भी उन्हें कतिपय विशेष सुविधाएँ दी गई हैं।

इस प्रकार कानून द्वारा इस समय भारत से अछूतपन का अन्त कर दिया गया है। पर वस्तुतः अछूतपन का अन्त तभी होगा, जब अछूत समझे जाने वाले लोगों में शिक्षा का प्रचार होगा, उनकी आर्थिक दशा उन्नत होगी और अन्य लोगों में उन्हें अपने समान समझने की भावना विकसित होगी। ये बातें केवल कानून द्वारा ही नहीं

की जा सकतीं। इनके लिये जनता के लोकमत में भारी परिवर्तन करना होगा और सदियों की सामाजिक रुढ़ियों को दूर करना पड़ेगा।

जातिभेद के विरुद्ध आन्दोलन

जातिभेद भी भारत की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या है। इसके कारण भारत में राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधा उपस्थित होती है, और समाज में ऊँच-नीच का भेद कायम रहता है। उन्नीसवीं सदी में जो अनेक सुधार आन्दोलन भारत में प्रचलित हुए, उन सब ने अपने-अपने ढंग से जाति भेद के विरुद्ध आवाज उठाई। पर ये आन्दोलन अपने उद्देश्य में पूर्णरूप से सफल नहीं हो सके। आर्यसमाज तक में जातिभेद की भावना अब तक भी दूर नहीं हो पाई है।

जाति-भेद की समस्या यह है, कि विविध जातियों में अन्तर्जातीय विवाह नहीं होते, और खान-पान के विषय में भी अत्यन्त संकीर्ण नीति का अनुसरण किया जाता है। ब्राह्मण, राजपूत, जाट, अग्रवाल, रस्तोगी आदि जातियों को न नीच माना जाता है, न अछूत। ये सब उच्च जातियाँ हैं। पर ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी अन्य जाति के व्यक्ति द्वारा बनाई हुई कच्ची रसोई खाना पुराने ढंग के लोग निषिद्ध समझते हैं। विवाह सम्बन्ध प्रायः अपनी ही जाति के लोगों से किया जाता है। इस संकीर्णता का परिणाम यह होता है कि उच्च जाति के लोग भी आपस में एकता का अनुभव नहीं कर पाते। इस दशा को दूर करने के लिये पंजाब में 'जात-पाँत तोड़क मण्डल' की स्थापना की गई, जिसने अन्तर्जातीय विवाहों के लिये बहुत प्रयत्न किया। सुधारवादी आन्दोलनों द्वारा भी इस दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ अब भारत में जाति-भेद की भावना निर्बल पड़ती जा रही है। उच्च शिक्षा प्राप्त कर जब विविध जातियों के व्यक्ति एक ही शिक्षणालय, दफ्तर व सरकारी सर्विस में साथ-साथ एक ही ढंग का कार्य करते हैं, तो वे खान-पान की मर्यादाओं को विशेष महत्त्व नहीं देते। समय के साथ जाति-भेद भी भारत से नष्ट होता जायगा, यह बात भरोसे के साथ कही जा सकती है।

सुधार आन्दोलनों का भारत के राजनीतिक व राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव

उन्नीसवीं सदी में भारत में जो अनेक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उन्होंने देश के राजनीतिक व राष्ट्रीय जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया—

(१) ये आन्दोलन देश के नवजागरण में बहुत सहायक हुए। इन्होंने जनता को बताया कि सत्य-असत्य का निर्णय करने के लिये पुराने शास्त्रों व धर्म ग्रन्थों पर आश्रित न रहकर वैज्ञानिक विधि व परीक्षणों का आश्रय लेना चाहिये। किसी बात को केवल इसीलिये नहीं स्वीकार करना चाहिये, कि वह शास्त्रों में विहित है। बुद्धि और तर्क द्वारा ही किसी प्रथा व परम्परा की उपयोगिता का निर्धारण करना चाहिये। यह प्रवृत्ति देश के राष्ट्रीय जागरण के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।

(२) आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसाइटी जैसे आन्दोलनों ने भारतीय जनता का ध्यान अपने प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट किया, और लोगों में अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम व श्रद्धा उत्पन्न करने का यत्न किया। देर तक विदेशी शासन के अधीन रहने के कारण भारत की जनता में एक प्रकार की हीन भावना विकसित होने लग गई थी। पाश्चात्य विचारक अपने ग्रन्थों द्वारा इस हीन भावना को और भी अधिक उद्बुद्ध कर रहे थे। वे कहते थे कि पाश्चात्य सभ्यता संसार में सर्वोत्कृष्ट है। भारत सदृश एशियन देशों की जलवायु गरम है, अतः यहाँ केवल एकतन्त्र शासन ही सफल हो सकता है। गरम जलवायु के देशों के लिए न लोकतन्त्र शासन पद्धति उपयुक्त होती है, और न इन देशों के निवासी भौतिक क्षेत्र में अधिक उन्नति कर सकते हैं। भगवान् ने यूरोप के देशों को यह कार्य सुपुर्द किया है कि वे भारत सदृश देशों को सभ्य बनाएँ और उन पर शासन करें। स्वामी दयानन्द ने इसके विपरीत जनता से कहा कि कभी भारत संसार का शिरोमणि था। उसके प्रतापी राजा अन्य देशों की भी विजय कर अपना चक्रवर्ती साम्राज्य बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। भारत के प्राचीन पंडितों ने देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रचार किया था, और किसी समय संसार के बहुत से देश भारत को अपना गुरु मानते थे। भारत की अवनति का कारण आपस की फूट थी। जब जातिभेद और पारस्परिक द्वेष के कारण यहाँ की जनता में भेदभाव उत्पन्न हो गए, इस देश के राजा भोग-विलास में फँस गये और जनता अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो गई, तभी भारत पर विदेशियों का शासन स्थापित हुआ। पर भारत की संस्कृति अब भी संसार में सबसे उत्कृष्ट है। यदि जनता अब भी अपनी कुरीतियों व सामाजिक दोषों को दूर कर दे, तो वह अपने लुप्त गौरव को फिर से प्राप्त कर सकती है। इसी प्रकार के विचार अन्य सुधार आन्दोलनों के नेताओं द्वारा भी प्रगट किये गए। इन विचारों द्वारा भारतीय जनता को गौरव व गर्व की अनुभूति होती थी, और इसीलिए वह स्वराज्य व राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए अग्रसर हो सकी।

(३) भारत को विदेशी शासन से मुक्त होकर स्वाधीन होना चाहिए, इस बात की ओर भी स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द जैसे धर्म सुधारकों ने जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इन सुधारकों के अनेक प्रमुख शिष्यों ने आगे चलकर स्वराज्य आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा प्राप्त कर कितने ही देशभक्तों ने क्रान्तिकारी मार्ग को अपनाया, और लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, भाई परमानन्द, श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि दयानन्द के कितने ही शिष्यों ने क्रान्तिकारी व अन्य स्वराज्य आन्दोलनों में भाग लिया।

(४) भारत के राजनीतिक संघर्ष में सदा इस बात का ध्यान रखा गया कि अनुचित उपायों का प्रयोग न किया जाय। इस देश का स्वराज्य आन्दोलन सदा नैतिक व सांस्कृतिक आदर्शों व भावनाओं से ओत-प्रोत रहा। इसका कारण भी वे सुधार आन्दोलन ही थे, जिन्होंने भारत में उच्च धार्मिक आदर्शों का प्रतिपादन किया था, और जो जनता को नैतिक शिक्षा देने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे।

(५) भारतीय जनता में एकता उत्पन्न करने, उसके भेदभाव को दूरने और राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने में ये सुधार आन्दोलन बहुत अधिक सहायक हुए।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) जात पांत से क्या लाभ और हानियाँ हैं ? उदाहरण देकर समझाइये। (यू० पी० १९५४)

(२) 'अछूतपन हमारे समाज का एक बहुत बड़ा अभिशाप है', व्याख्या कीजिये। पिछले बीस वर्षों में इस अभिशाप को दूर करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं ? (यू० पी० १९५३)

(३) भारतीय महिलाओं के पिछड़ा रहने के प्रधान कारण समझाइये। उनकी दशा सुधारने के लिए वर्तमान समय में क्या प्रयत्न किये गए हैं ? (यू० पी० १९५२)

(४) संविधान में दलित वर्गों के हितों की रक्षा के लिए क्या विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं ? (यू० पी० १९५२)

(५) भारत में समाज सुधार के आन्दोलनों ने देश के राजनीतिक व राष्ट्रीय आन्दोलन को किस प्रकार प्रभावित किया है ?

(६) भारत में मुख्य सामाजिक बुराइयाँ कौन सी है ? इनका सुधार करने के लिए कौन-कौन से मुख्य प्रयत्न हुए हैं ?

(७) हिन्दू कोड बिल का परिचय दीजिये।

(८) उन्नीसवीं सदी के धार्मिक आन्दोलनों ने समाजसुधार के सम्बन्ध में क्या कार्य किया ?

(९) पिछले पचास वर्षों में भारतीय समाज सुधार के आन्दोलनों का वर्णन कीजिये। उनका सांसारिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है ? (यू० पी० १९५२)

(१०) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—प्रार्थना समाज, सती प्रथा का अन्त, हरिजन सेवा संघ।

बाईसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय जागृति और राजनीतिक स्वाधीनता

राष्ट्रीय जागृति

जिस प्रकार उन्नीसवीं सदी में भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधार के अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, वैसे ही राष्ट्रीय जागृति और राजनीतिक स्वाधीनता के लिये संघर्ष का प्रारम्भ भी इसी काल में हुआ ।

राष्ट्रीय जागृति के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(१) **विदेशी शासन**—कई सदियों तक भारत में तुर्क-अफगानों और मुगलों का शासन रहा । शुरू में वे इस देश के लिये विदेशी अवश्य थे, पर भारत को जीत कर वे यहीं स्थिर रूप से बस गये थे । यद्यपि उन्होंने अपने धर्म का परित्याग कर यवनों, शकों व हूणों के समान भारतीय धर्म को नहीं अपनाया था, पर भारत में स्थायी रूप से बस जाने के कारण यही देश उनका 'वतन' बन गया था । मुगलों के शासन में हिन्दुओं के साथ समानता का बरताव किया जाता था । मुगल बादशाहों के बहुत से उच्च पदाधिकारी व सेनापति हिन्दू थे, और शिवाजी जैसे महराष्ट्र धर्म के संस्थापक ने भी अपने राज्य में मुसलिम सेनापतियों व राजकर्मचारियों की नियुक्ति की थी । इस कारण अंग्रेजों से पहले भारत में जो मुसलमान शासक थे, उन्हें किसी भी प्रकार विदेशी नहीं कहा जा सकता । वे पूर्णतया भारत के ही निवासी थे, और ईरान, तुर्किस्तान आदि के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था ।

पर उन्नीसवीं सदी के शुरू में जब भारत अंग्रेजों के अधीन हुआ, तो उसके ये नये शासक पूर्ण रूप से विदेशी थे । वे सात समुद्र पार इङ्गलैण्ड से भारत का शासन करते थे, और भारत के अपने राज्य को इङ्गलैण्ड की समृद्धि व उत्कर्ष का साधन-मात्र समझते थे । उनकी दृष्टि में इङ्गलैण्ड ही उनका 'होम' या वतन था । इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि भारतीयों में उनके शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न हो ।

अंग्रेज शासक अपने सम्मुख भारतीयों को बहुत तुच्छ व हीन समझते थे । वे भारत की सभ्यता, धर्म व संस्कृति से घृणा करते थे, और उसके साथ किसी भी प्रकार की आत्मीयता अनुभव नहीं करते थे । इसमें सन्देह नहीं कि उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज लोग ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों के मुकाबिले में बहुत आगे थे । पर साथ ही यह भी सत्य है कि भारतीयों की अपनी एक ऐसी संस्कृति थी, जिसके लिये वे गर्व अनुभव कर सकते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी अंग्रेजी शासन से भारतीयों के मन में क्षोभ उत्पन्न होने लगा । उनमें राष्ट्रीय चेतना विकसित होने

लगी, और वे स्वराज्य के संघर्ष के लिये तत्पर हो गये।

(२) **नवीन शिक्षा**—अंग्रेजी शासन के कारण भारत में जब नवीन शिक्षा का प्रारम्भ हुआ, तो बहुत से भारतीयों ने अंग्रेजी भाषा पढ़नी प्रारम्भ की। अंग्रेजों ने इस शिक्षा का प्रारम्भ इस उद्देश्य से किया था कि सरकार को चलाने के लिये जिन साधारण व निम्नकोटि के कर्मचारियों की आवश्यता होती है, वे भारतीयों में से प्राप्त किये जा सकें। पर इस नवीन शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी भाषा द्वारा भारतीयों को उन नई विचारधाराओं से परिचय हुआ, जो उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में इङ्गलैण्ड व अन्य पाश्चात्य देशों में प्रारम्भ हो चुकी थीं। अठारहवीं सदी में यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए थे, जो लोकतन्त्र शासन और राष्ट्रीयता के पक्षपाती थे। वाल्टेयर, रूसो और मांतस्क्यू जैसे विचारकों की पुस्तकों के कारण ही फ्रांस की जनता में बूर्बो वंश के स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं के शासन के विरुद्ध भावना उत्पन्न हुई थी, और १७८९ ई० में वहाँ राज्य-क्रान्ति हो गई थी। इन सब क्रान्तिकारी विचारों की पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में भी उपलब्ध थीं। स्वयं इङ्गलैण्ड में जान स्टुअर्ट मिल, स्पेन्सर आदि ने लोकतन्त्रवाद के समर्थन में अनेक पुस्तकें लिखी थीं। अंग्रेजी साहित्य राष्ट्रीयता, राजनीतिक स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद के विचारों से परिपूर्ण था। अंग्रेजी सीख लेने के कारण भारतीयों को इस साहित्य को पढ़ने का अवसर मिला, और उनमें भी राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के नये विचार फैलने प्रारम्भ हुए।

अंग्रेजी पढ़कर भारतीयों को उस ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने का अवसर भी मिला, जो इस समय इङ्गलैण्ड व अन्य पाश्चात्य देशों में विकसित हो रहा था। अनेक भारतीय युवक उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेश जाने लगे। वहाँ जाकर उन्होंने जहाँ नये ज्ञान को प्राप्त किया, वहाँ साथ ही यह भी देखा कि यूरोप के विविध देशों में शासन का क्या ढंग है, वहाँ किन विचारों का प्रचार है, और वहाँ की जनता के क्या आदर्श हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए ये भारतीय केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे कि उन्हें सरकारी नौकरियाँ मिल जाएँ और वे आराम के साथ जीवन बिता सकें। वे यह भी चाहते थे कि उनका अपना देश भी इङ्गलैण्ड, फ्रान्स व अमेरिका के समान स्वाधीन हो और उसकी जनता भी स्वतन्त्र होकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो।

(३) **सुधार आन्दोलन**—उन्नीसवीं सदी में भारत में जो अनेक सुधार आन्दोलन प्रचलित हुए, उन्होंने भी इस देश में नवजीवन का संचार किया। उनके कारण जनता का ध्यान अपनी दुर्दशा की ओर आकृष्ट हुआ, और उसमें राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। इस विषय पर पिछले दो अध्यायों में विशेष रूप से प्रकाश डाला जा चुका है, अतः उसे यहाँ फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि ये विविध सुधार आन्दोलन अपने देश के लुप्त गौरव की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करते थे, अपनी संस्कृति के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न करते थे, और भावी उन्नति के लिये प्रेरणा प्रदान करते थे। इसीलिये ये आन्दोलन भारत की

राष्ट्रीय जागृति के लिये बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए।

(४) **आर्थिक दुर्दशा और उसके कारण बढ़ता हुआ असन्तोष**—भारत के अंग्रेजी शासकों की आर्थिक नीति यह थी, कि इस देश का अधिक-से-अधिक शोषण किया जाए। अठारहवीं सदी में इंगलैण्ड में व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात हो गया था, और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में वहाँ बड़े-बड़े कल-कारखाने खुल गये थे। इन कारखानों में जो माल तैयार होता था, उसे बेचने के लिये बाजार की आवश्यकता थी। साथ ही, यह भी जरूरी था कि इन कारखानों के लिये कच्चा माल सस्ती कीमत पर प्राप्त किया जाए। इसलिये अंग्रेजों की नीति यह थी कि इङ्गलैण्ड में तैयार हुआ माल भारत में अधिक-से-अधिक कीमत पर बिके, और वे यहाँ से कच्चे माल को सस्ती-से-सस्ती कीमत पर क्रय करें। इसीलिये उन्होंने भारत के गृह-उद्योगों को नष्ट किया, जिसके कारण लाखों जुलाहे व अन्य कारीगर बेकार हो गये। गृह-उद्योगों के नष्ट होने से भारत में बेकारी और गरीबी में भयंकर रूप से वृद्धि हुई। अनेक बार अकाल पड़े, और जनता के रहन-सहन का स्तर निरन्तर गिरता गया। इस आर्थिक दुर्दशा के कारण जनता में जो असन्तोष उत्पन्न हुआ, वह भी राष्ट्रीय जागृति में बहुत सहायक हुआ।

(५) **नवीन साहित्य**—अंग्रेजी शासन के स्थापित होने पर जब भारत में नव-जागरण का प्रारम्भ हुआ, तो बंगाली, हिन्दी, उर्दू आदि भारतीय भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण भी शुरू हुआ। भारत में सबसे पहले बंगाल अंग्रेजों के शासन में आया था। वहीं पर सबसे पूर्व नई शिक्षा का प्रारम्भ हुआ था। इस कारण उन्नीसवीं सदी में वहाँ अनेक लेखक ऐसे उत्पन्न हुए, जिन्होंने बहुत सी अंग्रेजी पुस्तकों का बंगाली भाषा में अनुवाद किया, और कुछ स्वतन्त्र व मौलिक पुस्तकों की भी रचना की। इन लेखकों में कृष्णमोहन बनर्जी (१८१३-१८८५) राजेन्द्रलाल मित्रा (१८२१-१८९२), प्यारेचन्द्र मित्रा (१८१५-१८८२), और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०-१८९१) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता थे, और पाश्चात्य साहित्य से परिचय रखते थे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण बंगाल के अनेक साहित्यिक बंगाली भाषा में नवीन शैली के उपन्यास, काव्य व नाटक लिखने में प्रवृत्त हुए। इनमें माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२७-१८७३), दीनबन्धु मित्रा (१८३०-१८७४) और बंकिमचन्द्र चटर्जी सर्वप्रधान हैं। बंकिम ने अनेक ऐसे मौलिक उपन्यास लिखे, जो विश्वसाहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। उनके 'आनन्दमठ' ने बंगाल में देशभक्ति और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना को विकसित करने में बहुत सहायता पहुँचाई। ब्रिटिश शासन का अन्त कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये जो आन्दोलन बंगाल में शुरू हुआ, उसकी प्रेरणा 'आनन्दमठ' से ही ली गई थी। बंगाल के क्रान्तिकारी आनन्दमठ का धर्म ग्रन्थ के समान अध्ययन करते थे, और उसके अन्यतम गीत 'बन्दे मातरम्' को अपना मूलमन्त्र मानते थे। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ-साथ बंकिम के 'बन्दे मातरम्' गीत का भी सर्वत्र प्रचार होने लगा, और बाद में यही भारत का राष्ट्रीय गीत बन गया।

बंगाल के इस नवीन साहित्य के द्वारा वहाँ राष्ट्रीय जागृति में बहुत सहायता मिली ।

बंगाली भाषा के समान हिन्दी भाषा का नया साहित्य भी राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत था । स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ यद्यपि मुख्यतया धार्मिक थे, पर उनमें भारत के प्राचीन गौरव, सामाजिक दुर्दशा और राष्ट्रीय आन्दोलनों का बड़े प्रबल रूप में प्रतिपादन किया गया था । उन्नीसवीं के उत्तरार्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह आदि कितने ही साहित्यकार हुए, जिनमें हरिश्चन्द्र का स्थान सर्वोच्च है । वे उत्कृष्ट कवि, सफल नाटककार और मंजे हुए गद्य लेखक थे । वे भारत की दुर्दशा को अनुभव करते थे, और देश भक्ति की भावना उनमें उत्कट रूप से विद्यमान थी । उनकी पुस्तकों ने हिन्दी पाठकों का ध्यान नवयुग की विचारसरणी की ओर आकृष्ट किया, और उनमें नई स्फूर्ति का संचार किया ।

उर्दू, गुजराती, मराठी आदि अन्य भाषाओं में भी इस युग में ऐसे नवीन साहित्य की रचना हुई, जो देशभक्ति व राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण था । भारत की राष्ट्रीय जागृति व राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन में यह नवीन साहित्य बहुत सहायक हुआ ।

स्वाधीनता के प्रारम्भिक प्रयत्न

१७५७ ई० में प्लासी के युद्ध से बंगाल में अंग्रेजों के शासन की नींव सुदृढ़ होनी शुरू हुई थी । उसके कुछ समय बाद ही इस प्रदेश में अनेक ऐसे दल उठ खड़े हुए, जिनका ध्येय अंग्रेजी शासन से अपनी मातृभूमि को मुक्त करना था । इत दलों का नेतृत्व कतिपय ऐसे व्यक्तियों के हाथ में था, जो 'सन्यासी' के वेश में रहते थे, और जनता को अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उकसाते थे । कुछ समय के लिये संन्यासी लोग बंगाल में बहुत प्रबल हो गये, और उनके विद्रोह व विरोध से अंग्रेज लोग परेशान हो गये । पर सन्यासियों को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिल सकी, क्योंकि नये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सैनिकों का मुकाबिला कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था ।

१८५७ ई० का स्वाधीनता युद्ध—उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग तक भारत के प्रायः सभी प्रदेशों पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हो गया था । इस देश को अपनी अधीनता में लाते हुए अंग्रेजों ने यहाँ के बहुत से पुराने राजवंशों की शक्ति का अन्त किया था । इस कारण अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भावना ने एक बार फिर जोर पकड़ा, और १८५७ ई० में यह विद्रोह भावना राज्यक्रान्ति के रूप में फूट पड़ी । सन् ५७ की यह क्रान्ति सर्वसाधारण जनता का विद्रोह नहीं था, क्योंकि जनता में राष्ट्रीय चेतना का इस समय तक प्रादुर्भाव नहीं हुआ था । पर जिन राजवंशों, कुलीन लोगों, सैनिक वर्ग व अन्य व्यक्तियों को अंग्रेजी शासन से प्रत्यक्ष हानि हुई थी, वे सब इस समय एक साथ मिल कर अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे, और सर्वसाधारण जनता के बहुत से लोगों ने भी उनका साथ दिया था । यदि इस समय तक भारत में राष्ट्रीय चेतना

भली भांति विकसित हो चुकी होती, तो सन् ५७ की राज्यक्रान्ति अवश्य सफल होती। पर स्वर्थ भावना से प्रेरित होकर या राष्ट्रीय जागृति के अभाव के कारण बहुत से भारतीयों ने इस समय अंग्रेजों का साथ दिया, और अंग्रेज शासक राज्यक्रान्ति को कुचलने में समर्थ हुए।

किसान विद्रोह (१८६०)—सन् ५७ की राज्यक्रान्ति के बाद १८६०-६२ में बंगाल में किसानों ने विद्रोह किया। इस समय बंगाल में नील की खेती बड़े परिमाण में हुआ करती थी, और यह खेती पूर्णतया अंग्रेज जमींदारों के हाथों में थी। नील के खेतों के मालिक अंग्रेज जमींदार भारतीय किसानों से गुलामों का सा व्यवहार करते थे, और उन पर भयंकर अत्याचार करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। विवश होकर इन किसानों ने विद्रोह कर दिया, जिसे दबाने में अंग्रेज राजकर्मचारी, यूरोपियन मिशनरी, सैनिक व अन्य विदेशी लोग सब मिल कर एक हो गये। इतनी विरोधी शक्तियों के मुकाबिले में यदि १८६०-६२ का यह विद्रोह सफल न हो सका, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

संगठन और प्रचार का प्रारम्भ—शस्त्र शक्ति का प्रयोग कर अंग्रेजी शासन का अन्त करने के लिये जो भी प्रयत्न हुए, उन्हें सफलता नहीं मिल सकी, क्योंकि सैनिक दृष्टि से अंग्रेज लोग भारतीयों के मुकाबिले में उन्नत थे। पर उन्नीसवीं सदी में एक नई प्रकार की शक्ति का प्रयोग शुरू हुआ, जिसे 'आन्दोलन' व 'प्रचार' कहते हैं। यह आन्दोलन समाचार पत्रों व सार्वजनिक सभाओं द्वारा किया जाता था, जिससे जहाँ जनता का उद्बोधन होता था, वहाँ साथ ही शासक वर्ग पर भी उसका असर होता था।

श्री० द्वारकानाथ टैगोर जब १८४२ ई० में यूरोप की यात्रा करके भारत लौटे, तो ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के अन्यतम सदस्य श्री० ज्यार्ज टामसन भी उनके साथ आए। उन्होंने भारत की राजनीतिक समस्या के सम्बन्ध में अनेक सुशिक्षित भारतीयों से बातचीत की, और कतिपय व्याख्यान भी दिये। इसके बाद १८५१ ई० में 'ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन' नामक एक राजनीतिक संस्था की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य राजनीतिक मामलों में भारतीयों की दिलचस्पी पैदा करना था। १८५३ ई० में श्री रामगोपाल घोष ने 'हिन्दू पैट्रियट' नाम से एक अंग्रेजी समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। भारतीयों द्वारा प्रकाशित यह पहला अंग्रेजी पत्र था। इससे पूर्व बंगला, हिन्दी आदि में तो समाचार पत्र प्रकाशित होते थे, पर अंग्रेज उन्हें नहीं पढ़ सकते थे। 'हिन्दू पैट्रियट' द्वारा अंग्रेजों को भारतीय दृष्टिकोण से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में धर्म व समाज-सुधार के अनेक आन्दोलन भारत में प्रचलित हो चुके थे। इनके कारण जनता में जागृति भी उत्पन्न हो रही थी। पर राजनीतिक क्षेत्र में जो भी आन्दोलन इस समय तक शुरू हुए थे, वे केवल उच्च शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थे। राजनीतिक नेताओं की आवाज इस काल में केवल सुशिक्षित वर्ग तक ही पहुँच पाती थी। अतः हिन्द पैट्रियट जैसे पत्रों से यह लाभ अवश्य हुआ कि अंग्रेजों को भी उनसे यह जानने का

अवसर मिला कि भारत के शिक्षित लोग उनके शासन के विषय में क्या विचार रखते हैं, और उनकी राजनीतिक आकांक्षाएँ क्या हैं।

१८७६ ई० में अनेक ऐसी सभाएँ भी भारत में संगठित हुईं, जिनका प्रयोजन शिक्षित भारतीयों की आवाज को अंग्रेजी सरकार तक पहुँचाना था। इनमें कलकत्ता के 'इण्डियन एसोसियेशन' और पूना की 'सार्वजनिक सभा' के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय कलकत्ता से 'अमृत बाजार पत्रिका', मद्रास से 'हिन्दू' और लाहौर से 'ट्रिब्यून' नामक अंग्रेजी समाचार पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। ये पत्र केवल शिक्षित वर्ग के दृष्टिकोण को ही सरकार के सम्मुख उपस्थित नहीं करते थे, अपितु साथ ही नवजागरण द्वारा उत्पन्न जनता की भावनाओं की तरफ भी शासक वर्ग का ध्यान आकृष्ट करते थे।

इलबर्ट बिल का आन्दोलन—सन् १८८३ में ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था करने की योजना बनाई कि भारतीय न्यायाधीशों की अदालतों में यूरोपियन लोगों के मुकदमे भी पेश किये जा सकें। अब तक यूरोपियन लोगों के मुकदमों का फैसला यूरोपियन जजों द्वारा ही किया जाता था। १८८३ ई० में एक बिल बनाया गया, जिसके अनुसार भारतीय जज भी यूरोपियनों के मुकदमों का फैसला कर सकते थे। इसे 'इलबर्ट बिल' कहा जाता है। पर भारत में निवास करने वाले यूरोपियनों को यह बात असह्य थी। वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उन्हें किसी काले आदमी के सम्मुख पेश होना पड़े। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने इस बिल के विरुद्ध घोर आन्दोलन प्रारम्भ किया। यूरोप के देशों के लिये इस प्रकार के आन्दोलन कोई नई बात नहीं थी। पर भारत में इससे पूर्व इतने उग्र रूप में कोई आन्दोलन नहीं चला था। इसने इतना जोर पकड़ा कि अन्त में सरकार को उसके सम्मुख झुकना पड़ा।

भारत के शिक्षित वर्ग के लिये यूरोपियन लोगों का यह आन्दोलन एक उदाहरण बन गया। उन्होंने अनुभव किया कि राजनीतिक आन्दोलन में इतनी शक्ति होती है कि उसके सम्मुख सरकार को भी झुकना पड़ता है। उन्होंने सोचा कि यदि भारतीयों को भी संगठित किया जा सके और उनकी संगठित आवाज को सरकार तक पहुँचाया जा सके, तो उसका कुछ न कुछ परिणाम अवश्य निकलेगा।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस—इसीलिए १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की गई, जो बाद में भारत की सर्वप्रधान संगठित राजनीतिक शक्ति बन गई। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में उसके सभापति श्री उमेशचन्द्र चक्रवती ने उसके उद्देश्य इस प्रकार प्रगट किये थे—

(१) ब्रिटिश साम्राज्य में निवास करने वाले उन सब लोगों में जान-पहचान व मैत्री उत्पन्न करना, जो भारत की उन्नति के पक्षपाती हैं।

(२) ऐसे उपायों व साधनों पर विचार करना, जिनसे भारत की शासन-पद्धति में सुधार हो।

(३) देश के शासन में भारतीयों को अधिक संख्या में नियुक्त कराने का

प्रयत्न करना।

पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि १८८५ में जब कांग्रेस की स्थापना हुई, तो यह संस्था भारत की सर्वसाधारण जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। अभी जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। समाज-सुधार व धार्मिक आन्दोलनों के कारण जनता में नवजागरण अवश्य प्रारम्भ हो गया था, और वह अपनी राजनीतिक दुर्दशा का अनुभव भी करने लग गई थी। पर राजनीतिक उद्देश्य से अभी किसी ऐसी संस्था का संगठन नहीं हुआ था, जो जनता की इस जागृत भावना का उपयोग कर उसे स्वराज्य के संघर्ष के लिए तैयार करे।

राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता की आकांक्षा इस समय दो रूपों में प्रगट हो रही थी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग इण्डियन नेशनल कांग्रेस जैसी सभाओं में एकत्र होकर व्याख्यान देते थे, प्रस्ताव पास करते थे, और सरकार की सेवा में भेजने के लिए आवेदन पत्र तैयार करते थे। इसके विपरीत कुछ देशभक्त लोग क्रान्तिकारी समितियों का संगठन कर शस्त्र बल के प्रयोग द्वारा ब्रिटिश शासन का अन्त कर देने की तैयारी में तत्पर होने लगे थे। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत की राष्ट्रीय जागृति का यही रूप रहा। सर्वसाधारण जनता को राजनीतिक दृष्टि से संगठित करने की ओर अभी किसी नेता का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था।

१८८५ से १९०५ तक कांग्रेस पढ़े-लिखे व सम्पन्न लोगों की ही संस्था रही। इस युग के कांग्रेसी नेताओं में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे, फीरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी और गोपालकृष्ण गोखले के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—१९०४-५ में जापान और रूस में युद्ध हुआ। इस युद्ध में जापान की विजय हुई, और रूस की पराजय। जापान जैसे छोटे से एशियन देश द्वारा रूस जैसे विशाल यूरोपियन देश की पराजय के कारण एशिया के निवासियों में नई स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ, और उनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि यूरोपियन लोग नसल आदि की दृष्टि से एशियन लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं। नये युग के ज्ञान-विज्ञान को अपना कर कोई भी एशियन देश यूरोप के देशों का समकक्ष व उनसे भी अधिक शक्तिशाली बन सकता है।

इसी समय भारत के गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन ने यह निश्चय किया कि बंगाल का विभाजन कर उसे दो प्रान्तों में भी विभक्त कर दिया जाए। बंगाल में राष्ट्रीय जागृति बहुत अधिक थी, वहाँ शिक्षा का प्रचार भी अन्य प्रान्तों से अधिक था, और अनेक क्रान्तिकारी दल भी वहाँ कार्य करने में तत्पर थे। बंग-भंग का उद्देश्य बंगाल के राष्ट्रीय आन्दोलल को कमजोर बना देता था। बंग-भंग का बड़े प्रवल रूप से विरोध किया गया। इस अवसर पर बंगाल में बहुत उत्तेजना फैली, और अनेक देशभक्त उग्र उपायों द्वारा अंग्रेजी सरकार की योजना का विरोध करने के लिए अग्रसर हुए। बंग-भंग के विरोध के लिए स्वदेशी आन्दोलन और ब्रिटिश माल के बहिष्कार की नीति का अनुसरण किया गया। अन्य प्रान्तों पर भी इस आन्दोलन का

बहुत प्रभाव पड़ा।

१९०५ के साल का भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में बहुत अधिक महत्व है। इसी समय कांग्रेस में एक नए दल का प्रादुर्भाव हुआ, जो केवल भाषण देने व प्रस्ताव पास करने पर ही विश्वास नहीं रखता था, अपितु स्वराज्य के लिए क्रियात्मक पग उठाने की नीति का प्रतिपादक था। इसे 'गरम' दल कहते हैं। कांग्रेस के गरम दल के प्रधान नेता श्री बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाजपतराय थे। ये नेता भारत में घूम-घूमकर राजनीतिक जागृति और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील थे, और विदेशी सरकार का विरोध करना अपना कर्तव्य समझते थे। बंगाल, पंजाब व महाराष्ट्र में जो अनेक क्रान्तिकारी आन्दोलन इस समय चल रहे थे, गरम नेताओं की दृष्टि में उनका भी उपयोग था। परिणाम यह हुआ, कि गरम दल के नेताओं का अन्य कांग्रेसी नेताओं से—जिन्हें नरम दल का कहा जाता था, विरोध बढ़ता गया, और १९०७ ई० में हुई सूरत की कांग्रेस में इन दलों में फूट पड़ गई। गरम दल के लोग कांग्रेस से अलग हो गए, और कांग्रेस का नेतृत्व नरम दल के हाथों में आ गया।

प्रथम महायुद्ध और भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन—१९१४-१९ के प्रथम महायुद्ध के समय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। इस युद्ध में ब्रिटिश पक्ष के लोगों का कहना था कि हम राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की रक्षा के लिए रणक्षेत्र में उतरे हैं, और हमारा उद्देश्य आस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी और टर्की के स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासनों का अन्त कर राष्ट्रीयता और लोकतंत्र-वाद के सिद्धान्तों के अनुसार यूरोप का पुनः निर्माण करना ही है। भारत की जनता में इन विचारों द्वारा नवस्फूर्ति और आशा का संचार हुआ। महायुद्ध में भारत ने तन, मन और धन से अंग्रेजों का साथ दिया, यद्यपि कतिपय क्रान्तिकारी दलों ने इसे स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने का अनुपम अवसर समझा। ब्रिटिश लोगों ने भारतीयों को आश्वासन दिया कि युद्ध की समाप्ति पर वे भारत की राष्ट्रीय आकां-क्षाओं की पूर्ति में कोई भी कसर न उठा रखेंगे। यही कारण था, जो कांग्रेस ने युद्ध के प्रयत्न में ब्रिटिश सरकार का उत्साहपूर्वक साथ दिया, और महात्मा गाँधी जैसे नेता ने भी सेना के लिए रंगरूट भरती करने में अंग्रेजों की सहायता की।

पर महायुद्ध की समाप्ति पर भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो पाई। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक भारतीय नेताओं ने ब्रिटिश सरकार की कृपा पर आश्रित रह के स्वराज्य प्राप्ति की आशा छोड़ दी, और उन्होंने जनता को संगठित कर स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वराज्य आदोलन—महायुद्ध के दौरान में ही महात्मा गांधी दक्षिणी अफ्रीका से भारत आ गये थे। इङ्गलैंड में वकालत की शिक्षा प्राप्त कर वे दक्षिणी अफ्रीका में कार्य करने लगे थे, और वहाँ रहते हुए उन्होंने भार-तीयों के अधिकारों की रक्षा के लिए सत्याग्रह का प्रारम्भ किया था। भारत आकर भी उन्होंने चम्पारन आदि अनेक स्थानों पर सत्याग्रह द्वारा अंग्रेजों के अत्याचारों का

विरोध किया था। धीरे-धीरे कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया, और अंग्रेजी सरकार की कृपा से स्वराज्य प्राप्ति की आशा छोड़ कर उन्होंने स्वराज्य के लिए जन-शक्ति के प्रयोग की नीति को स्वीकार किया। महायुद्ध की समाप्ति पर अंग्रेजों ने भारत के शासन में कुछ सुधार करने चाहे, जो मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के नाम से प्रसिद्ध हैं। गांधीजी ने इन सुधारों को अपर्याप्त समझा। इसी समय सरकार ने 'रॉलट एक्ट' पास किया, जिसका प्रयोजन भारत के क्रान्तिकारी व स्वातन्त्र्य आन्दोलनों को कुचलने के लिए विशेष अधिकारों का उपयोग करना था। जब इस कानून के विरुद्ध जनता ने प्रदर्शन किए, तो सरकारी अफसरों ने निर्दयतापूर्वक निहत्थी जनता पर गोलियाँ चलाईं, और अमृतसर में जलियाँवाला बाग का भयंकर हत्याकांड हुआ, जिसमें हजार से ऊपर नर-नारी ब्रिटिश अत्याचारों के शिकार बने। इन सबका विरोध करने के लिए गाँधीजी ने १९२०-२१ में एक नए आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसे 'असहयोग आन्दोलन' कहते हैं। इसका कार्यक्रम निम्नलिखित था—

(१) सरकार की सर्विस में जो भारतीय कार्य कर रहे हैं, वे त्यागपत्र दे दें, ताकि ब्रिटिश शासकों के लिए इस देश पर शासन कर सकना असम्भव हो जाए।

(२) सरकार द्वारा संचालित व अभिमत शिक्षणालयों का बहिष्कार कर विद्यार्थी राष्ट्रीय विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करें, जिससे कि वे राष्ट्रीयता विरोधी शिक्षा के प्रभाव में न रहें।

(३) सब भारतीय स्वदेशी वस्तुओं और हाथ के कते व हाथ के बुने कपड़ों का व्यवहार करें, और विदेशी माल के बहिष्कार में प्रवृत्त हों।

इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए एक करोड़ रुपये का 'तिलक स्वराज्य फण्ड' कायम किया गया। असहयोग आन्दोलन के कारण सारे भारत में राजनीतिक जागृति उत्पन्न हो गई। मुस्लिम लीग की स्थापना (इस पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे) के कारण यद्यपि मुसलमान पहले राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् रहते थे; पर खिलाफत के प्रश्न को लेकर वे भी अच्छी बड़ी संख्या में असहयोग आन्दोलन में शामिल हुए। महायुद्ध में टर्की जर्मनी के पक्ष में था। उसके परास्त हो जाने पर ब्रिटिश लोगों ने वहाँ के सुलतान को पदच्युत कर दिया था। टर्की का सुलतान मुसलिम जगत् का खलीफा भी हुआ करता था, अतः भारत के मुसलमान उसे फिर से उसके पद पर आरूढ़ करना चाहते थे, और उसके पतन के लिए ब्रिटिश लोगों को ही उत्तरदायी समझते थे। इसीलिए उन्होंने भी गांधीजी के आन्दोलन का साथ दिया। यद्यपि दमन नीति का उपयोग कर अंग्रेजी सरकार इस आन्दोलन को कुचलने में सफल हुई, पर इसके कारण राष्ट्रीय जागृति और स्वराज्य की आकांक्षा सर्वसाधारण जनता तक पहुँच गई।

गांधीजी के नेतृत्व की भारत को सबसे बड़ी देन यही थी कि उन्होंने स्वराज्य के आन्दोलन को सर्वसाधारण जनता तक पहुंचा दिया, और देश में जागृति उत्पन्न कर दी। १९२०-२१ के असहयोग आन्दोलन में हजारों नर-नारी स्वयंसेवक बनकर जेल गए, बहुत से विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षणालयों का बहिष्कार किया, अनेक

राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाएँ कायम हुईं, कितने ही वकीलों ने वकालत छोड़कर राष्ट्रीय कार्य करना प्रारम्भ किया, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार व अंग्रेजी माल का बहिष्कार किया गया, और कुछ सरकारी कर्मचारियों ने अपनी नौकरी से भी त्यागपत्र दिये। १९२२ ई० में गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गये, और उन्हें छः वर्ष की जेल का दण्ड दिया गया।

स्वराज्य पार्टी—गांधीजी की गिरफ्तारी और सरकार की दमन नीति के कारण जब असहयोग आन्दोलन शिथिल हो गया, तो श्री चितरंजन दास के नेतृत्व में एक नया आन्दोलन शुरू हुआ, जिसका उद्देश्य यह था कि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अनुसार बनी हुई विधान सभाओं का बहिष्कार न कर काँग्रेस को उनके लिए अपने उम्मीदवार खड़े करने चाहियें, और उनमें निर्वाचित होकर विधानसभाओं के अन्दर से सरकार के साथ संघर्ष करना चाहिए। श्री दास व उनके साथियों ने कांग्रेस में एक नई पार्टी संगठित की, जिसे 'स्वराज्य पार्टी' कहते थे। धीरे-धीरे यह पार्टी बहुत प्रबल हो गई, और १९२५ ई० में कांग्रेस ने चुनाव लड़ कर विधान सभाओं में प्रवेश करने की नीति को स्वीकार कर लिया।

क्रान्तिकारी दल—असहयोग आन्दोलन के विफल हो जाने पर १९२२ ई० में भारत के क्रान्तिकारी दल फिर जोर पकड़ने लगे। पंजाब, बंगाल, उत्तरप्रदेश, राजस्थान आदि अनेक प्रान्तों में गुप्त समितियाँ संगठित हुईं, और अनेक युवक शस्त्र एकत्र कर अंग्रेजी सरकार का प्रतिरोध करने के लिए उद्यत हुए।

साइमन कमीशन—भारत में स्वराज्य आन्दोलन जिस ढंग से जोर पकड़ रहा था, उसे देखकर ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि नये शासन सुधार करना आवश्यक है। इसलिए उसने एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष सर जॉन साइमन थे। शासन सुधार के सम्बन्ध में परामर्श देने का कार्य इस कमीशन के सुपुर्द किया गया। इसके सब सदस्य अंग्रेज थे। उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भारतीय जनता की आकांक्षाओं को भली भाँति समझ सकेंगे। फरवरी, १९२४ में गांधीजी को जेल से रिहा कर दिया गया था। उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया। यह कमीशन जहाँ कहीं भी गया, जनता के उसका बहिष्कार किया, और काले झण्डों व 'साइमन वापस जाओ' के नारों से उसका स्वागत किया। श्री जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग भी साइमन कमीशन के बहिष्कार में कांग्रेस का साथ दे रही थी। इस पर सरकार ने फिर दमन नीति का प्रयोग किया। कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन करने वालों पर लाठियाँ बरसाई गईं। लाहौर में कमीशन के जाने पर उसके विरुद्ध जो प्रदर्शन हुआ, उसमें पंजाब के लोकप्रिय नेता लाला लाजपतराय भी सम्मिलित हुए। उन पर भी लाठी की मार पड़ी, जिसके कारण कुछ दिनों बाद उनकी मृत्यु हो गई। इससे जनता बहुत क्षुब्ध हुई, और पंजाब के क्रान्तिकारी दल के युवकों ने लाहौर के एक अंग्रेज अफसर को गोली से उड़ा दिया। क्रान्तिकारी दलों का कार्य और अधिक उग्र हो गया, और भगतसिंह नाम के एक क्रान्तिकारी युवक ने दिल्ली की केन्द्रीय विधान सभा पर भी

बम फेंका। इससे सरकार को बोध हुआ कि देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन कितना उग्र रूप धारण कर चुका है। १६२६ ई० में भारत भर में बहुत से क्रान्तिकारी युवक गिरफ्तार किये गए, उनमें से कइयों को फाँसी की सजा दी गई, और अन्यों को आजन्म व लम्बे समय के लिए सख्त कैद का दण्ड दिया गया।

१६२८-२६ के साल भारत में अपूर्व राष्ट्रीय जागृति के साल थे। क्रान्तिकारी आन्दोलन इस समय अत्यन्त उग्र रूप धारण कर रहे थे, और मजदूर आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ रहा था। किसानों में भी जागृति आरम्भ हो गई थी, और मध्यवर्ग व पूँजीपति वर्ग के लोग भी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाने लगे थे। राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना, जो पहले कुछ थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित थी, अब सर्वसाधारण जनता तक व्याप्त हो गई थी।

नेहरू कमेटी की रिपोर्ट—भारत में नये शासन सुधार करने के विरुद्ध अंग्रेजी सरकार की सबसे बड़ी युक्ति यह थी, कि भारत के विविध राजनीतिक दल शासन-सुधारों के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। इसीलिए १६२८ ई० में दिल्ली में एक ऑल पार्टीज कान्फरेन्स बुलाई गई। इस कान्फरेन्स ने पंडित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में एक कमेटी नियुक्त की, जिसे भारत के संविधान की सर्व-सम्मत रूप-रेखा तैयार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए कलकत्ता में सब राजनीतिक दलों का एक कन्वेन्शन हुआ। पर मुस्लिम लीग के विरोध के कारण इस कमेटी की रिपोर्ट पर सब पार्टियाँ सहमत न हो सकीं।

नमक सत्याग्रह—१६२६ ई० में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। पंडित जवाहरलाल नेहरू इसके सभापति थे। इस अधिवेशन में घोषित किया गया कि पूर्ण स्वाधीनता कांग्रेस का ध्येय है। २६ जनवरी, १६३० को भारत में सर्वत्र स्वाधीनता दिवस मनाने का निश्चय किया गया, और उस दिन जनता ने खुले तौर पर घोषणा की कि स्वराज्य प्राप्ति के यत्न में कोई भी कसर नहीं रखी जायगी।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक बार फिर स्वराज्य आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया। इस बार स्वराज्य आन्दोलन ने नमक सत्याग्रह का रूप धारण किया। नमक जैसी सर्व-साधारण जनता के उपयोग की वस्तु पर भी सरकार द्वारा कर लगाया जाता था, जिसके कारण नमक की कीमत बहुत महँगी थी। नमक के व्यवसाय पर सरकार का एकाधिकार था। इसलिए गांधीजी ने निश्चय किया कि नमक कानून को तोड़ा जाए। उनके नेतृत्व में सत्याग्रहियों की मण्डली सूरत जिले के समुद्र तट पर स्थित दाण्डी नामक गाँव में गई, और वहाँ जाकर उसने नमक कानून को भंग किया। देश में अन्यत्र भी बहुत से स्थानों पर स्वयंसेवकों ने कानून तोड़ कर नमक बनाया, जिसके कारण हजारों स्वयंसेवक गिरफ्तार किये गए। विदेशी माल के बहिष्कार और शराब की दुकानों पर धरना देना भी इस आन्दोलन का अंग था। कुछ गाँवों में किसानों ने लगान देना भी बन्द कर दिया, जिसके कारण उन पर अमानुषिक

अत्याचार किये गये।

गोलमेज कान्फरेन्स—इस दशा में सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर ने सरकार और कांग्रेस के बीच समझौता कराने का निश्चय किया। इस समय भारत के वायसराय लार्ड अरविन (१९२६-३१) थे। उन्होंने गोलमेज परिषद् द्वारा भारत की राजनीतिक समस्या को हल करने का प्रस्ताव किया, और गांधीजी से समझौता कर लिया (मार्च, १९३१)। इस समझौते के अनुसार सत्याग्रही कैदी जेल से रिहा कर दिये गये, और कांग्रेस ने गोलमेज कान्फरेन्स में अपने प्रतिनिधि भेजना स्वीकार कर लिया। महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में कान्फरेन्स में शामिल होने के लिए लण्डन गये। पर वहाँ भारत की अन्य राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि भी विद्यमान थे। श्री जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का प्रतिनिधिमण्डल यह दावा करता था, कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व केवल मुस्लिम लीग ही कर सकती है। भारतीय राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि गोलमेज कान्फरेन्स में एकमत नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ कि गांधीजी दिसम्बर, १९३१ में निराश होकर भारत लौट आये।

सत्याग्रह आन्दोलन—गोलमेज कान्फरेन्स में असफल होकर कांग्रेस ने फिर से सत्याग्रह शुरू करने का निश्चय किया। १९३१ में लार्ड विलिंगटन (१९३१-३६) भारत के नये वायसराय नियत हुए थे। उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन को कुचल देने के लिए कठोर उपायों का प्रयोग किया। महात्मा गांधी व अन्य नेता गिरफ्तार कर लिए गये, और सर्वसाधारण स्वयंसेवकों पर सरकार द्वारा घोर अत्याचार किये गये। यद्यपि सामूहिक सत्याग्रह को रोक सकने में विलिंगटन की सरकार सफल हुई, पर व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी रहा।

साम्प्रदायिक निर्णय—गोलमेज कान्फरेंस की असफलता का मुख्य कारण यह था, कि भारत के विविध धर्मों व सम्प्रदायों के लोग एकमत नहीं हो सके थे। हिन्दू-मुस्लिम विरोध इस समय उग्र रूप धारण करने लगा था; क्योंकि मुस्लिम लीग अब यह प्रचार करने लगी थी कि मुसलमान एक पृथक् जाति व राष्ट्र हैं। अतः उन्हें विशेष प्रतिनिधित्व व अधिकार दिये जाने चाहिएँ। इसी प्रचार के कारण १९३२ में हिन्दू मुसलिम दंगे भी बड़ी संख्या में होने लगे और जनता में साम्प्रदायिकता का विद्वेष बहुत बढ़ गया।

जब गोलमेज कान्फरेन्स में एकत्र भारतीय नेता आपस में कोई फैसला नहीं कर सके, तो ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री रामजे मेकडानल्ड ने अपनी ओर से एक साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) दिया, जिसमें मुसलमानों के समान अछूतों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। गांधीजी को यह बिलकुल भी पसन्द नहीं था, क्योंकि इसके कारण अछूतों की स्थिति हिन्दुओं से अलग हो जाती थी। इस कारण गांधी जी ने जेल में ही आमरण अनशन का व्रत लिया। इस पर सरकार को साम्प्रदायिक निर्णय में ऐसे संशोधन करने के लिए विवश होना पड़ा, जिनसे गांधीजी सहमत थे। ये संशोधन उस समझौते (Pact) का परिणाम थे, जो गांधी

जी की प्रेरणा से हिन्दुओं और अछूत जातियों के नेताओं के बीच हुआ था। यही समझौता 'पूना पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

१९३४ ई० में गांधी जी जेल से रिहा हुए, तब उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित कर दिया।

१९३५ का शासन विधान—ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने १९३५ में भारत के लिए एक नया शानन-विधान स्वीकृत किया, जिसका उल्लेख इस पुस्तक के पहले अध्याय में किया जा चुका है। इस शासन विधान द्वारा प्रान्तों के शासन में प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना की गई, और प्रान्तीय शासन के सब विषय ऐसे मन्त्रियों के सुपुर्द कर दिये गए, जो जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी थे।

कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल—१९३७ ई० में नये शासन विधान के अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव हुए। कांग्रेस ने भी इस चुनाव में भाग लिया। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश), बिहार, मध्यप्रान्द, मद्रास, बम्बई और उड़ीसा की विधान सभाओं में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। पंजाब, बंगाल और सिन्ध में कांग्रेस को बहुमत नहीं मिला, क्योंकि इन प्रान्तों की बहुसंख्यक जनता मुसलमान थी, और मुसलमानों पर कांग्रेस के मुकाबिले में मुसलिम लीग का प्रभाव अधिक था। जुलाई, १९३७ में अनेक प्रान्तों में कांग्रेस ने अपने मन्त्रिमण्डल बनाये। पर ये मन्त्रिमण्डल कोई विशेष उपयोगी कार्य नहीं कर सके, क्योंकि १९३५ के शासन-विधान द्वारा भी वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में नहीं आई थी।

फार्वार्ड ब्लाक का संगठन—इस समय कांग्रेस में एक नई विचारधारा का प्रारम्भ हुआ, जिसके प्रधान नेता श्री सुभाषचन्द्र बोस थे। वे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आन्दोलन को अधिक उग्र रूप में चलाना चाहते थे, और महात्मा गांधी के समान अहिंसा और सत्य को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। कांग्रेस के बहुत से सदस्यों ने श्री बोस का साथ दिया, और इसीलिए १९३९ की त्रिपुरी कांग्रेस के सभापति पद के लिए महात्मा गांधी के उम्मीदवार श्री पट्टाभि सीतारामैया के मुकाबिले में श्री बोस को चुन लिया गया। गांधीजी ने इसे अपनी हार समझा, और अपने अतुल प्रभाव का उपयोग कर उन्होंने श्री बोस को कांग्रेस के सभापति पद से त्याग-पत्र देने के लिए विवश किया। इस पर श्री बोस ने कांग्रेस से अलग होकर 'फार्वार्ड ब्लाक' नाम से नये संगठन का निर्माण किया।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५)—सितम्बर १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। इस समय भारत का गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो (१९३६-४३) था। उसने प्रान्तीय सरकारों की अनुमति लिये बिना ही इङ्गलैण्ड के पक्ष में भारत को भी युद्ध में सम्मिलित कर दिया। इस बात पर कांग्रेस के मन्त्रि-मण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया, और जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल थे, उनका शासन वहाँ के गवर्नरों द्वारा किया जाने लगा। साम्प्रदायिक विद्वेष इस समय तक इतना उग्र रूप धारण कर चुका था, कि इस अवसर (अक्टूबर, १९३९) पर मुसलिम लीग ने सर्वत्र 'मुक्ति-दिवस' मनाया।

अंग्रेजी सरकार भारत के धन और जनशक्ति का महायुद्ध के लिए उपयोग करने में तत्पर हुई, लाखों नये सिपाही सेना में भरती किये गए, और राष्ट्रीय ऋण व नये टैक्सों के रूप में करोड़ों रुपया जनता से प्राप्त कर उसे युद्ध के लिए खर्च किया जाना शुरू हुआ।

महायुद्ध के समय स्वतन्त्रता के विविध प्रयत्न—भारत के देशभक्त लोगों ने महायुद्ध को देश की स्वतन्त्रता के लिए सुवर्णीय अवसर समझा। इस कारण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित प्रयत्न शुरू हुए—

(१) विविध क्रान्तिकारी दल फिर से सचेष्ट हो गये, उन्होंने सशस्त्र क्रान्ति का यत्न प्रारम्भ कर दिया, जिसके कारण बहुत से क्रान्तिकारी युवकों को गिरफ्तार कर जेलों में डाल दिया गया।

(२) गांधी जी ने व्यक्तिगत रूप से सत्याग्रह करने की प्रेरणा की, और बहुत से कांग्रेसी सत्याग्रह कर जेल गये।

(३) अगस्त, १९४२ में कांग्रेस ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए अधिक उग्र उपायों के अनुकरण का निश्चय किया। उसने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' का आन्दोलन शुरू किया, और यह आदेश दिया कि जनता स्वराज्य के लिए संघर्ष शुरू कर दे। इस पर सरकार ने सब प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इस दशा में जनता ने सर्वत्र अपनी समझ के अनुसार संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। इस समय महा-युद्ध में अंग्रेजी पक्ष की स्थिति बहुत शोचनीय हो गई थी। फिलिपाइन, इन्डोचायना, इन्डोनीसिया, सिंगापुर, मलाया आदि पर कब्जा कर जापानियों ने बरमा को भी जीत लिया था, और उसकी सेनाएँ भारत की पूर्वी सीमा पर आ पहुँची थीं। अंग्रेजों के युद्ध प्रयत्न को विफल बनाने के लिए देशभक्त युवकों ने कितनी ही रेलवे लाइनों को उखाड़ डाला, तार और टेलीफोन काट डाले, और कितने ही थानों व डाकखानों पर कब्जा कर लिया। कुछ स्थानों पर तो जनता ने ब्रिटिश शासन का अन्त कर आजाद सरकारों का भी संगठन कर लिया।

(४) श्री सुभाषचन्द्र बोस ने जर्मनी और जापान की सहायता से भारत को अंग्रेजी शासन से मुक्त करने का प्रयास किया। श्री बोस कांग्रेस के एक मान्य नेता थे, पर गांधी जी से उनका अनेक महत्त्वपूर्ण बातों पर मतभेद था। उन्होंने अनुभव किया कि युद्ध की परिस्थिति से लाभ उठा कर भारत से अंग्रेजी शासन का अन्त किया जा सकता है। वे जेल से बच निकले, और वेश बदल कर अफगानिस्तान के रास्ते से जर्मनी जा पहुँचे। वहाँ से वे जापान गये। १९४१-४२ में पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान को असाधारण सफलता मिली थी। सिंगापुर आदि में भारत की जो सेना थी, उसे जापान के सम्मुख आत्म-समर्पण करना पड़ा था। श्री सुभाष बोस ने इस भारतीय सेना में स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न की, और उसे 'आजाद हिन्द फौज' के रूप में संगठित किया। एक 'आजाद हिन्द सरकार' का भी निर्माण कर लिया गया, जिसके श्री बोस 'नेताजी' बने। यह योजना बनाई गई कि आजाद हिन्द सेना बरमा के रास्ते भारत पर आक्रमण करेगी, और भारत को अंग्रेजों की

अधीनता से मुक्त करेगी।

पर स्वराज्य के इन विविध प्रयत्नों को तत्काल सफलता नहीं मिल सकी। सरकार ने क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार कर लिया, और कांग्रेसी सत्याग्रहियों को पकड़ कर जेलों में बन्द कर दिया। जो लोग तोड़-फोड़ के कामों में लगे थे, उन पर अत्याचार किये गये। १९४२ ई० के अन्तिम भाग में जर्मनी और जापान का पक्ष कमजोर पड़ने लगा, इस कारण आजाद हिन्द सेना को भी आसाम में प्रविष्ट होने में सफलता नहीं मिल सकी।

यद्यपि दमन नीति और शस्त्रों द्वारा अंग्रेजी सरकार स्वतन्त्रता के प्रयत्नों को विफल करने में समर्थ हुई, पर देश में जो राष्ट्रीय जागृति व स्वतन्त्रता की उत्कट भावना उत्पन्न हो गई थी, उसे नष्ट कर सकना उसके लिये असम्भव था।

भारत की स्वाधीनता—१९४५ ई० में महायुद्ध का अन्त हो गया, और बरमा, इन्डोनीसिया आदि देशों से जापानी प्रभुत्व की भी समाप्ति हो गई। भारतीय सेना के जो सैनिक आजाद हिन्द सेना में सम्मिलित हुए थे, उनके प्रमुख नेताओं पर नवम्बर, १९४५ में सैनिक कानून के अनुसार मुकदमे चलाये गये। भारत की जनता इन लोगों को विद्रोही न मान कर स्वतन्त्रता युद्ध के वीर शहीद मानती थी। इन मुकदमों के कारण एक बार फिर जनता में अंग्रेजों के विरुद्ध भावना जोर पकड़ गई। कलकत्ता आदि अनेक स्थानों पर अंग्रेजों के विरुद्ध प्रदर्शन हुए और प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ चलाई गईं। नेताजी सुभाष बोस के प्रयत्न से भारतीय सैनिकों में स्वतन्त्रता की जो भावना उत्पन्न हुई थी, वह महायुद्ध में अंग्रेजों की विजय के कारण नष्ट नहीं हो गई थी। १८ फरवरी, १९४६ को बम्बई में नौसेना ने विद्रोह किया, और जंगी जहाजों से अंग्रेजी झन्डे उतार कर उनकी जगह पर राष्ट्रीय तिरंगे फहरा दिये। कलकत्ता, विशाखापट्टम, मद्रास आदि अन्यत्र भी नौसेना ने विद्रोह किया। बम्बई में इसी अवसर पर मज़दूरों ने भी आम हड़ताल कर दी। गोरी सेना ने इन हड़तालियों पर गोलियाँ चलाईं और २५० के लगभग मज़दूरों को भून कर रख दिया।

भारत में अंग्रेजी शासन सेना पर आश्रित था। भारतीय सिपाहियों द्वारा ही अंग्रेजों ने भारत की विजय की थी, और उसी के बल पर वे इसका शासन करते थे। जब सेना में ही अंग्रेजों के विरुद्ध भावना उत्पन्न हो गई, तो अंग्रेजों को यह समझने में देर नहीं लगी कि अब उनके लिये भारत पर शासन कर सकना सम्भव नहीं रह गया है।

इस अनुभूति का यह परिणाम हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के नेताओं से समझौता करने का निश्चय किया। १९ फरवरी, १९४६ को ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री श्री एटली ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि भारत जाकर वहाँ की समस्या को हल करेंगे। इस समय भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड वेवेल (१९४३-४७) थे। उन्होंने सब कांग्रेसी नेताओं को जेल से रिहा कर दिया। इसके बाद जो घटनाएँ हुईं, और १५ अगस्त, १९४७ के दिन किस प्रकार भारत विदेशी शासन से मुक्त होकर स्वाधीन हुआ, इन सब बातों का उल्लेख इस पुस्तक के प्रथम अध्याय

में किया जा चुका है। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। अब भारत स्वतन्त्र है, और उसमें 'सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य' स्थापित है। स्वाधीन भारत की लोकतन्त्र सरकार अपने देश की आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक उन्नति के लिये भगीरथ प्रयत्न करने में तत्पर है।

भारत की स्वतन्त्रता के लिये इण्डियन नेशनल कांग्रेस का कर्तृत्व

डेढ़ सदी के लम्बे काल तक विदेशियों की अधीनता में रहने के बाद भारत अब जो स्वतन्त्रता प्राप्त कर सका, उसमें इण्डियन नेशनल कांग्रेस का कर्तृत्व बहुत महत्त्व का है। कोई भी देश तब तक विदेशी शासन से मुक्त नहीं हो सकता, जब तक कि उसकी जनता में राष्ट्रीय जागृति और स्वतन्त्रता के लिये प्रबल आकांक्षा उत्पन्न न हो जाए। भारत के नवजागरण में धार्मिक सुधार और सामाजिक सुधार के आन्दोलनों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, पर राजनीतिक चेतना और स्वतन्त्रता की आकांक्षा को उत्पन्न करने का कार्य कांग्रेस का ही था। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई थी। उस समय यह शिक्षित व उच्च वर्ग के लोगों की ही संस्था थी, और प्रस्ताव पास करने व सरकार की सेवा में आवेदन-पत्र भेजना ही अपना कार्य समझती थी। १९०५ तक कांग्रेस की यही दशा रही। बंग-भंग के कारण देश में जो असन्तोष उत्पन्न हुआ, उसने कांग्रेस में एक ऐसे गरम दल का प्रादुर्भाव किया जो स्वतन्त्रता के संघर्ष के लिये उग्र उपायों के अनुसरण का पक्षपाती था। पर यह दल कांग्रेस को अपना अनुयायी नहीं बना सका, और वह नरम दल के लोगों के ही हाथों से रही। १९१६ में नरम और गरम दलों में मेल हो गया, और कुछ समय बाद कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया। उन्होंने सर्वसाधारण जनता में जागृति व स्वराज्य की भूख को उत्पन्न करने का यत्न किया, और कुछ ही समय में कांग्रेस जनसाधारण की संस्था बन गई। अब से २३०० साल पूर्व के लगभग आचार्य चाणक्य ने इस तथ्य को प्रकट किया था, कि जनता की शक्ति का मुकाबिला संसार की कोई भी अन्य शक्ति नहीं कर सकती। महात्मा गांधी ने इस तथ्य को पहचाना, और भारतीय जनता में ऐसी शक्ति उत्पन्न करने का यत्न किया, जिसके सम्मुख ब्रिटिश साम्राज्य की अपार शक्ति का भी टिक सकना असम्भव था। भारत की स्वाधीनता के संघर्ष में यही गांधीजी का सबसे बड़ा कर्तृत्व है, और उनके नेतृत्व में यही कांग्रेस भी का कर्तृत्व है। इसी के लिये कांग्रेस ने असहयोग और सत्याग्रह के उपायों को अपनाया, और सशस्त्र क्रान्ति के बिना ही भारत स्वराज्य प्राप्त कर सकने में समर्थ हुआ।

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने स्वराज्य के संघर्ष के लिये अहिंसात्मक और शान्तिमय उपायों का अनुसरण किया। गांधी जी उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधनों की उत्कृष्टता को भी बहुत महत्व देते थे। इसीलिये वे अहिंसा और सत्य को भी उतना ही आवश्यक मानते थे, जितना कि स्वराज्य की प्राप्ति को। गांधी जी के सिद्धान्तों को स्वीकार कर कांग्रेस ने सत्य और अहिंसा का अनुसरण किया और उनके द्वारा जनता में प्रबल राजनीतिक जागृति उत्पन्न कर दी। जनता की इस

जागृत शक्ति के सम्मुख ब्रिटिश शासकों को सिर झुकाना पड़ा, और अन्त में भारत स्वराज्य प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

अब भारत की उन्नति के लिये भी कांग्रेस अहिंसात्मक और शान्तिमय उपायों का अनुसरण करने में ही तत्पर है। भारत में जो सैकड़ों रियासतें थीं, खून की एक भी बूँद बहाये बिना ही उन सब का अन्त कर दिया गया। शान्तिमय उपायों से ही जमींदारी प्रथा का भी उन्मूलन किया गया। अब शान्तिमय उपायों द्वारा ही कांग्रेस एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है, जिसमें सब मनुष्यों को रोजगार प्राप्त करने व उन्नति करने का अवसर मिले और सम्पत्ति का वितरण सामाजिक न्याय के आधार पर हो। निःसन्देह, संसार के इतिहास में यह एक नई व अनुपम बात है। इसका सब श्रेय गांधी जी व उनके सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली कांग्रेस को ही प्राप्त है। यदि कांग्रेस की अहिंसात्मक व शान्तिमय नीति का अनुसरण किया जाए, तो जैसे भारत सशस्त्र क्रान्ति के बिना ही स्वराज्य प्राप्त करने में समर्थ हुआ, वैसे ही वह शान्तिमय ढंग से अपनी उन्नति भी कर सकता है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) भारत में राष्ट्रीय जागृति के उत्पन्न होने में कौन से प्रधान कारण थे? विशद रूप से प्रकाश डालिये।

(२) उन्नीसवीं सदी में भारत की स्वाधीनता के लिये कौन-कौन से प्रयत्न हुए? ये प्रयत्न क्यों सफल नहीं हो सके?

(३) कांग्रेस के क्या उद्देश्य हैं? वे किस प्रकार पूरे किये गये हैं? (यू० पी० १९४०)

(४) १९०९ से १९३५ ई० तक देश में कांग्रेस की क्या नीति थी? प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४०)

(५) यह कहाँ तक सच है कि धार्मिक आन्दोलनों ने भारत में राष्ट्रीय जागृति की नींव डाली? (यू० पी० १९३४)

(६) महात्मा गांधी के भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास लिखिये। (राजपूताना, १९५४)

(७) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये—

बाल गंगाधर तिलक, सुभाषचन्द्र बोस, डा० अम्बेदकर (अजमेर, १९५३)

(८) भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति और विकास के महत्त्वपूर्ण कारणों व तत्वों पर प्रकाश डालिये। (राजपूताना, १९५३)

(९) भारत का विभाजन किन कारणों से हुआ? इस विभाजन के क्या परिणाम हुए? (अजमेर, १९५२)

(१०) बीसवीं सदी के महायुद्धों का भारतीय स्वराज्य आन्दोलन पर क्या प्रभाव पड़ा?

तेईसवाँ अध्याय

साम्प्रदायिक आन्दोलन

भारत के नागरिक जीवन में साम्प्रदायिक समस्या का बहुत अधिक महत्व है। इस देश के सब निवासी एक धर्म के ही अनुयायी नहीं हैं। जिस देश के प्रायः सब निवासी किसी एक धर्म के अनुयायी होते हैं, उसमें साम्प्रदायिक समस्या का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। अतः वहाँ राष्ट्रीय भावना का विकास सुगमता से हो सकता है। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, ईरान, टर्की आदि देशों में साम्प्रदायिक समस्या का अभाव है, क्योंकि उनके प्रायः सब निवासी किसी एक ही सम्प्रदाय व धर्म को मानते हैं। पर भारत में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्मों के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं, और इन धर्मों के अनुयायी भी अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हैं। इसका परिणाम यह है कि यहाँ साम्प्रदायिक विद्वेष बहुधा उभड़ता रहा है। इसी कारण भारतवर्ष का विभाजन हुआ, और पाकिस्तान भारत से पृथक् हो गया।

मुस्लिम राष्ट्रीयता का उदय

इसमें सन्देह नहीं कि तुर्क-अफगान और मुगल शासकों के शासन काल में हिन्दुओं और मुसलमानों में अनेक दृष्टियों से सामञ्जस्य स्थापित हो गया था। भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि में वे एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। यदि ब्रिटिश लोगों के शासन काल में भी हिन्दुओं और मुसलमानों के एक-दूसरे के समीप आने की प्रक्रिया जारी रहती, तो भारत के इन दोनों प्रधान धर्मों के अनुयायी राष्ट्रीय दृष्टि से भी एक हो सकते। पर अंग्रेजी शासन के समय में यह नहीं हो पाया। जो बातें हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद की खाई को और अधिक गहरा करने में सहायक हुईं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन आदि के नये धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दुओं में नव-जागरण उत्पन्न किया। यद्यपि ये सभी आन्दोलन भारतीय जनता की एकता के पक्षपाती थे, पर इनका प्रभाव मुख्यतया हिन्दुओं पर ही पड़ा। स्वामी दयानन्द तक ने मुस्लिम नेता सर सैयद अहमदखाँ से मिलकर भारत में धार्मिक एकता को स्थापित करने का उद्योग किया था। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, क्योंकि जहाँ हिन्दू वेद-शास्त्रों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, वहाँ मुसलमान कुरान और रसूल पर विश्वास रखते हैं। इन दोनों धर्मों के विश्वास एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। उन्नीसवीं सदी के विविध सुधार आन्दोलन हिन्दुओं में नई जागृति उत्पन्न करने में अवश्य समर्थ हुए, पर उन्होंने धर्म का जो रूप जनता के सम्मुख रखा,

मुसलमानों के लिए उसे स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं था। मध्य युग में कबीर, और नानक सदृश सन्त महात्माओं ने जिन धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ किया था, उनका आधार पुराने वेद-शास्त्र नहीं थे। उनकी शिक्षाओं और वाणियों में सब धर्मों के प्रमुख तत्वों का समावेश था। उन्नीसवीं सदी के धार्मिक आन्दोलन वेद-शास्त्रों के महत्व पर जोर देते थे। आर्यसमाज की तो स्थापना ही वेद-शास्त्रों के पुनरुद्धार के लिए हुई थी। ब्राह्मसमाज की उपासना भी वेदों और उपनिषदों पर आश्रित थी। उन्नीसवीं सदी के धार्मिक आन्दोलन हिन्दू धर्म के लुप्त गौरव का फिर से उद्धार करना चाहते थे, वे वेद-शास्त्रों का महत्व जनता को बताते थे, और अन्य धर्मों के लोगों को भी हिन्दू धर्म में सम्मिलत करने के पक्षपाती थे। स्वाभाविक रूप से हिन्दू धर्म की यह नई प्रवृत्ति मुसलमानों को सह्य नहीं थी।

(२) हिन्दू धर्म के नवजागरण का प्रभाव इस्लाम पर भी पड़ा। अठारहवीं सदी में जब मुस्लिम राजशक्ति का पतन हुआ, तो अनेक मौलवियों के हृदय में इस्लाम की दुर्दशा की अनुभूति उत्पन्न हुई। दिल्ली के मुहम्मदशाह वलीउल्ला सदृश कितने ही मुस्लिम नेता इस्लाम के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने के लिए उतावले हो उठे। इसी समय वहाबी सम्प्रदाय का भारत में जोर बढ़ने लगा, जिसका उद्देश्य इस्लाम की कमजोरियों को दूर कर मुसलमानों में स्फूर्ति व नवजागरण का संचार करना था। अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को वहाबी लोग बहुत चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। १८५७ की राज्यक्रान्ति के समय उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने में महत्वपूर्ण कार्य किया था। पर वहाबी लोगों को भारत की दुर्दशा का उतना ध्यान नहीं था, जितना कि इस्लाम की दुर्दशा का था। वहाबी आन्दोलन ने इस्लाम में नई स्फूर्ति का संचार अवश्य किया, पर साथ ही मुसलमानों को हिन्दुओं से दूर करने में भी सहायता की।

(३) सर सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ को केन्द्र बनाकर एक नये मुस्लिम आंदोलन का सूत्रपात किया, जिसका उद्देश्य मुसलमानों में नवीन शिक्षा का प्रचार करना और उन्हें भारत की राजशक्ति के उपभोग में हाथ बँटाने के लिये तैयार करना था। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षा की उपेक्षा की थी। इसके विपरीत हिंदुओं ने अंग्रेजी पढ़कर नये ज्ञान-विज्ञान को सीखना शुरू कर दिया था, और भारत के राजनीतिक जीवन में उनका महत्व निरन्तर बढ़ता जाता था। सर सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ ऐंग्लो-ओरियण्टल कालिज की स्थापना की, और मुसलमानों में नवजागरण का प्रारम्भ किया। इससे मुसलमानों में नई स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ, और भारत भर के मुसलमान अलीगढ़ को अपना केन्द्र मानने लगे। बंगाल, मद्रास, पंजाब, बम्बई आदि विविध प्रांतों के मुसलमान युवक अलीगढ़ में पढ़ने के लिये आने लगे, और वहाँ रहते हुए उनमें एक भाषा, एक रहन-सहन, एक विचारसरणी और एक संस्कृति का विकास होने लगा। अलीगढ़ में स्कूल विभाग की शिक्षा का माध्यम उर्दू को बनाया गया, और मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए उर्दू का ज्ञान अनिवार्य माना गया। अलीगढ़ का विद्यार्थी

चाहे भारत के किसी भी प्रदेश का निवासी हो, वह उर्दू को अपनी भाषा समझने लगा। इसका यह परिणाम हुआ कि शिक्षित मुसलमान उर्दू को अपनी धार्मिक व राष्ट्रीय भाषा मानने लगे। रहन-सहन, भाषा, विचारसरणी आदि की एकता के कारण जहाँ अलीगढ़ के वातावरण में पले हुए मुसलमान अपने को एक जाति व राष्ट्र का अंग समझते थे, वहाँ उनमें यह अनुभूति भी उत्पन्न होने लगी कि हम हिन्दुओं से पृथक् हैं।

(४) भारत के नवजागरण का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि विविध सम्प्रदायों व जातियों के लोगों में अपनी पृथक् शिक्षा संस्थाएँ खोलने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। मुसलमानों के मोहम्मडन एंग्लो-ओरियन्टल कालिज के समान दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालिज, सनातन धर्म कालिज, खालसा कालिज, क्रिश्चियन कालिज आदि शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना शुरू हुई, जिनमें नवीन शिक्षा के साथ-साथ अपने धर्म, सम्प्रदाय आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। इस्लामिया कालिजों के विद्यार्थी जैसे उर्दू को अपनी भाषा समझते थे, वैसे ही डी० ए० वी० कालिजों के विद्यार्थी हिन्दी को व खालसा कालिजों के विद्यार्थी गुरुमुखी में लिखी जाने वाली पंजाबी को अपनी भाषा मानते थे। साथ ही, अपने-अपने धर्म के पुनरुत्थान व प्रचार को भी ये अत्यन्त महत्व देते थे।

(५) उन्नीसवीं सदी का अन्त होते-होते आर्यसमाज ने गुरुकुलों की स्थापना शुरू कर दी थी, जिनका उद्देश्य वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करना व वैदिक वातावरण में शिक्षा देना था। सनातनी और जैनी लोग भी आर्यसमाजियो की देखा-देखी ऋषिकुलों, और गुरुकुलों की स्थापना के लिए तत्पर हुए। देवबन्द आदि अनेक स्थानों पर मुसलमानों ने भी ऐसे मदरसे कायम किये, जो इस्लाम की शिक्षा को ही संसार के लिए कल्याणकारी मानते थे। ये सब संस्थाएँ भारत के नवजागरण में सहायक अवश्य हुई, पर साथ ही इनके कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई अधिक-अधिक गहरी भी होती गई। देहात के रहने वाले हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते थे, उनके विचार का ढंग एक सदृश था। उनके रहन-सहन में भी विशेष अन्तर नहीं था। पर जब ये देहाती बालक गुरुकुल कांगड़ी या देवबन्द में पढ़कर बाहर निकलते थे, तो एक-दूसरे से भिन्न दो पृथक् संस्कृतियों के मूर्तरूप बन जाते थे। अलीगढ़ के एंग्लो-ओरियन्टल कालिज और लाहौर के एंग्लो-वैदिक कालिज के विद्यार्थियों की संस्कृति में भी इसी प्रकार का भेद आ जाता था। पंडित मदनमोहन मालवीय के प्रयत्न से जब काशी में 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना हुई, तो यह संस्था हिन्दू अध्ययन व संस्कृति का केन्द्र बन गई, जैसे कि अलीगढ़ मुसलिम शिक्षा व संस्कृति का केन्द्र था। शिक्षा का प्रसार हिंदुओं और मुसलमानों के भेद को घटाने के बजाय उसे बढ़ाने में सहायक होने लगा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप जब भारत में राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना हुई, तो भी हिंदुओं और मुसलमानों को एक ही ढंग की शिक्षा देने की कोई योजना नहीं बनाई जा सकी। दिल्ली की जामिया मिल्लिया मुसलिम राष्ट्रीय शिक्षा की संस्था थी, तो 'काशी विद्यापीठ' हिन्दू राष्ट्रीय शिक्षा

की। राष्ट्रीय शिक्षा भी हिन्दुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक भेद को दूर कर सकने में असमर्थ रही।

यदि ब्रिटिश युग में भारत के नेता नवजागरण की कोई ऐसी योजना बना सकने में समर्थ होते, जिसका प्रभाव हिन्दुओं और मुसलमानों पर एक समान रूप से पड़ता, तो शायद मुसलमानों में अपनी पृथक् राष्ट्रीयता की भावना विकसित न होने पाती। इस प्रकार का कोई प्रयत्न भारत में नहीं हुआ। उन्नीसवीं सदी में भारत में नवजागरण के अनेक आन्दोलन अवश्य चले; पर वे आन्दोलन हिन्दुओं के अलग थे, और मुसलमानों के अलग। इन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे के समीप लाने के लिए कोई यत्न नहीं किया।

इसी का परिणाम यह हुआ कि जब भारत की जनता ने राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष शुरू किया, तो मुसलमानों की आकांक्षाएँ शेष भारतीय जनता से भिन्न थीं। हिन्दू लोग स्वराज्य चाहते थे, देश में लोकतन्त्र शासन स्थापित करना चाहते थे, तो मुसलमान लोग इस चिन्ता में थे कि सरकारी नौकरियों में उन्हें विशेषता दी जाए, और विधानसभा आदि में भी उनके प्रतिनिधि पृथक् रूप से चुने जाएँ।

पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग—अंग्रेजों ने स्वाभाविक रूप से मुसलमानों की इस प्रवृत्ति से लाभ उठाया। विदेशी शासक अपने अधीन देश की राष्ट्रीय एकता को कभी पसन्द नहीं करते। वे 'जनता में फूट पैदा करो, और शासन करो(Divide and Rule) की नाति का अनुसरण करते हैं। अंग्रेजों ने भी भारत में यही किया। हिन्दुओं और मुसलमानों में जो भेद था, उसका उन्होंने पूरी तरह से लाभ उठाया। शुरू में उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं के प्रति पक्षपात किया, क्योंकि अपनी बादशाहत के नष्ट हो जाने के कारण मुसलमानों में अंग्रेजों के विरुद्ध बहुत असंतोष था। पर जब नई शिक्षा प्राप्त कर हिन्दू लोग स्वराज्य के लिए संघर्ष करने लगे, तो अंग्रेजों ने मुसलमानों का पक्ष ग्रहण किया, और साम्प्रदायिक समस्या को उत्पन्न कर स्वराज्य के मार्ग में रोड़े अटकाने का प्रयत्न किया। बंग-भंग (१९०५) में भी उनका एक उद्देश्य यह था, कि हिन्दुओं और मुसलमानों में वैमनस्य बढ़ जाए। वे पूर्वी बंगाल को मुसलिम प्रान्त के रूप में बनाना चाहते थे। अंग्रेजों ने यह भी यत्न किया कि देश के शासन में हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् रहें। उन्हीं से प्रेरणा पाकर १९०६ ई० में सर आगा खाँ एक मुसलिम डेपुटेशन को साथ लेकर वायसराय से मिले, और उनसे यह प्रार्थना की कि मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया जाए। इस डेपुटेशन की माँग से वायसराय महोदय ने अपनी सहानुभूति प्रगट की। उन्होंने इसे भारतीय इतिहास की एक युगकारी घटना समझा। वस्तुतः, यह एक युगकारी घटना ही थी, क्योंकि इसी के कारण आगे चलकर भारत में मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व की परिपाटी का प्रारम्भ किया गया, और हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच की खाई अधिक गहरी होती गई।

मुसलिम लीग की स्थापना—२० दिसम्बर, १६०६ के दिन मुसलिम लीग की स्थापना हुई। यह संस्था ढाका में स्थापित हुई थी, और इसके निम्नलिखित उद्देश्य थे—

(१) भारत के मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति में वृद्धि करना।

(२) भारत के मुसलमानों के राजनीतिक व अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी माँगों को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना।

(३) मुसलमानों और अन्य लोगों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना।

इस प्रकार सम्पन्न व शिक्षित मुसलमानों द्वारा मुसलिम लीग की स्थापना हो जाने पर भारत में मुसलमानों का एक पृथक् राजनीतिक संगठन वन गया। यह लीग मुसलमानों को प्रेरित करती थी कि वे राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन से पृथक् रहें, और कांग्रेस में सम्मिलित न हों। मुसलिम लीग मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व पर विशेष रूप से जोर देती थी। इसीलिए जब १६०६ ई० में मिन्टो-मार्ले सुधारों का श्रीगणेश हुआ, तो उसमें मुसलमानों की इस मांग को स्वीकृत कर लिया गया, और उन्हें सभी निर्वाचित संस्थाओं में पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

कांग्रेस और लीग में समझौता—मुसलिम लीग के स्थापित हो जाने पर भी अनेक प्रभावशाली मुसलमान नेता कांग्रेस में सम्मिलित रहे। इनमें श्री० मुहम्मद अली जिन्ना और श्री० मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नेता मुसलिम लीग की नीति को पसन्द नहीं करते थे, और मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ देने के लिए प्रेरित करते थे। इनके प्रयत्न से मुसलिम लीग की नीति में भी परिवर्तन होने लगा, और १६१६ ई० में दोनों संस्थाओं (कांग्रेस और मुसलिम लीग) के वार्षिक अधिवेशन एक ही समय में लखनऊ में हुए। वहाँ इन दोनों राजनीतिक संस्थाओं में समझौता हो गया, जो लीग-कांग्रेस पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा मुसलिम लीग ने भी भारत में स्वशासन की स्थापना को अपना ध्येय स्वीकार किया, पर साथ ही कांग्रेस ने भी मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को मान लिया।

१६१४-१८ के महायुद्ध के काल में मुसलिम लीग और कांग्रेस में परस्पर सहयोग की वृद्धि हुई, और ये दोनों राजनीतिक संस्थाएँ वैधानिक उपायों द्वारा स्वतन्त्रता के संघर्ष में तत्पर रहीं।

कांग्रेस और मुसलिम लीग में विरोधभाव का विकास—महायुद्ध की समाप्ति होते-होते कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया, जो राजनीतिक अधिकारों की भिक्षा माँगने के बजाय जनता की शक्ति और प्रत्यक्ष कार्रवाई (Direct action) की नीति में विश्वास रखते थे। उन्होंने असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसमें मुसलमान भी अच्छी बड़ी संख्या में शामिल हुए। पर बहुत से मुसलमान कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन में स्वराज्य की माँग से आकृष्ट होकर सम्मिलित नहीं हुए थे। गांधी जी ने खलीफत के प्रश्न को भी असहयोग शुरू करने का एक कारण बताया था। भारत के मुसलमान चाहते थे कि टर्की के सुलतान को,

जो मुसलिम जगत् का खलीफा भी होता था, और महायुद्ध में ब्रिटिश पक्ष की विजय होने के कारण जिसे अपने पद से च्युत कर दिया गया था, फिर से अपने पद पर प्रतिष्ठित किया जाए। इसी कारण भारत के मुसलमान अंग्रेजों का विरोध करने के लिए उठ खड़े हुए, और उन्होंने गांधी जी के आन्दोलन का साथ दिया। इस समय मुसलमानों में अनेक नये नेता मैदान में आए, जिनमें मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये भारत के इतिहास में 'अली बन्धु' के नाम से प्रसिद्ध हैं। खलीफत और असहयोग आन्दोलनों में हिन्दू और मुसलमान जिस ढंग से एक साथ मिलकर काम कर रहे थे, उसके कारण भारत में हिन्दू-मुसलिम एकता का वातावरण उत्पन्न हो गया था। पर इस एकता का आधार राष्ट्रीय भावना नहीं थी। पर फिर भी इस समय मुसलमानों में एक ऐसा दल उत्पन्न हो गया, जो कांग्रेस के राजनीतिक आन्दोलन का समर्थक था। इसी समय मुसलमानों का एक नया संगठन कायम हुआ, जिसे 'जमायत-उल-उलमाए-हिन्द' कहते हैं। यह संगठन उन मौलवियों व उलमाओं का था, जो खलीफत के पुनरुद्धार के लिए प्रयत्नशील थे, और साथ ही गांधी जी के राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक थे।

पर कांग्रेस में अनेक ऐसे मुसलमान नेता भी थे, जो गांधी जी की नीति व कार्यक्रम से असहमत थे। वे अब कांग्रेस से अलग होकर मुसलिम लीग में शामिल हो गये। इन मुसलिम नेताओं में मुहम्मद अली जिन्ना प्रमुख थे। इस समय से कांग्रेस और लीग में विरोध निरन्तर बढ़ता गया, और लीग उन मुसलमानों की संस्था बन गई, जो महात्मा गांधी के नेतृत्व के विरोधी थे, और अंग्रेज शासकों का पक्ष समर्थन कर मुसलमानों के लिए विशेष अधिकार प्राप्त कराने के लिए प्रयत्नशील थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस और मुसलिम लीग में विरोध भाव निरन्तर बढ़ता गया, और उसके साथ ही हिन्दुओं और मुसलमानों में भी।

साम्प्रदायिक विद्वेष में वृद्धि—खलीफत के आन्दोलन के कारण मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाएँ बहुत उभड़ गई थीं। पहले ये भावनाएँ अंग्रेजों के खिलाफ थीं। पर अंग्रेजों की कूटनीति ने इनका उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध किया। १९२४ ई० में खलीफत आन्दोलन का कोई कारण नहीं रह गया था, क्योंकि कमालपाशा के नेतृत्व में टर्की में रिपब्लिक की स्थापना हो गई थी, और वहाँ के लोग अपने देश में सुलतान व खलीफा के पुनरुद्धार के विरोधी थे। ईरान आदि अन्य मुसलिम देश भी खलीफत को फिर से स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। इस दशा में भारत के मुसलमानों के लिए खलीफत आन्दोलन करना बिलकुल निरर्थक था। पर भारतीय मुसलमानों में खलीफत के प्रश्न पर जो नई चेतना उत्पन्न हो गई थी, उसे कहीं-न-कहीं प्रयुक्त होना ही था। अंग्रेजों ने इसका प्रयोग हिन्दुओं के खिलाफ किया, और अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुसलिम दंगे शुरू हो गये। खलीफत आन्दोलन के अनेक नेता अब मुसलिम लीग में भी शामिल हो गये।

अब मुसलिम लीग ने यह दावा करना शुरू किया कि मुसलमानों की वही एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था है। कांग्रेस हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करती है, और लीग

मुसलमानों का। ब्रिटिश सरकार ने लीग के इस दावे को प्रोत्साहन दिया। इसी कारण जब १९३० ई० में लण्डन में भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिये गोलमेज कान्फरेन्स की योजना की गई, तो मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के लिये उसमें मुसलिम लीग के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित किया गया। इस समय तक मुसलिम लीग की स्थिति बहुत दृढ़ हो गई थी, और भारत के बहुसंख्यक मुसलमान उसे ही अपनी राजनीतिक संस्था समझने लग गये थे।

पाकिस्तान की मांग—शुरू में मुसलिम लीग केवल यह चाहती थी कि भारत के शासन में मुसलमानों को विशेष अधिकार प्राप्त हों। उन्हें अपनी जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान विधानसभाओं में प्राप्त हों, और उनका चुनाव मुसलिम मतदाताओं द्वारा पृथक् निर्वाचत पद्धति द्वारा दिया जाए। मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व को अंग्रेजी सरकार ने स्वीकार भी कर लिया था, और १९१६ के लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस भी इससे सहमत हो गई थी। १९१९ ई० और १९३५ ई० में भारत में जो केन्द्रीय व प्रान्तीय विधानसभाएँ बनीं, उनमें मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान दिये गये थे। पर मुसलिम लीग के नेता इतने से भी सन्तुष्ट नहीं थे। स्वराज्य आन्दोलन के साथ-साथ उनकी माँगों में भी वृद्धि होती जाती थी। वे कहते थे, सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को विशेषता दी जानी चाहिये, और प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों में और जब केन्द्रीय सरकार में मन्त्रिमण्डल कायम हो, तो उसमें भी मुसलमानों के लिये स्थान सुरक्षित रहने चाहियें। वस्तुतः, मुसलमानों में अपनी पृथक् राष्ट्रीयता का विचार इतना विकसित हो गया था कि वे प्रत्येक क्षेत्र में अपनी पृथक् व विशिष्ट स्थिति रखना चाहते थे। इसी विचार ने आगे चलकर पाकिस्तान की माँग का रूप धारण किया। पाकिस्तान का विचार पहले-पहल १९३० ई० में कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में उत्पन्न हुआ था, और इसके प्रवर्तक उर्दू के प्रसिद्ध कवि मुहम्मद इकबाल थे। मार्च, १९४० में मुसलिम लीग ने स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की माँग शुरू कर दी। इस माँग का अभिप्राय यह था, कि भारत के उत्तर-पश्चिमी (उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, पंजाब, सिन्ध और बिलोचिस्तान) और उत्तर-पूर्वी (बंगाल और आसाम) प्रदेशों को, जहाँ के निवासियों में मुसलमानों की संख्या अधिक है, शेष भारत से पृथक् कर दिया जाए। इस पृथक् राज्य का नाम पाकिस्तान हो। १९४१ ई० में मुसलिम लीग ने अपने मद्रास के अधिवेशन में पाकिस्तान के निर्माण को अपना लक्ष्य घोषित किया। श्री० जिन्ना अब यह स्पष्ट रूप से कहने लग गये कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्रीयताएँ हैं। उनकी भाषा, धर्म व संस्कृति सब एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् हैं। वे दोनों मिलकर कभी एक नहीं हो सकते, अतः उनका पृथक् हो जाना और पृथक् राज्यों का निर्माण कर लेना ही उचित है।

इसीलिये मुसलिम लीग कांग्रेस के स्वराज्य आन्दोलन का भी स्पष्ट रूप से विरोध करने लगी। उसका कहना था कि स्वराज्य आन्दोलन का मतलब है, हिन्दू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करना। कांग्रेस के नेताओं ने मुसलिम लीग से

समझौता करने के अनेक यत्न किये, पर वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। अंग्रेजों की कूटनीति की सदा विजय हुई, और वे भारत के इन दो मुख्य सम्प्रदायों में विद्वेष की भावना को उभाड़ने में पूर्णतया सफल हुए।

इसी का परिणाम भारत का विभाजन हुआ, जिसके कारण अब पाकिस्तान एक पृथक् राज्य बन गया है। पाकिस्तान के बन जाने पर बहुत से मुसलमान नेता व अन्य लोग भारत छोड़कर पाकिस्तान जा बसे, और बहुत से हिन्दुओं को भारत आने के लिये विवश होना पड़ा। भारत के विभाजन के समय जो भयंकर हत्याकाण्ड हुए, वे किसी भी सभ्य देश के लिये कलंक की बात है।

हिन्दू महासभा

१९०६ ई० में मुसलिम लीग की स्थापना के कारण जब मुसलमानों में साम्प्रदायिक आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, तो कतिपय हिन्दू नेताओं के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उन्हें भी हिन्दू हितों की रक्षा के लिये अपना पृथक् संगठन बनाना चाहिये। इन नेताओं में श्री विनायक दामोदर सावरकर, लाला लाजपतराय और पण्डित मदनमोहन मालवीय प्रमुख थे। शुरू में हिन्दू महासभा का उद्देश्य राजनीतिक नहीं था। स्वराज्य आन्दोलन में प्रायः सभी हिन्दू नेता कांग्रेस के साथ थे। लाला लाजपतराय और पण्डित मालवीय जैसे नेता जहाँ स्वराज्य के संघर्ष के लिये कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होते थे, वहाँ हिन्दुओं की उन्नति व उनके सामाजिक सुधार के लिये हिन्दू महासभा में भी भाग लेते थे। हिन्दू महासभा के अधिवेशनों में इस बात पर जोर दिया जाता था, कि हिन्दुओं में जागृति उत्पन्न होनी चाहिये, उन्हें अपनी सामाजिक कुरीतियों को दूर करना चाहिये, अछूतों के उद्धार पर ध्यान देना चाहिये और विशेष दशाओं में धर्म-भ्रष्ट लोगों को भी शुद्धि द्वारा पुनः हिन्दू धर्म में शामिल कर लेना चाहिये। इस प्रारम्भिक काल में हिन्दू महासभा राजनीतिक संस्था न होकर हिन्दुओं की सामाजिक व जातिगत संस्था ही थी।

पर ज्यों-ज्यों मुसलमानों में साम्प्रदायिक आन्दोलन जोर पकड़ता गया, हिन्दुओं को भी इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी, कि उनका भी एक ऐसा संगठन होना चाहिये, जो उनके जातिगत व साम्प्रदायिक हितों की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो। हिन्दू महासभा ने यही कार्य अपने हाथों में लिया। इसी कारण वह हिन्दुओं की प्रतिनिधि-संस्था होने का दावा करने लगी। कांग्रेस ने मुसलिम लीग के साथ समझौता करने के लिये जो अनेक प्रयत्न किये, हिन्दू महासभा उनका विरोध करती थी। उसका कहना था कि कांग्रेस मुसलमानों के साथ पक्षपात करती है, और उन्हें सन्तुष्ट रखने के लिये ऐसे विशेष अधिकार प्रदान करने के लिये तैयार हो जाती है, जो न केवल हिन्दू हितों के विरोधी हैं, अपितु राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी अनुचित होते हैं।

पाकिस्तान के जवाब में हिन्दू महासभा ने 'हिन्दू राष्ट्र' का नारा बुलन्द किया। श्री सावरकर सदृश नेताओं का कहना था कि भारत की एक अपनी संस्कृति

है, जिसे हम 'हिन्दू संस्कृति' कह सकते हैं। चीन में जिन लोगों ने इस्लाम व ईसाई धर्म को स्वीकार किया, उन्होंने अपनी संस्कृति का परित्याग नहीं किया। उनकी भाषा, रहन-सहन आदि वही रहे, जो अन्य चीनी लोगों के हैं। धर्म के परिवर्तन से किसी मनुष्य की संस्कृति, राष्ट्रीयता व भाषा में परिवर्तन नहीं आ जाना चाहिए। भारत में जिन लोगों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया है, उन्हें भी अपने को पूर्णतया भारतीय ही मानना चाहिए, और भारतीय संस्कृति का ही अनुसरण करना चाहिये। भारतीय मुसलमानों की एक पृथक् राष्ट्रीयता है, इस विचार का हिन्दू महासभा के नेता प्रबल रूप से विरोध करते थे, और चाहते थे कि भारतीय मुसलमान भी राम, अर्जुन, भीम, अशोक आदि प्राचीन भारतीय महापुरुषों को अपना पुरखा समझें, और उनके वीर कृत्यों को अभिमान की दृष्टि से देखें।

शुद्धि आन्दोलन—भारत में इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी का प्रचार बहुत तेजी से हो रहा था। ये धर्म विधर्मियों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करने में विश्वास रखते हैं, और इसके लिए प्रयत्नशील भी रहते हैं। इनके प्रयत्न के कारण हर साल हजारों हिन्दू नर-नारी अपने धर्म को छोड़कर मुसलमान व ईसाई हो जाते थे। यह बात भारत की राष्ट्रीयता के लिए भी बाधक थी, क्योंकि मुस्लिम लीग का यह दावा था कि भारतीय मुसलमानों की राष्ट्रीयता पृथक है। इस दावे का स्वाभाविक परिणाम यह था, कि जो लोग हिन्दू धर्म का परित्याग कर मुसलमान बन जाते थे, वे अपने को भारतीय राष्ट्र का अंग न मानकर पृथक् समझने लगते थे। आर्य समाज द्वारा हिन्दू धर्म का जो नव-जागरण उन्नीसवीं सदी में हुआ, उसके अनुसार हिन्दुओं को भी यह अधिकार था कि वे अन्य धर्मों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करें। आर्य समाजी लोग मुसलमानों और ईसाइयों को 'आर्य' बनाने का यत्न भी करते रहते थे।

पर जब मुसलिम लीग के आन्दोलन के कारण भारत में साम्प्रदायिक विद्वेष में वृद्धि होने लगी, तो अनेक हिन्दू नेताओं के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उन्हें भी यह यत्न करना चाहिए कि हिन्दुओं का इस उद्देश्य से संगठन किया जाय कि वे अपने धर्म का परित्याग न करें, और जो विधर्मी लोग हिन्दू धर्म को स्वीकार करना चाहें, उन्हें शुद्ध करके हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर लिया जाए। इस विचार का एक अन्य कारण भी था। उत्तरी भारत में अनेक ऐसी जातियाँ थीं, जिन्होंने मुसलिम शासन के जमाने में नाममात्र को इस्लाम स्वीकार कर लिया था। इनके रीति-रिवाज आदि सब हिन्दुओं के थे। इनके विवाह तक ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा कराये जाते थे, और ये गोमांस खाना पाप समझते थे। इस प्रकार के लोगों की संख्या लाखों में थी। मुसलिम मौलवियों का प्रयत्न था, कि इन्हें कट्टर मुसलमान बना लिया जाय। यह देखकर स्वामी श्रद्धानन्द, जो कांग्रेस के सदस्य थे और कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन की स्वागत समिति के प्रधान भी रह चुके थे, ने यह निश्चय किया कि इन नाम के मुसलमानों की शुद्धि कर इन्हें हिन्दू समाज का अंग बना लिया जाय। इसी उद्देश्य से उन्होंने शुद्धि और संगठन आन्दोलन का प्रारम्भ किया।

१९२४ ई० के बाद इस आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा, और हजारों की संख्या में मुसलमानों की शुद्धि कर उन्हें हिन्दू बनाना शुरू किया गया। मुसलमानों को इससे बहुत उद्वेग हुआ, और इसी के कारण एक धर्मान्ध मुसलमान द्वारा स्वामीजी की हत्या कर दी गई।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ—हिन्दुओं को संगठित करने के उद्देश्य से ही १९२५ में एक अन्य आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसे 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' कहते हैं। हिन्दू जाति में नवजीवन व स्फूर्ति उत्पन्न करने के लिए इस संघ की ओर से हिन्दू स्वयं-सेवकों का एक संगठन स्थापित किया गया, जिसका कार्य हिन्दू हितों की रक्षा करना था। १९४० ई० के बाद जब भारत में साम्प्रदायिक विद्वेष बहुत बढ़ गया, और जगह-जगह पर साम्प्रदायिक दंगे होने लगे, तो इस संघ के स्वयंसेवकों ने हिन्दुओं की रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। ये लोग 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' शठ के साथ शठ ही बनना चाहिए—की नीति का अनुसरण करते थे, और मुसलमानों के अमानुषिक कृत्यों का जवाब अमानुषिक ढंग से ही देना उचित समझते थे। मध्य श्रेणी के बहुत से युवक इस आन्दोलन के प्रभाव में आए। यह संघ अब भी विद्यमान है, और इसके प्रधान नेता अब श्री० माधवराव सदाशिव गोलवलकर हैं, जिन्हें संघ के अनुयायी 'गुरूजी' कहते हैं।

अकाली आन्दोलन—मुसलमानों और हिन्दुओं के समान सिक्खों में भी एक साम्प्रदायिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसे 'अकाली आन्दोलन कहते हैं। इसके प्रधान नेता मास्टर तारासिंह हैं। उनका कथन था कि सिक्ख धर्म भी एक पृथक् सम्प्रदाय है, और सिक्ख लोग हिन्दू समाज के अंग न होकर उनसे पृथक् स्थिति रखते हैं। भारत के शासन में उनकी पृथक् सत्ता को स्वीकार किया जाना चाहिये, और उनकी भाषा व संस्कृति की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिये, क्योंकि सिक्ख भारत की एक अल्पसंख्यक जाति है। कुछ समय तक सिक्खों में यह विचार भी रहा कि खालसिस्तान भी बनना चाहिए। पर बाद में यह विचार मन्द पड़ गया, और इसका स्थान इस आन्दोलन ने ले लिया कि एक ऐसे पंजाबी सूबे का निर्माण होना चाहिये, जिसकी भाषा पंजाबी हो, और इस पंजाबी भाषा के लिए गुरुमुखी लिपि का प्रयोग किया जाए। कतिपय सिक्ख नेताओं का विचार है कि इस पंजाबी सूबे में सिक्खों की भाषा और संस्कृति को समुचित स्थान प्राप्त हो सकेगा, क्योंकि वहाँ यदि उनकी बहुसंख्या नहीं होगी, तो इतनी संख्या अवश्य होगी, जिससे कि वे अपनी पृथक् संस्कृति व भाषा का भली भाँति विकास कर सकेंगे। वर्तमान समय में सिक्खों के साम्प्रदायिक आन्दोलन का ह्रास हो गया है, और अकाली दल ने कांग्रेस के साथ समझौता कर लिया है, जिसके परिणामस्वरूप उसने पंजाबी सूबे की माँग को भी वापस ले लिया है। पंजाब में दो प्रदेश (Region) हैं, हिन्दी भाषा का प्रदेश और पंजाबी भाषा का प्रदेश। इनके लिए पृथक् प्रादेशिक (Regional) कौन्सिलें बना दी गई हैं। इन कौन्सिलों द्वारा पंजाबी भाषा के प्रदेश में गुरुमुखी लिपि व पंजाबी भाषा के विकास के लिए समुचित अवसर है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) भारत में साम्प्रदायिक भावना के विकास पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालिये ।

(२) भारतीय मुसलमानों में अपनी पृथक् राष्ट्रीय सत्ता के विचार का किस प्रकर और किन कारणों से विकास हुआ, प्रकाश डालिये ।

(३) पृथक् प्रतिनिधित्व की पद्धति ने भारत में साम्प्रदायिक विद्वेष को किस प्रकार विकसित किया ?

(४) हिन्दुओं में साम्प्रदायिक भावना किस प्रकार विकसित हुई और इस भावना के कारण कौन-कौन से संगठन व दल कायम हुए ?

(५) निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये—

अकाली आन्दोलन, सर सैयद अहमद खाँ, शुद्धि आन्दोलन ।

(६) पाकिस्तान के निर्माण में साम्प्रदायिक भावना ने किस प्रकार सहायता पहुँचाई ?

चौबीसवाँ अध्याय

भारत के राजनीतिक दल

अंग्रेजी शासन के समय राजनीतिक दल—अंग्रेजी शासन के समय में ही भारत में राजनीतिक दलों का विकास प्रारम्भ हो गया था। पर उस समय दन दलों के संगठन के दो आधार थे—(१) राजनीनिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये किन उपायों का प्रयोग किया जाए. और (२) स्वाधीनता के आन्दोलन के कारण भारत को जो राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों, उनका स्वरूप क्या हो।

पहले आधार पर भारत में तीन मुख्य दल कायम हुए, कांग्रेस, क्रान्तिकारी दल और नरम दल, जिसे लिबरल व माडरेट दल भी कहते थे। शुरू में कांग्रेस भी नरम दल के लोगों के हाथों में थी। यह दल प्रस्ताव पास कर, व्याख्यान देकर, लेख लिखकर और सरकार की सेवा में आवेदन-पत्र भेजकर यह प्रतिपादित किया करता था कि भारतीयों को भी देश के शासन में अधिकार प्राप्त होना चाहिये। बाद में लोकमान्य तिलक के नेतृत्त्व में कांग्रेस में एक गरम दल का संगठन हुआ। जब कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया, और उन्होंने असहयोग और सत्याग्रह जैसे उग्र उपायों द्वारा अंग्रेजी शासन का अन्त करने की नीति को अपना लिया, तो नरम दल के लोगों ने अपना एक पृथक् संगठन कायम किया, जिसे 'लिबरल फिडरेशन' कहते थे। कांग्रेस के पुराने नरम दल के लोग इस फिडरेशन में शामिल हो गये, और उन्होंने अपनी पुरानी नीति के अनुसार ही स्वतन्त्रता के आन्दोलन को जारी रखा। क्रान्तिकारी दलों के लोग सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखते थे, और गुप्त समितियाँ संगठित कर अंग्रेजों के शासन को विफल बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

जब स्वाधीनता के विविध आन्दोलनों के परिणामस्वरूप भारत में शासन-सुधार शुरू हुए, तो दूसरे प्रकार के दलों का संगठन होने लगा। इन दलों में मुसलिम लीग और हिन्दू महासभा मुख्य हैं। इनका उद्देश्य इस बात का ध्यान रखना था कि शासन सुधारों में उनके अपने जातीय व साम्प्रदायिक हित भली भाँति सुरक्षित रहें। पिछले अध्याय में हम इन पर प्रकाश डाल चुके हैं।

स्वराज्य के बाद राजनीतिक दलों का विकास—जिन दिनों भारत में स्वाधीनता के लिये संघर्ष चल रहा था, वे सब देशभक्त लोग जो शान्तिमय उपायों द्वारा स्वराज्य प्राप्ति में विश्वास रखते थे, कांग्रेस में सम्मिलित थे। आर्थिक उन्नति के लिये भारत को किस नीति का अनुसरण करना चाहिये, या देश में आर्थिक संगठन का क्या रूप होना चाहिये, यह प्रश्न उस समय उत्पन्न नहीं हुआ था। राष्ट्रीय विचारों के सब लोग तब यही समझते थे कि भारत की सब समस्याओं का मूल कारण विदेशी शासन ही है।

इसी के कारण देश में न शिक्षा के प्रसार पर समुचित ध्यान दिया जाता है, और न देश से गरीबी व बेकारी ही दूर हो पाती है। स्वराज्य हो जाने पर ये सब समस्याएँ स्वयमेव दूर हो जायँगी। अतः सभी देशभक्त लोग कांग्रेस के साथ थे, और उसके आन्दोलनों में भाग लेते थे। इसका यह मतलब नहीं कि अंग्रेजी शासन के समय में भारत के नेता आर्थिक संगठन सम्बन्धी समस्याओं पर कोई विचार करते ही नहीं थे। जब रूस में राज्यक्रान्ति हुई, और वहाँ कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम हुई, तो भारत में भी १९२४ ई० में कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन हो गया। इसी प्रकार कांग्रेस के अन्दर ही एक समाजवादी (Socialist) दल का भी संगठन हो गया था, जो भारत में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने का पक्षपाती था। पर इन दलों की उस समय विशेष महत्ता नहीं थी, क्योंकि तब भारत के सम्मुख सब से बड़ा प्रश्न स्वराज्य प्राप्त करना ही था।

पर जब भारत स्वतन्त्र हो गया, तो स्वाभाविक रूप से इस प्रश्न का बहुत महत्त्व बढ़ गया कि भारत की शासन नीति क्या होनी चाहिये। इसीलिये यहाँ अनेक ऐसे दल संगठित होने शुरू हुए, जिनकी आर्थिक संगठन सम्बन्धी नीति एक दूसरे से बहुत भिन्न है। लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये अनेक राजनीतिक दलों की सत्ता आवश्यक व उपयोगी होती है। वे जनता को राजनीतिक शिक्षा देने और उसमें राजनीतिक चेतना को उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, और सरकार की नीति की आलोचना कर उसे स्वेच्छाचारी होने से बचाते हैं।

भारत के राजनीतिक दल

वर्तमान समय में भारत में जो प्रमुख राजनीतिक दल संगठित हैं, उनके सम्बन्ध में विचार करना उपयोगी है, क्योंकि भारत के नागरिक जीवन में उनका बहुत महत्त्व है।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस—भारत का प्रमुख राजनीतिक दल कांग्रेस दल है। स्वराज्य से पूर्व उसकी स्थिति एक राजनीतिक पार्टी की न होकर राष्ट्रीय थी। उसका उद्देश्य स्वाधीनता के लिये संघर्ष करना था, अतः सब विचारों के देशभक्त व राष्ट्रवादी लोग उसमें सम्मिलित थे। उस समय कांग्रेस भारत का एकमात्र राष्ट्रीय संगठन था। इसीलिये राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ उसके स्वरूप में भी परि-वर्तन आता गया। शुरू में वह शिक्षा पाये हुए उच्च वर्ग की संस्था थी, और सर्व-साधारण जनता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। जब भारत में राजनीतिक चेतना का विकास हुआ, तो कांग्रेस में एक ऐसा दल भी उत्पन्न हुआ, जो उग्र उपायों द्वारा स्वाधीनता के लिये संघर्ष करने का पक्षपाती था। इस दल को 'गरम दल' कहते थे। गांधी जी ने जब कांग्रेस के नेतृत्व को अपने हाथों में लिया, तो उसका स्वरूप बिलकुल बदल गया। वह सर्वसाधारण जनता की संस्था बन गई, और उसके अधि-वेशनों में हजारों की संख्या में प्रतिनिधि सम्मिलित होने लगे। १९१९ से १९४७ तक कांग्रेस भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की प्रतीक रही, और उसकी स्थिति एक

राजनीतिक पार्टी की न होकर राष्ट्रीय संगठन की बनी रही।

यह स्वाभाविक था कि जनता कांग्रेस के प्रति अनुरक्त हो और स्वाधीनता के संघर्ष में उसका साथ दे। इसीलिये जब १९३५ के गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट के अनुसार १९३७ ई० में प्रान्तीय व केन्द्रीय विधानसभाओं का चुनाव हुआ, तो जनता ने कांग्रेस के उम्मीदवारों को इन सभाओं के लिये भारी संख्या में प्रतिनिधि चुना। उस समय मुसलमान मुसलिम लीग के प्रभाव में थे, और अन्य लोग कांग्रेस के। इस कारण विधानसभाओं के मुसलिम सदस्यों के चुनाव में मुसलिम लीग को अच्छी सफलता मिली, यद्यपि कुछ मुसलिम सदस्य ऐसे भी चुने गये जो उन पार्टियों की तरफ से खड़े किये गये थे, जो मुसलिम लीग के विरोध में थीं। उस समय गैर-मुसलिम निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस का विरोध केवल बड़े जमींदारों व धनिक वर्ग की ओर से ही किया जाता था। सर्वसाधारण जनता उत्साहपूर्वक कांग्रेस का समर्थन करती थी, क्योंकि वह उसे अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का मूर्तरूप मानती थी।

१९४७ ई० में जब अंग्रेज भारत को छोड़ कर चले गये और देश का शासन भारतीयों के हाथों में आ गया, तो यह स्वाभाविक था कि शासनसूत्र कांग्रेस के हाथों में आ जाए। अंग्रेजों ने भारत का शासन कांग्रेस के ही सुपुर्द किया था, क्योंकि यही एक ऐसी सुसंगठित राजनीतिक संस्था थी, जो देश के शासन को भली भाँति सँभाल सकती थी, और जिसे जनता का विश्वास प्राप्त था। स्वराज्य के बाद जब १९५१-५२ में पहले आम चुनाव हुए, तो देश ने कांग्रेस के उम्मीदवारों को बहुत बड़ी संख्या में विधानसभाओं में निर्वाचित किया। भारत की संघ-पार्लियामेण्ट की लोकसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ४८९ है। इनमें से ३६२ सदस्य कांग्रेस के चुने गये। विविध राज्यों की विधानसभाओं के चुनावों में भी कांग्रेस को इसी प्रकार से सफलता मिली। १९५७ के चुनाव में भी कांग्रेस को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। लोकसभा के ५०० स्थानों में ३६६ उसे प्राप्त हुए, और विविध राज्यों की विधानसभाओं के ३१९६ सदस्यों में से २०२६ कांग्रेस पार्टी के चुने गये।

इसमें सन्देह नहीं, कि सर्वसाधारण जनता पर कांग्रेस का प्रभाव बहुत अधिक है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि अब तक भी सर्वसाधारण जनता उसे एक राजनीतिक पार्टी न मानकर राष्ट्रीय संस्था समझती है। उसकी धारणा है कि जिस प्रकार कांग्रेस भारत को स्वराज्य दिलाने में समर्थ हुई, वैसे ही वह उसकी आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को भी हल कर सकती है। कांग्रेस का संगठन भी बहुत दृढ़ है। उसकी शाखाएँ भारत के सब राज्यों, जिलों व नगरों में स्थापित हैं। बहुत से ग्रामों में भी कांग्रेस कमेटियाँ विद्यमान हैं। जहाँ कांग्रेस कमेटियाँ नहीं भी हैं, वहाँ भी कतिपय ऐसे कार्यकर्त्ता अवश्य हैं, जो कांग्रेस के कार्यक्रम में विश्वास रखते हैं।

कांग्रेस के उद्देश्य—ब्रिटिश शासन के समय कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य शान्तिमय उपायों द्वारा पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति था। पर इस प्रधान उद्देश्य के अतिरिक्त गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अन्य अनेक बातों को भी अपने कार्यक्रम में स्थान दिया और उनके लिये यत्न भी किया। ये बातें निम्नलिखित थीं—

(१) हिन्दुओं और मुसलमानों व भारत के अन्य सम्प्रदायों में एकता की स्थापना करना।

(२) अछूतपन का निवारण कर विविध वर्गों में सामाजिक समानता कायम करना।

(३) मद्यपान व नशीली वस्तुओं के सेवन को रोकना।

(४) स्वदेशी का प्रचार करना और विशेषतया खादी के उपयोग के लिये जनता को प्रेरित करना। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर कांग्रेस ने खादी बोर्ड की स्थापना की, और साथ ही यह भी यत्न किया कि ग्रामों में कुटीर उद्योगों का विकास हो और जनता इन्हीं में तैयार हुई वस्तुओं का उपयोग करे।

स्वराज्य के स्थापित होने पर जब भारत का शासन सूत्र कांग्रेस ने अपने हाथों में लिया, तो उसके सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि देश की आर्थिक उन्नति के लिये किस नीति का अनुसरण किया जाना चाहिये। इसके लिये पहले कांग्रेस ने लोकहितकारी राज्य (Welfareic state) को अपना आदर्श बनाया, और अब समाजवादी नमूने (Socialistic pattern) की व्यवस्था स्थापित करने को अपना ध्येय स्वीकृत कर लिया है। समाजवादी नमूने की व्यवस्था का क्या अभिप्राय है, यह अभी पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस भारत में एक ऐसे आर्थिक संगठन को स्थापित करना चाहती है, जिसमें सम्पत्ति का वितरण सामाजिक न्याय के आधार पर हो, सब लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, और रोजगार प्राप्त करने की भी सब को सुविधा हो। आर्थिक उत्पादन के साधनों के स्वामित्त्व को भी वह इस ढंग से नियन्त्रित करना चाहता है, जिससे संपत्ति कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में ही संचित न हो जाए। इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर ही कांग्रेस सरकार ने जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया है, और वह ऐसे कानून बनाने के लिये प्रयत्नशील है, जिन द्वारा सम्पत्ति का वितरण अधिक न्याययुक्त हो सके और साथ ही देश की आर्थिक समृद्धि में भी वृद्धि हो।

कांग्रेस इन सब बातों को अहिंसात्मक व शान्तिमय उपायों द्वारा ही करने के पक्ष में है। वह भारत में एक आर्थिक क्रान्ति लाना चाहती है, पर शान्तिमय उपायों द्वारा ही। महात्मा गांधी द्वारा प्रदर्शित अहिंसा के मार्ग पर उसका दृढ़ विश्वास है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वह इन्हीं उपायों का अनुसरण करने की पक्षपाती है। साम्राज्यवाद का अन्त कर सब देशों की राष्ट्रीय स्वाधीनता उसकी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का मुख्य तत्त्व है। वह यह भी चाहती है कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निबटारा युद्ध द्वारा न होकर शान्तिमय उपायों द्वारा ही किया जाए।

कांग्रेस एक सुदृढ़ व सुसंगठित पार्टी है। यद्यपि इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मतभेद प्रगट होते रहते हैं, पर उनके कारण कांग्रेस के संगठन में विशेष शिथिलता नहीं आने पाती। इसका मुख्य कारण पण्डित जवाहरलाल का व्यक्तित्त्व है, जो इस समय कांग्रेस के प्रधान नेता हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस में अनेक प्रकारकेविचारों के लोग सम्मिलित हैं, जिनके मतभेद समय-समय पर जनता के सम्मुख आते रहते

हैं। इनमें एक प्रकार के लोग वे हैं, जो गांधीजी के आर्थिक व राजनीतिक विचारों में अगाध विश्वास रखते हैं। गांधीजी खादी और ग्राम-उद्योगों के पक्षपाती थे, और इनके विकास द्वारा ही भारत की गरीबी और बेरोजगारी की समस्या को हल करना चाहते थे। बड़े पैमाने के कल-कारखानों को वे विशेष उपयोगी नहीं मानते थे। उनका मत था कि उपभोग की (वस्त्र, तेल, चीनी आदि) वस्तुओं का उत्पादन कुटीर उद्योगों द्वारा ही किया जाना चाहिये, और इनके लिये बड़े कारखानों की कोई आवश्यकता नहीं है। लोहे, मोटर, जहाज आदि के लिये बड़े कारखाने खोले जा सकते हैं, पर उपभोग की सामान्य वस्तुओं का उत्पादन कुटीर उद्यगों द्वारा ही किया जाना चाहिये। गांधी जी शासन में भी अकेन्द्रीकरण की नीति के पक्षपाती थे, और भारत के ग्रामों को आर्थिक व शासन की दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। सच्चे लोकतन्त्र शासन के लिये वे आवश्यक समझते थे कि प्रत्येक ग्राम न केवल अपना शासन ही स्वयं करे, अपितु अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को भी स्वयमेव उत्पन्न किया करे। केन्द्रीय सरकार के पास अधिक शक्ति न हो। गांधी जी कहा करते थे कि भूमि किसी मनुष्य की सम्पत्ति नहीं होनी चाहिये। जो खेती करे, उसी का जमीन पर अधिकार होना चाहिये। कांग्रेस में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जो अब भी गांधी जी के इन विचारों के अनुयायी हैं, और इन्हें कार्य में भी परिणत करना चाहते हैं। श्री० आचार्य विनोबा भावे इनके नेता हैं। उनका मत है कि कांग्रेस को एक राजनीतिक पार्टी न बनकर अपनी सब शक्ति रचनात्मक कार्य में ही लगानी चाहिये और गांधी जी के विचारों के अनुसार देश में सामाजिक व आर्थिक क्रान्ति के लिये उद्योग करना चाहिये। इसी उद्देश्य से इन लोगों ने १९४८ ई० में 'सर्वोदय समाज' का संगठन किया था। श्री० विनोबा भावे भारत भर में पैदल घूम कर भूदान यज्ञ का प्रचार कर रहे हैं, और जनता को इस बात के लिये प्रेरित करते हैं कि वह स्वयं स्वेच्छापूर्वक अपनी भूमि का कम-से-कम छठा हिस्सा दान कर दे, ताकि इस प्रकार एकत्र हुई भूमि को भूमिहीन लोगों में बाँटा जा सके। साथ ही सम्पत्ति दान, श्रमदान आदि के लिये भी वे लोगों को प्रेरित करते हैं। श्री विनोबाजी का मत है कि प्रचार द्वारा मनुष्यों के हृदय को परिवर्तित किया जा सकता है, और उसे इस बात के लिए प्रेरित किया जा सकता है कि वह स्वयं अपनी भूमि व सम्पत्ति को दान कर सबके हित के लिये—सर्वोदय के लिये—तत्पर हो।

पर कांग्रेस के बहुसंख्यक लोग ऊपर से तो गांधीजी के इन विचारों का समर्थन करते हैं, पर असल में वे उन्हें क्रियात्मक नहीं समझते। स्वराज्य के बाद बहुत से ऐसे व्यक्ति भी कांग्रेस में शामिल हो गये हैं, जो स्वयं धनी, सम्पन्न व दूसरों का शोषण करने वाले हैं। अंग्रेजी शासन के समय में ये लोग कांग्रेस के विरोधी और ब्रिटिश सत्ता के समर्थक थे। पर अब कांग्रेस के सदस्य बनकर ये उसके प्रभाव को अपने हितों की रक्षा करने के लिये प्रयुक्त कर रहे हैं। इसी कारण अनेक विचारक यह अनुभव करते हैं कि कांग्रेस महात्मा गांधी के आदर्शों से निरन्तर दूर हटती जा रही है, और उसमें ऐसे लोगों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है, जो 'सर्वोदय' की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत

स्वार्थ को अधिक महत्त्व देते हैं।

सोशलिस्ट (समाजवादी) पार्टी—अंग्रेजी शासन के समय में जब कांग्रेस में सब प्रकार के विचारों के देशभक्त व राष्ट्रवादी लोग शामिल थे, तब उसमें से कुछ ऐसे लोग भी थे, जो कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद में विश्वास रखते थे। इनका विचार था कि जब भारत विदेशी अधीनता से मुक्त होकर स्वाधीन हो जाए, तो इस देश में ऐसी व्यवस्था कायम की जानी चाहिए, जिसमें आर्थिक विषमता का अभाव हो। इस विचार के लोगों ने १९३४ ई० में कांग्रेस के अन्तर्गत ही सोशलिस्ट दल का संगठन किया, जिसे 'कांग्रेस सोशलिस्ट दल' कहा जाता था। श्री आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता, श्रीमती अरुणा आसफअली आदि इस दल के मुख्य नेता थे। १९४७ तक यह दल कांग्रेस में ही रहा। पर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश के विकास और आर्थिक पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में इसका कांग्रेस से इतना अधिक मतभेद हो गया कि इसके लिये कांग्रेस में रह सकना सम्भव नहीं रहा। १९४७ में यह दल कांग्रेस से पृथक् हो गया, और 'समाजवादी दल' कहाने लगा। १९५१ ई० के अन्त में भारत में जो नये चुनाव हुए, उसमें समाजवादी दल ने भी अपने उम्मीदवार खड़े किये। पर निर्वाचन में इस दल को अधिक सफलता नहीं मिली। लोक सभा में इस दल के केवल १२ सदस्य चुने जा सके, यद्यपि उसके उम्मीदवारों के पक्ष में जो वोट मिले थे, वे कम नहीं थे। कांग्रेस को प्राप्त हुए वोटों के मुकाबिले में सोशलिस्ट दल को २४ प्रतिशत के लगभग वोट प्राप्त हुए थे। इसका कारण यह नहीं था कि भारत की जनता समाजवादी दल के कार्यक्रम को पसन्द नहीं करती थी। इसका मुख्य कारण कांग्रेस का अतुल प्रभाव था।

चुनाव में असफल होकर समाजवादी दल ने 'किसान मजदूर प्रजा पार्टी' के साथ मिलकर कार्य करने का निश्चय किया। इस पार्टी का संगठन १९५१ ई० में आचार्य कृपलानी के नेतृत्व में हुआ था। समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजा पार्टी के विचार प्रायः एक सदृश ही थे। अतः उन्होंने मिलकर एक नये दल का निर्माण किया, जिसका नाम 'प्रजा सोशलिस्ट पार्टी' रखा गया। दो दलों के परस्पर मिल जाने से इसकी शक्ति बहुत बढ़ गई, और १९५१ ई० के बाद भारत की संघ पार्लियामेण्ट और राज्यों की विधान सभाओं के जो अनेक उपचुनाव हुए, उनमें इस पार्टी को अच्छी सफलता मिली।

पर बाद में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी में अनेक मतभेद शुरू हो गये। डा० राम-मनोहर लोहिया के नेतृत्व में 'सोशलिस्ट पार्टी' नाम से एक नये दल का संगठन हुआ, और यह दल प्रजा सोशलिस्ट पार्टी से पृथक् हो गया। यह दल विशुद्ध समाजवाद का पक्षपाती है और इसकी शक्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

कृषक-मजदूर पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी—स्वराज्य के बाद अनेक कांग्रेसी नेता कांग्रेस सरकार की कार्य प्रणाली से असन्तोष अनुभव करते थे। उनका विचार था कि कांग्रेस अपने आदर्शों से दूर हटती जा रही है, और जनता के हितों के बजाय वह पूँजीपतियों व सम्पन्न वर्ग के हितों का अधिक ध्यान रखती है।

वह गांधीजी के मार्ग से विचलित हो गई है, और उसमें सच्चे व ईमानदार लोगों के लिये कोई स्थान नहीं रह गया है। कांग्रेस के नेता व साधारण सदस्य स्वार्थ में तत्पर हो गये हैं, और इस कारण देश के शासन में भ्रष्टाचार की निरन्तर वृद्धि हो रही है। इन लोगों के प्रधान नेता आचार्य कृपलानी थे, जो स्वयं कांग्रेस के सभापति रह चुके थे, और गांधीजी के प्रमुख साथियों में थे। उन्होंने १९५१ में कृषक-मजदूर प्रजा पार्टी के नाम से एक नये दल का संगठन किया, और बहुत से कांग्रेसी उसमें शामिल हो गये। १९५१ के आम चुनावों में इस दल ने भी अपने उम्मीदवार खड़े किये, पर कांग्रेस के मुकाबिले में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, १९५२ ई० में कृषक-मजदूर प्रजा पार्टी ने सोशलिस्ट पार्टी के साथ मिलकर 'प्रजा सोशलिस्ट पार्टी' का निर्माण किया, और ये दोनों दल मिलकर एक हो गये। इस दल के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) भारत में एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था कायम की जाए, जो वर्ग विहीन (Classless) और वर्णहीन (Casteless) हो।

(२) सब मुख्य उद्योग-धन्धों, कल-कारखानों, बीमा कम्पनियों और बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। उन पर व्यक्तियों का स्वत्व न रहकर समाज व राज्य का स्वामित्व स्थापित किया जाये।

(३) जमींदारी प्रथा का भी अन्त किया जाए, और जमींदारों से उनकी भूमि को प्राप्त करते हुए उन्हें किसी प्रकार का मुआवजा न दिया जाए।

(४) देहातों में किसानों की पंचायतें संगठित की जाएँ, और भूमि की व्यवस्था उन्हीं के द्वारा हो।

(५) किसी को १००० रु० मासिक से अधिक वेतन न मिले, और अधिकतम आमदनी और न्यूनतम आमदनी के अन्तर को कम किया जाए।

(६) इन सब परिवर्तनों के लिए हिंसात्मक व क्रान्तिकारी उपायों का अवलम्बन न करके शान्तिमय व वैध उपायों द्वारा ही इन परिवर्तनों को लाया जाए। जनता को शिक्षित कर उसे समाजवाद की उपयोगिता समझाई जा सकती है, और चुनाव में वोटों द्वारा बहुमत प्राप्त कर समाजवादी व्यवस्था कायम कर सकना सम्भव है।

(७) भारत को ब्रिटिश कामनवेल्थ से अपने सम्बन्ध का अन्त कर देना चाहिए, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता व गुटबन्दी से अलग रहने की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

इन सब उच्च उद्देश्यों के होते हुए भी अभी भारत में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है।

कम्युनिस्ट पार्टी—रूस में कम्युनिस्ट क्रान्ति (१९१७) के बाद जब संसार के अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का संगठन प्रारम्भ हुआ, तो भारत में भी १९२४ ई० में कम्युनिस्ट पार्टी संगठित हुई। पर १९ वर्ष तक यह पार्टी अवैध (गैर कानूनी) रही, और इसे खुलकर अपने मन्तव्यों के प्रचार का अवसर नहीं मिला।

पर द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय जब रूस भी ब्रिटेन के पक्ष में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल था, तो अन्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के समान भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी जर्मनी, इटली और जापान के विरुद्ध युद्ध को 'जनता का युद्ध' घोषित किया, और उसमें पूर्ण रूप से सहायता देने की नीति को स्वीकार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि १९४३ ई० में अंग्रेजी सरकार ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को वैध घोषित कर दिया, और यह पार्टी खुले तौर पर युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने लगी।

भारतीय जनता को कम्युनिस्ट पार्टी के इस रुख से बहुत आश्चर्य हुआ। यह पार्टी साम्राज्यवाद का उग्र रूप से विरोध किया करती थी, और भारत से अंग्रेजी शासन का अन्त कर यहाँ कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थी। पर १९४२-४३ में जब कांग्रेस अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उठ खड़ी हुई, और 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' के नारे के साथ भारत के देशभक्त नवयुवक तोड़-फोड़ के काम में प्रवृत्त हुए, तो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने युद्ध कार्य में अंग्रेजों की सहायता करने की नीति को अपनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि यह पार्टी राष्ट्रीय विचारों के भारतीयों की निगाह में गिर गई, और लोकमत इसके विरुद्ध हो गया। कम्युनिस्ट लोगों का कहना है कि जापान के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद का मुकाबिला करने के लिए १९४२-४३ में अंग्रेजों के साथ सहयोग करने में ही भारत का हित था। यदि जापानी सेनाएँ इन्डोचायना, इन्डोनिसिया, बरमा आदि के समान भारत को भी जीत लेतीं, तो नाजी व फैसिस्ट लोगों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती, और संसार में साम्यवादी व्यवस्था को कायम कर सकना सम्भव न रहता। अतः उस समय अंग्रेजों की सहायता करना ही उचित था। पर स्वाधीनता के लिए संघर्ष में तत्पर भारतीय जनता की दृष्टि में कम्युनिस्ट पार्टी की इस युक्ति का कोई महत्त्व नहीं था। इसी कारण उसे लोगों ने रूस का पिट्ठू समझा, और यह कहा कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीति रूस के हितों को दृष्टि में रखकर ही निर्धारित होती है। उसकी दृष्टि में भारत के हितों के मुकाबिले में रूस के हितों का अधिक महत्त्व है। इसीलिए कम्युनिस्ट पार्टी भारत में अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकी।

१९४७ ई० में जब भारत स्वाधीन हुआ, तो कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने संगठन को सुदृढ बनाने का विशेष रूप से यत्न किया। उन्होंने कहा कि १९४७ ई० में भारत को जो स्वाधीनता प्राप्त हुई है, वह अधूरी व नकली है, क्योंकि भारत अब भी ब्रिटिश कामनवेल्थ में सम्मिलित है, और उसमें ब्रिटिश पूँजीपतियों के हित पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं। देश में सच्चा स्वराज्य तब स्थापित होगा, जबकि भारत से पूँजीपतियों का अन्त हो जायगा। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ आर्थिक लोकतन्त्र (Economic democracy) की स्थापना भी आवश्यक है। इन्हीं विचारों को सम्मुख रखकर १९४८ ई० में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस का प्रबल रूप से विरोध करना शुरू किया। यह विरोध केवल

शान्तिमय आन्दोलन द्वारा ही नहीं था, अपितु इसके लिए कम्युनिस्ट पार्टी हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करने के लिए भी तत्पर थी। तेलिङ्गाना आदि अनेक स्थानों पर कम्युनिस्ट पार्टी ने जमींदारों के अत्याचारों से किसानों की रक्षा करने के लिए स्वयं भी हिंसा का आश्रय लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि १९४८ ई० में अनेक राज्यों की सरकारों ने इस पार्टी को गैरकानूनी घोषित कर दिया।

१९५१ ई० में आम चुनावों से पहले कम्युनिस्ट पार्टी ने एक बार फिर अपनी नीति में परिवर्तन किया। उसने हिंसात्मक उपायों का त्याग कर चुनाव लड़ने का निश्चय किया और संघ पार्लियामेण्ट व राज्यों की विधानसभाओं के लिए ५९३ उम्मीदवार खड़े किये, जिनमें से २२२ निर्वाचित हो गए। संघ पार्लियामेण्ट की लोकसभा में २३ कम्युनिस्ट सदस्य चुने गये, जब कि सोशलिस्ट पार्टी और कृषक-मजदूर प्रजापार्टी के केवल १२ और ९ सदस्य निर्वाचित हुए थे। त्रावन्कोर-कोचीन और मद्रास की विधानसभाओं के चुनाव में कम्युनिस्टों को और भी अधिक सफलता मिली। इसका परिणाम यह हुआ, कि इस पार्टी का प्रभाव बहुत बढ़ गया, और बहुत से लोग उसे कांग्रेस के बाद भारत की प्रमुख राजनीतिक पार्टी समझने लगे।

१९५७ के चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी को और अधिक सफलता प्राप्त हुई। लोकसभा में इसके ५७ सदस्य चुने गये और विविध राज्यों की विधानसभाओं में १७१। केरल राज्य में वह अपनी मन्त्रि-परिषद् बनाने में भी समर्थ हुई। वहाँ १२६ सदस्यों में से ६० कम्युनिस्ट पार्टी के चुने गये और कतिपय स्वतन्त्र सदस्यों के सहयोग से वह कांग्रेस को हटाकर अपनी सरकार बनाने में सफल हो गई। बंगाल आदि अनेक अन्य राज्यों में भी कम्युनिस्ट पार्टी को अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

इस समय कम्युनिस्ट पार्टी गैरकानूनी नहीं है, और उसके सदस्य खुले तौर पर अपने मन्तव्यों के प्रचार में तत्पर हैं। चीन में कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हो जाने के कारण एशिया में कम्युनिस्ट दल का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। चीन की उन्नति में वहाँ की कम्युनिस्ट सरकार को बहुत अधिक सफलता मिली है। भारत उसका मित्र है, और उसके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव को बढ़ाने में सहायक हो रही है।

कम्युनिस्ट पार्टी भी एक वर्ग-विहीन व वर्ण-विहीन समाज की स्थापना करना चाहती है। वह भारत से पूँजीवाद का अन्त कर आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के पक्ष में है। जहाँ तक उद्देश्यों का प्रश्न है, समाजवादी पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी में विशेष अन्तर नहीं है। पर कम्युनिस्ट लोग वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखते हैं, और सिद्धान्ततः हिंसा के विरोधी नहीं हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे हिंसात्मक उपायों के भी प्रयोग के पक्षपाती हैं। विदेशी नीति में वे रूस और चीन सदृश कम्युनिस्ट देशों के साथ घनिष्ठ मैत्री स्थापित करना चाहते हैं।

अन्य वामपक्षी दल—कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों के अतिरिक्त भारत में अन्य भी अनेक वामपक्षी (leftist) पार्टियाँ हैं, जिनमें रेवोल्युशनरी सोशलिस्ट, लाल कम्युनिस्ट पार्टी आदि मुख्य हैं। पर इनका भारत के राजनीतिक जीवन में विशेष

स्थान नहीं है, और ये कम्युनिस्ट पार्टी के सहयोग से ही काम करती हैं, और धीरे-धीरे उसी के अन्तर्गत होती जा रही हैं।

भारतीय जनसंघ—इस दल की स्थापना १९५१ ई० में उन लोगों द्वारा की गई थी, जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा में विश्वास रखते हैं। इस दल का मत है कि भारत के विभाजन को स्वीकार कर कांग्रेस ने बहुत अनुचित कार्य किया, और फिर से भारत को अखण्ड करने का यत्न किया जाना चाहिये। यह दल चाहता है कि पाकिस्तान के विरुद्ध उग्र नीति का अनुसरण किया जाए और सरकार हिन्दू संस्कृति की रक्षा पर विशेष ध्यान दे। इस दल के लोग समझते हैं कि कांग्रेसी सरकार मुसलमानों के साथ पक्षपात करती है, और हिन्दुओं के हितों के प्रति समुचित ध्यान नहीं देती। यह दल कम्युनिज्म और समाजवाद का प्रबल विरोधी है, और वामपक्षी नीति का समर्थन नहीं करता। इसीलिये यह देश की आर्थिक उन्नति और व्यावसायिक विकास की आड़ लेकर पूँजीवाद का भी समर्थन करता है। १९५१ के आम चुनाव में जनसंघ ने भी भाग लिया था, पर उसके केवल ३ उम्मीदवार लोकसभा में हो सके। डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी इस दल के संस्थापक व प्रधान नेता थे। उनकी मृत्यु के बाद इस दल का प्रभाव कम हो गया था। १९५७ के चुनाव में जनसंघ को पहले की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। मध्यश्रेणी के लोगों पर इस दल का प्रभाव बढ़ रहा है।

अन्य साम्प्रदायिक व दक्षिण-पक्षी दल—भारत में इस समय भी अनेक ऐसे दल हैं, जो साम्प्रदायिक आधार पर संगठित हैं। इसमें मुसलिम लीग और हिन्दू महासभा मुख्य हैं। पिछले अध्याय में हम इन पर प्रकाश डाल चुके हैं। स्वराज्य के बाद इनका प्रभाव बहुत घट गया है, और अब इनकी सत्ता नाममात्र की ही है।

१९५१ के आम चुनाव के समय रामराज्य परिषद्, गणतन्त्र परिषद् आदि नाम से कतिपय अन्य राजनीतिक दल भी संगठित हो गये थे, जिनका निर्माण उन धनी व प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा किया गया था, जो ब्रिटिश शासन के काल में बहुत प्रभावशाली थे। ये चुनाव में अपने कुछ उम्मीदवारों को चुनवा सकने में भी सफल हुए थे। पर लोकतन्त्रवाद के विकास और जन जागृति के कारण इन दलों का भारत में प्रभाव न के बराबर ही है।

राजनीतिक दलों की वर्तमान स्थिति—१९५७ के आम चुनाव द्वारा विविध राजनीतिक दलों की शक्ति व स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस को अच्छी सफलता प्राप्त हुई, पर बहुत से राज्यों की विधान सभाओं में उसकी सदस्य संख्या घट गई। केरल और उड़ीसा में उसे बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। केरल में कम्युनिस्ट मन्त्रि-परिषद् बनाने में समर्थ हुए। उड़ीसा में गणतन्त्र परिषद् की सदस्य संख्या कांग्रेस के प्रायः बराबर है। वहाँ कतिपय स्वतन्त्र सदस्यों के समर्थन के कारण ही कांग्रेस की मन्त्रिपरिषद् कार्य कर रही है। उत्तर प्रदेश, आन्ध्र, बम्बई आदि अनेक राज्यों में कांग्रेस की सदस्य संख्या में पर्याप्त कमी हुई है। कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति में वृद्धि हो रही है। लोकसभा में कांग्रेस के बाद

उसके सदस्य सबसे अधिक हैं। राज्यों की विधान सभाओं में भी उसकी सदस्य संख्या बढ़ी है। उत्तर प्रदेश, बिहार और बम्बई में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की शक्ति बढ़ रही है, और पंजाब व मध्यप्रदेश में जनसंघ की। जम्मू-काश्मीर राज्य में नेशनल कान्फरेन्स की शक्ति बहुत अधिक है, जो कांग्रेस की सहयोगिनी पार्टी है। उड़ीसा में गणतन्त्र परिषद् की शक्ति बहुत पर्याप्त है। १९५७ के बाद जो उपचुनाव हुए हैं, उनमें भी कांग्रेस की तुलना में अन्य पार्टियों को पर्याप्त सफलता मिली है। लोकतन्त्रवाद के लिये यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि विरोधी दलों की सत्ता उसकी सफलता के लिये उपयोगी होती है।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) ब्रिटिश शासन के युग में भारत में राजनीतिक दलों का क्या स्वरूप था? स्वराज्य के बाद इनके रूप में क्या परिवर्तन आया?

(२) भारत में मुख्य राजनीतिक दल कौन से हैं? उनके उद्देश्यों और विचारधाराओं का संक्षेप से उल्लेख कीजिये।

(३) कांग्रेस के क्या उद्देश्य हैं? वर्तमान समय में कांग्रेस अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किस नीति व कार्यक्रम का अनुसरण करना चाहती है?

(४) प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के निर्माण व विकास पर प्रकाश डालिये।

(५) भारत में वामपक्षी दल कौन-कौन से हैं? कम्युनिस्ट पार्टी का भारत में संगठन कब और किस प्रकार हुआ? आप उसके कार्यक्रम व सिद्धान्तों को भारत के लिये कहाँ तक उपयोगी मानते हैं?

पच्चीसवाँ अध्याय

भारत का आर्थिक जीवन

किसी भी देश के नागरिक जीवन पर उसकी आर्थिक दशा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य तभी सभ्य व उन्नत जीवन व्यतीत कर सकता है, जब कि उसकी भौतिक आवश्यकताओं के पूर्ण होने में विशेष कठिनाई न होती हो। नागरिकता के लिए आवश्यक है कि मनुष्य केवल अपने प्रति कर्तव्यों का ही पालन न करे, अपितु साथ ही उन कर्तव्यों का भी पालन करे, जो उसके परिवार, ग्राम, जिला, राज्य और देश आदि के प्रति हैं। जो लोग पेट भर भोजन भी प्राप्त नहीं कर सकते, सरदी और वर्षा से बचने के लिए जिनके पास वस्त्र भी नहीं होते, उनसे यह आशा करना कि वे ग्राम और देश के प्रति अपने कर्तव्यों का भली भाँति पालन कर सकेंगे, सर्वथा निरर्थक है। संस्कृत में एक कहावत है—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। इसका अर्थ है, भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं करता। हिन्दी में भी कहावत है कि भूखा क्या नहीं करता। गरीब लोगों में जो उग्र प्रकृति के होते हैं, वे चोरी, डाकाजनी आदि के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। जो गरीब लोग उग्र प्रकृति के नहीं होते, वे कुछ रुपयों के लिए अपनी मान-मर्यादा तक को देने के लिए तैयार हो जाते हैं। लोकतन्त्र शासन का आधार वोट के अधिकार का समुचित रूप से प्रयोग करना है। पर बहुत से गरीब लोग थोड़े से आर्थिक लाभ के लिए अपने वोट तक को बेच देने में संकोच नहीं करते। गरीबी मनुष्य में हीनता को उत्पन्न करती है, और नागरिक जीवन के लिए दीनता से बढ़कर कोई शत्रु नहीं होता। दीन मनुष्य धनियों व शक्तिशालियों के सम्मुख झुक जाता है। वह न अपने अधिकारों को काम में ला सकता है, और न अपने कर्तव्यों का पालन ही कर सकता है।

इसलिए उत्तम नागरिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि जनता आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व सन्तुष्ट हो, और समाज में आर्थिक विषमता अधिक न हो। गरीब देश के निवासियों का नागरिक जीवन उन देशों के नागरिक जीवन से बहुत भिन्न होता है, जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हों। इसी कारण भारत के नागरिक जीवन का अध्ययन करते हुए देश की आर्थिक दशा का अध्ययन करना भी आवश्यक है।

भारत की आर्थिक समस्याएँ

भारत की मुख्य आर्थिक समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **गरीबी**—भारत की जनता बहुत अधिक गरीब है। आप किसी भी शहर या गाँव में चले जाइये, आपको बहुसंख्यक लोग ऐसे दिखाई देंगे, जो शरीर

से अत्यन्त पतले-दुबले होंगे। देखने से ही यह मालूम हो जायगा कि इन्हें पुष्टिकर भोजन नहीं मिलता है, और इनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जो पेट भर खाना भी प्राप्त नहीं कर पाते। वे फटे-पुराने व मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए होंगे, और वे जिन मकानों में रहते होंगे, वे भी फूस, मिट्टी या खपरैल के बने होंगे। भारत में जो गरीबी है, उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह प्रत्यक्ष है।

भारत में कुल मिलाकर जो आर्थिक उत्पादन होता है, १९४८-४९ में उसका कुल वार्षिक मूल्य ९९५० करोड़ रुपया था। इस देश की जन संख्या, ३६ करोड़ के लगभग है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि देश की कुल राष्ट्रीय आमदनी की मात्रा ९९५० करोड़ रुपये होने पर प्रत्येक व्यक्ति की औसतन आमदनी २७६ रुपये के लगभग बैठती है। २३ रु० मासिक की यह आमदनी बहुत ही कम है। औसतन आमदनी के इस हिसाब में उन करोड़पतियों, जमींदारों और राजा-महाराजाओं की आमदनी भी शामिल है, जो लाखों रुपये प्राप्त करते हैं, और अपनी आमदनी को पानी की तरह बहाते हैं।

यदि केवल गरीबों की आमदनी का हिसाब लगाया जाए, तो उसकी मात्रा और भी कम है। भारत की बहुसंख्यक जनता देहात में निवास करती है, और खेती द्वारा अपना निर्वाह करती है। १९५०-५१ में भारत सरकार ने खेती में मजदूरी करके आजीविका कमाने वाले लोगों की आमदनी की जाँच करने के लिए एक कमेटी बिठाई थी। उसकी रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि देहाती मजदूरों की औसतन आमदनी केवल १४० रु० वार्षिक है, जो ७ रु० मासिक से भी कम बैठती है। इससे भली-भाँति अन्दाज लगाया जा सकता है कि ग्रामों में निवास करने वाले मजदूर लोग कितनी गरीबी से अपना गुजारा करते हैं।

(२) **बेकारी**—गरीबी के साथ-साथ भारत में बेकारी की समस्या भी बहुत विकट है। उत्तरप्रदेश के देहातों में बसने वाले लोगों में ३३ प्रतिशत के लगभग ऐसे हैं जो सर्वथा भूमिविहीन हैं। ये लोग अपने गुजारे के लिए मजदूरी पर निर्भर करते हैं। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इन्हें साल के ३६५ दिनों में २०० दिन से अधिक मजदूरी नहीं मिल पाती। इसका अर्थ यह हुआ कि साल में ४५ प्रतिशत दिनों में ये बेकार रहते हैं। देहात के आंशिक रूप से बेकार लोगों के अतिरिक्त भारत में सवा करोड़ के लगभग ऐसे लोग हैं, जिन्हें पूर्णतया बेकार कहा जा सकता है। लखनऊ यूनिवर्सिटी के अर्थशास्त्र विभाग की ओर से लखनऊ शहर में बेकारी की समस्या की जाँच की गई थी। इस जाँच द्वारा ज्ञात हुआ कि लखनऊ में रोजी कमाने योग्य व्यक्तियों में १०·४ प्रतिशत व्यक्ति इस समय बेकार हैं। इन बेरोजगारों में ११·२९ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं, जो ग्रेजुएट हैं। जो दशा लखनऊ की है, वही भारत के अन्य नगरों की है। लखनऊ उत्तर प्रदेश जैसे विशाल राज्य की राजधानी है, वहाँ रोजगार के अवसर अन्य नगरों से अधिक ही हैं। सवा करोड़ के लगभग मनुष्यों को काम में लगाना और देहात के आंशिक रूप से बेकार लोगों को काम देने की व्यवस्था करना भारत की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्या है।

गरीबी के कारण—भारत में गरीबी और बेकारी की जो भयंकर दशा है, उसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) भारत अभी व्यावसायिक उन्नति की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। डेढ़ सदी के अंग्रेजी शासन में विदेशी शासकों ने भारत के कुटीर उद्योगों को तो नष्ट कर दिया, पर नये कल-कारखानों की उन्नति पर विशेष ध्यान नहीं दिया। अंग्रेज लोगों की भारत के सम्बन्ध में आर्थिक नीति यह थी, कि इस देश में कच्चे माल का उत्पादन बड़ी मात्रा में किया जाए, ताकि इङ्गलैण्ड के कारखानों के लिये रुई, जूट, तिलहन आदि कच्चे माल को सस्ते मूल्य पर प्राप्त किया जा सके। वे यह भी चाहते थे कि इङ्गलैण्ड के कारखानों में तैयार हुए माल को भारत के बाजारों में ऊँची कीमत पर बेचा जाए। इसीलिये उन्होंने इस देश में कल-कारखानों के विकास पर ध्यान नहीं दिया, अपितु यह यत्न किया कि भारत कृषिप्रधान देश ही बना रहे और उसकी व्यावसायिक उन्नति न होने पाए।

(२) १९१४-१८ के महायुद्ध के समय भारत में अनेक कारखाने खोले गये, और भारत व्यावसायिक क्षेत्र में बड़ी तेजी के साथ उन्नति करने लगा। इस महायुद्ध का क्षेत्र ईराक, सीरिया आदि पश्चिमी एशिया के देश भी थे। इनमें युद्ध के लिये अंग्रेजों को जिन सैनिकों की आवश्यकता थी, मुख्यतया वे भारत से ही ले जाये जाते थे। इन सैनिकों के लिये वस्त्र, जूते, अस्त्र-शस्त्र आदि की भी आवश्यकता थी। इन सब को भारत में ही तैयार करने का उद्योग महायुद्ध की परिस्थितियों में अंग्रेजों द्वारा किया गया। इसके कारण बहुत से नये कल-कारखाने कायम किये गये। पर इनमें जो पूँजी लगाई गई, वह प्रायः अंग्रेजों की ही थी। इङ्गलिश पूँजीपतियों ने ही इस समय भारत में कारखाने स्थापित किये। इनमें कार्य करने वाले मैनेजर, इंजीनियर आदि बड़े वेतन प्राप्त करने वाले कर्मचारी भी अंग्रेज ही नियुक्त किये गये। इन कारखानों का मुनाफा प्रतिवर्ष इङ्गलैण्ड जाने लगा, और भारत को उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इस समय भी भारत में ऐसे अनेक बड़े-बड़े कारखाने व कम्पनियाँ हैं, जिनमें ब्रिटिश पूँजी लगी हुई है। इनके मुनाफे के रूप में करोड़ों रुपया हर साल विदेश में चला जाता है।

(३) अंग्रेजी शासन की डेढ़ सदी में भारत का आर्थिक शोषण बहुत बुरी तरह से किया गया। इस देश में उस समय लाखों की संख्या में अंग्रेज अफसर, सैनिक व अन्य राजकर्मचारी रहा करते थे, जिनके वेतनों व पेंशनों के रूप में करोड़ों रुपया भारत से इङ्गलैण्ड भेजा जाया करता था। अंग्रेज पूँजीपतियों ने रेलवे आदि की कम्पनियों में जो पूँजी लगाई थी, उसके सूद व मुनाफे की रकम भी हर साल इङ्गलैण्ड भेज दी जाती थी।

(४) भारत अभी तक भी कृषि प्रधान देश है, और इसकी बहुसंख्यक (७५ प्रतिशत से भी अधिक) जनता अपने निर्वाह के लिये खेती पर ही निर्भर है। सिंचाई, उत्तम खाद व बीज आदि की व्यवस्था न होने के कारण भारत की जमीन पर्याप्त अन्न उत्पन्न नहीं कर पाती।

(५) भारत की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि का अनुपात १.२५ प्रतिशत प्रति वर्ष है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं, कि प्रति वर्ष भारत के निवासियों में ४५ लाख के लगभग वृद्धि हो जाती है। यहाँ जो आर्थिक उत्पत्ति होती है, वह पहले ही सब के लिये पर्याप्त नहीं है। बेकारी यहाँ पहले ही बहुत अधिक है। जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होते जाने के कारण गरीबी और बेकारी की समस्या और भी अधिक विकट हो जाती है।

(६) भारत की बहुसंख्यक जनता अशिक्षित है। इसी कारण यह अनेक सामाजिक कुरीतियों की भी शिकार है। गरीब लोग भी विवाह, जन्म आदि के अवसरों पर बहुत सा निरर्थक खर्च करते हैं। इससे मध्य वर्ग व गरीब लोगों के पास पूँजी का संचय नहीं होने पाता। शिल्प व विज्ञान की शिक्षा के अभाव में देश के औद्योगिक विकास में भी कठिनाइयाँ पेश आती हैं।

(७) पूँजीवादी व्यवस्था भी भारत की गरीबी का बड़ा कारण है। प्रथम तो देश में आर्थिक उत्पादन की मात्रा ही बहुत कम है। जो उत्पादन यहाँ होता है, उसका बहुत बड़ा भाग थोड़े से बड़े जमींदारों व पूँजीपतियों की जेब में चला जाता है। उसका उपयोग वे प्रायः भोग-विलास में करते हैं। इसका परिणाम यह होता है, कि देश के बहुसंख्यक निवासी गरीबी से जीवन व्यतीत करते हैं।

खेती और उसकी समस्याएँ

भारत कृषिप्रधान देश है। यहाँ की ७८ प्रतिशत के लगभग जनता अपने निर्वाह के लिये कृषि पर निर्भर करती है। अतः कृषि सम्बन्धी समस्याओं पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यद्यपि भारत कृषिप्रधान देश है, पर वह इतना अन्न व अन्य भोजन उत्पन्न नहीं कर पाता, जिससे इस देश की सम्पूर्ण जनता को समुचित मात्रा में पुष्टिकर भोजन मिल सके। महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद तो अनेक वर्षों तक भारत को अन्य देशों से अनाज मँगाने की आवश्यकता रही। अत्यन्त प्रयत्न के बाद भी सरकार अब तक भारत को अनाज के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर बना सकने में सफल नहीं हो सकी है। अब तक गेहूँ आदि अनाज विदेशों से मँगाने पड़ते हैं।

भारत की जमीन अच्छी उपजाऊ हैं, और यहाँ के किसान भी परिश्रमी हैं। पर फिर भी हमारे देश में खेती की पैदावार बहुत कम है। भारत में धान की औसतन पैदावार ९ मन प्रति एकड़ है, जबकि जापान में प्रति एकड़ ४२ मन और संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति एकड़ ३० मन धान पैदा किया जाता है। यही दशा गेहूँ की है। भारत में प्रति एकड़ ८ मन गेहूँ पैदा होता है, जब कि इतनी ही भूमि से कनाडा में १२ मन और ब्राजील में १५ मन गेहूँ पैदा की जाती है। भारत में रुई की पैदावार की औसत १ मन प्रति एकड़ है। पर संयुक्त राज्य अमेरिका में यह औसत ३ मन है, और ईजिप्ट में ४½ मन है। पिछले कुछ वर्षों में भारत के किसान ने गन्ने की पैदावार से अच्छी आमदनी प्राप्त की है। पर अन्य देशों के मुकाबिले में यहाँ गन्ने की

पैदावार भी बहुत कम है। जावा में प्रति एकड़ ५० टन गन्ना पैदा होता है, पर भारत में गन्ने की औसतन पैदाबार केवल १५ टन प्रति एकड़ है। इन आँकड़ों से यह भली भाँति अन्दाज लगाया जा सकता है, कि अभी भारत में खेती की उन्नति के लिए कितनी गुंजाइश है। यदि भारत में भी खेती के नये और वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जाए, तो इस देश की पैदावार बहुत बढ़ाई जा सकती है, जिससे यहाँ के किसानों को समृद्ध होने में बहुत सहायता मिलेगी।

भारत में खेती की पैदावार में कमी के कारण—प्रश्न यह है कि भारत में खेती की पैदावार अन्य देशों के मुकाबिले में इतनी कम क्यों है? इसके कारण निम्नलिखित हैं—

(१) भारत के बहुसंख्यक किसान अत्यन्त गरीब हैं, और साथ ही अशिक्षित भी हैं। उन्हें यह ज्ञात नहीं है, कि पैदावार को बढ़ाने के लिए अच्छे किस्म के खाद और बढ़िया बीजों की जरूरत होती है। खेती के नए व वैज्ञानिक साधनों से भी वे परिचित नहीं हैं। यदि उन्हें ये बातें ज्ञात भी हैं, तो गरीबी के कारण वे इनका उपयोग नहीं कर सकते। उनके पास पेट भरने तक के लिए तो अनाज होता नहीं, इस दशा में वे बढ़िया बीज व उत्तम खाद खरीदने के लिए पैसा कहाँ से ला सकते हैं। फसल बोने के समय वे गाँव के महाजन से बीज उधार ले आते हैं, और जैसा भी बीज उधार मिल जाय, बो देते हैं। नये किस्म के रासायनिक खादों का न उन्हें ज्ञान है, और न उसे क्रय करने की शक्ति। गरीबी के कारण उन्नत प्रकार के हलों व खेती के अन्य उपकरणों को खरीद सकने का तो वे स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकते।

(२) भारत के बहुसंख्यक किसान निरक्षर तो हैं ही, साथ ही उन्हें खेती के सम्बन्ध में भी समुचित ज्ञान नहीं है। फसलों की हेर-फेर करके किस प्रकार जमीन की उपज शक्ति को बढ़ाया जा सकता है, कौन-सी जमीन किस फसल के लिए अधिक उपयुक्त है, और कौन से कृमि व बीमारियाँ फसल को नुकसान पहुँचाती हैं, व उनसे रक्षा के क्या उपाय हैं, ये बातें भी वे भली-भाँति नहीं जानते। हमारे किसान प्रायः नये ढंगों को अपनाने में और खेती के नये तरीकों को सीखने में संकोच करते हैं। स्वभाव से वे अपरिवर्तनवादी हैं, और किसी भी नई बात को ग्रहण करने के लिए उद्यत नहीं होते।

(३) सिंचाई के साधनों में कमी भारत में खेती की पैदावार में कमी होने का एक मुख्य कारण है। प्रायः किसान सिंचाई के लिए वर्षा पर निर्भर करते हैं। यदि समय पर वर्षा हो जाय, तब तो फसल अच्छी हो जाती है। पर यदि कभी वर्षा कम हो या समय पर न हो, तो किसानों को घोर संकट का सामना करना पड़ता है। फसल खड़ी-खड़ी सूख जाती है, और किसान देखता रह जाता है। नहरों व ट्यूबवेल द्वारा जहाँ सिंचाई की समुचित व्यवस्था है, वहाँ फसल अच्छी होती है, और वहां के किसान भी अच्छे सफल हैं।

(४) भारत में खेतों का आकार बहुत छोटा-छोटा है। पिता की जमीन उसके लड़कों में बराबर-बराबर बँट जाती है, इस कारण खेतों के विभाग होते जाते हैं।

इनके बँटवारे का ढंग भी ऐसा होता है, जिससे खेत जगह-जगह पर बिखर जाते हैं। मान लीजिए, एक किसान के पास कुल ५० बीघा जमीन है, जो पाँच खेतों में बँटी हुई है। ये खेत गाँव के अलग-अलग हिस्सों में हैं। यदि किसान के ५ पुत्र हों तो प्रत्येक को दस-दस बीघा जमीन मिलेगी। अच्छा तो यह होता कि प्रत्येक पुत्र को दस-दस बीघे का एक-एक खेत दे दिया जाता। पर प्रायः होता यह है कि प्रत्येक खेत के पाँच-पाँच हिस्से किये जाते हैं, और प्रत्येक को दो-दो बीघे के छोटे-छोटे खेत पाँच अलग-अलग स्थानों पर दे दिये जाते हैं। खेतों के छोटे-छोटे व अनेक स्थानों पर बिखरे होने के कारण किसान खेती पर समुचित ध्यान नहीं देने पाता, और उसकी पैदावार में कमी हो जाती है।

(५) ज़मींदारी प्रथा भी भारत में खेती की पैदावार के लिए अत्यन्त हानिकारक थी। अंग्रेजी शासन के समय जब तक भूमि सुधार सम्बन्धी कानून स्वीकृत नहीं हुए थे, ज़मींदार जब चाहे किसान को अपने खेत से बेदखल कर सकता था, या उसका लगान बढ़ा सकता था। किसान का अपने खेत पर कोई भी अधिकार नहीं था। इस दशा में किसान जमीन की उपज शक्ति को बढ़ाने के लिए कोई भी यत्न नहीं कर सकता था। भूमि सुधार सम्बन्धी कानून स्वीकृत होने और ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन के कारण अब इस दशा में बहुत काफी सुधार हो गया है।

(६) देहात में मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण भी भारत में खेती की पैदावार कम होती है। बरसात के बाद प्रायः सर्वत्र मलेरिया फैल जाता है, जिसके कारण किसान हफ्तों तक मेहनत के लायक नहीं रहता। मलेरिया आदि बीमारियों से उसका शरीर कमजोर पड़ जाता है, और वह खेती पर समुचित परिश्रम नहीं कर पाता। हमारे देश के पशु भी विविध रोगों के कारण कमजोर रहते हैं, और उनसे भी पर्याप्त मेहनत नहीं कराई जा सकती।

खेती की पैदावार में वृद्धि के उपाय—भारत की आर्थिक उन्नति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि खेती की पैदावार में वृद्धि की जाय। इसके मुख्य उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) सिंचाई की व्यवस्था—यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत में सर्वत्र खेतों की सिंचाई की समुचित व्यवस्था की जाय। खेती मुख्यतया सिंचाई पर ही निर्भर करती है। इसीलिए स्वतन्त्र भारत की सरकार नई नहरें निकालने, ट्यूब वेल बनवाने और सिंचाई के अन्य साधनों की उन्नति पर विशेष ध्यान दे रही है। इसी उद्देश्य से कितनी ही नदियों पर बाँध बाँधकर उनसे नहरें निकालने की योजना बनाई गई है। प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में कुल मिलाकर ३८४ करोड़ रुपया इस मद्द में खर्च किया गया है। इस धन द्वारा बंगाल तथा बिहार में दामोदर घाटी योजना, बिहार में कोसी योजना, पंजाब में भाकरा-नांगल योजना, उड़ीसा में हीराकुड योजना और मद्रास में रामपद सागर योजना बनाई गई हैं। इन बड़ी योजनाओं के अतिरिक्त सिंचाई के लिये अन्य अनेक योजनाएँ भी बनाई गई हैं, जिन सबके पूरा हो जाने पर १९७ लाख एकड़ भूमि में नई सिंचाई की व्यवस्था हो जायगी। दूसरी पंच-

वर्षीय आयोजना में कृषि और देहातों की उन्नति के लिये कुल मिलाकर ६१३ करोड़ रुपया खर्च किया जायगा। इस आयोजना में सिंचाई के लिये पृथक् रूप से ३८१ करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गई है।

(२) **सहकारी समितियों का संगठन**—भारत के किसान प्रायः अशिक्षित हैं, और साथ ही गरीब भी हैं। वे स्वयं अकेले रहते हुए खेती के नये व उन्नत साधनों का उपयोग नहीं कर सकते। पर यदि प्रत्येक गाँव में किसानों को सहकारी समितियों में संगठित कर दिया जाए, और खेती इन समितियों द्वारा सामूहिक रूप से की जाने लगे, तो खेती के उन अनेक साधनों को प्रयोग में लाया जा सकता है, जिनको अकेला किसान प्रयुक्त नहीं कर सकता। ये साधन निम्नलिखित हैं—(क) नये रासायनिक खादों का उपयोग, (ख) बढ़िया बीजों का उपयोग, (ग) जहाँ नहरों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था न हो, वहाँ ट्यूब वेल व साधारण कुएँ खोदकर या किसी जलाशय में वर्षा के पानी को एकत्र कर उससे सिंचाई का प्रबन्ध, (घ) जमीन को जोतने के लिये आवश्यकतानुसार ट्रैक्टर का उपयोग, फसल की नलाई व कटाई के लिये मशीनरी का प्रयोग, और पशुओं की नसल की उन्नति के लिये अच्छे बढ़िया साँडों की व्यवस्था। यदि भारत के किसानों को सहकारी समितियों में संगठित कर दिया जाए, तो वे सामूहिक रूप से इन सब साधनों को सुगमता के साथ उपयोग में ला सकते हैं, और इनके द्वारा खेती की पैदावार में बहुत वृद्धि कर सकते हैं।

सहकारी समितियों का संगठन एक अन्य दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है। किसान अपनी फसल की समुचित कीमत प्राप्त नहीं कर पाता। वह प्रायः ऋण के बोझ से दबा रहता है, और फसल तैयार होते ही उसे गाँव के महाजन को बेच देता है। वह न फसल को रोक कर रख सकता है, और न मण्डियों में बाजार भाव पर ही उसका विक्रय कर पाता है। यदि किसान सहकारी समितियों में संगठित हों, तो फसल का विक्रय भी इन समितियों द्वारा किया जा सकेगा, और किसान को अपनी फसल को समुचित मूल्य मिल सकेगा। उसे जिस कर्ज की जरूरत हो, उसे भी वह सहकारी समिति से कम सूद पर प्राप्त कर सकेगा।

(३) **खेती के नये व वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग**—जिस प्रकार आधुनिक युग में मनुष्य ने अन्य क्षेत्रों में बहुत उन्नति की है, वैसे ही कृषि के क्षेत्र में भी की है। पहले कारीगर अपने घर पर बैठकर छोटे-छोटे औजारों द्वारा आर्थिक उत्पादन किया करता था, पर वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जब बड़े कल-कारखानों का विकास हुआ, तो कुटीर उद्योगों का स्थान बड़े व्यवसायों ने ले लिया, जहाँ मनुष्य मशीनों द्वारा आर्थिक उत्पत्ति करता है। ठीक यही बात कृषि के सम्बन्ध में भी हुई है। खेती के लिये भी कितनी ही ऐसी नई मशीनों का आविष्कार हो गया है, जो बात-की-बात में जमीन को जोत देती हैं, ऊँची-नीची जमीन को समतल कर देती हैं, उनसे घास की जड़ों को निकाल देती हैं, कायदे से क्यारियाँ बना देती हैं और बीज बिखेर देती हैं। सिंचाई का काम भी मशीनों की सहायता से किया जाता है। कृमियों का नाश करने के लिये भी मशीनों द्वारा दवाई छिड़की जाती है। नलाई और फसल की कटाई का

काम भी मशीनें करती हैं। मशीन की मदद से जमीन गहरी जोती जा सकती है, जिस के कारण फसल बढ़िया होती है। फसलों को हेर-फेर से बोकर जमीन की उपज शक्ति को कायम रखने की भी कितनी ही वैज्ञानिक विधियाँ अब आविष्कृत हो गई हैं। रासायनिक खाद द्वारा जमीन की पैदावार को बहुत बढ़ाया जा सकता है। अभी भारत के बहुसंख्यक किसान खेती के लिये उन्हीं पुराने तरीकों को इस्तेमाल करते हैं, जो आधुनिक वैज्ञानिक युग से पहले प्रयुक्त हुआ करते थे। इसी कारण इस देश में खेती की पैदावार बहुत कम है। गरीबी और अशिक्षा के कारण भारत का किसान खेती के नये तरीकों को नहीं अपना पाता। अतः जहाँ उसे शिक्षित करने की आवश्यकता है, वहाँ साथ ही सहकारी समितियों द्वारा उसे वे सब सुविधाएँ प्राप्त करानी चाहियें, जिनसे कि वह खेती के नये तरीकों को प्रयोग में ला सके।

नई भूमि पर खेती की आवश्यकता—भारत की आबादी निरन्तर बढ़ रही है, और देहातों में बहुत से लोग बेकार हैं। अतः जहाँ एक ओर खेती की पैदावार को बढ़ाने की जरूरत है, वहाँ साथ ही यह भी आवश्यक है कि नई भूमि को खेती के काम में लाया जाए। भारत में बहुत सी ऐसी भूमि है, जो परती पड़ी हुई है। इस पर झाड़-झंकाड़ उगे हैं या नदियों में बाढ़ आ जाने के कारण यह भूमि खेती के अयोग्य हो गई है। स्वराज्य के बाद भारत के अनेक राज्यों की सरकारों ने ऐसी भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके लिये सरकार ने एक ट्रैक्टर विभाग खोला है, जिसका काम ही ऐसी जमीन को साफ कर खेती के योग्य बनाना है। १९४८ ई० के बाद ग्यारह लाख एकड़ से भी अधिक भूमि की सफाई कर उस पर खेती शुरू की जा चुकी है, और उसके कारण भारत में अनाज की पैदावार में अच्छी वृद्धि हुई है। पर अभी और भी बहुत-सी ऐसी भूमि शेष है, जिसे खेती के योग्य बनाया जा सकता है। अनेक स्थानों पर ऐसी भी उपजाऊ जमीनें खाली पड़ी हैं, जिन्हें जमींदारों व सम्पन्न लोगों ने आमोद-प्रमोद व शिकार आदि के लिये सुरक्षित रखा हुआ है। कतिपय जमींदार इस डर से भी अपनी जमीन को खेती के लिये किसानों को नहीं देते कि ऐसा करने से किसानों का उस जमीन पर अधिकार कायम हो जायगा। इस रीति से खाली पड़ी हुई जमीनों का भी खेती के लिये उपयोग करना आवश्यक है।

भारतीय किसान और उसकी समस्याएँ—भारत कृषिप्रधान देश है, और यहाँ की बहुसंख्यक जनता अपने निर्वाह के लिये खेती पर ही निर्भर करती है। अतः भारत की समस्या एक प्रकार से किसानों की ही समस्या है। यदि भारत का किसान आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाए, तो देश की आर्थिक उन्नति में विलम्ब नहीं होगा। किसी देश में व्यावसायिक उन्नति तभी हो सकती है, जब कि कल-कारखानों में तैयार हुए माल की कहीं बिक्री भी की जा सके। भारत में अभी कारखाने पर्याप्त मात्रा में नहीं खुले हैं, पर उनके मालिक अपने तैयार माल की बिक्री के लिये विदेशी बाजारों की खोज में तत्पर रहते हैं। कपड़े को ही लीजिये। अभी भारत की सब कपड़ा मीलों में कुल मिला कर ५०० करोड़ गज कपड़ा तैयार होता है। भारत की ३६ करोड़ आबादी के लिये यह कपड़ा १४ गज प्रति व्यक्ति पड़ता है। औसतन

प्रत्येक व्यक्ति की कपड़े की आवश्यकता ३५ गज प्रति वर्ष समझी जा सकती है। इस दृष्टि से भारत में तैयार होने वाला कपड़ा भारत की अपनी आवश्यकता से भी बहुत कम है। पर फिर भी भारत के मिल मालिक अफ्रीका, पश्चिमी एशिया आदि के देशों में अपने कपड़े को बेचने का यत्न करते हैं। इसका कारण यही है कि भारत के सर्वसाधारण लोगों की क्रय शक्ति (Purchasing Power) बहुत ही कम है। वे औसतन १४ गज कपड़ा भी प्रति वर्ष नहीं खरीद सकते। यदि भारत का किसान खुशहाल और सम्पन्न हो, तो कल-कारखानों में तैयार हुआ सब माल अपने ही देश में बिक सकता है। अतः भारत की व्यावसायिक उन्नति के लिये भी यह जरूरी है कि यहाँ का किसान सम्पन्न हो, और उसकी इतनी आमदनी हो कि उससे वह कपड़ा, मौजा, जूता आदि वस्तुओं को अच्छी मात्रा में क्रय कर सके।

भारतीय किसान की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(१) वह बहुत अधिक गरीब है। किसानों के पास इतनी जमीन नहीं है, जिस पर खेती करके वे अच्छी आमदनी प्राप्त कर सकें। उत्तरप्रदेश में ५५ प्रतिशत के लगभग किसान ऐसे हैं, जिनकी जमीन दस एकड़ से कम है। इतनी थोड़ी-सी जमीन पर खेती करके ये अपने व अपने परिवार का भली-भाँति निर्वाह नहीं कर सकते। इनके खेतों को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर नहीं कहा जा सकता। उत्तरप्रदेश में ग्रामों में निवास करने वाले ३३ प्रतिशत के लगभग व्यक्ति ऐसे हैं, जो अपनी आजीविका के लिये खेती पर तो निर्भर करते हैं, पर इनके पास अपनी जमीनें नहीं हैं। केवल १२ प्रतिशत परिवार ही वहाँ ऐसे हैं, जो खेती द्वारा अपने निर्वाह के लायक समुचित आमदनी प्राप्त कर लेते हैं। जो दशा उत्तरप्रदेश की है, वही प्रायः भारत के अन्य राज्यों की भी है।

खेती की पैदावार कम होने के कारण भी भारत का किसान बहुत गरीब है। गाँवों में रहने वाले भूमिविहीन लोग मजदूरी करके अपना निर्वाह करते हैं। इनको साल में २०० दिन से अधिक मजदूरी नहीं मिल पाती। इनकी मजदूरी की दर भी बहुत कम होती है। ये सब बातें किसानों की गरीबी के कारण हैं।

(२) भारत का किसान न केवल गरीब है, अपितु ऋणग्रस्त भी है। इसमें सन्देह नहीं कि महायुद्ध (१९३९-४५) के समय से अनाज के दाम में बहुत वृद्धि हुई है। इससे किसान की आर्थिक दशा के सुधरने में सहायता मिली है। जो किसान पहले कर्ज के बोझ से लदे हुए थे, वे खेती की पैदावार की कीमत बढ़ जाने से अपना कर्ज उतारने में समर्थ हो गये। पर यह कहना ठीक नहीं है कि अनाज की कीमत बढ़ जाने के कारण किसान की आर्थिक दशा सुधर गई है। जिनके पास जमीन अपनी आवश्यकता से अधिक है, जो अपनी जरूरत से अधिक अनाज पैदा करते हैं, उनकी दशा अब अवश्य उन्नत हो गई है, क्योंकि वे अपनी अतिरिक्त पैदावार को ऊँचे मूल्य पर बेचकर धन का संचय कर सकते हैं, या उससे आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ खरीद कर अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं। पर ऐसे किसानों की संख्या भारत में अधिक नहीं है। बहुसंख्यक किसान यहाँ ऐसे हैं, जो खेती द्वारा अपनी आव-

श्यकता का अन्न उत्पन्न नहीं कर सकते। अनाज की कीमत बढ़ जाने से इन्हें कोई लाभ नहीं हुआ है। ये अपने खेतों पर जो कुछ पैदा करते हैं, वह इनके अपने निर्वाह के लिये भी पर्याप्त नहीं होता। अतः ऊँची कीमत पर खेती की पैदावार को बेचकर धन कमाने का प्रश्न ही इनके लिये उत्पन्न नहीं होता। कीमतों की वृद्धि से इन किसानों को नुकसान ही पहुँचा है, क्योंकि अब इन्हें हल, बैल आदि के लिये पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य देना पड़ता है। देहातों में मजदूरी प्रायः अन्न के रूप में दी जाती है, अतः वहाँ के मजदूरों को भी कीमतें बढ़ने से कोई लाभ नहीं हुआ है। यदि कहीं मजदूरी नकद रुपयों में दी जाती है, तो रुपये की क्रय-शक्ति के घट जाने के कारण मजदूर की दशा में कोई सुधार नहीं हो सका है। यही कारण है कि अब भी देहातों के किसान ऋण के बोझ से मुक्त नहीं हो पाये हैं।

(३) किसान को साल में पूरे समय काम नहीं होता, वह साल में पाँच मास के लगभग बेकार रहता है। फसल के बोने के बाद कटाई तक उसे काफी फुरसत रहती है, और इस समय का उपयोग वह आर्थिक उत्पादन के लिए नहीं कर पाता। किसान लोग तो इन दिनों में कुछ न कुछ काम करते भी रहते हैं, पर खेती की मजदूरी पर आश्रित रहने वाला किसान इस काल में बिलकुल वेकार रहता है। पहले जब भारत में कुटीर-उद्योग उन्नत दशा में थे, तब देहातों के लोग अपने खाली समय का उपयोग इन उद्योगों में कर सकते थे। पर कुटीर उद्योगों के विनष्ट हो जाने के कारण देहात के लोगों का बहुत-सा समय व्यर्थ बेकारी में व्यतीत होता है, और उसका उपयोग वे आर्थिक उत्पादन के लिये नहीं कर पाते।

(४) जिन कारणों से भारत में खेती की पैदावार कम है, उनका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। उन्हें यहाँ फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं। खेती की पैदावर में वृद्धि करना भारत के किसान की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है।

(५) भारत का किसान कृषक होने के साथ-साथ पशुपालक भी है। भारत में खेती बैलों पर ही निर्भर करती है। किसान जहाँ अपने खेत से अन्न उत्पन्न करता है, वहाँ गाय-भैंस को भी पालता है, जिनसे उसे दूध-घी प्राप्त होता है। इन्हें पालकर ही वह बैलों को प्राप्त करता है, जिनके विना उसकी खेती नहीं चल सकती। पर भारत में पशुओं की दशा बहुत ही शोचनीय है। बहुसंख्यक गौएँ दिन भर में एक-डेढ़ सेर से अधिक दूध नहीं देतीं। उनके बछड़े भी कमजोर होते हैं। अतः पशुओं की नस्ल को सुधारना भी भारतीय किसान की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। यदि भारत में भी गौएँ दस-पन्द्रह सेर दूध देने लगें, जैसे कि अन्य देशों में होता है, और उनके बछड़े भी बल-वान और नीरोग हों, तो किसान की आर्थिक दशा में बहुत सुधार हो सकता है।

किसान की दशा को उन्नत करने के उपाय—खेती की पैदावार को बढ़ाने और कृषि-सुधार के जिन उपायों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सब किसानों की दशा को उन्नत करने में सहायक हो सकते हैं। साथ ही, उनकी दशा में सुधार करने के लिये कुछ अन्य उपाय भी हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) गाँवों में कुटीर-उद्योगों को विकसित करना बहुत आवश्यक है। उपभोग की कितनी ही ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन्हें देहात में कुटीर-उद्योगों द्वारा तैयार किया जा सकता है। सूत और कपड़ा इनमें मुख्य हैं। किसान और खेती-मजदूर अपने खाली समय में सूत कात सकते हैं, और कपड़ा बुन सकते हैं। इसीलिए महात्मा गांधी ने खादी आन्दोलन को प्रारम्भ कर जनता को इस बात के लिये प्रेरित किया था, कि वह हाथ से कती और हाथ से बुनी खादी का ही इस्तेमाल किया करे। अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत के ग्रामों में वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत दशा में था, और इस देश का कुटीर-उद्योग द्वारा तैयार हुआ कपड़ा यूरोप तक में बिकने के लिये जाया करता था। कल-कारखानों के विकास के कारण देहातों के इस गृह-उद्योग का ह्रास हो गया, और बहुत से लोग बेकार हो गये। इसी प्रकार चीनी की मिलों के कायम हो जाने से गुड़ और खाँड के व्यवसायों को बहुत धक्का लगा। तेल पेरने की मिलों द्वारा ग्रामों के तेलियों के व्यवसाय को नुकसान पहुँचा, और धान कूटने की मशीनों के लग जाने से यह काम भी देहातों में बन्द हो गया। अनेक विचारकों का मत है कि इन सब उद्योगों को फिर से प्रारम्भ कर गांव के लोगों को अतिरिक्त काम दिलाया जा सकता है, और इस प्रकार वे अपने खाली समय का समुचित उपयोग कर सकते हैं।

पर पूँजीवादी व्यवस्था आर्थिक प्रतिस्पर्धा (Competition) पर आश्रित होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि खादी मिल के बने कपड़े का कीमत में मुकाबिला नहीं कर सकती। यही बात तेल, खाँड, चावल आदि के बारे में भी है। इसीलिये अनेक विचारकों का मत है कि यदि गाँवों में बिजली सस्ते मूल्य पर उपलब्ध हो सके, और ऐसी छोटी-छोटी मशीनें वहाँ कायम की जाएँ, जो बिजली से चलें, तो कुटीर-उद्योग भी बड़े कारखानों का मुकाबिला कर सकेंगे। कुटीर-उद्योगों की समस्या पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर विचार करेंगे। पर यह तो स्पष्ट ही है कि गाँवों में उद्योगों का विकास होने से वहाँ के किसानों और खेती-मजदूरों की आर्थिक दशा उन्नत की जा सकती है।

(२) देहातों में जो लोग भूमिविहीन हैं, उन्हें भूमि दिलाकर उनकी दशा में बहुत सुधार किया जा सकता है। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से जमींदार वर्ग का अन्त अवश्य हो गया है, पर उससे भूमिविहीन लोगों की समस्या का हल नहीं हुआ। इस कारण अनेक लोगों का मत है कि देहातों में जमीन का पुनः वितरण किया जाना चाहिये, ताकि किसानों के पास अपनी आवश्यकता से अधिक जो जमीन है, वह भूमिविहीन लोगों को प्राप्त हो सके। इसी उद्देश्य से श्री आचार्य विनोबा भावे ने भूमिदान आन्दोलन का प्रारम्भ किया है। उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी हुई है, और बहुत सी भूमि उन्हें दान में प्राप्त हो चुकी है। श्री विनोबा जी का लक्ष्य ५ करोड़ एकड़ भूमिदान में प्राप्त करना है, जिसे भूमिविहीन लोगों में विभक्त कर वे उनकी समस्या को हल करना चाहते हैं। पर केवल दान की प्रेरणा द्वारा यह समस्या हल हो सकेगी, यह संदिग्ध है। प्रायः लोग निकम्मी जमीन को दान में दे देते हैं। पर भूदान आन्दोलन का यह लाभ अवश्य हुआ है कि देहातों में भूमि के पुनः वितरण

की आवश्यकता के सम्बन्ध में चेतना उत्पन्न हो गई है। कोई कानून तभी सफल हो सकता है, जब लोकमत उसके साथ में हो। भूदान आन्दोलन द्वारा अब सब लोग इस बात की आवश्यकता स्वीकार करने लगे हैं कि कृषि पर निर्भर रहने वाले देहात के लोगों को जमीन प्राप्त होनी चाहिये। सरकार अपने प्रयत्न से जिस जमीन को कृषि-योग्य बना रही है, उसे भूमिविहीन लोगों में बाँटकर वह इस समस्या को बहुत कुछ हल कर सकती है। साथ ही, कानून द्वारा यह व्यवस्था भी की जा सकती है कि किसी मनुष्य के पास इतनी भूमि न हो, जिस पर वह स्वयं खेती न करके दूसरों के श्रम से खेती कराने के लिये विवश हो। भूमि का पुनः वितरण बहुत उपयोगी है, चाहे उसे भूदान आन्दोलन द्वारा किया जाए, और चाहे कानून द्वारा।

(३) भूमि के पुनःवितरण से भूमिविहीन लोगों की दशा में अवश्य सुधार होगा, पर किसानों की आमदनी नहीं बढ़ पाएगी, क्योंकि किसानों के खेत तब भी आर्थिक दृष्टि से अपर्याप्त व छोटे-छोटे रहेंगे। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि किसानों को सहकारी समितियों में संगठित किया जाए, ताकि वे खेती के नये व उन्नत साधनों का उपयोग कर खेती की पैदावार को बढ़ा सकें, और इस प्रकार छोटे खेतों से ही अधिक पैदावार करके अपनी आमदनी में वृद्धि कर सकें।

(४) किसानों को साहूकारों व महाजनों के चंगुल से छुटकारा दिलाने के लिये भी यह आवश्यक है कि गाँवों में सहकारी समितियों व बैंकों की स्थापना की जाए, जिससे किसान कम सूद पर रुपया कर्ज प्राप्त कर सकें। ये सहकारी समितियाँ खेती की पैदावार को भी उचित मूल्य पर बिकवा सकेंगी, और अपने माल की बिक्री के लिये किसान को महाजन पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

(५) पशुओं की नसल में उन्नति करके भी किसानों की दशा को उन्नत किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, भारत का किसान कृषक होने के साथ पशुपालक भी है। दूध घी को अधिक मात्रा में उत्पन्न कर वह अपनी आमदनी में अच्छी वृद्धि कर सकता है। भारत में मांस भक्षण का प्रचार भी बढ़ रहा है। अतः जिन किसानों को मुर्गी, सुअर आदि को पालने में एतराज न हो, उन्हें इनको बड़ी संख्या में पालने के लिये भी प्रेरित किया जा सकता है।

(६) यदि देश की व्यावसायिक उन्नति पर समुचित ध्यान दिया जाए, नये कल-कारखाने कायम किये जाएँ, और भारत को कृषि प्रधान देश के स्थान पर व्यवसाय-प्रधान देश बनाने का यत्न किया जाए, तो बहुत से ग्रामवासियों को नये कारखानों में काम प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः, भारत में जनता खेती पर अपनी आजीविका के लिये निर्भर करती है, पर केवल खेती पर निर्भर रहने से भारत की निरन्तर बढ़ती हुई आबादी का निर्वाह चल सकना कठिन है। अतः यह भी जरूरी है कि भारत में व्यवसायों की निरन्तर उन्नति की जाए, ताकि जमीन पर बोझ में कमी हो सके।

(७) कुछ विचारकों का यह भी मत है कि सरकार को जमीन पर लगान न लेकर कृषि पर भी आय-टैक्स ही लेना चाहिये। आजकल उस किसान को भी

लगान देना पड़ता है, जिसके पास एक बीघा भी जमीन हो, और जिसकी आमदनी २०० रु० से भी कम हो। यदि वह व्यवस्था कर दी जाए, कि खेती द्वारा कम-से-कम ५०० रु० वार्षिक आमदनी होने पर ही किसान से टैक्स के रूप में लगान या मालगुजारी की वसूली होगी, तो भी छोटे किसानों की आर्थिक दशा के उन्नत होने में सहायता मिल सकती है।

ग्राम सुधार के लिये प्रयत्न—स्वतन्त्र भारत की सरकार भारत के ग्रामों की दशा को सुधारने के लिये अनेक प्रकार से प्रयत्न कर रही है। इसी उद्देश्य से सामुदायिक विकास योजनाओं (Community projects) का निर्माण किया गया है। इन योजनाओं का सूत्रपात २ अक्टूबर, १९५२ के दिन किया गया था। शुरू में यह योजना ५५ केन्द्रों में लागू की गई, जिनमें १८,००० गाँव शामिल थे। अब इन केन्द्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है, और प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्ण होने (१९५६) तक भारत में कुल मिलाकर १२०० के लगभग विकास योजना-केन्द्र स्थापित हो चुके थे, जिनमें कि १,५०,००० ग्राम शामिल थे। आशा की जाती है, कि शीघ्र ही सारे देश में इस प्रकार के विकास-केन्द्र स्थापित कर दिये जाएँगे।

इन केन्द्रों में ग्राम के युवकों को रचनात्मक कार्यों की ट्रेनिंग दी जाती है। ये रचनात्मक कार्य अनेक प्रकार के होते हैं, यथा देहात के लोगों को पढ़ना-लिखना सिखाना, पशुओं की चिकित्सा, गाँवों में सड़कें बनवाना या उनकी मरम्मत करवाना, पानी को निकालने के लिये नालियाँ बनवाना और नालों व नालियों पर पुलिया बनवाना, खेती की क्रियात्मक शिक्षा जिसमें खाद का उपयोग व अच्छे बीजों की पहचान भी शामिल है, स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का ज्ञान और मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था करना। इसी ढंग के अन्य अनेक कार्य भी इन ग्राम सेवकों को सिखाये जाते हैं।

ट्रेनिंग प्राप्त कर लेने के बाद ये ग्राम-सेवक अपने कार्य-क्षेत्र के गाँव में सड़कें तैयार कराते हैं, सड़कों की मरम्मत कराते हैं, कुओं के चारों ओर इस प्रकार के चबूतरे बनवाते हैं जिनसे गन्दा पानी कुएँ में न जाने पाए और पीने का पानी स्वच्छ रहे। ये लोगों को इस बात के लिये प्रेरित करते हैं कि वे खेती के लिये बढ़िया बीज और उत्तम खाद का प्रयोग करें, खाद के काम आने वाले गोबर व मल-मूत्र आदि को व्यर्थ न जाने दें, अपितु उसका उपयोग खाद बनाने के लिये करें। वे सब्जी बोने व बाग लगाने के लिये भी ग्रामवासियों को प्रेरित करते हैं, और गाँव की सफाई का प्रबन्ध करते हैं। जिन छोटे-छोटे उद्योगों को गाँवों में शुरू किया जा सके, उनको प्रारम्भ कराने का भी ये यत्न करते हैं, और बच्चों व प्रौढ़ लोगों को शिक्षित करने की भी व्यवस्था करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब कार्य अत्यन्त उपयोगी हैं, और इनसे ग्रामों की दशा में बहुत कुछ सुधार हो सकता है। ये सब कार्य ग्रामवासियों के सहयोग द्वारा ही किये जाते हैं और यह यत्न किया जाता है कि ये कार्य श्रमदान द्वारा सम्पन्न हों, इनके लिये रुपया खर्च करने की विशेष आवश्यकता न पड़े। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि ग्रामों की असली समस्या आर्थिक है। जब तक ग्राम-

वासियों की आर्थिक दशा उन्नत नहीं होगी, ये सब सुधार विशेष उपयोगी नहीं हो सकेंगे। अतः जिन उपायों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनका उपयोग कर किसानों व अन्य ग्रामवासियों की आर्थिक आमदनी को बढ़ाने का विशेष यत्न करना चाहिये।

अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत में गाँवों की दशा बहुत उत्तम थी। खेती के साथ-साथ वे शिल्प और व्यवसाय के भी केन्द्र थे। ये गाँव आर्थिक दृष्टि से प्रायः आत्म-निर्भर हुआ करते थे। प्रत्येक गाँव की अपनी पंचायत भी हुआ करती थी, जो किसानों से मालगुजारी एकत्र कर सरकार को प्रदान कर दिया करती थी। सरकारी टैक्स वसूल करने के लिये राजकर्मचारियों को गाँवों में हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। मुकदमों का फैसला पंचायत द्वारा किया जाता था। उस समय भारत के गाँव सुखी और सम्पन्न थे। अंग्रेजी शासन के समय गाँवों के शिल्प व उद्योग-धन्धों का नाश हुआ, जिसके कारण बहुत से ग्रामवासी बेकार हो गये। जमींदारी प्रथा के विकास के कारण किसानों की दशा भी खराब होने लगी, क्योंकि जमीदार लोग किसानों से मनमाना लगान वसूल कर सकते थे। गरीबी और बेकारी के कारण गांवों की दशा निरन्तर बिगड़ती गई। पंचायतों के नाश के कारण छोटे-छोटे मुकदमों के लिये भी ग्रामवासी अदालतों की शरण लेने को विवश हुए, जहाँ न्याय प्राप्त करने के लिये उन्हें बहुत धन खर्च करना पड़ता है। इन सब बातों का ही यह परिणाम है कि आज भारत के गाँव सुख, सन्तोष व सम्पन्नता के केन्द्र न होकर कष्ट, दैन्य और अभाव के गढ़ हैं। बीमारियों ने वहाँ घर किया हुआ है, जनता प्रायः अशिक्षित और कर्त्तव्य-विमुख है। इस दशा को सुधारने के लिये निम्नलिखित उपायों को प्रयुक्त करना चाहिये—

(१) ग्राम-पंचायतों का पुनः संगठन, जिससे ग्राम शासन की दृष्टि से छोटी-छोटी रिपब्लिकों का रूप धारण कर लें, और साधारण मुकदमों का फैसला भी गाँव में ही हो सके।

(२) भूमिविहीन खेती-मजदूरों को भूमि प्राप्त कराने की व्यवस्था, ताकि वे पेट भरने के लिये अन्न व जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की प्राप्ति कर सकें।

(३) कुटीर-उद्योगों का विकास, जिससे कि गाँव आर्थिक क्षेत्र में भी आत्म-निर्भर हो जाएँ, और ग्रामों के निवासी अपने अवकाश के समय का भली-भांति उपयोग कर सकें।

(४) खेती और कुटीर-उद्योगों के लिए नये व वैज्ञानिक साधनों का उपयोग, ताकि पैदावार में वृद्धि हो और ग्रामवासियों की आमदनी व क्रयशक्ति बढ़े।

(५) सहकारी समितियों का संगठन, जिससे कि किसान व शिल्पी उत्पादन के नये तरीकों को प्रयुक्त करने में समर्थ हों, और महाजनों द्वारा शोषित किये जाने से भी उनका बचाव हो।

(६) शिक्षा का प्रचार, ताकि ग्रामवासियों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान हो।

(७) सफाई और चिकित्सा की व्यवस्था, जिससे ग्रामों के लोगों को भी बीमारियों से बचने और रोगों का इलाज कराने का अवसर प्राप्त हो।

भारत में व्यवसायिक क्रान्ति

संसार के इतिहास में आधुनिक युग की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस काल में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसका उपयोग अपनी सुख-समृद्धि के लिए किया। अत्यन्त प्राचीन काल में मनुष्य अपने को प्रकृति के सम्मुख असहाय अनुभव किया करता था। जल, वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक तत्त्वों को वह आश्चर्य से देखता था, और उन्हें देवता मानकर उनकी पूजा करता था। पर धीरे-धीरे मनुष्य ने इन प्राकृतिक तत्त्वों और शक्तियों का उपयोग शुरू किया। अग्नि को वह भोजन पकाने के लिये काम में लाने लगा। जल और वायु की शक्ति से उसने चक्कियां चलाईं। अठारहवीं सदी में विज्ञान के नये आविष्कारों के कारण मनुष्य ने प्रकृति पर अद्भुत विजय प्राप्त करनी शुरू की, और भाप, बिजली, गैस आदि का उपयोग वह आर्थिक उत्पादन के लिए करने लगा। यही कारण है, जो पिछली दो सदियों में मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में इतनी अधिक उन्नति कर ली है।

भाप को मशीन चलाने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है, यह ज्ञान मनुष्य ने अठारहवीं सदी में प्राप्त किया था। यही ज्ञान व्यावसायिक क्रान्ति का कारण बना। भाप की शक्ति का प्रयोग कर मनुष्य ने इन्जन बनाने शुरू किये, जिनमें भारी मशीनों को चलाने की ताकत होती है। जो मशीनें घोड़े या बैलों की ताकत से नहीं चलाई जा सकतीं, उन्हें इन्जन सुगमता से चला लेता है। इसीलिए अठारहवीं सदी का अन्त होते-होते यूरोप में विशालकाय कारखाने खुलने शुरू हुए, जिनमें मशीनों द्वारा सब कार्य किया जाता है। अपने घर पर बैठकर स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले शिल्पियों का स्थान अब कारखानों ने ले लिया, जिनमें सैकड़ों मजदूर काम करते हैं। धीरे-धीरे रेल, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि का भी आविष्कार हुआ, जिसके कारण मनुष्य का आर्थिक जीवन बिलकुल बदल गया।

यूरोप में जो नई भौतिक उन्नति हो रही थी, उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भारत के प्रायः सभी प्रदेश अंग्रेजों के शासन में आ गये थे। अतः यह स्वाभाविक था कि अंग्रेज लोग इस विशाल देश पर अपने शासन को दृढ़ करने के लिए नये साधनों का प्रयोग करें। ये साधन निम्नलिखित थे—

(१) रेलवे—१८५३ ई० में भारत में रेलवे लाइनों का निर्माण शुरू किया गया। इसके लिए इंगलैण्ड में कम्पनियाँ कायम की गई, जिन्हें सरकार की ओर से यह गारण्टी दी गई कि यदि रेलवे का मुनाफा पाँच प्रतिशत से कम होगा, तो उसे भारत सरकार द्वार पूरा कर दिया जायगा। अपने रुपये के सूद व मुनाफे के बारे में निश्चित होकर इंगलैण्ड के पूँजीपतियों ने भारत की रेलवे कम्पनियों में दिल खोल

कर रुपया लगाया, और इस देश में रेलवे का विस्तार बहुत तेजी के साथ होने लगा।

(२) **सड़कें**—रेलवे लाइनों के साथ-साथ अंग्रेज सरकार ने पक्की सड़कों के निर्माण पर भी ध्यान दिया। भारत में सड़कें पहले भी विद्यमान थीं, और व्यापार व यातायात के लिए उनका उपयोग भी होता था। पर कंकड़ और तारकोल द्वारा जिस ढंग की नई सड़कें उन्नीसवीं सदी में भारत में बनीं, उनसे मोटर कार आदि यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले यानों के लिए भी उनका उपयोग सुगम हो गया।

(३) **जहाज व जलमार्ग**--रेलवे से पूर्व भारत में जलमार्गों का बहुत महत्व था। गंगा आदि बड़ी नदियों में चलने वाली नौकाओं से माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने में बहुत मदद मिलती थी। समुद्र-तट के साथ-साथ भी उस समय बहुत से भारतीय जहाज चला करते थे, और भारत के व्यापारी अपने जहाजों द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। रेलवे के कारण देश के अन्दर के जलमार्गों का महत्व कम हो गया, पर सामुद्रिक व्यापार व यातायात के लिए जहाजों का उपयोग जारी रहा। पर ये जहाज भी अब अंग्रेजों के स्वामित्व में आ गये। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विशालकाय जहाजों का भी उपयोग इस समय भारत में शुरू हुआ, पर ये सब अंग्रेजी कम्पनियों के ही स्वत्त्व में थे, भारतीयों के नहीं।

(४) **डाक, तार आदि**—अंग्रेजों ने भारत में डाक, तार, टेलीफोन आदि के विकास पर बहुत ध्यान दिया, क्योंकि देश पर शासन करने के लिए इनका बहुत उपयोग था। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में ही इन सब का विकास भारत में शुरू कर दिया गया था।

रेल, तार, डाक आदि के कारण भारत में भी उस नई वैज्ञानिक उन्नति का सूत्रपात हुआ, जिसका प्रारम्भ यूरोप में हुआ था।

भारत के व्यवसायों के प्रति अंग्रेजी सरकार की नीति—अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत यद्यपि कृषि प्रधान देश था, पर उसमें उद्योग-धन्धों का भी भली-भाँति विकास हो चुका था। शिल्प और व्यवसाय की दृष्टि से उस समय भारत अच्छी उन्नत दशा में था। इस देश में तैयार हुआ माल अच्छी बड़ी मात्रा में विदेशों में बिका करता था, और यूरोप के बाजारों में बंगाल में तैयार हुई बारीक मलमल की बहुत माँग थी। भारत के व्यापार से आकृष्ट होकर ही यूरोपियन लोगों ने यहाँ आना शुरू किया था। सतरहवीं सदी के अन्त तक अंग्रेज लोग उसी आमदनी से संतुष्ट थे, जो उन्हें भारत के माल को यूरोप में बेचकर प्राप्त होती थी। अठारहवीं सदी में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के अनेक प्रदेशों पर अपना शासन कायम कर लिया, तब भी उनका मुख्य व्यापार यही था कि भारत के कारीगरों से वस्त्र व अन्य माल तैयार करा के उसे यूरोप में बेचें और उससे मुनाफा कमाएँ। पर अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में जब इङ्गलैण्ड में व्यावसायिक क्रान्ति शुरू हुई, और यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले बड़े कारखानों में वहाँ वस्त्र आदि माल प्रचुर मात्रा में तैयार होने लगा, तो अंग्रेजों ने स्वाभाविक रूप से यह प्रयत्न किया कि वे अपने देश के कारखानों में तैयार हुए माल को भारत में बेचें, और अपने देश के कारखानों के लिए आवश्यक

कपास आदि कच्चे माल को सस्ती कीमत पर भारत से क्रय करें।

इस दशा में अंग्रेजों ने भारत के शिल्पों को नष्ट करने के लिए अनेक घृणित उपायों का प्रयोग किया। राजशक्ति का सहारा लेकर उन्होंने पूर्वी भारत के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने के लिए सब प्रकार के अनुचित उपायों को प्रयुक्त किया। उन्होंने कारीगरों के अँगूठों व हाथों को कटवाने तक में संकोच नहीं किया, ताकि ये कारीगर भविष्य में उत्पादन का कार्य कर ही न सकें। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारों के कारण भारत के हजारों कारीगर तबाह हो गये। भारत का तैयार माल इङ्गलैण्ड में न बिकने पाए, इस उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने भारत के रेशम और सूती कपड़े पर ८० प्रतिशत तक आयात-कर लगाया, और बाद में कानून द्वारा भारत के माल का इङ्गलैण्ड में आना ही रोक दिया। इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि भारत के कारीगर बेकार होने लगे, और इस देश के व्यवसाय व उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। भारत के बाजार इङ्गलैण्ड के कारखानों में तैयार हुए माल से भरने लग गये, और भारत केवल कृषि प्रधान देश ही रह गया। अंग्रेजों की नीति यही थी कि भारत केवल कृषि प्रधान देश बना रहे, ताकि यहाँ से कच्चे माल को सस्ती कीमत पर खरीदा जा सके। इसीलिये उन्होंने भारत की व्यावसायिक उन्नति पर जरा भी ध्यान नहीं दिया, और इस देश के पुराने कुटीर-उद्योग को नष्ट करने का पूरा-पूरा यत्न किया।

अंग्रेजी शासन की पहली एक सदी भारत के आर्थिक जीवन के लिए बहुत ही भयंकर थी। इस काल में सरकार 'मुक्तद्वार वाणिज्य' (Free Trade) की नीति का अनुसरण करती थी, जिसके कारण अंग्रेजी माल पर कोई भी आयात-कर नहीं लगाया जाता था। अभी भारत में नये ढंग के कल-कारखानों का विकास नहीं हुआ था। पुराने ढंग के कुटीर-उद्योग अभी थोड़े-बहुत विद्यमान थे, पर उनके लिए यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कारखानों का मुकाबिला कर सकना कठिन था। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी माल प्रचुर मात्रा में भारत आने लगा। १८५३ ई० में १२ करोड़ रुपये के लगभग का अंग्रेजी माल भारत में आया, जिसमें वस्त्र, लोहे, पीतल, ताम्बे आदि के बरतन, चूड़ियाँ, चाकू, कैंची, शीशा, कंघा आदि सब प्रकार का सामान था। यह सब माल इङ्गलैण्ड के उन कारखानों में तैयार हुआ था, जो यान्त्रिक शक्ति से चलते थे। इस विदेशी माल का मुकाबिला भारत के कारीगर नहीं कर सके, और उनका रोजगार नष्ट हो गया। १८५३ ई० के बाद इङ्गलैण्ड से आने वाले माल में निरन्तर वृद्धि होती गई।

कल-कारखानों के विकास का प्रारम्भ—यद्यपि अंग्रेजी सरकार की नीति यह थी कि भारत में नये ढंग के कल-कारखाने न खुलें और यह देश कृषि प्रधान ही बना रहे, पर उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में यहाँ कपड़े की अनेक मिलें कायम होनी शुरू हो गईं। इसका कारण यह था कि भारत में मजदूरी सस्ती थी, और अंग्रेज पूँजी-पति अनुभव करते थे कि भारत में कारखाने खोलकर वे यहां की सस्ती मजदूरी के कारण अधिक मुनाफा कमा सकते हैं। १८५४ ई० में बम्बई में कपड़े के कारखाने

खुलने प्रारम्भ हुए और धीरे-धीरे नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर आदि अन्यत्र भी कपड़े की मिलें कायम हुईं। ये सब मिलें अंग्रेज पूंजीपतियों द्वारा ही स्थापित की गई थीं। बंग-भंग के कारण १९०५ ई० में जब स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, तो अनेक धनी व सम्पन्न भारतीयों का ध्यान भी व्यावसायिक उन्नति की ओर आकृष्ट हुआ, और अनेक स्वदेशी मिलें भी खुलनी शुरू हुईं।

कपड़े की मिलों के अतिरिक्त भारत में जूट की मिलें भी कायम की गईं, और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में लोहे और फौलाद के कारखाने भी खोले गये। १९१४ ई० तक भारत में कपड़े की २६४ मिलें और जूट की ६४ मिलें कायम हो चुकी थीं। रेलवे और मिलों के लिए कोयले की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता थी, अतः कोयले की खानों का व्यवसाय भी अच्छी उन्नति पर था।

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) ने भारत की व्यावसायिक उन्नति में बहुत सहायता पहुँचाई। इस युद्ध के काल में अंग्रेजों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे ईराक, सीरिया आदि के रणक्षेत्रों में इंगलैंड से वस्त्र, जूते, अस्त्र-शस्त्र आदि भेज सकें। अतः उन्होंने भारत की व्यावसायिक उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दिया और महायुद्ध की परिस्थितियों के कारण भारत के कल-कारखानों ने अच्छी उन्नति की। अनेक नये कल-कारखाने भी इस काल में कायम हुए।

१९१८ के बाद भारत के व्यवसायों को जापान के मुकाबिले से बहुत नुकसान उठाना पड़ा, पर जब द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में जापान अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई में शामिल हुआ, और उसके विरुद्ध युद्ध को जारी रखने के लिए भारत को आधार बनाया गया, तो इस देश की व्यवसायिक उन्नति को बहुत सहायता मिली। इसी का यह परिणाम है कि अब भारत एशिया का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय-प्रधान देश बन गया है।

वर्तमान समय में बड़े व्यवसायों की दशा—पिछली एक सदी में भारत का जो व्यावसायिक विकास हुआ, और इस देश में जो नये ढंग के विशालकाय कारखाने खुले, उससे भारत बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों में अच्छी उन्नति कर गया है। इस समय विभिन्न व्यवसायों की वार्षिक पैदावार निम्नलिखित है—

व्यवसाय	१९५०-५१	१९५३-५४	१९५५-५६
इस्पात (टनों में)	११,००,०००	११,००,०००	१३,००,०००
सीमेन्ट (टनों में)	२७,००,०००	४०,००,०००	४८,००,०००
कपड़ा (गजों में)	३७१,८०,००,०००	४९०,६०,००,०००	५००,००,००,०००
चीनी (टनों में)	११,००,०००	११,००,०००	१४,००,०००
बाईसिकल	१,०१,०००	९८,०००	५००,०००
कोयला (टनों में)	३,२०,००,०००	३,६०,००,०००	३,७०,००,०००
लोहे की कच्ची धात (टनों में)	३०,००,०००	४०,००,०००	४०,००,०००
वेजीटेबल घी (टनों में)	१२,००,०००	१४,००,०००	१५,००,०००

इस तालिका से यह भली भाँति अन्दाज लगाया जा सकता है, कि भारत के विविध व्यवसाय इस समय तक कितनी उन्नति कर चुके हैं, और उनसे कितना माल प्रति वर्ष तैयार होता है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि बड़े व्यवसायों में (जिनमें सब प्रकार के कारखाने और खानें अन्तर्गत हैं) इस समय कुल मिलाकर ३८,००,००० व्यक्ति काम कर रहे हैं। भारत की कुल जनसंख्या की दृष्टि से वे एक प्रतिशत से कुछ ही अधिक हैं।

बड़े पैमाने के उद्योग व व्यवसाय दो प्रकार के हैं, एक वे जो उपभोग की वस्तुएँ तैयार करते हैं, और दूसरे वे जो उत्पादन के कार्य के लिए प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं (मशीनरी आदि) को तैयार करते हैं। कपड़ा, कागज, चीनी, जूते आदि ऐसा माल है, जो उपभोग के काम में आता है। लोहा, मशीनें, बिजली का सामान आदि ऐसा माल है, जिसका उपयोग आर्थिक उत्पादन के लिए किया जाता है। अभी तक भारत में बड़े पैमाने के जिन कल-कारखानों का विकास हुआ है, वे मुख्यतया उपभोग की वस्तुओं को ही तैयार करते हैं। लोहा, मशीनें, बिजली का सामान आदि अभी भारत में विदेशों से ही बड़े परिणाम में मँगाया जाता है।

छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धे—छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धे वे कहाते हैं, जिनमें कारीगर अपने घर पर रहकर अकेला व कुछ सहायकों की सहायता से आर्थिक उत्पादन का कार्य करता है, और जिनके लिये यान्त्रिक शक्ति का उपयोग नहीं किया जाता। इन्हीं को 'गृह व्यवसाय' (Home Industry) व 'कुटीर-उद्योग' (Cottage Industry) भी कहते हैं। अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत में ये उद्योग-धन्धे बहुत विकसित दशा में थे। अंग्रेजों की आर्थिक नीति और कल-कारखानों के विकास के कारण अब इनका बहुत ह्रास हो गया है। पर यह होते हुए भी इस समय भारत में १,१५,००,००० मनुष्य छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों में व्यापृत हैं। यह संख्या बहुत अधिक है। इससे यह भली भाँति समझा जा सकता है कि भारत के आर्थिक जीवन में छोटे पैमाने के गृह-उद्योगों का महत्व कितना अधिक है।

इन उद्योग-धन्धों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ऐसे धन्धे, जिनका सम्बन्ध खेती के साथ है, और जिन्हें किसान भी अपने खाली समय में कर सकते हैं; यथा टोकरी बनाना, रस्सियाँ बँटना, चटाई बुनना, गुड़ व खाँड बनाना, सूत कातना आदि; (२) ऐसे धन्धे, जिन्हें ग्रामों व नगरों के निवासी स्वतन्त्र व्यवसाय के रूप में करते हैं। यथा कपड़े बुनना, तेल पेरना, लुहार, बढ़ई व मोची का काम, कागज बनाना, चमड़ा कमाना और कालीन बुनना आदि।

गृह-उद्योगों द्वारा बेकारी की समस्या को अन्त करने का प्रश्न—उपभोग के काम में आने वाली जो वस्तुएँ बड़े पैमाने के कल-कारखानों द्वारा तैयार होती हैं, प्रायः उन सबको गृह-उद्योगों द्वारा भी तैयार किया जा सकता है। कपड़ा खड्डी पर भी बुना जाता है, और उसके लिये सूत चरखे द्वारा भी काता जा सकता है। इस समय भारत में १६० करोड़ गज कपड़ा खड्डियों पर बुना जाता है, जबकि मिलों

द्वारा तैयार होने वाले कपड़े की मात्रा ५,००,००,००,००० गज से अधिक नहीं है। दूसरे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि भारत में मिलों द्वारा जितना कपड़ा तैयार होता है, उसका एक तिहाई खड्डियों या गृह-उद्योग द्वारा तैयार होता है। मिलों के मुकाबिले में गृह-उद्योगों में लोगों को अधिक काम मिलता है। अतः अनेक विचारकों का सुझाव है कि भारत में कपड़े की मिलों का और अधिक विकास बन्द कर देना चाहिए, और कपड़े की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति गृह-उद्योगों द्वारा ही की जानी चाहिए। इससे गाँवों के निवासी अपने खाली समय में सूत कातने में प्रवृत्त होंगे और जुलाहों को काम मिलेगा। खादी बोर्ड ने अम्बर चरखे का नया आविष्कार कराया है, जिसकी कीमत केवल ८० रु० है। इस चरखे द्वारा एक व्यक्ति ८ घण्टे में ७००० गज के लगभग सूत कात सकता है। यदि इस चरखे का प्रचार किया जाए, तो गरीब स्त्रियाँ इस चरखे द्वारा अपने परिवार की आमदनी में अच्छी वृद्धि कर सकती है। खादी के प्रचार द्वारा ग्रामों की आर्थिक दशा में सुधार सम्भव है, क्योंकि यदि लोग खादी पहनने लगें, तो ग्रामों में रहने वाले बहुत से बेकार लोगों को काम मिल सकता है।

यही बात अन्य भी अनेक व्यवसायों के सम्बन्ध में सही है। चीनी की मिलों के खुल जाने के कारण देहातों के खाँड-उद्योग को बहुत नुकसान पहुँचा है। अच्छे किस्म की चीनी केवल मिलों द्वारा ही तैयार नहीं होती, अपितु खांडसारी द्वारा भी अच्छी सफेद चीनी तैयार की जा सकती है। खुली प्रतिस्पर्धा के रहते हुए भी उसकी अच्छी खपत है, और वह बाजार में मिलों की चीनी का मुकाबला करती है। तेल पेरने की मिलों से गाँव के कोल्हू को बहुत नुकसान पहुँचा है। तेली का कुटीर-उद्योग अब प्रायः खतम हो गया है। जब से मशीन द्वारा धान की कुटाई होने लगी है, हाथ का कुटा चावल मिलना कठिन हो गया है। यदि सरकार कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन दे, और मिलों के विकास के बजाय कुटीर-उद्योगों के विकास की नीति को अपनाए, तो जहाँ एक ओर लोगों को अधिक बढ़िया व स्वास्थ्यकर वस्तुएँ उपभोग के लिए प्राप्त होंगी, वहाँ साथ ही बहुत से बेकार लोगों को काम भी मिल सकेगा।

कुटीर-उद्योगों के विकास के लिए महात्मा गांधी की प्रेरणा से कांग्रेस के तत्वावधान में एक अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग-संघ की स्थापना की गई थी (१९३५ ई०)। इसका उद्देश्य ग्रामों के कुटीर-उद्योगों को संगठित करना है। इस संघ के अधीन अनेक प्रकार के उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—तेल पेरना, हाथ से कुटे चावलों का प्रयोग, चक्की से आटा पीसना, कागज बनाना, चाकू कैंची आदि बनाना, कम्बल दरी व गलीचे बनाना, शहद की मक्खियाँ पालना, चटाइयाँ बनाना, जूते व चमड़े का अन्य सामान बानाना आदि।

गृह-उद्योगों की समस्याएँ—यद्यपि कांग्रेस के प्रयत्न से भारत में गृह-उद्योगों के विकास में सहायता मिली है, और अनेक व्यक्ति इन उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए ही इन द्वारा तैयार माल का इस्तेमाल करते हैं, पर इन उद्योगों के सम्मुख अनेक

समस्याएँ हैं—

(१) गृह-उद्योगों द्वारा तैयार हुआ माल मँहगा पड़ता है। खुली प्रतिस्पर्धा में वह कारखानों द्वारा तैयार हुए माल का मुकाबिला नहीं कर सकता।

(२) गृह-उद्योगों में काम करने वाले कारीगर प्रायः अशिक्षित हैं। वे इस बीसवीं सदी में भी पुराने ढंग के औजारों का ही प्रयोग करते हैं। इसलिए न उनका माल अच्छा बनता है, और न उसमें कोई नवीनता ही होती है। यदि यह माल सस्ता भी हो, तो भी ग्राहक इसकी ओर आकृष्ट नहीं होता।

(३) गृह-उद्योगों के कारीगर संगठित नहीं है। इसीलिए न वे कच्चे माल को समुचित कीमत पर प्राप्त कर सकते हैं, और न अपने तैयार माल को बाजार में अच्छी कीमत पर बेच ही सकते हैं। माल के प्रचार के तरीकों से भी वे परिचित नहीं होते, इसीलिए उनके माल की माँग भी नहीं बढ़ने पाती।

(४) गृह-उद्योगों के कारीगर प्रायः गरीब होते हैं। वे अपने कार्य के लिए महाजनों से रुपया उधार लेने के लिए विवश होते हैं, और उस पर भारी सूद देते हैं। इससे उनका उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है, और जीवन-भर मेहनत करके भी वे ऋण से मुक्त नहीं होने पाते।

छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों की उन्नति के उपाय—गृह-उद्योगों की जिन चार समस्याओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनको हल किये बिना छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धे उन्नत नहीं हो सकते। इनको हल करने के उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) कारीगरों को शिल्प सम्बन्धी नई शिक्षा दी जानी चाहिए। आधुनिक युग में विज्ञान के आविष्कारों द्वारा जिस प्रकार बड़े कल-कारखानों का विकास हुआ है, वैसे ही छोटे उद्योग-धन्धों के लिए भी कितने ही नए तरीके व उपकरण बने हैं। जापान, चीन आदि देशों के कारीगर भारत के कारीगरों की अपेक्षा अधिक चतुर हैं। जापान से जो अनेक प्रकार का फैन्सी माल भारत में बिकने के लिए आता है, उसकी अनेक वस्तुएँ गृह-उद्योगों द्वारा ही बनायी जाती हैं। भारत में भी कारीगरों को टेक्निकल शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए, ताकि वे नई डिजाइन की बढ़िया चीजें तैयार कर सकें।

(२) गृह-उद्योगों के लिए कितनी ही छोटी-छोटी मशीनों का आविष्कार यूरोप, जापान आदि में हुआ है, जिनका उपयोग कर इन देशों के कारीगर कम मेहनत से बढ़िया माल तैयार करते हैं। भारत में भी इस मशीनरी को मंगाना चाहिए और कारीगरों को इसके प्रयोग की शिक्षा दी जानी चाहिए। उचित तो यह है कि ये मशीनें भारत में ही तैयार की जाएँ।

(३) यदि गाँवों में बिजली सस्ते मूल्य पर प्राप्त हो सके, तो कारीगर लोग बिजली की शक्ति से अपना काम कर सकते हैं। बिजली से चलने वाली खड्डियों, चक्कियों, कोल्हुओं आदि से गाँव के कारीगर बहुत लाभ उठा सकते हैं।

(४) गृह-उद्योगों को भी सहकारी समितियों में संगठित करना आवश्यक है। इन समितियों द्वारा कारीगर लोग सामूहिक ढंग से कच्चे माल को समुचित मूल्य पर

खरीद सकेंगे, और अपने तैयार माल की बिक्री भी सहकारी समितियों द्वारा करके उसकी अच्छी कीमत प्राप्त कर सकेंगे। पूँजी के रूप में यदि कारीगरों को कर्ज की जरूरत हो, तो उसे भी इन समितियों द्वारा उचित व्याज पर प्राप्त किया जा सकेगा। सहकारी समितियों की ओर से बड़े नगरों में गृह-उद्योगों द्वारा तैयार हुए माल के प्रदर्शन, प्रचार और बिक्री का भी प्रबन्ध किया जा सकता है।

गृह-उद्योग बनाम बड़े कारखाने—इसमें सन्देह नहीं कि इन उपायों का अवलम्बन करने से गृह-उद्योगों की उन्नति में बहुत सहायता मिल सकती है। पर प्रश्न यह है कि क्या गृह-उद्योग बड़े पैमाने के कल-कारखानों का मुकाबिला कर सकते हैं? बड़े कल-कारखानों में तैयार माल का उत्पादन-व्यय कम पड़ता है, इसीलिए वह बाजार में सस्ता बिकता है। उस माल की किस्म भी बढ़िया होती है। इसीलिए सर्वसाधारण लोग खादी के मुकाबिले में मिलों के कपड़े को और देसी खाँड के मुकाबिले में मिलों की चीनी को पसन्द करते हैं। यदि खुली प्रतिस्पर्धा में गृह-उद्योग बड़े कल-कारखानों का मुकाबिला नहीं कर सकते, तो उन्हें प्रोत्साहित करना बेकार है। इससे तो अच्छा यह है कि अमेरिका आदि देशों के समान भारत में भी बड़े व्यवसायों को ही उन्नत किया जाय, और उन्हीं के द्वारा देश की गरीबी व बेकारी की समस्या को हल किया जाय।

बड़े कल-कारखानों के अनेक दोष अवश्य हैं। उनमें कारीगर की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, और उसकी स्थिति मशीन के एक छोटे-से पुरजे के समान हो जाती है। कारखानों में काम करने वाले मजदूर बड़ी संख्या में किसी नगर में निवास करने के लिये विवश होते हैं, जहां मकान बहुत मँहगे होते हैं। इसलिये ये मजदूर छोटी-छोटी कोठरियों में रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, और शुद्ध हवा व रोशनी इन्हें उपलब्ध नहीं होती। अपने रोजगार के लिये ये पूर्णतया मिल-मालिकों के वशवर्ती हो जाते हैं, जो इनका शोषण कर स्वयं तो अमीर बन जाते हैं, पर मजदूरों को कम से कम वेतन देते हैं। बड़े कारखानों के विकास के कारण गरीब-अमीर का भेद बढ़ता जाता है। कुछ थोड़े से लोग शोषक बन जाते हैं, और मजदूर वर्ग उनसे शोषित किया जाता है।

पर फैक्टरी कानूनों द्वारा ये सब दोष अब बहुत कुछ दूर कर दिये गये हैं। प्रायः सभी सभ्य देशों में अब ऐसे कानून बन चुके हैं, जिनके द्वारा मजदूरों का न्यूनतम वेतन, काम करने का अधिकतम समय, उनके कार्य करने की परिस्थितियाँ आदि निश्चित कर दी गई हैं। उनके स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा आदि का भी मिल-मालिकों को प्रबन्ध करना पड़ता है। समाजवादी विचारों के प्रसार के कारण अब मिल-मालिकों के लिये मजदूरों का शोषण कर सकना सुगम नहीं रह गया है। कुछ देशों में तो मजदूरों को भी कारखाने के मुनाफे में हिस्सा दिया जाता है, और कहीं-कहीं तो कारखानों के प्रबन्ध में भी मजदूर लोग हाथ बटाते हैं। इसीलिये वर्तमान समय में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की आर्थिक स्थिति व रहन-सहन का ढंग गाँव के कारीगरों के मुकाबिले में बहुत अच्छा है।

इन बातों को दृष्टि में रखकर भारत में भी बहुत से विचारक ऐसे हैं, जो गृह-उद्योगों के विकास को बहुत उपयोगी नहीं मानते। उनका मत है कि भारत को अपनी सब शक्ति बड़े कल-कारखानों के विकास में ही लगानी चाहिये। पर इस मत के विरुद्ध सबसे बड़ी युक्ति यह है कि बड़े कारखानों की स्थापना करके भारत से बेकारी की समस्या को हल नहीं किया जा सकता। भारत में इस समय सवा करोड़ से भी अधिक व्यक्ति ऐसे हैं, जो पूर्णतया बेकार हैं। आंशिक रूप से बेकार लोगों की संख्या तो और भी अधिक है। इन लोगों को रोजगार देना गृह-उद्योगों द्वारा ही सम्भव है। अतः यह जरूरी है कि उपभोग के काम में आने वाली वस्तुओं का उत्पादन गृह-उद्योगों द्वारा ही किया जाए, ताकि भारत के करोड़ों बेकार लोगों को कार्य प्राप्त हो सके।

पर इसके लिये आवश्यक होगा कि गृह-उद्योगों द्वारा तैयार माल की खपत की भी समुचित व्यवस्था की जाए। इसके दो उपाय हैं—

(१) मिलों और गृह-उद्योगों द्वारा जो भी माल तैयार किया जाए, उसे सरकार खरीद ले। इस माल को क्रय करते हुए उत्पादकों को इतनी कीमत दे दी जाए, जिससे मजदूरों व कारीगरों को समुचित मजदूरी के अतिरिक्त पूँजी पर सूद व मुनाफा भी उचित मात्रा में प्राप्त हो जाए। सरकार सब माल की बिक्री अपनी ओर से करे। मान लीजिये कि मिल के कपड़े को सरकार बारह आने गज के भाव से खरीदती है, और खादी को एक रुपये गज के भाव से, क्योंकि खादी का उत्पत्ति-व्यय मिल के कपड़े से अधिक पड़ता है। पर ग्राहक लोग खादी के मुकाबिले में मिल के कपड़े को अधिक पसन्द करते हैं। अतः सरकार को चाहिये कि वह मिल के कपड़े को अठारह आने या सवा रुपया गज के भाव से बेचे। क्योंकि खादी कम पसन्द की जाती है, अतः उसे तेरह या चौदह आने गज के भाव से बेचा जा सकता है। खादी की बिक्री से सरकार को जो नुकसान होगा, उसकी पूर्ति मिल के कपड़े को बेचने के मुनाफे से पूर्ण हो जायगी। इसी तरीके को चीनी और खाँड, फैक्टरी के जूतों और मोचियों द्वारा बनाए गये जूतों आदि के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

(२) सरकार गृह-उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करे, ताकि उनका माल बाजार में सस्ता बिक सके। इस आर्थिक सहायता के लिये जिस धन की जरूरत हो, उसे बड़े कारखानों पर विशेष टैक्स लगा कर वसूल कर लिया जाए। भारत में सरकार इस पद्धति को अपना रही है। खादी की बिक्री पर तीन आना प्रति रुपया कीमत में छूट दी जाती है, और यह रकम सरकार द्वारा आर्थिक सहायता के रूप में प्रदान की जाती है। इसके लिये जो खर्च हो, उसे वसूल करने के लिये कपड़े की मिलों द्वारा तैयार हुए वस्त्र पर टैक्स लगाया गया है। इस पद्धति से अब खादी का दाम बहुत आकर्षक हो गया है, और बहुत से ऐसे लोग भी जो खादी में विश्वास नहीं रखते, अब खादी खरीदने लग गये हैं। अनेक विचारकों का मत है कि सरकार को मिलों द्वारा तैयार होने वाली चीनी, कागज, तेल, चावल आदि पर भी इसी ढंग से टैक्स लगाना चाहये और उससे प्राप्त धन का उपयोग गृह-उद्योगों की कीमत में

छूट देने के किये करना चाहिये।

इन उपायों का प्रयोग कर भारत में गृह-उद्योगों को बहुत उन्नत किया जा सकता है। इससे जहाँ करोड़ों बेकारों को काम मिलेगा, वहाँ छोटे-छोटे गाँवों व नगरों में निवास करते हुए कारीगर लोग स्वतन्त्र, सुखी व सम्पन्न जीवन भी बिता सकेंगे।

भारत के नगरों की समस्याएँ

गाँवों की समस्या पर हम इसी अध्याय में ऊपर विचार कर चुके हैं। उनकी समस्याओं का मुख्य हल यही है कि खेती की पैदावार में वृद्धि की जाए और गृह-उद्योगों का विकास हो। पर गाँवों के समान नगरों की भी अनेक समस्याएँ हैं। आधुनिक युग में भारत में नगरों का विकास बड़ी तेजी के साथ हो रहा है। बड़े कल-कारखाने प्राय: नगरों में ही खोले जाते हैं। उनमें कार्य करने के लिये लाखों ग्राम निवासी अपने घरों को छोड़कर शहरों में आ बसते हैं। रेल, तार, सड़क, डाक आदि की उन्नति के कारण भारत में व्यापार का विकास भी तेजी के साथ हो रहा है। व्यापार के केन्द्र नगर ही होते हैं। शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधाओं से आकृष्ट होकर भी बहुत से लोग देहात का निवास छोड़कर शहरों में बसने के लिए तत्पर हैं। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भारत के नगर सुख व सम्पन्नता से परिपूर्ण हैं, और उनकी कोई भी समस्याएँ नहीं हैं। नगरों की मुख्य समस्याएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) भारत के बहुसंख्यक नगरों की आबादी बहुत सघन है। वहाँ मकान कम हैं, उनकी माँग अधिक है। इसलिये उनके किराये बहुत बढ़ गये हैं। दिल्ली जैसे नगर में तो एक कमरा चालीस व पचास रुपये मासिक से कम में प्राप्त नहीं किया जा सकता। लखनऊ, कानपुर, पटना आदि में भी किराये बहुत अधिक हैं। इस कारण बहुत से मध्य श्रेणी के परिवारों को एक-दो कमरों के फ्लैट में रहने के लिये विवश होना पड़ता है। मजदूरों की तो नगरों में और भी दुर्दशा है। वे बस्तियों (Slums) में निवास करते हैं, जिनमें न रोशनी की सुविधा होती है, और न शुद्ध हवा की।

(२) नगरों में भी बेकारी बहुत अधिक है। लखनऊ में १०.४ प्रतिशत व्यक्ति बेकार हैं, यह ऊपर लिखा जा चुका है। यही दशा अन्य नगरों की भी है।

(३) बहुसंख्यक नगरों में सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा का भी समुचित प्रबन्ध नहीं है। वहाँ दूध, घी, तेल आदि पुष्टिकर वस्तुओं का शुद्ध रूप में प्राप्त कर सकना भी अत्यन्त कठिन है।

भारत के आर्थिक जीवन को उन्नत करने के लिये इन समस्याओं को हल करना जरूरी है। नगरों में नई इमारतों के निर्माण पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। बड़े नगरों के समीप खुले व हवादार उपनगरों (Suburbs) का विकास बहुत उपयोगी है। पर ये उपनगर तभी आबाद हो सकते हैं, जब कि याता-

यात के साधन सुलभ व सस्ते हों। मजदूरों के निवास के लिये कारखानों के मालिकों को हवादार व बढ़िया मकान बनाने चाहियें, जिनका किराया बहुत कम हो। उचित तो यह है कि जिन कारखानों का बड़े नगरों में होना आवश्यक न हो, उन्हें देहातों में खोला जाए, जिससे बड़े नगरों की आबादी में अनावश्यक रूप से वृद्धि न हो। नगरों की सफाई व स्वास्थ्य रक्षा पर भी बहुत अधिक ध्यान देना जरूरी है। भोजन के पदार्थ शुद्ध रूप से बिक सकें, इसका सरकार को विशेष प्रबन्ध करना चाहिये।

बेकारी की समस्या बहुत विकट है। उसके लिये देश का औद्योगिक विकास बहुत आवश्यक है। स्वतन्त्र भारत की सरकार भारत के आर्थिक जीवन की इन सब समस्याओं को हल करने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयत्न कर रही है। इसी के लिये उसने पंचवर्षीय आयोजनाओं का निर्माण किया है। इन आयोजनाओं पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) भारत में खेती की उन्नति के लिये आप किन उपायों का सुझाव देंगे? (यू० पी० १९५५)

(२) भारत का ग्राम जीवन किस प्रकार अधिक सुखी बनाया जा सकता है? (यू० पी० १९५४)

(३) निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिये—

जमींदारी उन्मूलन, भारत में बेकारी, सहकारी साख समितियां, भारत में निर्धनता के कारण। (यू० पी० १९५३, १९५४, १९५५)

(४) देश में खाद्य सामग्री की वर्तमान कमी के क्या कारण हैं? उपाय बताइये जिनसे देश अपनी इस कमी को स्वयं पूरा कर सके। (यू० पी० १९५२)

(५) आपकी सम्मति में भारतीय किसानों की निर्धनता के क्या कारण हैं? उनकी दशा के सुधार के लिये आप क्या सुझाव देंगे। (यू० पी० १९५२)

(६) भारत की मुख्य आर्थिक समस्याएँ कौनसी हैं?

(७) भारत में बेकारी को दूर करने के उपायों का वर्णन कीजिये।

(८) भारत में व्यावसायिक क्रान्ति किस प्रकार हुई? भारत के व्यवसायों के प्रति अंग्रेजी सरकार की क्या नीति थी?

(९) भारत में कल-कारखानों का विकास किस प्रकार हुआ? इनका भारतीय जनता के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा? (मध्यभारत, १९५३)

(१०) भारत की सर्वसाधारण जनता की गरीबी स्वतःसिद्ध है। क्यों? इसे दूर करने के क्या उपाय आप सुझा सकते हैं? (राजपूताना, १९५३)

(११) क्या बेकारी को दूर करने के लिये छोटे पैमाने के गृह-उद्योगों को आप उपयोगी समझते हैं? गृह उद्योगों की उन्नति के लिये आप क्या उपाय आवश्यक मानते हैं?

छब्बीसवाँ अध्याय

आर्थिक उन्नति के लिये आयोजनाएँ

आयोजना की आवश्यकता

जो देश आर्थिक उन्नति में पिछड़े हुए हैं, वे उन्नति के मार्ग पर तभी तेज़ी के साथ अग्रसर हो सकते हैं, जबकि वे कृषि, उद्योग-धन्धों और कल-कारखानों के विकास के लिए एक निश्चित आयोजना (Plan) बनाएँ, और उसी के अनुसार कार्य करें। आर्थिक उन्नति के महत्त्वपूर्ण कार्य को कतिपय बड़े व सम्पन्न पूँजीपतियों के हाथों में छोड़कर ही कोई देश अपना विकास नहीं कर सकता। यह सही है कि पूँजीपति व धनी लोग कारखाने खोलते हैं, और उनके द्वारा देश की आर्थिक उन्नति में सहायता भी मिलती है। पर कोई पूँजीपति उसी व्यवसाय में पूँजी लगायगा, जिससे उसे मुनाफे की आशा होगी। वह अपना सब कारोबार मुनाफे के उद्देश्य से ही करता है। इसीलिए वह अनेक ऐसे कारोबारों में भी रुपया लगाता है, जिनका देश की आर्थिक उन्नति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कितने ही पूँजीपति विदेशी कम्पनियों में शेयर खरीदते हैं या किसी अन्य देश में जायदाद आदि बनाते हैं। इससे अपने देश की पूँजी दूसरे देश में पहुँच जाती है, यद्यपि इससे उस पूँजीपति को व्यक्तिगत लाभ अवश्य होता है। कितने ही धनी लोन सट्टा करते हैं, घुड़दौड़ आदि में बाज़ी लगाते हैं। इन कार्यों में खर्च किया गया धन देश की आर्थिक उन्नति में सहायक नहीं होता। बहुधा ऐसा भी होता है कि किसी कारोबार में लाभ देखकर बहुत से पूँजीपति उसी में अपनी पूँजी लगाने लग जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि एक खास प्रकार के माल का उत्पादन आवश्यकता से अधिक मात्रा में होने लग जाता है, और उससे देश व व्यक्ति दोनों को हानि होती है। देश के आर्थिक विकास के लिए उपयोगी अनेक धन्धों का विकास भी नहीं होने पाता, क्योंकि पूँजीपति लोग उनमें रुपया लगाना लाभदायक नहीं समझते।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर आजकल के राज्यों में यह प्रवृत्ति है कि वे अपने आर्थिक विकास के लिये आयोजनाएँ बनाएँ, और उन्हीं के अनुसार कार्य करें। आयोजना बनाकर आर्थिक उन्नति करने का सूत्रपात सबसे पहले रूस में किया गया था, जहाँ की कम्युनिस्ट सरकार ने १९२८ ई० में अपनी पहली पंचवर्षीय आयोजना बनाई थी। पहली आयोजना के पूर्ण होने पर अनेक अन्य पंचवर्षीय आयोजनाएँ बनाई गईं, और इनके कारण रूस की आर्थिक उन्नति बहुत तेजी के साथ हुई। अन्य अनेक देशों ने रूस का अनुसरण किया। जिन राज्यों में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित है, वे रूस के समान ही पंचवर्षीय आयोजनाएँ बनाकर अपनी उन्नति में तत्पर हैं।

चीन भी अपनी आयोजना का मार्ग अपनाकर आर्थिक क्षेत्र में बहुत द्रुत-गति से उन्नति कर रहा है।

आयोजनाओं द्वारा राष्ट्रीय आमदनी में कितनी तेजी से वृद्धि हो जाती है, इसका अन्दाज निम्नलिखित तालिका से किया जा सकता है। जिन देशों ने आयोजना का मार्ग नहीं अपनाया, उनमें राष्ट्रीय आमदनी में वृद्धि निम्नलिखित प्रकार से हुई—

देश	समय	आमदनी में वृद्धि का वार्षिक अनुपात
संयुक्त राज्य अमेरिका	१८६६-१९२९	३.२ प्रतिशत
	१९२९-१९५०	३ प्रतिशत
कनाडा	१९०३-१९२९	२.६ प्रतिशत
स्विट्ज़रलैण्ड	१८९०-१९२९	२.७ प्रतिशत
जर्मनी	१८७६-१९१३	२.८ प्रतिशत
आस्ट्रेलिया	१९०१-१९४८	२.५ प्रतिशत

इसके मुकाबिले में आयोजनाएँ बनाकर आर्थिक उन्नति करने वाले देशों में राष्ट्रीय आमदनी की वृद्धि निम्नलिखित प्रकार से हुई—

देश	समय	आमदनी में वृद्धि का वार्षिक अनुपात
रूस	१९२८-१९३७	१६ प्रतिशत
	१९४९-१९५३	१५ प्रतिशत
पोलैण्ड	१९४७-१९५३	१४.५ प्रतिशत
चेकोस्लोवाकिया	१९४८-१९५३	१२ प्रतिशत
हंगरी	१९५२-१९५३	१२ प्रतिशत
बलगारिया	१९५२-१९५३	१६ प्रतिशत

इस तालिका का अध्ययन करने के बाद इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आर्थिक उन्नति में पिछड़े हुए देशों के लिए आयोजनाएँ बनाना बहुत उपयोगी होता है। १९१७ ई० में जब रूस में राज्य-क्रान्ति हुई, तो वह देश आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। तब रूस कृषिप्रधान देश था, और उसमें कल-कारखानों का विकास बहुत कम हुआ था। पर आज रूस व्यावसायिक दृष्टि से संसार के सबसे उन्नत देशों में से एक है। यह पंचवर्षीय आयोजनाओं का ही परिणाम है। पूर्वी यूरोप के हंगरी और बल्गारिया जैसे देश भी कल-कारखानों में बहुत पिछड़े हुए थे। आयोजना के मार्ग को अपनाकर वे अब बड़ी तेजी के साथ उन्नति कर रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि आयोजना द्वारा पूँजीपतियों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अनेक प्रकार से नियन्त्रित किया जाता है। सरकार ही यह निश्चित करती है कि आर्थिक उत्पादन के कौन से कार्य सरकारी क्षेत्र (Public sector) में रहें, और कौन से निजी क्षेत्र (Private sector) में। इसके कारण पूँजीपति लोग जिस कारोबार

में चाहें, रुपया नहीं लगा सकते। साथ ही, सरकार द्वारा ही यह निर्धारित होता है कि किस व्यवसाय व उद्योग-धन्धे के विकास को प्राथमिकता दी जाए, और किस कारोबार मे कितनी पूँजी लगाई जाए। वस्तुओं की कीमतों को भी सरकार द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, और बहुधा इस बात की भी आवश्यकता होती है कि उपभोग की वस्तुओं का राशन किया जाए। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के ये सब नियन्त्रण शुरू-शुरू में कुछ दुखदायी अवश्य प्रतीत होते हैं, पर इनके बिना देश का आर्थिक विकास सम्भव नहीं होता। देश की उन्नति के लिए यदि पूँजीपतियों और जनता की स्वतन्त्रता को कुछ हद तक मर्यादित किया जाए, तो उसे अनुचित नहीं समझना चाहिये, क्योंकि अन्ततोगत्वा उससे सबको लाभ ही पहुँचता है।

भारत की आर्थिक उन्नति के लिए आयोजनाओं की बहुत अधिक आवश्यकता है, क्योंकि यह देश कृषि, व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रों में बहुत पिछड़ा हुआ है। डेढ़ सदी के विदेशी शासन के कारण भारत आर्थिक दृष्टि से बहुत शोचनीय दशा को प्राप्त हो गया है। यद्यपि भारत में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित नहीं है, और यहाँ का शासन लोकतन्त्र है, पर लोकतन्त्र उपायों द्वारा भी कोई देश आयोजना के मार्ग को अपना सकता है। भारत ने यही किया है। १९५१ ई० में यहाँ पहली पंचवर्षीय आयोजना लागू की गई थी, और उसकी समाप्ति पर १९५६ में दूसरी पंचवर्षीय आयोजना प्रारम्भ की जा चुकी है। इनसे भारत की आर्थिक उन्नति में बहुत सहायता मिलेगी, यह बात निर्विवाद है।

पहली पंचवर्षीय आयोजना (१९५१-५६)

आयोजना के उद्देश्य—पहली पंचवर्षीय आयोजना के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये गए थे—

(१) भारत की जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाया जाए, ताकि लोगों को अधिक सुखी और सम्पन्न जीवन बिताने का अवसर मिले।

(२) इसके लिए आवश्यक है कि भारत में आर्थिक उत्पादन के जो भी साधन विद्यमान हैं, उनका भली भाँति उपयोग किया जाए। ये साधन दो प्रकार के हैं, प्राकृतिक और मानव श्रम। प्रकृति ने भारत को जो साधन प्रदान किये हैं, मानव श्रम द्वारा उनका पूर्ण रूप से उपयोग कर देश की सुख-समृद्धि व सम्पत्ति को बढ़ाया जाए।

(३) देश में जो आर्थिक विषमता विद्यमान है, उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाए, जिससे कि लोगों की आमदनी और धन में समानता आए। केवल आर्थिक उत्पादन की वृद्धि से भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि उसका परिणाम यह भी हो सकता है कि बढ़ी हुई सम्पत्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के पास संचित हो जाए और सर्वसाधारण जनता पूर्ववत् ही गरीब बनी रहे। साथ ही, केवल इस बात से भी काम नहीं चल सकता कि देश की वर्तमान सम्पत्ति को सब लोगों में बराबर-बराबर बाँट दिया जाए, क्योंकि इससे कुछ धनी लोग तो अवश्य गरीब हो जायँगे,

पर गरीबों की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं होने पायगा। अतः आवश्यक यह है कि सम्पत्ति के उत्पादन में वृद्धि करने का यत्न किया जाए, और साथ ही इस बात को भी ध्यान में रखा जाए कि सम्पत्ति का वितरण इस ढंग से हो, जिसका परिणाम विषमता को दूर करना हो।

आयोजना का कार्यक्रम—भारत कृषिप्रधान देश है, और यहाँ की जनता का बड़ा भाग (७० प्रतिशत से भी अधिक) अपनी आजीविका के लिए खेती पर ही आश्रित है। पर यह होते हुए भी भारत में खेती की पैदावार बहुत कम है। इस कारण यहाँ के किसान बहुत गरीब हैं, और वे इतना अन्न व अन्य भोजन उत्पन्न नहीं कर पाते, जो यहाँ के निवासियों के लिए पर्याप्त हो। अतः प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में कृषि की उन्नति को प्राथमिकता दी गई। १८९० से १९२० ई० तक के तीस सालों में जापान ने खेती की पैदावार में ७७ प्रतिशत की वृद्धि कर ली थी। इस दशा में यह क्यों सम्भव नहीं है कि भारत में भी इसी गति से खेती की पैदावार में वृद्धि हो, और यह देश अनाज व भोजन की दृष्टि से पूर्णतया आत्म-निर्भर हो जाए। इसलिए प्रथम आयोजना में सरकार ने खेती की उन्नति पर ही विशेष ध्यान दिया, और उसी के लिए सबसे अधिक धन खर्च किया। खेती की उन्नति के लिए जिन साधनों को अपनाया गया, वे निम्नलिखित हैं—

(१) जो जमीन परती पड़ी हुई है, झाड़-झंकाड़ उग आने के कारण जो अब कृषियोग्य नहीं रही है, ट्रैक्टरों द्वारा उसकी सफाई व जुताई कराके उसे कृषि-योग्य बनाया जाए, ताकि खेती के लिए अधिक जमीन उपलब्ध हो सके। इसी के लिए 'केन्द्रीय ट्रैक्टर आर्गनिजेशन' कायम किया गया, और उसने लाखों एकड़ जमीन को साफ करके कृषियोग्य बनाया।

(२) खेती की पैदावार को बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि किसान बढ़िया बीजों को इस्तेमाल करें, वैज्ञानिक खाद को काम में लाएँ, और उनके खेतों में सिंचाई की भी व्यवस्था हो। आयोजना में रासायनिक खाद को तैयार करने के लिए सिंदरी नामक स्थान पर एक बहुत बड़ा कारखाना खोला गया, और जगह-जगह पर बढ़िया बीजों की प्राप्ति के लिए समुचित व्यवस्थाएँ की गईं।

(३) सिंचाई के लिए अनेक बाँध बनाने व नहर निकालने की योजना बनाई गई, और उन पर भारी रकम खर्च की गई।

खेती की पैदावार में वृद्धि के लिए जो लक्ष्य १९५१-५६ की आयोजना में निश्चित किया गया था, वह इस प्रकार था—

अनाज के लिये	१४ प्रतिशत वृद्धि
कपास के लिये	४४ प्रतिशत वृद्धि
जूट के लिये	६३ प्रतिशत वृद्धि
गन्ने के लिए	१३ प्रतिशत वृद्धि
तिलहन के लिए	८ प्रतिशत वृद्धि

कृषि की पैदावार में वृद्धि के लिए आयोजना में सिंचाई व नदियों में बाँध

बाँधने के कार्य को बहुत महत्व दिया गया। इन बांध योजनाओं के तीन प्रयोजन हैं, सिंचाई के लिए नहरें निकालना, नदियों में बाढ़ आ जाने से फसल को जो भारी नुकसान पहुँचता है, उसे रोकना और बहुत बड़ी मात्रा में बिजली पैदा करना, जो गृह-उद्योगों और बड़े कल-कारखानों के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी है। भविष्य की दृष्टि से बाँध योजनाओं के विकास का बहुत ही अधिक महत्त्व है।

कृषि और बाँध योजनाओं के साथ-साथ प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में पशुओं की नसल में उन्नति को भी महत्त्व दिया गया, और इस कार्य के लिए भी एक अच्छी बड़ी रकम खर्च किये जाने की व्यवस्था की गई। साथ ही, ग्रामों की दशा को सुधारने, उनमें शिक्षा, सफाई, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करने और ग्राम-निवासियों में सामूहिक रूप से अपनी उन्नति करने की भावना को उत्पन्न करने के कार्य को भी महत्त्व दिया गया।

कृषि और बाँध योजनाओं के बाद आयोजना में देश की औद्योगिक उन्नति के कार्य को स्थान दिया गया। बड़े कल-कारखानों और गृह-उद्योग दोनों के विकास के लिए भारी रकमें रखी गईं। साथ ही, यातायात के साधनों, संचार के विकास, स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए भी आयोजना में खर्च की व्यवस्था की गई। प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में उद्योग के मुकाबिले में खेती की उन्नति को प्राथमिकता दी गई, और औद्योगिक विकास के कार्य को मुख्यतया निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया।

प्रथम आयोजना का खर्च और उसका विभाजन—प्रथम पंचवर्षीय आयोजना (१९५१-५६) में सरकारी क्षेत्र के लिए कुल मिलाकर २०६९ करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गई थी, और इस खर्च का विभाजन इस प्रकार किया गया था—

खेती और सामूहिक विकास योजनाओं के लिए	३६१ करोड़
सिंचाई के लिए	१६८ करोड़
ऐसी योजनाओं के लिए जिनका प्रयोजन सिंचाई और बिजली का उत्पादन करना है	२६६ करोड़
बिजली के उत्पादन के लिए	१२७ करोड़
यातायात और संचार के लिए	४९७ करोड़
व्यवसाय व उद्योग धन्धे	१७३ करोड़
सामाजिक सेवा	३४० करोड़
शरणार्थियों के पुनर्वास के लिये	८५ करोड़
विविध	५२ करोड़
सर्वयोग	२०६९ करोड़

आयोजना के इस खर्च को दृष्टि में रखने से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं— (१) खेती व सिंचाई के लिए कुल मिलाकर ७९५ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया था, जो सम्पूर्ण आयोजना पर खर्च होने वाली कुल रकम का ३८.५ प्रतिशत के लगभग है।

(२) रेलवे, सड़क, तार, डाक आदि यातायात और संचार के साधनों के लिए ४६७ करोड़ रुपया रखा गया था, जो सम्पूर्ण खर्च का २४ प्रतिशत के लगभग है।

(३) सरकारी क्षेत्र में व्यावसायिक उन्नति के लिए केवल १७३ करोड़ रुपया खर्च रखा गया था, जो कुल खर्च का केवल ८·३ प्रतिशत है। इसमें से १४० करोड़ रुपया बड़े पैमाने के व्यवसायों के लिए था, और केवल ३७ करोड़ गृह-उद्योगों के लिए था। इससे स्पष्ट है कि प्रथम आयोजना में सरकार ने व्यावसायिक उन्नति के मुकाबिले में कृषि की उन्नति को प्राथमिकता दी थी।

आयोजना का निजी क्षेत्र—प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में इस बात की पूरी गुंजाइश रखी गई थी, कि देश के धनी व पूँजीपति लोग खेती, गृह-उद्योग और बड़े कल-कारखानों के विकास के लिए अपनी पूँजी का विनियोग कर सकें, और सीमेन्ट, कपड़ा, बाइसिकल, केमिकल्स, रेशम, चीनी, आल्कोहल, दियासलाई, लोहा, जूट, शीशा आदि के उत्पादन में वृद्धि करें। १९५६ में भारत के विविध व्यवसायों में कुल मिलाकर जो पूँजी लगी हुई थी (खेती, छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धे, इमारत और यातायात के साधनों को छोड़ कर) उसका अन्दाज इस प्रकार किया गया है—

सरकारी क्षेत्र में	१२३६ करोड़
निजी क्षेत्र में	१४७२ करोड़

निजी क्षेत्र में पूँजीपतियों को जो मुनाफा होता है, उसका एक अंश नये कल-कारखानों व उद्योग-धन्धों में लग जाता है। १९५३-५४ में जो नई कम्पनियाँ भारत में कायम हुईं, उनमें कुल मिलाकर ७५ करोड़ रुपया लगाया गया था। इससे यह अनुमान किया गया कि निजी क्षेत्र में हर साल ७५ करोड़ के लगभग पूँजी नई लगाई जाती है। इस हिसाब से प्रथम पंचवर्षीय आयोजना के काल में पूँजीपति लोग निजी क्षेत्र में ३७५ करोड़ रुपये के लगभग पूँजी नये व्यवसायों में लगा सकेंगे, यह अनुमान किया गया।

आर्थिक उत्पादन में वृद्धि का लक्ष्य—प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में खेती, उद्योग-धन्धों और अन्य विविध क्षेत्रों में आर्थिक उत्पादन की वृद्धि के जो लक्ष्य रखे गये थे, उन्हें निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

क्षेत्र	१९५०-५१ में उत्पत्ति	१९५५-५६ में उत्पत्ति
खेती		
अनाज (लाख टनों में)	५२७	६१६
कपास (लाख गाँठों में)	२९.७	४२.२
जूट (लाख गाँठों में)	३३	५३.७
गन्ना (लाख टनों में)	५६	६३
तिलहन (लाख टनों में)	५१	५५
सिंचाई और बिजली		
सिंचाई का क्षेत्र (लाख एकड़ों में)	५००	६९७
बिजली (लाख किलोवाट में)	२३	३५

व्यवसाय		
इस्पात (लाख टनों में)	६.८	१३.७
पिग लोहा (लाख टनों में)	३.५	६.६
सीमेन्ट (लाख टनों में)	२६.६	४८.०
रासायनिक खाद (हजार टनों में)	१०१.४	६३०
रेल के इन्जन	—	१७०
मिलों का कपड़ा (लाख गाँठों में)	३७,१८०	४७,०००
खड्डी का कपड़ा (लाख गजों में)	८,१००	१७,०००
पावर आल्कोहल (लाख गैलनों में)	४७	१८०
जूट (हजार टनों में)	८९२	१२००
यातायात के साधन		
शिपिंग (हजार टनों में)	३८४.५	५९८
सड़कें (हजार मीलों में)	२६.५	३३.१
शिक्षा में विद्यार्थियों की संख्या		
प्राइमरी स्कूलों में (लाख)	१५१.१	१८७.१
जूनियर स्कूलों में (लाख)	२९.०	५२.८
सेकेन्डरी स्कूलों में (लाख)	४३.६	५७.८
व्यवसाय व शिल्प के स्कूलों में (हजार)	४१.५	६४.४
स्वास्थ्य		
डिस्पेन्सरियाँ	६,५८७	७,४५५
अस्पताल (बेड्स की संख्या)	१०६,५००	११७,२००

प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में भारत के आर्थिक व सांस्कृतिक उन्नति के लक्ष्य कितने ऊँचे थे, और उन्हें पूरा करने के लिये कितना महान् आयोजन किया गया था, इसका अनुमान इस तालिका से भली भाँति हो सकता है।

आयोजना की सफलता के लिये सहकारी समितियों का महत्व—प्रथम पंचवर्षीय आयोजना के निर्माताओं ने भारत के आर्थिक विकास के लिये सहकारी समितियों को बहुत महत्त्व दिया। १९५० ई० में भारत में सहकारी समितियों की कुल संख्या १,७३,००० थी, जिनके सदस्यों की कुल संख्या १,२०,००,००० के लगभग थी। इन समितियों में २,३३,००,००० रुपये की पूँजी लगी हुई थी। ये सहकारी समितियाँ अनेक प्रकार की थीं। बहुसंख्यक समितियाँ कृषि के साथ सम्बन्ध रखती थीं, जो संख्या में ८० प्रतिशत के लगभग थीं। कृषि सम्बन्धी सहकारी समितियों में भी क्रेडिट सोसायटियाँ सब से अधिक थीं, जो अपने सदस्यों को कम सूद पर रुपया कर्ज देने का कार्य करती थीं। बढ़िया बीज, औजार, पैदावार की बिक्री आदि के लिये भी बहुत-सी सहकारी समितियाँ कायम थीं। अनेक समितियाँ ऐसी भी थीं, जो कृषि सम्बन्धी सब प्रकार के कार्य करती थीं। कृषि सम्बन्धी सहकारी समितियों के अतिरिक्त उद्योग-धन्धों, मकान बनाने, उपभोग आदि कार्यों के लिये भी भारत में सह-

कारी समितियों की सत्ता थी। पर अभी उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भारत में सहकारी आन्दोलन ने पर्याप्त प्रगति नहीं की थी।

प्रथम पंचवर्षीय आयोजना में इस बात पर जोर दिया गया कि किसानों को सहकारी समितियों में संगठित किया जाना चाहिये; जिससे कि छोटे-छोटे किसान खेती के लिये नये उपकरणों व वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग में समर्थ हों, वे कम सूद पर ऋण प्राप्त कर सकें, और अपनी पैदावार को समुचित कीमत पर वेच सकें। गृह-उद्योगों के कारीगरों को भी सहकारी समितियों में संगठित करने की आवश्यकता को इस आयोजना में स्वीकार किया गया था। संगठित होकर ये कारीगर जहाँ नये ढंग की छोटी-छोटी मशीनों का उत्पादन के लिये प्रयोग कर सकते हैं, वहाँ साथ ही सस्ते मूल्य पर कच्चा माल खरीदने और अपने तैयार माल को उचित कीमत पर वेचने में भी उन्हें सहायता मिल सकती है।

प्रथम पंचवर्षीय आयोजना की सफलता—प्रथम पञ्चवर्षीय आयोजना (१९५१-५६) का काल अब समाप्त हो चुका है। इस आयोजना को अपने उद्देश्यों की पूर्ति में अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। आयोजना के सरकारी क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) में कुल मिला कर २०६९ करोड़ रुपया खर्च किया जाना था। पर इस मात्रा में १७ प्रतिशत की कमी हुई, और केवल १९६० करोड़ रुपया प्रथम पंचवर्षीय आयोजना के पाँच वर्षों में सरकारी क्षेत्र में खर्च किया जा सका। यह होते हुए भी इस आयोजना के कारण भारत की जो उन्नति हुई है, उसमें ये बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) भारत की राष्ट्रीय आमदनी में इस आयोजना के परिणामस्वरूप १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। साथ ही, राष्ट्रीय पूँजी के विनियोग, प्रतिव्यक्ति खर्च व आमदनी आदि में भी सन्तोषजनक वृद्धि हुई है।

	१९५०-५२ में	१९५५-५६ में
राष्ट्रीय आमदनी	९,११० करोड़	१०,८०० करोड़
पूँजी का विनियोग	४५० करोड़	७९० करोड़
प्रतिव्यक्ति वार्षिक आमदनी	२५३ रु०	२८१ रुपये

(२) खेती की पैदावार, सिंचाई और विद्युत्शक्ति के उत्पादन में प्रथम पंचवर्षीय आयोजना के काल में जो वृद्धि हुई, वह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगी—

वर्ष	अनाज (लाख टन)	कपास (लाख गाँठ)	जूट (लाख गाँठ)	तिलहन (लाख टन)	गन्ना (लाख टन)
१९५०-५१	४१४	२९.१	३२.८	५०.८	५६.८
१९५१-५२	४२९	३१.३	४६.८	४९.५	६०.७
१९५२-५३	४९२	३१.९	४५.९	४५.६	४०.२
१९५३-५४	५८०	३९.७	३१.५	५४.६	४३.९
१९५४-५५	५५३	४३.०	३१.५	५८.८	५४.६
१९५५-५६	६३५	४०.०	४१.६	५६.०	५८.६

इस तालिका से स्पष्ट है कि पंचवर्षीय आयोजना के पाँच सालों में अनाज, कपास, जूट, गन्ना और तिलहन की पैदावार से समुचित वृद्धि हुई है।

सिंचाई और बिजली के उत्पादन में पहली पंचवर्षीय योजना के काल में जो वृद्धि हुई है, वह इस प्रकार है—

वर्ष	सिंचाई का क्षेत्र (लाख एकड़ों में)	बिजली के कुल उत्पादन की क्षमता (लाख किलोवाट)
१९५०-५१	५४०	३३
१९५५-५६	६७०	३४

इससे स्पष्ट है, कि आयोजना काल के पहले के मुकाबिले में १,३०,००,००० एकड़ जमीन की अधिक सिंचाई अब होने लगी है।

(३) अन्य क्षेत्रों में भी पहली आयोजना बहुत सफलता प्राप्त कर चुकी है। इस आयोजना के अधीन ११ नई रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया है, और ११ पुरानी पर महायुद्ध के समय उखाड़ ली गई रेलवे लाइनों को फिर से बना दिया गया है। १९५४ के अन्त तक ८५ प्रसूति-गृह और १६४ तपेदिक अस्पताल नये खोल दिये गये थे, और अस्पतालों में १,१३,००० नये वेड्स (रोगी शय्या) का प्रबन्ध कर दिया गया था। इसी काल ६,६५८ नये स्कूल और १७,१६५ प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र स्थापित किये गए थे।

सरकारी क्षेत्र (Public sector) में बड़े व्यवसायों के विकास के लिये जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ, उसमें सिन्दरी में रासायनिक खाद का कारखाना, चितरंजन में रेलवे इन्जन बनाने का कारखाना, पेंसलीन और डी० डी० टी० बनाने के कारखाने और जहाजों के निर्माण के लिये शिपयार्ड महत्त्वपूर्ण हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना (१९५६-१९६१)

पहली पंचवर्षीय आयोजना का काल समाप्त होने से पूर्व ही द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना की रूप-रेखा तैयार कर ली गई थी।

उद्देश्य—इस आयोजना का निर्माण करते हुए जो उद्देश्य सम्मुख रखे गये हैं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) राष्ट्रीय आमदनी में इतनी पर्याप्त वृद्धि की जाए, जिससे कि जनसाधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठ सके।

(२) देश में औद्योगिक उन्नति तेजी के साथ की जाए, विशेषतया आधारभूत उद्योगों (Basic Industries) के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाए।

(३) वेकारी को दूर किया जाए।

(४) यह यत्न किया जाए कि सम्पत्ति का वितरण सामाजिक न्याय (Social justice) के आधार पर हो। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सब से अधिक महत्त्व की बात यह है कि आर्थिक उत्पादन में वृद्धि की जाए। इसके लिये द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना में विस्तार के साथ योजना प्रस्तुत की गई है।

कृषि की पैदावार में वृद्धि—कृषि की पैदावार में वृद्धि के निम्नलिखित लक्ष्य दूसरी आयोजना में रखे गये हैं—

(१) अनाज की पैदावार में १५ प्रतिशत वृद्धि की जाए। इस समय भारत में कुल ६,५०,००,००० टन अनाज पैदा होता है। पाँच साल बाद इसकी मात्रा ७,५०,००,००० टन हो जानी चाहिये।

(२) दूध, घी, फल, सब्जी, अण्डे, मछली और मांस के उत्पादन में २५ प्रतिशत वृद्धि की जाए।

(३) इस समय भारत में कपास की कुल ४२,००,००० गाँठें उत्पन्न होती हैं। उनकी मात्रा बढ़ कर ५५,००,००० गाँठें हो जाए, ताकि भारत रूई के लिये आत्मनिर्भर हो जाए।

(४) चीनी और गुड़ के उत्पादन में ५० प्रतिशत वृद्धि की जाए।

(५) तिलहन की पैदावार को ५६,००,००० टन से बढ़ा कर ७०,००,००० टन तक पहुँचा दिया जाए।

खेती की पैदावार में वृद्धि करने के लिये निम्नलिखित उपाय निर्धारित किये गये हैं—

(१) वर्तमान समय में नहर, ट्यूब वेल, कुएँ, जलाशय आदि जो द्वारा सिंचाई होती है, उसका रकबा ७,००,००,००० एकड़ के लगभग है। इस रकबे को बढ़ाये बिना खेती की पैदावार को बढ़ा सकना कठिन है। अतः नई नहरें आदि निकालकर ३,००,००,००० एकड़ जमीन की सिंचाई का प्रबन्ध किया जाए, ताकि पाँच साल बाद १९६१ ई० में १० करोड़ एकड़ जमीन की सिंचाई होने लगे।

(२) नदियों में बाढ़ आने के कारण हर साल भारत में लाखों एकड़ फसल नष्ट हो जाती है। अतः नदियों पर बाँध बाँधने के लिए विशेष उद्योग किया जाये।

(३) इस समय रासायनिक खाद तैयार करने के लिये केवल एक कारखाना सिंदरी में कायम है। वह एक कारखाना भारत में खाद की माँग को पूरा करने के लिए अपर्याप्त है। अतः रासायनिक खाद के तीन नये कारखाने खोले जाएँ, ताकि १९६१ तक खाद की उत्पत्ति अब से चार गुनी हो जाये।

(४) किसानों को सहकारी समितियों में संगठित किया जाए, ताकि छोटे किसान भी खेती के नये ढंग व साधनों का प्रयोग कर अपनी पैदावार को बढ़ा सकें।

व्यावसायिक उन्नति—देश की व्यावसायिक उन्नति के लिये जो कार्यक्रम द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना में प्रस्तुत किया गया है, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) उन आधारभूत व्यवसायों की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया जाये, जो कि उत्पादन के काम में आने वाली वस्तुओं को तैयार करते हैं। कल-कारखानों द्वारा तैयार किया जाने वाला माल दो प्रकार का होता है—उपभोग के काम में आने वाला और उत्पादन के लिये प्रयुक्त होने वाला। कपड़ा, कागज, सीमेण्ट,

चीनी, जूते आदि उपभोग के काम में आने वाली वस्तुएँ हैं। लोहा, मशीनें, बिजली का सामान आदि ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनका उपयोग आर्थिक उत्पादन के लिये किया जाता है। इस दूसरे ढंग का माल अभी तक भारत में बहुत कम मात्रा में तैयार होता है। यह माल अभी विदेशों से ही मंगाया जाता है। यदि यह माल भी भारत में ही तैयार होने लगे, तो इससे भारत की औद्योगिक व आर्थिक उन्नति में बहुत सहायता मिलेगी।

(२) आधारभूत व्यवसायों की उन्नति के साथ-साथ उन व्यवसायों का भी विकास किया जाये, जो उपभोग की वस्तुएँ तैयार करते हैं।

आधारभूत व्यवसायों की उन्नति के निम्नलिखित लक्ष्य दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में निश्चित किये गए हैं—

(१) इस समय भारत में १३,००,००० टन इस्पात तैयार होता है। इस्पात के उत्पादन में इतनी वृद्धि की जाए कि पाँच साल बाद १९६१ ई० में भारत में ४३,००,००० टन इस्पात तैयार होने लगे।

(२) इस्पात का इस्तेमाल मुख्यतया मशीनों के निर्माण के लिये किया जाता है। ये अब तक प्रायः विदेशों से ही मँगाई जाती हैं। अतः इस्पात के उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ मशीनों का निर्माण भी भारत में शुरू किया जाना चाहिए। डीजल इंजन, ट्रैक्टर, रेल के वेगन और इंजन, बिजली के जनरेटर, ट्रांसफार्मर आदि सब सामान भारत में ही तैयार किया जाना चाहिए।

(३) कोयला, कच्ची धात आदि खनिज पदार्थों की उत्पत्ति में वृद्धि का होना इस बात पर निर्भर है कि व्यवसायों की उन्नति के कारण इनकी माँग में वृद्धि हो। १९५६ में भारत की खानों से प्रति वर्ष ३,८०,००,००० टन कोयला निकाला जाता था। कल-कारखानों में वृद्धि के कारण कोयले की माँग में भी वृद्धि होगी। अतः पाँच साल बाद ६,००,००,००० टन कोयला हर साल निकालने की जरूरत पड़ेगी। १९५६ में लोहे की कच्ची धात का उत्पादन ४३ लाख टन था, उसे बढ़ाकर १२५ लाख टन कर दिया जाए।

(४) रासायनिक खाद को तैयार करने के लिये तीन नये कारखाने खोले जाएँ, ताकि खेती की पैदावार को बढ़ाने के लिये पर्याप्त मात्रा में खाद प्राप्त हो सके।

(५) सिन्थटिक पेट्रोल को तैयार किया जाए, ताकि पेट्रोल के लिए भारत पूरी तरह से अन्य देशों पर निर्भर न रहे। ३,००,००० टन सिन्थटिक पेट्रोल प्रति वर्ष तैयार करने की व्यवस्था इस आयोजना में की गई है।

(६) तांबे और एल्युमुनियम के उत्पादन में वृद्धि की जाये।

उपभोग की वस्तुओं की उत्पत्ति में वृद्धि के लिये निम्नलिखित लक्ष्य द्वितीय आयोजना में रखे गये हैं—

(१) इस समय भारत की मिलें साल में ६,८५,००,००,००० गज कपड़ा तैयार करती हैं। इसमें वृद्धि की जाए, और १९६० में ८५० करोड़ गज कपड़ा

तैयार होने लगे। खड्डियों द्वारा तैयार होने वाले कपड़े की मात्रा इस समय १,६०,००,००,००० गज प्रति वर्ष है। इसमें सौ प्रतिशत वृद्धि की जानी चाहिए। पाँच साल बाद खड्डियों द्वारा तैयार होने वाले कपड़े की मात्रा ३,२०,००,००,००० गज तक पहुँच जानी चाहिये। इससे बहुत से बेकार जुलाहों को काम मिलेगा, और देहात के लोगों की क्रयशक्ति में वृद्धि होगी।

(२) चीनी की मिलें इस समय १७,००,००० टन चीनी प्रति वर्ष तैयार करती हैं। इसमें वृद्धि की जानी चाहिए, ताकि १९६० में २३ लाख टन चीनी तैयार होने लगे।

(३) सीमेण्ट की उत्पत्ति इस सयय ४८,००,००० टन प्रति वर्ष है। इसमें बहुत वृद्धि की आवश्यकता है, क्योंकि सीमेण्ट इमारत बनाने के अतिरिक्त बाँध बाँधने आदि के काम में भी आता है। १९६० तक भारत में १,३०,००,००० टन सीमेण्ट तैयार होना चाहिए।

(४) वेजीटेबल तेल, जूते, ऊनी वस्त्र, साबुन आदि के उत्पादन में २० प्रतिशत से ४५ प्रतिशत तक वृद्धि की जाये।

(५) बाइसिकल, सिलाई की मशीन और इसी ढंग की अन्य वस्तुओं के उत्पादन को दुगना किया जाए।

(६) ३,००० मील लम्बी नई रेलवे लाइनें बनाई जाएँ। इस समय भारत में कुल मिला कर ३४,५०० मील रेलवे लाइन विद्यमान हैं। इसमें ३००० मील की वृद्धि की जाए। पक्की सड़कें भारत में इस समय ३२,५०० मील हैं। २०,००० मील नई सड़कें बनाने का प्रस्ताव दूसरी आयोजना में किया गया है।

देश की व्यावसायिक व आर्थिक उन्नति के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि जनता को जीवन सम्बन्धी विविध सुविधाएँ भी प्राप्त हों। इसके लिये नये स्कूल, अस्पताल, उद्यान, पार्क, स्वच्छ जल के कुएँ व वाटर वर्क्स आदि भी बड़ी संख्या में बनाये जाने चाहियें। साथ ही, नये मकान भी इतनी अधिक संख्या में तैयार किये जाने चाहियें, जिससे नगरों में निवास स्थान की कमी न रहे। दूसरी आयोजना में प्रस्ताव किया गया है कि नगरों में तीन लाख नये मकान बनवाये जाएँ।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना के लिये पूँजी की व्यवस्था—द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना के अनुसार भारत की चौमुखी उन्नति के लिये कितने बड़े पैमाने पर कार्यक्रम बनाया गया है, यह जान लेने के बाद इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि आर्थिक विकास के इस महान् कार्य के लिये कितनी पूँजी की जरूरत होगी, और सरकार द्वारा इस पूँजी का प्रबन्ध किस प्रकार किया जायगा।

अनुमान किया गया है कि इस आयोजना की सफलता के लिये सरकार को कुल मिला कर ४८०० करोड़ रुपये खर्च करने होंगे। यह सब रुपया संघ सरकार और राज्यों की सरकारों द्वारा ही खर्च किया जायगा। यद्यपि भारत ने समाजवादी नमूने की व्यवस्था को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया है, पर अभी इस बात की आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है कि देश की आर्थिक उन्नति के

लिये पूँजीपतियों के सहयोग को भी प्राप्त किया जाए। अतः द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना में सरकारी क्षेत्र (Public sector) के साथ-साथ निजी क्षेत्र (Private sector) को भी स्थान दिया गया है। निजी क्षेत्र द्वारा जो रुपया खर्च किया जायगा, वह इस राशि से पृथक् होगा।

४८०० करोड़ रुपये की इस भारी रकम का खर्च निम्नलिखित प्रकार से होगा—

खर्च का क्षेत्र	रुपया (करोड़ों में)	कुल खर्च का प्रतिशत
(१) खेती और कम्युनिटी डेवलपमैंट	५६८	११·८
(२) बिजली आदि शक्ति के उत्पादन और सिंचाई के लिये	६१३	१६·०
(३) यातायात और संचार में	१३८५	२८·९
(४) व्यवसाय और खानें (गृह-उद्योगों को शामिल करके)	८६०	१८·५
(५) शिक्षा, स्वास्थ्य, इमारत, सामाजिक कल्याण आदि में	६४५	१६·७
(६) विविध	६६	२·१
सर्वयोग	४८००	१००

अब प्रश्न यह है कि ४८०० करोड़ रुपये की इस विशाल पूँजी की व्यवस्था किस प्रकार होगी। इस राशि के एक भाग को टैक्स बढ़ाकर प्राप्त किया जायगा और शेष को जनता से कर्ज लेकर। इसीलिए जनता को इस बात के लिए प्रेरित किया जाता है कि वह अधिक-से-अधिक बचत करे, और अपनी बचत को सरकारी कर्ज में प्रदान करे। मध्य श्रेणी व कम आमदनी के लोग भी नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट आदि खरीद कर भारत के आर्थिक विकास में सहायता पहुँचा सकते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना के लिए ४८०० करोड़ की जो धनराशि अपेक्षित है, उसकी प्राप्ति के लिए सरकार द्वारा यह व्यवस्था की गई है—

वर्तमान सरकारी आमदनी से बचत	३५० करोड़
नये टैक्स लगाकर आमदनी	४५० करोड़
रेलवे से आमदनी	१५० करोड़
सरकार के पास जमा होने वाली राशियां	२५० करोड़
जनता से कर्ज लेकर	१२०० करोड़
विदेशों से कर्ज लेकर	८०० करोड़
घाटा	१६०० करोड़
सर्व योग	४८०० करोड़

भारत का उज्ज्वल भविष्य

पंचवर्षीय आयोजनाओं का निर्माण कर स्वतन्त्र भारत की सरकार देश के आर्थिक विकास के लिए जो भगीरथ प्रयत्न कर रही है, वह वस्तुतः अत्यन्त महत्त्व का है। डेढ़ सदी की गुलामी के कारण भारत का बहुत अधिक आर्थिक शोषण हुआ, इसीलिए हमारा देश उन्नति की दौड़ में पिछड़ गया और हमारे देशवासी बहुत गरीब हो गये। डेढ़ सदी में भारत को जो भारी क्षति उठानी पड़ी है, उसकी क्षतिपूर्ति दो-चार साल में नहीं की जा सकती। उसके लिए समय चाहिये, और साथ ही जनता का सहयोग भी। आर्थिक उन्नति के लिए सरकार जिस नीति का अनुसरण कर रही है, वह वस्तुतः सही है। यदि जनता उसमें पूर्णतया सहयोग दें, तो भारत के उज्ज्वल भविष्य में किसी सन्देश की गुंजाइश नहीं है। शीघ्र ही भारत भी उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ रूस, अमेरिका, ब्रिटेन सदृश उन्नत देशों का समकक्ष हो जायगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

(१) आर्थिक उन्नति के लिए आयोजना की आवश्यकता क्योंकर होती है?

(२) भारत की प्रथम पंचवर्षीय आयोजना के क्या उद्देश्य थे? उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्या कार्यक्रम निश्चित किया गया था? ये उद्देश्य कहाँ तक पूरे हो सके हैं?

(३) द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना की क्या रूपरेखा है?

(४) भारत की आर्थिक उन्नति के लिए आप किन उपायों का अवलम्बन करना उपयोगी समझते हैं?

सत्ताईसवाँ अध्याय

भारत और ब्रिटिश राष्ट्र परिवार

भारत अब एक "सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य" (Sovereign Democratic Republic) है, और पूर्णतया स्वतन्त्र है। पर उसने अभी ब्रिटिश राष्ट्र परिवार (Commonwealth) के साथ अपने सम्बन्ध का विच्छेद नहीं किया है। वह अब भी कामनवेल्थ का सदस्य है, और उसके प्रधान मन्त्री कामनवेल्थ के प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन में शामिल होते हैं। १९४७ ई० में जब ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारत की स्वाधीनता के कानून (Indian Independence Act) को स्वीकृत किया, तो भारत की संविधान सभा को ही इस बात के निर्णय का अधिकार प्रदान कर दिया कि भारत कामनवेल्थ का सदस्य रहे या नहीं। संविधान सभा ने भारत का जो संविधान बनाया, उसमें कामनवेल्थ के सदस्य रहने के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया। पर १६ मई, १९४९ को भारत ने कामनवेल्थ का सदस्य रहने के पक्ष में निर्णय कर लिया।

कामनवेल्थ का अभिप्राय—ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, भारत, पाकिस्तान, घाना और सीलोन इस समय ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्य हैं। इस राष्ट्र परिवार को आजकल ब्रिटिश कामनवेल्थ के स्थान पर 'कामनवेल्थ आफ नेशन्स' कहते हैं। ब्रिटिश विशेषण इससे हटा दिया गया है, ताकि यह बोध न हो कि इस राष्ट्र परिवार में ब्रिटेन का स्थान अन्य राष्ट्रों के मुकाबिले में अधिक ऊँचा है। पर ब्रिटेन के राजा (या रानी) को कामनवेल्थ का प्रधान माना जाता है। यूँ कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ब्रिटेन का राजा कामनवेल्थ की एकता का प्रतीक है। राष्ट्र परिवार की एकता उसी के द्वारा सूचित व अभिव्यक्त होती है।

ब्रिटिश कामनवेल्थ का संगठन किसी कानून या इकरार द्वारा नहीं हुआ है। इसका विकास धीरे-धीरे हुआ है, और विकास की यह प्रक्रिया अब भी जारी है। सतरहवीं सदी में ब्रिटेन ने समुद्र पार के अनेक देशों को अपने अधीन करना और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसाना शुरू किया था, और अठारहवीं सदी में वह एक विशाल साम्राज्य के निर्माण में समर्थ हो गया था। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड आदि के रूप में बहुत से ऐसे प्रदेश अंग्रेजों की अधीनता में आ गये थे, जो प्रायः गैर-आबाद पड़े थे, और जहाँ जाकर अंग्रेज लोग अपनी बस्तियाँ बसाने में तत्पर थे। शुरू में ब्रिटिश सरकार की नीति इन बस्तियों का आर्थिक शोषण करने की थी। वह उन्हें पूर्णतया अपने अधीन रखना चाहती थी। पर १७७६ ई० में जब

अमेरिका की बस्तियों (Colonies) ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, तो ब्रिटिश सरकार अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिये विवश हुई। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि में जो लोग बसे हुए थे, वे जाति से ब्रिटिश व यूरोपियन ही थे। उनका धर्म, सभ्यता, भाषा, रीति-रिवाज़ आदि सब ब्रिटेन से मिलते-जुलते थे। अतः यह सम्भव नहीं था कि उनके साथ अधीनस्थ जातियों का-सा बरताव किया जाए। परिणाम यह हुआ, कि इन बस्तियों में स्वशासन की संस्थाओं का विकास किया गया, और धीरे-धीरे वे आन्तरिक शासन में पूर्णतया स्वतन्त्र हो गईं। इन बस्तियों को उपनिवेश (Dominions) कहा जाने लगा, और इनमें पार्लियामेण्ट आदि लोकतन्त्र संस्थाओं का भली भाँति विकास हो गया। समय के बीतने के साथ-साथ इन उपनिवेशों में अपनी पृथक् सत्ता व स्वतन्त्रता का विचार भी प्रबल होता गया। ये उपनिवेश ग्रेट ब्रिटेन से हजारों मील की दूरी पर स्थित थे, उनकी अपनी पृथक् समस्याएँ थीं। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वे अपने को ब्रिटेन से पृथक् समझने लगें, और अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिये सचेष्ट हों।

पर ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ इस बात के लिये उत्सुक थे कि उपनिवेशों का ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध शिथिल न हो, अपितु उसमें अधिक दृढ़ता आती जाए। इसीलिये बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उन्होंने साम्राज्य-सम्मेलनों (Imperial Conferences) की नींव डाली। १९०२ ई० में यह व्यवस्था की गई कि प्रति चौथे साल ब्रिटेन व उपनिवेशों के प्रधानमन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ करे, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर सब प्रधानमन्त्री परस्पर मिल कर विचार किया करें। १९१४-१८ के महायुद्ध में उपनिवेशों ने ब्रिटेन की दिल खोल कर सहायता की। यद्यपि ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा करते हुए उपनिवेशों की अनुमति नहीं ली थी, पर उन्होंने अपनी सब शक्ति ब्रिटेन की सहायता के लिये लगा दी थी। इसका कारण यह था कि भाषा, नसल, धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से इन उपनिवेशों व बस्तियों का अंग्रेजों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और वे ब्रिटेन को अपनी 'मातृभूमि' भी समझते थे।

महायुद्ध की समाप्ति पर जब राष्ट्रसंघ (League of Nations) का संगठन हुआ, तो ये उपनिवेश स्वतन्त्र रूप से उसके सदस्य बने। १९२६ ई० में हुए साम्राज्य सम्मेलन में इन उपनिवेशों की स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया गया था—"ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ये स्वायत्त सत्ताएँ हैं, जो स्थिति में एक समान हैं, और आन्तरिक व बाह्य मामलों में जिनमें से कोई किसी दूसरे के अधीन नहीं है, पर जो राजा (Crown) के प्रति समान राजभक्ति द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, और ब्रिटिश राष्ट्र-परिवार के स्वेच्छापूर्वक बने हुए सदस्य हैं।"

इस प्रकार १९२६ ई० तक कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, आयरलैंड और न्यूजीलैण्ड की स्थिति पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के सदृश हो गई थी। पर ये सब ब्रिटिश राष्ट्र परिवार के सदस्य थे, और ब्रिटेन के राजा के प्रति समान रूप से राज-

भक्ति रखने के कारण एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। भारत उस समय ब्रिटेन के अधीन था, और उसकी स्थिति उपनिवेश-राज्यों के समान पृथक् व स्वतन्त्र नहीं थी। अतः उसकी गणना राष्ट्र परिवार के सदस्यों में नहीं की जाती थी, और उसे ब्रिटेन के अधीन समझा जाता था। सीलोन की भी तब यही स्थिति थी।

१६३१ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने यह कानून स्वीकार किया कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत कोई कानून तब तक किसी औपनिवेशिक राज्य पर लागू नहीं हो सकेगा, जब तक कि उस कानून में स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया होगा कि उस औपनिवेशिक राज्य ने उस कानून को अपने क्षेत्र में लागू किये जाने के लिये सहमति प्रगट कर दी है। इस प्रकार १६३१ के बाद ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट को यह अधिकार भी नहीं रह गया कि वह किसी औपनिवेशिक राज्य के लिये उसकी सहमति के बिना किसी कानून का निर्माण कर सके। ये राज्य पूरी तरह से प्रभुत्व सम्पन्न (Sovereign) हो गये। यद्यपि इनके गवर्नर-जनरलों की नियुक्ति ब्रिटेन के राजा द्वारा ही की जाती रही, पर राजा ऐसे व्यक्ति को ही इस पद पर नियुक्त करता है, जिसे वहाँ का मन्त्रिमण्डल नियत कराना चाहे। औपनिवेशिक राज्यों के गवर्नर-जनरल भी ब्रिटेन के राजा के समान संवैधानिक शासक (Constitutional rulers) ही होते हैं, और उनकी स्थिति नाममात्र की ही होती है।

वैदेशिक सम्बन्धों में भी ये औपनिवेशिक राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। इसीलिये ये अन्य देशों में अपने राजदूत आदि नियत कर सकते हैं, और अन्य देशों से सन्धियाँ भी कर सकते हैं। १६३६ ई० में जब द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो ब्रिटेन के युद्ध में शामिल हो जाने के कारण ये उपनिवेश युद्ध में शामिल नहीं हो गये। उन्होंने पृथक् रूप से अपने युद्ध में शामिल होने की घोषणा की। कनाडा तो इङ्गलैण्ड के एक सप्ताह बाद युद्ध में शामिल हुआ। १६२१ में आयरलैण्ड ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त हो गया था, और उसकी स्थिति भी एक औपनिवेशिक राज्य की थी। महायुद्ध में आयरलैंड उदासीन रहा, और उसने एक ऐसी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया, जिसे ब्रिटेन अपने लिये हानिकारक समझता था। पर क्योंकि आयरलैण्ड एक स्वतन्त्र औपनिवेशिक राज्य था, अतः ब्रिटेन उसे युद्ध में शामिल होने के लिये विवश नहीं कर सकता था। भारत ने अभी औपनिवेशिक राज्य की स्थिति प्राप्त नहीं की थी, अतः उसे युद्ध में शामिल करने के लिये ब्रिटेन ने भारतीयों की सहमति की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। पर आयरलैण्ड की स्थिति बहुत भिन्न थी।

औपनिवेशिक राज्यों को यह भी अधिकार है कि यदि वे चाहें तो ब्रिटिश कामनवेल्थ से पृथक् हो जाएँ। १६४० ई० में आयरलैंड इस अधिकार का प्रयोग कर कामनवेल्थ से पृथक् हो चुका है, और अब औपनिवेशिक राज्यों के इस अधिकार के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह गया है।

धीरे-धीरे विकास द्वारा ब्रिटिश कामनवेल्थ का जो स्वरूप इस समय है, उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) कामनवेल्थ के सब सदस्य प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) और स्वतन्त्र राज्य हैं।

(२) सब की स्थिति एक समान है, कोई किसी के अधीन नहीं है।

(३) न केवल आन्तरिक मामलों में अपितु विदेशी सम्बन्ध के क्षेत्र में भी कामनवेल्थ का प्रत्येक सदस्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इसीलिए वे स्वतन्त्र रूप से संयुक्त राज्यसंघ (U.N.O.) के सदस्य हैं, और विदेशों में अपने राजदूत आदि की नियुक्ति करते हैं। अन्य देशों से वे सन्धियाँ आदि भी कर सकते हैं। कामनवेल्थ के सदस्य एक दूसरे के क्षेत्र में राजदूत नियुक्त न करके 'हाई कमिश्नरों' की नियुक्ति करते हैं।

(४) कामनवेल्थ की एकता का प्रतीक (Symbol) ब्रिटेन का राजा है।

(५) कामनवेल्थ के सदस्यों को अधिकार है कि वे चाहें तो कामनवेल्थ से पृथक् हो सकें।

ब्रिटिश कामनवेल्थ के इस रूप के विकास में इस बात ने बहुत सहायता की कि औपनिवेशिक राज्यों के निवासी सभ्यता, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, नसल आदि की दृष्टि से अंग्रेजों के साथ बहुत अधिक समता रखते हैं। इनमें ब्रिटेन के लोग ही बहुत बड़ी संख्या में जाकर बसे, और अपने पुरखाओं की मातृभूमि के प्रति उनके हृदय में अनुराग है।

भारत और कामनवेल्थ—बरमा, भारत, सीलोन आदि देश जो पहले ब्रिटेन के अधीनस्थ देश थे, द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हुए। अब इन्हें इस बात का अवसर था कि वे चाहें तो ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहें या अपने को उससे पृथक् कर लें। इन देशों की न भाषा अंग्रेजी थी, और न नसल, धर्म, संस्कृति आदि में ही इनकी ब्रिटेन से कोई समता थी। डेढ़ सदी के लगभग ये देश ब्रिटेन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में अवश्य रहे थे, पर इस सम्पर्क की स्मृतियाँ बहुत सुखद नहीं थीं। ब्रिटेन ने इनका शोषण करने में कोई कसर उठा नहीं रखी थी। पर लम्बे समय तक ब्रिटेन के साथ रहने के कारण इन देशों में अंग्रेजी भाषा, साहित्य व संस्थाओं के प्रति कुछ-न-कुछ आत्मीयता का भाव अवश्य उत्पन्न हो गया था। बरमा ने स्वाधीनता प्राप्त करके यही निश्चय किया कि वह कामनवेल्थ से कोई सम्बन्ध न रखे। पर सीलोन, भारत, पाकिस्तान और घाना का निर्णय यह था कि वे स्वतन्त्र होने के बाद भी ब्रिटिश राष्ट्र परिवार के सदस्य बने रहें। इस निर्णय का यह परिणाम हुआ, कि चार ऐसे देश भी अब कामनवेल्थ में सम्मिलित हैं, जो सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि से कामनवेल्थ के अन्य सदस्यों से बहुत भिन्न हैं, और जिनमें आपस में भी बहुत मतभेद व विरोधभाव विद्यमान हैं।

संविधान सभा ने भारत को एक लोकतन्त्र रिपब्लिक का रूप दिया है। रिपब्लिक (गणराज्य) में कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता, और न किसी राजा का अपने ऊपर प्रभुत्व ही स्वीकार किया जाता है। अतः भारतीय गणराज्य का ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य होना एक अजीब-सी बात थी। १९४९ के एप्रिल मास

में कामनवेल्थ के प्रधानमन्त्रियों की एक कान्फरेन्स लण्डन में हुई, जिसमें भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू भी शामिल हुए। इस कान्फरेन्स में सर्वसम्मति से यह निर्णय किया गया कि भारतीय गणराज्य भी कामनवेल्थ का सदस्य रह सकता है। इसी के अनुसार २६ एप्रिल, १६४६ के दिन कामनवेल्थ के प्रधानमन्त्रियों द्वारा एक घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें कहा गया था कि "भारत सरकार ने ब्रिटिश राष्ट्र परिवार के देशों की अन्य सरकारों को भारत की जनता की इस इच्छा की सूचना दी है कि नये संविधान के अनुसार, जो शीघ्र ही स्वीकृत किया जाने वाला है, भारत को एक प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य बनाया जाए। साथ ही, भारत सरकार ने घोषित किया है कि भारत की इच्छा राष्ट्र-परिवार की सदस्यता को जारी रखने की है, और वह इस बात को स्वीकृत करती है कि राजा राष्ट्र परिवार के सदस्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के परस्पर स्वतन्त्र सम्बन्ध का प्रतीक हैं, और इस प्रकार राष्ट्र-परिवार के अन्य देशों की सरकारें, जिनके राष्ट्र परिवार की सदस्यता के आधार में कोई परिवर्तन नहीं आया है, भारत की राष्ट्र-परिवार की सदस्यता को जारी रखने की बात को स्वीकार करती हैं।"

इस घोषणा पर ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, भारत, पाकिस्तान और सीलोन के प्रधान मन्त्रियों ने हस्ताक्षर किये थे, और १७ मई १६४६ को भारत की संविधान सभा ने भी इसे स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्र गणराज्य की स्थापना के बावजूद भी भारत ब्रिटिश राष्ट्र-परिवार का सदस्य है। १६४७ से पूर्व भारत की स्थिति औपनिवेशिक राज्य की नहीं थी, वह ब्रिटेन का अधीनस्थ देश था। पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत की स्थिति कामनवेल्थ के अन्य स्वतन्त्र राज्यों के सदृश हो गई, और अब वह पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए भी ब्रिटिश राष्ट्र परिवार का सदस्य है।

पर इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) भारत ब्रिटेन के राजा (या रानी) के प्रति राजभक्ति (allegiance) नहीं रखता, यद्यपि वह उसे कामनवेल्थ की एकता का प्रतीक (Symbol) स्वीकार करता है।

(२) गणराज्य होते हुए भी भारत के लिए यह आवश्यक है कि वह ब्रिटिश राजा की कामनवेल्थ की एकता के प्रतीक के रूप में सत्ता को स्वीकार करे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे कामनवेल्थ के सदस्य राष्ट्रों की एकता सूचित हो सके। यदि भारत इस रूप में ब्रिटेन की राजा की स्थिति को स्वीकार न करे, तो उसके कामनवेल्थ का सदस्य होने का कोई अर्थ नहीं रह जायगा, और अन्य सदस्य राष्ट्र उसे कामनवेल्थ का सदस्य स्वीकार नहीं करेंगे।

अनेक विचारकों का मत है कि किसी गणराज्य के लिए कामनवेल्थ का सदस्य होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि रिपब्लिक और राजा एक-दूसरे के विरोधी होते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से इस बात में बहुत सचाई है, पर क्रिया में भारतीय रिपब्लिक ब्रिटेन राष्ट्र परिवार की सदस्य बनी हुई है, यद्यपि इस परिवार का प्रधान एक वंश-

क्रमानुगत राजा है। इस असंगति का समाधान पंडित नेहरू ने इन शब्दों में किया था—"यह स्मरण रखना चाहिये कि कामनवेल्थ किसी भी अर्थ में एक 'सर्वोच्च राज्य' की स्थिति नहीं रखती है। इसने राष्ट्र-परिवार के सदस्यों के स्वतन्त्र सम्बन्ध के प्रतीक के रूप में राजा को स्वीकार किया है। जहाँ तक भारत के संविधान का सम्बन्ध है, उसमें राजा का कोई स्थान नहीं है, और हम उसके प्रति राजभक्ति नहीं रखते।"

पर ब्रिटेन के राजा को कामनवेल्थ की एकता का प्रतीक मान लेने का यह परिणाम है कि न भारत अपने लिये किसी पृथक् राजा की नियुक्ति कर सकता है और न कोई ऐसा कानून ही पास कर सकता है जिससे ब्रिटेन की राजगद्दी पर कौन व्यक्ति बैठे, इस विषय में कोई नई व्यवस्था की जाती हो। इंगलैण्ड के कानून के अनुसार जो भी व्यक्ति वहाँ की राजगद्दी पर आरूढ़ हो, उसे ही भारत कामनवेल्थ की एकता के प्रतीक के रूप में स्वीकार करने के लिये विवश है।

कामनवेल्थ की सदस्यता से लाभ—अब प्रश्न यह उठता है कि भारत ने ब्रिटिश राष्ट्र परिवार का सदस्य बने रहना क्यों स्वीकृत किया है। इसके पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं—

(१) संसार की अन्तर्राष्ट्रीय दशा आजकल ऐसी है कि कोई भी देश अकेला रहकर अपनी स्थिति को कायम नहीं रख सकता। संघ में रहने से ही आज कोई देश अपनी स्वतन्त्र स्थिति रख सकता है। भारत और ब्रिटेन का सम्बन्ध डेढ़ सदी पुराना है। अतः यदि भारत उसके साथ बराबरी के आधार पर कामनवेल्थ का सदस्य बना रहे, तो ऐसा करने से उसे लाभ ही है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति सुदृढ़ होती है, और उसकी शक्ति में वृद्धि होती है।

(२) भारत अभी आर्थिक व व्यावसायिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। इन क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए उसे किसी समर्थ देश के सहयोग की आवश्यकता है। भारत को अपने कल-कारखानों के लिए नये ढंग की मशीनरी चाहिए, और साथ ही उनके संचालन के लिये सुयोग्य शिल्पी भी। भारत में अंग्रेजी भाषा का अच्छा प्रचार है। यहाँ के कारखानों में अब तक मुख्यतया अंग्रेजी मशीनरी प्रयुक्त होती रही है, इसलिये यहाँ के शिल्पी उससे परिचित भी हैं। व्यावसायिक उन्नति के लिये भारत को जिस मशीनरी व जिन निपुण शिल्पियों की आवश्यकता है, उन्हें ब्रिटेन के साथ सहयोग को पूर्ववत् जारी रखकर अधिक सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

(३) भारत को अभी अपनी जल, स्थल व वायुसेना में भी बहुत उन्नति करनी है। इसके लिये भी भारत को अंग्रेज विशेषज्ञों से बहुत सहायता मिल सकती है।

(४) भारत की विदेश नीति का मूल सिद्धान्त यह है कि संसार में शान्ति कायम रहे और विविध राज्य अपने झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा ही निबटाया

करें। इस उद्देश्य की पूर्ति में भी भारत का ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहना सहायक होगा।

पर भारत में ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं है, जो भारत का कामनवेल्थ का सदस्य बने रहना अत्यन्त अनुचित व हानिकारक मानते हैं। उनका कहना है कि यह बात भारत की गुलाम मनोवृत्ति की सूचक है। इससे भारत पर अंग्रेजों की प्रभुता और प्रभाव अब भी कायम हैं, और भविष्य में भी कायम रहेंगे। भारत की सभ्यता और संस्कृति कामनवेल्थ के अन्य देशों से सर्वथा भिन्न है, अतः उसका इस राष्ट्र-परिवार का सदस्य बने रहना सर्वथा अस्वाभाविक है। व्यावसायिक व सैनिक उन्नति के लिये भारत को उन्नत देशों से जिस सहायता की आवश्यकता है, उसे अन्य देशों से भी प्राप्त किया जा सकता है। जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, अमेरिका, रूस आदि सभी देश भारत की उन्नति व विकास में सहयोग देने को उद्यत हैं। कामनवेल्थ का सदस्य होने के कारण भारत पर अंग्रेजी पूँजीपतियों का शिकंजा अब तक भी पूर्ववत् कायम है।

इन युक्तियों में सत्य का अंश अवश्य है। पर भारत के नेताओं ने वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर यही निश्चय किया है, कि भारत कामनवेल्थ का सदस्य बना रहे। उसे अधिकार है कि वह कभी भी आयर्लैण्ड के समान अपने को कामनवेल्थ से पृथक् कर सकता है। इसी सदस्यता के कारण ब्रिटेन में निवास करने वाले भारतीय नागरिक उन सब अधिकारों का उपभोग कर सक रहे हैं, जो ब्रिटिश प्रजा को प्राप्त हैं। वे वहाँ व्यापार कर सकते हैं, जायदाद खरीद सकते हैं, और अन्य प्रकार से अपनी उन्नति में तत्पर हो सकते हैं।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) ब्रिटिश कामनवेल्थ का क्या अभिप्राय है?

(२) स्वतन्त्र भारत का कामनवेल्थ के साथ क्या सम्बन्ध है? कामनवेल्थ का सदस्य रहते हुए भी क्या भारत पूर्णतया स्वतन्त्र व प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है।

(३) भारत को कामनवेल्थ का सदस्य बने रहने को क्या आप उपयोगी समझते हैं?

अट्ठाईसवां अध्याय

भारत और एशिया के अन्य देश

एशिया महाद्वीप

पृथिवी के सब महाद्वीपों में एशिया सबसे अधिक विशाल है। इसका क्षेत्रफल १,७०,००,००० वर्ग मील के लगभग है। यह उत्तरी ध्रुव के हिममय समुद्र से शुरू होकर दक्षिण में भूमध्य रेखा के भी नीचे तक फैला हुआ है। सम्पूर्ण भूमण्डल का एक-तिहाई स्थल-भाग एशिया में है। इस महाद्वीप की जनसंख्या १,२५,००,००,००० से भी अधिक है। सम्पूर्ण पृथिवी की जनसंख्या २,३०,००,०००,००० के लगभग है। पृथिवी के आधे से भी अधिक मनुष्य एशिया में ही निवास करते हैं। एशिया के विविध देशों में दो सबसे मुख्य हैं, चीन और भारत। चीन की जनसंख्या ६० करोड़ है, और भारत की ३६ करोड़। इसी कारण एशिया की राजनीति में अन्य कोई देश इन दोनों का मुकाबिला नहीं कर सकता।

संसार के इतिहास में एशिया का बहुत महत्त्व रहा है। मानव सभ्यता का उदय सबसे पूर्व एशिया में ही हुआ था। सिन्ध और गंगा, युफ्रेटिस और टिग्रिस, हवांगहो और यांग-त्से-कियांग नदियों की घाटियों में अत्यन्त प्राचीन समय में जिन सभ्यताओं का विकास हुआ था, उन्होंने मनुष्य जाति के इतिहास को बहुत अधिक प्रभावित किया। संसार के सभी प्रमुख धर्मों का अभ्युदय एशिया में ही हुआ। कृष्ण, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद एशिया के ही निवासी थे। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी एशिया संसार का अगुआ रह चुका है। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों का विकास सबसे पूर्व एशिया में ही हुआ था। दिग्दर्शक यन्त्र, छापाखाना और बारूद भी पहले-पहल एशिया में ही आविष्कृत हुए थे। राजनीतिक क्षेत्र में भी किसी समय एशिया संसार का नेतृत्व कर चुका है। यदि यूरोप से सिकन्दर ने एशिया पर आक्रमण किया था, तो प्रसिद्ध मंगोल विजेता चंगेज खाँ और वातू खाँ भी युराल पर्वतमाला को पार कर रूस और पूर्वी यूरोप के अनेक प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए थे। अरब लोगों ने तो उत्तरी अफ्रीका को विजय करके स्पेन में भी अपने साम्राज्य की स्थापना की थी।

पर पिछली दो सदियों में एशिया यूरोप के मुकाबिले में बहुत पिछड़ गया था। अठारहवीं सदी में पश्चिमी यूरोप में व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण वहाँ बड़े-बड़े कारखाने खुलने शुरू हुए। यूरोप के लोगों ने अपनी वैज्ञानिक उत्कृष्टता से लाभ उठाकर एशिया व अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों को अपने अधीन करना प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे प्रायः सम्पूर्ण एशिया

पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित होना शुरू हुआ, और उन्नीसवीं सदी का अन्त होने तक न केवल सम्पूर्ण भारत अपितु बरमा भी अंग्रेजों के अधीन हो गया। इसी काल में फ़ांस, हालैण्ड आदि अन्य यूरोपियन देशों ने भी एशिया में अपने-अपने साम्राज्य स्थापित किये, और एशिया के प्रायः सभी देश किसी-न-किसी रूप में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्त्व व प्रभाव में आ गये। जो एशियन देश राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र थे, वे भी आर्थिक दृष्टि से किसी-न-किसी विदेशी राजा के प्रभाव में थे। एशिया में केवल जापान ही ऐसा देश था, जो पूर्णतया स्वतन्त्र था।

एशिया का नवजागरण

पर एशिया देर तक साम्राज्यवाद का शिकार नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में विविध एशियन देशों में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी राष्ट्रीय दुर्दशा का अनुभव किया और जनता में नई चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। उन्होंने लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे नये ज्ञान-विज्ञान को सीखकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। ज्ञान-विज्ञान किसी एक देश की सम्पत्ति बनकर नहीं रह सकते। वे वायु के समान होते हैं, जो शीघ्र ही सर्वत्र फैल जाते हैं। नये ज्ञान-विज्ञान को सीखकर एशिया के देश भी अपनी उन्नति के लिए तत्पर हुए, और उन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए भी प्रयत्न किया। अब वह समय आ चुका है, जबकि एशिया के प्रायः सभी देश स्वतन्त्र हो गये हैं। बीसवीं सदी का द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) एशिया के स्वतन्त्रता के लिए बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इस समय भारत, बरमा, लंका, इन्डोनेशिया, चीन आदि सब एशियन देश स्वतन्त्र हैं, और पाश्चात्य साम्राज्यवाद की इतिश्री हो गई है। सिंगापुर, हांग-कांग, मलाया, दक्षिणी विएतनाम, डच-न्यूगिनी आदि कतिपय प्रदेशों में अब तक भी पाश्चात्य साम्राज्यवाद के अवशेष विद्यमान हैं। पर ये सब भी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील हैं, और वह समय दूर नहीं है जबकि एशिया के सब देश पूर्णतया राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेंगे।

एशिया के कतिपय देश यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो चुके हैं, पर उनमें पाश्चात्य देशों के आर्थिक विशेषाधिकार अब तक भी कायम हैं। ईरान, अरब आदि देशों में यूरोप और अमेरिका के पूँजीपतियों ने कतिपय ऐसे आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए हैं, जिनके कारण उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को पूर्ण नहीं समझा जा सकता। पर ये देश आर्थिक क्षेत्र में भी पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। इनका प्रयत्न शीघ्र सफल होगा, यह असंदिग्ध है।

एशिया की राजनीति में भारत का स्थान

एशिया की राजनीति में भारत का स्थान बहुत महत्व का है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, एशिया में चीन और भारत सबसे मुख्य हैं। इन दोनों देशों

की जनसंख्या ९६ करोड़ के लगभग है, जबकि सम्पूर्ण एशिया की जनसंख्या १२५ करोड़ से कुछ ही अधिक है। इस दशा में एशिया का कोई अन्य देश इन दो देशों का मुकाबिला नहीं कर सकता। पूर्वी एशिया के क्षेत्र में चीन सबसे शक्तिशाली है, और दक्षिणी एशिया में भारत। इसी कारण पूर्वी एशिया के कोरिया, विएत-नाम आदि देश अपनी स्वाधीनता के लिए चीन की सहायता व सहयोग पर निर्भर करते रहे हैं; और दक्षिणी एशिया के इन्डोनेशिया आदि देशों ने अपनी स्वाधीनता के लिए भारत से सहायता प्राप्त की है। भारत और चीन एक दूसरे के मित्र हैं। इन देशों की आर्थिक व्यवस्था और शासन पद्धति में मौलिक भेद है। चीन कम्युनिस्ट व्यवस्था का अनुयायी है, और भारत लोकतन्त्रवाद का पक्षपाती है। पर इस मौलिक भेद के होते हुए भी भारत और चीन में घनिष्ठ मैत्री है, और दोनों की यह नीति है कि संसार में जहाँ शान्ति कायम रहे, वहाँ साथ ही साम्राज्यवाद का अन्त होकर सब देश राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करें। चीन और भारत की इस मैत्री के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एशिया का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। ये दोनों देश साम्राज्यवाद को अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिए भी हानिकारक समझते हैं, और इसी लिए पराधीन देशों की स्वाधीनता में सदा सहायक रहते हैं।

भारत की विदेशी नीति

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत किस नीति का अनुसरण करेगा, इस बात को भारत के नये संविधान में स्पष्टरूप से प्रतिपादित कर दिया गया है। यह नीति निम्नलिखित है—

(१) विश्वशान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का समर्थन व प्रोत्साहन करना।

(२) विविध राज्यों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करना।

(३) राज्यों के आपस के व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के प्रति आदर की भावना को रखना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का पंचनिर्णय द्वारा निबटारा करने को प्रोत्साहित करना।

पंचशील का सिद्धान्त—संविधान में प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय नीति के इन आधारभूत सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर ही भारत ने 'पंचशील के सिद्धान्त' को स्वीकार किया। इस शब्द का प्रयोग सबसे पूर्व इंडोनेशिया के प्रधान मन्त्री श्री अली शस्त्रामितजयो ने किया था। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) सब राज्य एक-दूसरे की प्रभुता और भौगोलिक सीमाओं को स्वीकार करें।

(२) कोई किसी पर आक्रमण करके उसकी राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण न करे।

(३) कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे।

(४) सब राज्य एक-दूसरे को समान समझें व पारस्परिक हित में सहयोग दें।

(५) सब राज्य शान्तिपूर्वक एक दूसरे के साथ रहें, और अपनी पृथक् सत्ता व स्वतन्त्रता को कायम रखें। पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन सबसे पहले भारत ने उस समय किया था, जब कि तिब्बत के प्रश्न पर भारत और चीन में सन्धि हुई थी। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब चीन की राजशक्ति निर्बल थी, ब्रिटेन ने तिब्बत के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था। ब्रिटेन तिब्बत में जो हस्तक्षेप करता था, वह भारत सरकारद्वारा ही किया जाता था। जब भारत से अंग्रेजी शासन का अन्त हुआ, तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि स्वतन्त्र भारत की सरकार तिब्बत के विषय में किस नीति को अपनाए। इसी दृष्टि से उसने चीन के साथ नई सन्धि की, और तिब्बत को चीन का अंग स्वीकार करते हुए पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। १९५४ में जब चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाउ एन लाई भारत आए, तो उन्होंने इस सिद्धान्त का पुनः समर्थन किया। अब एशिया के बहुसंख्यक देश इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके हैं। १९५५ के प्रारम्भ में जब बांडुंग (इंडोनेशिया में) में एशिया और अफ्रीका के देशों की एक कान्फरेन्स हुई, तो पंचशील के सिद्धान्तों को थोड़े से परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया गया। इस कान्फरेन्स में २९ राज्य शामिल थे। इतने राज्यों द्वारा पंचशील को स्वीकृत कर लेना इस बात का प्रमाण है कि भारत की विदेश नीति बहुत लोकप्रिय है। यूरोप में रूस और यूगोस्लाविया आदि अनेक देश भी इससे सहमति प्रगट कर चुके हैं।

पंचशील के सिद्धान्त को क्रिया में परिणत करने का प्रयत्न--पंचशील के सिद्धान्त को क्रिया में परिणत करने के लिए भारत ने जिस नीति को अपनाया है, उसके मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) इस समय संसार के राज्य दो गुटों में विभक्त हैं। एक गुट कम्युनिस्ट व्यवस्था का अनुयायी है, और दूसरा राजनीतिक लोकतन्त्रवाद का। कम्युनिस्ट गुट का नेता रूस है। पूर्वी यूरोप के पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी आदि अनेक राज्यों में कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम है, और ये देश रूस के नेतृत्व को स्वीकार करते हैं। रूस और चीन में कम्युनिस्ट सरकार कायम हो चुकी है, और उत्तरी कोरिया व उत्तरी विएतनाम में भी कम्युनिस्ट शासन कायम हैं। ये देश भी रूस को अपना अगुआ मानते हैं। पूंजीवाद पर आश्रित लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती देशों का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका है। ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा, बेल्जियम, पश्चिमी जर्मनी आदि अनेक देश अमेरिका के गुट में हैं। एशिया में भी थाईलैण्ड, तुर्की और पाकिस्तान आदि राज्य इस गुट के अन्तर्गत हैं। आधुनिक समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात इन दोनों गुटों का परस्पर विरोध ही है। इसी कारण दोनों गुटों के राज्य अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि में तत्पर हैं, और तीसरे महायुद्ध की सम्भावना निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस दशा में भारत ने इस नीति को अपनाया है, कि वह इन परस्पर विरोधी गुटों से सर्वथा अलग रहते हुए शान्ति का समर्थन करे। इसीलिये उसने पंचशील के सिद्धान्तों में इस बात को महत्त्व दिया है कि सब राज्य

(विरोधी विचारधाराओं और विरोधी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं के बावजूद भी) शान्तिपूर्वक एक साथ रहें, और कोई किसी दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे। इस नीति को सहवर्तिता (Co-existence) की नीति कहा जाता है। यदि भारत में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार को स्वीकार किया जाता है, तो कोई कारण नहीं कि वह चीन जैसे कम्युनिस्ट देश के साथ मैत्री न रखे। सहवर्तिता की यह नीति बहुत महत्त्वपूर्ण है, और भारत की संसार को अनुपम देन है।

(२) पंचशील के सिद्धान्त तभी सफल हो सकते हैं, जब कि संसार के सब राज्य पूर्णतया स्वाधीन हों और साम्राज्यवाद का अन्त हो जाए। इसी कारण भारत सदा पराधीन देशों की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है। महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद जब इण्डोनेशिया स्वाधीन हुआ, तो हालैंड ने उस पर अपने प्रभुत्त्व को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस अवसर पर भारत ने इण्डोनेशिया की पूरी-पूरी सहायता की। इण्डोनेशिया की स्वाधीनता के समर्थन के लिये ही १९५१ में दिल्ली में एक एशियन कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिससे इण्डोनेशियन स्वाधीनता के आन्दोलन को बहुत बल मिला। १९५५ के प्रारम्भ में बांडुङ्ग कान्फरेन्स भी इसी प्रयोजन से की गई थी, कि एशिया और अफ्रीका में पाश्चात्य साम्राज्यवाद के जो अवशेष अब तक भी विद्यमान हैं, उनके विरुद्ध आवाज उठाई जाए। इस कान्फरेन्स में साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए अपील की गई थी, और अलजीरिया, मोरक्को ट्युनेशिया आदि की स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया था। इसके बाद जब ईजिप्ट और लेबनान व ईराक के मामलों में कतिपय साम्राज्यवादी देशों ने हस्तक्षेप का यत्न किया, तो भारत ने उनका विरोध किया।

(३) भारत अफ्रीका के मूल निवासियों की स्वतन्त्रता का भी समर्थक है, और वहाँ के विविध राज्यों में गौरांग लोग काले-गोरे का भेद कर जो कृष्ण वर्ण के लोगों को राजकीय व मानव-अधिकारों से वंचित रख रहे हैं, उसका उग्र रूप से विरोध करता है।

विविध एशियन देशों के साथ भारत का सम्बन्ध

भारत की विदेशी नीति के सम्बन्ध में जो बातें ऊपर लिखी गई हैं, वे भारत और अन्य एशियन देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को जानने के लिये बहुत उपयोगी हैं, क्योंकि भारत का इन देशों के साथ सम्बन्ध इन्हीं बातों पर आश्रित है। एशियन देशों के साथ भारत के सम्बन्ध के मूलभूत तत्व निम्नलिखित हैं—

(१) सब एशियन देश पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हों। एशिया में साम्राज्यवाद के जो अवशेष अब तक भी विद्यमान हैं, उनका अन्त हो जाये।

(२) एशियन देश शान्ति की नीति का अनुसरण करें और आपस के झगड़ों का निबटारा शान्तिमय उपायों द्वारा ही किया करें।

(३) परस्पर विरोधी विचारधाराओं व व्यवस्थाओं के देश भी शान्तिपूर्वक एक-दूसरे के साथ रहें, और कोई किसी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे।

(४) शक्तिशाली देश किसी एशियन देश के साथ ऐसे समझौते व सन्धियाँ न करें, जिनसे एशिया की शान्ति में बाधा उपस्थित होने की सम्भावना हो ।

इन तत्त्वों का अनुसरण करके भारत ने विविध एशियन देशों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किये हैं, उन पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालना आवश्यक है ।

बरमा—भारत के पूर्व में बरमा का राज्य है, जिसकी उत्तर-पश्चिमी सीमा भारत से लगती है। बरमा भी लोकतन्त्रवाद का अनुयायी है, और वहाँ भी गणराज्य की सत्ता है । भारत और बरमा परस्पर मित्र हैं, और एकसदृश विदेशी नीति का अनुसरण करते हैं। पंचशील के सिद्धान्त को बरमा ने भी स्वीकार किया है ।

लंका—भारत के दक्षिण मे लंका द्वीप है, जो इस समय ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत औपनिवेशिक राज्य की स्थिति रखता है। यद्यपि लंका और भारत परस्पर मित्र हैं, पर इनमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर मतभेद भी है । लंका में दस लाख से भी अधिक भारतीय स्थायी रूप से बसे हुए हैं। राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर लंका के निवासी इन्हें अपने राज्य में नागरिकता के अधिकार नहीं देना चाहते, और इन भारतीयों से विदेशियों का-सा बरताव करते हैं। वे चाहते है कि ये भारतीय लंका छोड़कर भारत वापस चले जाएँ। यह बात क्रियात्मक नहीं है कि जो भारतीय लंका में चिरकाल से बसे हुए हैं, वे अपने घरबार व कारोबार को छोड़कर भारत में शरणार्थी बनकर आएँ। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि जब वे स्थायी रूप से लंका में बसे हुए हैं, तो उन्हें उस राज्य की नागरिकता के पूरे अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। भारत और लंका में इस समस्या पर अनेक बार विचार-विनिमय हुआ है, पर अभी तक इसका कोई संतोषजनक निर्णय नहीं हो सका है ।

पाकिस्तान—भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध अब तक मृदु नहीं हो सके हैं। इसका मुख्य कारण काश्मीर की समस्या है। काश्मीर ने स्वेच्छापूर्वक भारत का अंग होना स्वीकार किया है, पर पाकिस्तान का दावा है कि क्योंकि काश्मीर में मुसलमानों की बहुसंख्या है, अतः उसे भारत में सम्मिलित न होकर पाकिस्तान का अंग बनना चाहिए। एक-तिहाई के लगभग काश्मीर पर पाकिस्तान का कब्जा भी है। काश्मीर का मामला संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख पेश है, पर यह संघ अब तक ऐसा फैसला नहीं कर सका है, जो भारत और पाकिस्तान दोनों को स्वीकार हो। भारत के विभाजन के समय जो भयंकर हत्याकाण्ड हुआ था उसकी स्मृति अब तक भी विद्यमान है, और वह भी दोनों राज्यों के सम्बन्ध को मृदु नहीं होने देती। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान की विदेशी नीति भारत से बिलकुल भिन्न है। पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थता की नीति को पसन्द नहीं करता, और उसने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ सैनिक सहायता के समझौते भी किये हैं। वह स्पष्ट रूप से अमेरिका के गुट में शामिल हो गया है, और भारत के पंचशील सिद्धान्त का भी विरोध करता है। बांडुङ्ग कान्फरेन्स में पाकिस्तान भी सम्मिलित हुआ था, और उसी के विरोध के कारण वहाँ पंचशील के सिद्धान्तों को अविकल रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सका था। यह सब होते हुए भी भारत पाकिस्तान के साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित

रखने का प्रयत्न करता है, और इन दोनों देशों में विरोध भाव के जो कारण हैं, उन्हें बातचीत व शान्तिमय उपायों से दूर करने के लिये उत्सुक है।

अफगानिस्तान—भारत और अफगानिस्तान के सम्बन्ध बहुत मैत्रीपूर्ण हैं। अफगानिस्तान की विदेशी नीति भी पंचशील के सिद्धान्तों पर आश्रित है, और वह शान्ति की नीति का समर्थक है। पाकिस्तान से उसका अनेक प्रश्नों पर गहरा मतभेद है, जिनमें पख्तूनिस्तान का प्रश्न मुख्य है। पाकिस्तान की उत्तर पश्चिमी सीमा पर जो अनेक पठान जातियाँ निवास करती हैं, वे भाषा, नसल व संस्कृति की दृष्टि से अफगानों से बहुत मिलती-जुलती है। उनमें यह आन्दोलन जारी है कि पख्तूनिस्तान नाम से एक पृथक् राज्य का निर्माण किया जाए, जो चाहे पाकिस्तान में रहे, पर आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र हो। अफगानिस्तान इस विचार का समर्थक है। पाकिस्तान से अनेक प्रश्नों पर विरोध होने के कारण विदेशी नीति में अफगानिस्तान भारत के बहुत समीप आ गया है।

अरब—अरब में जो अनेक राज्य हैं, उन्होंने अपने को 'अरब लीग' के रूप में संगठित किया हुआ है। इस लीग का एक मुख्य कार्य यह है कि अपने क्षेत्र से पाश्चात्य साम्राज्यवाद को दूर रखे। बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद अरब के समुद्रतट पर एक नये राज्य का निर्माण किया गया था, जिसे 'इजराईल' कहते हैं। इसमें यूरोप के यहूदियों को बसाया गया है। ईजराईल यूरोप के यहूदियों का राज्य है, पर उसमें अरब लोग भी बहुत बड़ी संख्या में निवास करते हैं। उसके समीप के प्रदेश तो अरबों के हैं ही। यहूदियों और अरबों में बहुधा संघर्ष होता रहता है, और अरब लोग ईजराइल को पाश्चात्य साम्राज्यवाद का ही रूप समझते हैं। अरब लीग के साथ भारत की सहानुभूति है, और वह चाहता है कि सब अरब देश पूर्णतया स्वतन्त्र रहकर अपनी उन्नति में तत्पर रह सकें। ईजिप्ट भी अरब लीग में सम्मिलित है, और वह स्वेज नहर के क्षेत्र तथा सूडान से ब्रिटिश लोगों के प्रभाव का पूर्ण रूप से अन्त कर देने के लिए प्रयत्नशील है। ईजराईल से भी उसकी बहुधा झड़प होती रहती है। इन मामलों में भारत की सहानुभूति ईजिप्ट के साथ है।

इन्डोनीसिया—दक्षिण पूर्वी एशिया में इन्डोनीसिया का राज्य है, जो पहले हालैण्ड की अधीन था। भारत और इन्डोनीसिया में मैत्री सम्बन्ध है, और इन्डोनीसिया भी पंचशील के सिद्धान्त का समर्थक है। इन दोनों देशों की विदेशी राजनीति एक सदृश है। जिस बांडुंग कान्फरेन्स का आयोजन एशिया और अफ्रीका से साम्राज्यवाद का अन्त करने और इन क्षेत्रों में शान्ति कायम रखने के उद्देश्य से किया गया था, वह इन्डोनीसिया में ही हुई थी। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत और इन्डोनीसिया एक-दूसरे के समीप हैं। इस कारण भी उनमें मैत्री बहुत स्वाभाविक है। जिन दिनों इन्डोनिसिया के देशभक्त अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष में तत्पर थे, भारत ने उनके प्रयत्नों का पूर्ण रूप से समर्थन किया था।

इन्डोचायना—यह राज्य पहले फ्रान्स के अधीन था। अब भी यहाँ फ्रेन्च साम्राज्यवाद के कतिपय अवशेष विद्यमान हैं। इन्डोचायना में प्रधानतया तीन प्रदेश

सम्मिलित हैं—विएतनाम, कम्बोडिया और लाओस। विएतनाम की उत्तरी सीमा चीन के साथ लगती है। वहाँ कम्युनिस्ट नेता डॉ० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में स्वाधीनता के लिये संघर्ष शुरू हुआ, और कम्युनिस्ट लोगों ने उत्तरी विएतनाम में अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया। कम्युनिस्ट विएतनाम और दक्षिणी विएतनाम में युद्ध को बन्द करने के लिये भारत ने बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इसी कारण जब संयुक्त राज्यसंघ के हस्तक्षेप करने पर यह युद्ध बन्द हुआ, तो विएतनाम के लिये राज्यसंघ द्वारा जो अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियत किया गया, उसमें भारत को भी स्थान दिया गया और भारत को ही उस कमीशन का अध्यक्ष बनाया गया। कम्बोडिया और लाओस पर अभी फ्रांस का प्रभाव कायम है। पर इनमें भी पूर्ण स्वाधीनता के लिये संघर्ष जारी है। कम्युनिस्ट पार्टी इनमें भी विद्यमान है, जो फ्रांस के प्रभाव का अन्त कर समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। संयुक्त राज्यसंघ की ओर से इन प्रदेशों में भी अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की नियुक्ति की गई थी, जिसमें भारत को प्रमुख स्थान दिया गया था। इन्डोचायना के विविध प्रदेशों के सम्बन्ध में भारत की यह नीति है कि उनसे फ्रेञ्च साम्राज्यवाद का पूर्ण रूप से अन्त हो जाए और ऐसी सरकारों की स्थापना हो, जो लोकमत के अनुकूल हों।

चीन—पूर्वी एशिया का सबसे विशाल व शक्तिशाली राज्य चीन है। वहाँ कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम है। चीन अभी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को पूर्ण नहीं समझता, क्योंकि फार्मूसा द्वीप (जिसकी जनसंख्या ९० लाख है) अभी मार्शल चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार के हाथों में है। इस सरकार की स्थिति अमेरिका की सहायता पर ही निर्भर है। संयुक्त राज्यसंघ में अभी तक चीन की कम्युनिस्ट सरकार को प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है, और उसकी दृष्टि में फार्मूसा की कुओ-मिन्तांग सरकार ही सम्पूर्ण चीन की कानूनी सरकार है। भारत इसे अनुचित समझता है। उसका यह प्रयत्न है कि पीकिंग की कम्युनिस्ट सरकार को चीन की असली सर-कार मानकर संयुक्त राज्यसंघ में प्रतिनिधित्व दिया जाए। एशिया और संसार में शान्ति कायम रखने के लिये भारत इस बात को बहुत आवश्यक समझता है। चीन और भारत में घनिष्ठ मैत्री है। भारत के समान चीन भी पंचशील के सिद्धान्तों का समर्थक है। दोनों देशों में 'भारत-चीन मैत्री संघ' स्थापित हैं। चीन के प्रधानमन्त्री भारत की यात्रा कर चुके हैं, और भारत के प्रधानमन्त्री चीन की। इन दोनों विशाल देशों की मैत्री के कारण एशिया में शान्ति और सुरक्षा की समस्या बहुत कुछ हल हो गई है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देश—बरमा के पूर्व में थाईलैण्ड का राज्य है, जो अमेरिका के गुट में शामिल है। पर भारत का इससे भी मैत्री का सम्बन्ध है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत सहवर्तिता (Co-existence) की नीति का समर्थक है थाईलैण्ड के दक्षिण में मलाया का राज्य है, जिसके विविध प्रदेश अभी तक भी ब्रिटेन के प्रभुत्व में हैं। सिंगापुर तो सीधे ब्रिटेन के अधीन है। इन सब प्रदेशों में भी पूर्ण स्वाधीनता के आन्दोलन जारी हैं, जिनके साथ भारत की सहानुभूति है।

नेपाल—भारत के उत्तर में नेपाल का स्वतन्त्र राज्य है, जिसकी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि भारत के समान हैं। पिछले दिनों इस राज्य में अनेक बार उथल-पुथल हुई। राणाओं के प्रभुत्व का अन्त कर नेपाल के महाराजाधिराज ने शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया, और यह यत्न किया कि वहाँ संवैधानिक शासन स्थापित किया जाए। नेपाल में अनेक राजनीतिक दल हैं, जिनमें संघर्ष होता रहता है। भारत नेपाल के इन आन्तरिक झगड़ों में तटस्थता की नीति का अनुसरण करता है। पर तटस्थ रहते हुए भी वह नेपाल की उन्नति में सहायता देने के लिये उद्यत हैं। इसीलिये नेपाल के अनुरोध पर उसने अनेक सैनिक व अन्य विशेषज्ञ वहाँ भेजे, जिन्होंने नेपाल के सरकारी कार्यालय व सेना को नये ढंग से संगठित करने के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

ईरान—पाकिस्तान और अफगानिस्तान के पश्चिम में ईरान राज्य की स्थिति है, जो बीसवीं सदी के प्रारम्भ में रूस और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद की संघर्ष-भूमि रहा है। ईरान में मिट्टी के तेल के विशाल क्षेत्र हैं, जो ब्रिटिश पूँजीपतियों के हाथ में हैं। श्री मुसादिक के नेतृत्व में जब ईरान में इन तेल क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण का आंदोलन उठा, तो भारत ने उसके साथ सहानुभूति प्रकट की। श्री मुसादिक का अब पतन हो चुका है। पर ईरान में तेल की समस्या का अभी अन्त नहीं हुआ है। भारत का प्रयत्न है कि तेल के प्रश्न पर ईरान और ब्रिटेन में जो मतभेद है, उसका शान्तिमय उपायों द्वारा ही निबटारा कर लिया जाए।

एशिया और भारत—इसमें सन्देह नहीं कि इस समय एशिया की राजनीति में भारत का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। दक्षिणी एशिया के बहुत से देश अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी नीति का अनुसरण करते हैं, और चीन जैसा शक्तिशाली देश उसकी नीति का समर्थन करता है। एशियन देशों के सम्बन्ध में भारत की नीति के मूलभूत तत्व ये हैं—

(१) सब एशियन देश पूर्ण रूप से स्वाधीन हों।

(२) सबको अधिकार हो कि लोकमत के अनुसार किसी भी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था को अपना सकें। विविध व्यवस्थाओं वाले देश भी शान्तिपूर्वक परस्पर मिलकर रहें।

(३) एशिया को शक्तिशाली देशों की गुटबन्दी का क्षेत्र न बनने दिया जाये।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) पंचशील के सिद्धान्तों से आप क्या समझते हैं, संक्षेप में लिखिये।

(२) एशिया के नवजागरण पर निबन्ध लिखिये।

(३) पंचशील के सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत करने के लिए भारत ने कौन सी क्रियात्मक नीति का अनुसरण किया है?

(४) इंडोनेशिया, इंडोचायना और पाकिस्तान से भारत का क्या सम्बन्ध है?

उनतीसवाँ अध्याय

संयुक्त राज्य संघ और भारत

अन्तर्राष्ट्रीयता—संसार के विविध राज्य बहुधा एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। प्राचीन समय में जब कि मनुष्य के पास घोड़े की अपेक्षा तेज चलने वाली कोई सवारी नहीं थी, तब भी विविध राज्य एक-दूसरे के सम्पर्क में आया करते थे, और परस्पर ऐसी सन्धियाँ करते थे, जिनके द्वारा वे अपने पारस्परिक हितों का सम्पादन करने में समर्थ हों। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के कारण आधुनिक युग में राज्यों के परस्पर सम्पर्क में आने के अवसरों में बहुत वृद्धि हो गई है। रेल, तार, डाक, भाप की शक्ति से चलने वाले जहाज, मोटर कार, रेडियो और हवाई जहाज आदि के आविष्कार के कारण अब राज्यों के बीच की दूरी बहुत कम हो गई है। अब भारत से लण्डन २० घण्टे में पहुँचा जा सकता है, और लण्डन से न्यूयार्क जाकर उसी दिन वापस लौटा जा सकता है। तार, टेलीफोन, रेडियो आदि द्वारा एक स्थान का समाचार संसार के किसी भी कोने में बात-की-बात में पहुँच जाता है। प्रेस, समाचार-पत्र और रेडियो के कारण अब विविध देशों के निवासियों को एक दूसरे के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को समझने का अवसर मिलता है। दूर देशों की यात्रा कर सकना अब बहुत सुगम हो गया है, और व्यापार का स्वरूप भी अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। इन सब कारणों से अब एक देश के मनुष्य अन्य देशों के निवासियों को सर्वथा पराया व अजनबी नहीं समझते। उन्हें व्यापार, यात्रा, समाचार-पत्र, रेडियो आदि द्वारा एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। जो घटना किसी एक देश में घटती है, उसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ता है। यही कारण है, जो अब संसार के विविध देश अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर तेजी के साथ पग बढ़ा रहे हैं। विविध प्रयोजनों से पिछली दो सदियों में जिन विविध अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हुआ है, उनकी संख्या ७०० से भी अधिक है।

राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता—वैज्ञानिक उन्नति के कारण जहाँ मनुष्यों को अनेक लाभ हुए हैं, वहाँ उनसे एक हानि भी हुई है। अब युद्ध बहुत भयंकर हो गये हैं। विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो नये विनाशकारी हथियार दे दिये हैं, उनके कारण अब युद्ध के समय किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं रहा है। वर्तमान समय के युद्धों में हवाई जहाज द्वारा बम गिराये जाते हैं, जो क्षण भर में फलते-फूलते नगरों और ग्रामों को नष्ट कर देते हैं। एटम बम द्वारा तो एक विशाल नगर को क्षण भर में नष्ट किया जा सकता है। मनुष्य केवल एटम बम का आविष्कार करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने हाइड्रोजन बम के रूप में अब एक

ऐसे प्रलयकारी अस्त्र का आविष्कार कर लिया है, जिसका असर हजारों मीलों तक पड़ता है।

इस दशा में विचारकों के लिए यह सोचना सर्वथा स्वाभाविक है कि कोई ऐसा उपाय किया जाय, जिससे युद्धों की सम्भावना दूर हो जाय और राज्य आपस के झगड़ों को बातचीत, विचार-विनिमय व पंचनिर्णय द्वारा शान्तिमय ढंग से निबटा लिया करें। इसी प्रयोजन से बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद राष्ट्रसंघ (League of Nations) का संगठन किया गया था। वह संघ अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका, और द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति पर संयुक्त राज्य संघ (United Nations' Organisation) का संगठन किया गया।

संयुक्त राज्य संघ

जिन दिनों गत महायुद्ध अभी समाप्त भी नहीं हुआ था, अक्टूबर, १९४४ में मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि) के प्रतिनिधियों ने डम्बार्टन ओक्स नामक स्थान पर एक कान्फरेन्स में एकत्र होकर यह निश्चय किया, कि संसार में शान्ति रखने के पक्षपाती देशों को परस्पर मिलकर एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाना चाहिए जो उनके पारस्परिक सहयोग को स्थायी रूप दे सके। इसके बाद २५ एप्रिल, १९४५ को सन फ्रांसिस्को में मित्र राष्ट्रों की एक अन्य कान्फरेन्स हुई। इसमें संयुक्त राज्य-संघ का चार्टर तैयार किया गया, जिस पर ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये। ये हस्ताक्षर २६ जून, १९४५ के दिन किये गए थे। इसी दिन को संयुक्तराज्य संघ का स्थापना-दिवस समझा जा सकता है।

संयुक्त राज्य संघ के उद्देश्य—जिन सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर संयुक्त राज्य संघ की स्थापना की गई थी, वे निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य संघ के सब सदस्य राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) और एक समान हैं।

(२) सब सदस्य-राज्य संघ के चार्टर के अनुसार सद्भावना के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए वचनबद्ध हैं।

(३) सब सदस्य-राज्य अपने आपस के झगड़ों का शान्तिमय तरीकों से इस प्रकार फैसला करने को वचनबद्ध हैं, जिनसे किसी भी प्रकार शान्ति, सुरक्षा और न्याय के भंग होने का खतरा न हो।

(४) अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कोई सदस्य-राज्य किसी अन्य देश व प्रदेश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध न शक्ति का प्रयोग करेगा, न उसे धमकी देगा और न कोई ऐसा आचरण करेगा, जो संयुक्त राज्यसंघ के प्रयोजनों के विपरीत हो।

(५) जब संयुक्त राज्यसंघ अपने चार्टर के अनुसार कोई कार्रवाही करेगा, तो सब सदस्य-राज्य उसे सब प्रकार से सहायता देने के लिए वचनबद्ध समझे जाएँगे, और वे किसी ऐसे देश को सहायता नहीं देंगे, संयुक्त राज्यसंघ जिसके विरुद्ध शान्ति और

सुरक्षा के निमित्त कोई कार्रवाई कर रहा हो।

(६) शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने के लिए संयुक्त राज्यसंघ यथा-सम्भव ऐसी व्यवस्था करेगा, कि जो राज्य उसके सदस्य नहीं हैं, वे भी संघ के चार्टर के अनुसार कार्य व आचरण करें।

(७)संयुक्त राज्य संघ तब तक किसी राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, जब तक कि ऐसा करना शान्ति और सुरक्षा के लिए अनिवार्य न हो।

(८) कोई भी शान्तिप्रिय राज्य, जो चार्टर द्वारा निर्धारित कर्तव्यों को स्वीकार करे, और जिसे यह संघ उपयुक्त समझे, संयुक्त राज्य संघ का सदस्य बन सकता है।

इन सिद्धान्तों व मन्तव्यों को आधार बनाकर संयुक्त राज्य संघ के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गए थे—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति और सुरक्षा को स्थापित करना।

(२) राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार है, यह मानते हुए सब राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहित करना।

(३) जाति, भाषा, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव की उपेक्षा कर सब मनुष्यों को एक समान मूलभूत अधिकारों को प्राप्त कराना।

(४) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रों में विविध राष्ट्रों में परस्पर सहयोग की वृद्धि का प्रयत्न करना।

संयुक्त राज्य संघ का संघटन

शुरू में इस संघ के सदस्य-राज्यों की संख्या ५१ थी। अब वह बढ़कर ७५ से ऊपर पहुँच चुकी है। इस संघ का संघठन इस प्रकार है—

(१) **जनरल असेम्बली**—संयुक्त राज्य संघ में सम्मिलित सब राज्यों को अधिकार है कि वे अपने पाँच-पाँच प्रतिनिधि जनरल एसेम्बली में भेज सकें। राज्य चाहे छोटा हो या बड़ा, सबके पाँच-पाँच प्रतिनिधि एसेम्बली में जाते हैं। प्रत्येक राज्य का एक वोट माना जाता है। प्रतिवर्ष दो सितम्बर के बाद जो पहला मंगल-वार पड़े, उस दिन एसेम्बली का वार्षिक अधिवेशन प्रारम्भ होता है। यदि सदस्य-राज्य चाहें, तो किसी अन्य समय भी एसेम्बली का अधिवेशन बुलाया जा सकता है। एसेम्बली के अधिवेशनों में विविध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार किया जाता है, सुरक्षा परिषद् व संघ की अन्य उपसमितियों के सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं, और संसार में शान्ति व सुरक्षा कायम रखने के सम्बन्ध में विविध योजनाओं का निर्माण होता है।

(२) **सुरक्षा परिषद—**(Security Council) संयुक्त राज्य संघ की सबसे शक्तिशाली संस्था सुरक्षा परिषद् है। इनके कुल ग्यारह सदस्य होते हैं। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, रूस और चीन ये पाँच राज्य इसके स्थायी सदस्य हैं। इनका एक-एक प्रतिनिधि स्थायी रूप से परिषद् में रहता है। संघ के शेष

सब सदस्य-राज्य मिलकर अपने में से छः प्रतिनिधि परिषद् के लिए निर्वाचित करते हैं। पाँचों प्रमुख राज्यों (ब्रिटेन, रूस, चीन, अमेरिका और फ्रांस) को वीटो का अधिकार है। यदि परिषद् के किसी निर्णय से इन पाँच राज्यों में से कोई एक भी असहमत हो, तो वह वीटो के अधिकार का प्रयोग कर उसे रद्द कर सकता है। इस अधिकार के कारण संयुक्त राज्यसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने की शक्ति बहुत सीमित हो गई है। छोटे राज्यों के साधरण मामलों का फैसला करने में संघ अवश्य सफल हो सकता है, पर यदि कोई मामला ऐसा हो, जिसके सम्बन्ध में रूस और अमेरिका जैसे शक्तिशाली राज्यों में मतभेद हो, तो सुरक्षा परिषद् उसका कोई फैसला नहीं कर पाती।

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राज्यसंघ की ऐसी स्थिर संस्था है, जिसके अधिवेशन निरन्तर होते रहते हैं। परिषद् के सदस्य-राज्यों का एक-एक प्रतिनिधि स्थायी रूप से संघ के केन्द्रीय कार्यालय में रहता है। इस कारण जब कोई महत्त्वपूर्ण मामला पेश हो, तो परिषद् का अधिवेशन सुगमता से किया जा सकता है। सुरक्षा परिषद् की स्थिति संघ की कार्यकारिणी समिति के समान है।

सुरक्षा परिषद् किसी भी ऐसे मामले की जाँच कर सकती है, जिससे दो या अधिक राज्यों के बीच संघर्ष के बढ़ने की सम्भावना हो। ऐसे मामलों की सूचना परिषद् का कोई भी सदस्य, संघ का कोई भी सदस्य-राज्य, और जनरल एसेम्बली का सेक्रेटरी जनरल परिषद् को दे सकता है। विशेष अवस्था में ऐसे राज्य भी, जो संघ के सदस्य नहीं हैं, इस प्रकार की सूचना परिषद् को दे सकते हैं।

सुरक्षा परिषद् यत्न करती है कि इस प्रकार के मामलों का शान्तिमय उपायों से निबटारा कर दिया जाए। यदि किसी कारण संसार में शान्ति भंग होने की सम्भावना हो, तो सुरक्षा परिषद् शान्ति और सुरक्षा के निमित्त आवश्यक कार्रवाई कर सकती है। उसे यह भी अधिकार है कि जो देश शान्ति भंग कर युद्ध के लिए प्रवृत्त हो, उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग कर सके।

(३) **कार्यालय**—संघ के कार्य को चलाने के लिए एक केन्द्रीय कार्यालय (Secretariat) भी है, जिसका प्रधान सेक्रेटरी-जनरल या प्रधान सचिव कहाता है। सुरक्षा परिषद् की सिफारिश के अनुसार इसकी नियुक्ति पाँच साल के लिए जनरल एसेम्बली द्वारा की जाती है। कार्यालय के आठ मुख्य विभाग हैं, जिन सबका एक-एक प्रधान अधिकारी होता है, जिन्हें सहायक प्रधान-सचिव कहते हैं। संघ के कार्यालय के कर्मचारियों की संख्या १५००० के लगभग है; जिन्हें संघ के सब सदस्य-राज्यों के नागरिकों में से नियुक्त किया जाता है।

संयुक्त राज्य संघ के तत्त्वावधान में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ व परिषदें इस उद्देश्य से कार्य करती हैं, कि संसार के विविध राज्यों में परस्पर सहयोग बढ़ सके, व उनके मामलों का निर्णय शान्तिमय उपायों द्वारा किया जा सके। इनमें प्रमुख संस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—यह हेग में स्थापित है, और इसमें १५

न्यायाधीश हैं।

(२) संयुक्त राज्य, शिक्षा, विज्ञान व सांस्कृतिक परिषद्—शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक क्षेत्र में विविध राज्यों के परस्पर सहयोग को प्रोत्साहन देना इस परिषद् का उद्देश्य है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ – इसका उद्देश्य संसार भर के मजदूरों के हितों की रक्षा करना और उनके लिए हितकारी कानूनों का निर्माण करना है।

(४) आर्थिक व सामाजिक परिषद्—इसका उद्देश्य यह है कि विविध देशों की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाया जाए, बेकारी दूर हो, सबकी आर्थिक व सामाजिक उन्नति हो, और मनुष्यों के आधारभूत अधिकारों की रक्षा की जाए।

भारत और संयुक्त राज्यसंघ

भारत संयुक्त राज्यसंघ का सदस्य है। गत महायुद्ध (१९३९-४५) में भारत भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में शामिल था। इसीलिए जब संयुक्त राज्यसंघ का संगठन हुआ, तो अन्य मित्रराष्ट्रों के समान वह भी संघ का सदस्य बना। प्रारम्भ से ही भारत संघ के कार्यों में विशेष दिलचस्पी प्रदर्शित करता रहा है। इसका कारण यह है कि भारत संघ के सिद्धान्तों व उद्देश्यों में विश्वास रखता है। संघ के सदस्य रूप से भारत ने जिन अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विशेष दिलचस्पी ली है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) **कोरिया**—महायुद्ध के पश्चात् कोरिया में दो सरकारें स्थापित हो गई थीं। उत्तरी कोरिया पर कम्युनिस्टों का कब्जा था, जिन्हें चीन की सहायता प्राप्त थी। दक्षिणी कोरिया में अमेरिकन सेना ने ऐसी सरकार की स्थापना की थी, जो कम्युनिज्म की विरोधी व पूँजीवाद पर आश्रित लोकतन्त्र शासन की समर्थक थी। जून, १९५० में कोरिया की इन दोनों सरकारों में युद्ध प्रारम्भ हो गया। जब संयुक्त राज्यसंघ ने इस युद्ध को बन्द कराने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो भारत ने ही यह सुझाव रखा कि ३८ अक्षांश पर ऐसी सीमा निर्धारित कर दिया जाए, जिसका न कम्यूनिस्ट सेनाएँ उल्लंघन करें, और न दक्षिणी कोरिया की सेनाएँ। संयुक्त राज्यसंघ के प्रयत्न से २७ जुलाई, १९५३ को कोरिया में गृह-युद्ध का अन्त हुआ। इस युद्ध को बन्द कराने के सम्बन्ध में भारत ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसी कारण जब कोरिया के लिए संघ द्वारा एक तटस्थ कमीशन की नियुक्ति की गई, तो भारत को उस कमीशन का अध्यक्ष नियत किया गया। इस कमीशन का मुख्य कार्य यह था, कि दोनों पक्षों के युद्ध बन्दियों को उनकी इच्छा के अनुसार अपने-अपने देश (उत्तरी व दक्षिणी कोरिया) में भेजा जाए। युद्धबन्दियों की व्यवस्था के लिए जनरल थिमैया के सेनापतित्व में भारत की एक सेना कोरिया भेजी गई, जिसने वहाँ जाकर बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

(२) **इन्डोचायना**—इन्डोचायना के अन्तर्गत वियतनाम के राज्य की समस्या का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। कोरिया के समान यह राज्य

भी दो भागों में विभक्त हो गया है। उत्तरी विएतनाम कम्युनिस्ट सरकार के शासन में है, जिसके नेता डा० हो ची मिन्ह हैं। दक्षिणी विएत नाम पर से अभी फ्रेञ्च आधिपत्य का तरह से अन्त नहीं हुआ है, और वहाँ की सरकार का, जिसे लोक-तन्त्रवाद का समर्थक माना जाता है, फ़्रांस के साथ सम्बन्ध कायम है। विएत-नाम के इन दोनों राज्यों में गृह-युद्ध जारी था, जिसका अन्त कराने के लिये भी भारत ने बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। भारत के प्रयत्न से ही जुलाई, १९५४ में विएत नाम की दोनों सरकारों के बीच अस्थायी सन्धि हुई, और युद्ध का अन्त हुआ। अस्थायी सन्धि की शर्तों का दोनों पक्ष भली भाँति पालन करें, इस बात की देख-भाल के लिये तीन राज्यों के कमीशन की नियुक्ति की गई। ये राज्य कनाडा, भारत और पोलैण्ड थे। इस कमीशन का अध्यक्ष भी भारत को ही बनाया गया। भारत सरकार के प्रतिनिधि विएत नाम गये, और वहाँ शान्ति की स्थापना के लिये उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। इस निमित्त से जो भारतीय सेना विएत नाम भेजी गई थी, वह देर तक वहाँ विद्यमान रही, और शान्ति को कायम रखने में तत्पर रही। दक्षिणी विएत नाम के कुछ लोगों ने अपने क्षेत्र में स्थित भारतीय प्रति-निधियों पर आक्रमण भी किये, पर उनकी जरा भी परवाह न कर भारतीय लोग वहाँ अपने कर्तव्य का पालन करते रहे। इन्डोचायना के एक अन्य राज्य लाओस में भी कम्युनिस्टों और वहाँ की सरकार में युद्ध चल रहा था। उसका अन्त कराने के सम्बन्ध में भी भारत ने कर्तृत्व प्रदर्शित किया, और उसी के प्रयत्न से वहाँ भी गृह-युद्ध बन्द हुआ।

(३) **चीन**—भारत चीन की कम्युनिस्ट सरकार का मित्र है, और उसकी कानूनी स्थिति को भी उसने स्वीकार किया है। पर संयुक्त राज्यसंघ की दृष्टि में चीन की कानूनी सरकार वही है, जिसका शासन इस समय केवल फार्मूसा और उसके समीप के छोटे-छोटे द्वीपों पर ही है। भारत का विश्वास है, कि पीकिंग की कम्युनिस्ट सरकार को संयुक्त राज्यसंघ में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये, और सुरक्षा परिषद् में चीन का जो स्थायी रूप से स्थान है, वह फार्मूसा की कुओमिन्तांग सर-कार के प्रतिनिधि के बजाय पीकिंग सरकार को दिया जाना चाहिये। इसके लिये भारत ने अनेक बार प्रयत्न भी किया है।

(४) **काश्मीर**—भारत और पाकिस्तान में काश्मीर के सम्बन्ध में जो झगड़ा है, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। कानून की दृष्टि से काश्मीर भारत का अंग है, और वहाँ की जनता भी भारत का अंग बन कर ही रहना चाहती है। पर पाकिस्तान ने सेना द्वारा काश्मीर पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया, और उसके एक भाग को अपने कब्जे में कर भी लिया। यदि भारत चाहता, तो सेना द्वारा काश्मीर के उस भाग को पाकिस्तान की अधीनता से मुक्त करा सकता था। पर भारत शान्ति की नीति में विश्वास रखता है। इसीलिये भारत ने काश्मीर के मामले को स्वयं संयुक्त राज्यसंघ के समक्ष पेश किया।

(५) **निःशस्त्रीकरण**—भारत की नीति यह है कि विविध राज्य अपने अस्त्र-

शस्त्रों में कमी करें, और केवल उतनी ही सेना रखें, जितनी कि देश में शान्ति कायम रखने और आत्मरक्षा के लिये अनिवार्य हो। एटम बम और हाइड्रोजन बम के रूप में जो प्रलयकारी अस्त्र आविष्कृत हुए हैं, भारत उनके प्रयोग को पूर्णतया नष्ट कर देने के पक्ष में हैं। इसी उद्देश्य से उसके प्रतिनिधियों ने अनेक बार संयुक्त राज्य संघ के समक्ष इन अस्त्रों के सम्बन्ध में प्रस्ताव उपस्थित किये हैं। इन प्रस्तावों का प्रयोजन यह है कि विविध राज्य परस्पर मिल कर यह फैसला कर लें कि वे आणविक शक्ति का उपयोग केवल मनुष्य के हित व कल्याण के लिये करेंगे, संहार के लिये नहीं।

(६) **साम्राज्यवाद का विरोध**—संयुक्त राज्य संघ में भारत का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी रहा है कि उसने सदा साम्राज्यवाद का विरोध किया है, और उसके शिकार देशों की स्वाधीनता की माँग का समर्थन किया है। इन्डोनीशिया की स्वाधीनता के समर्थन में भारत ने दिल्ली में एशियन देशों की कान्फरेन्स का आयोजन किया, और फिर इन्डोनीशिया की स्वाधीनता की माँग को संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख उपस्थित किया। अल्जीरिया आदि उत्तरी अफ्रीका के जो देश अब तक भी फ्रांस के अधीन हैं, भारत उनकी स्वतन्त्रता का भी समर्थक है। संयुक्त राज्यसंघ के समक्ष जब भी किसी पराधीन देश का प्रश्न उपस्थित हुआ, भारत ने बड़े प्रबल रूप से साम्राज्यवाद का विरोध और राष्ट्रीय स्वाधीनता का समर्थन किया।

(७) **अफ्रीका की समस्या**—अफ्रीका महाद्वीप का बड़ा भाग अब तक भी पाश्चात्य साम्राज्यवाद का शिकार है। वहाँ के असली निवासी नीग्रो या अफ्रीकन लोग हैं, जिन्हें अपने देश में ही नागरिकता के सामान्य अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। भारत ने अफ्रीका की इस समस्या को अनेक बार संयुक्त राज्यसंघ में पेश करने का प्रयत्न किया है। पर ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि देश इसको राज्यों का आन्तरिक मामला समझते हैं। इसी कारण अब तक भारत अफ्रीकन लोगों की स्वाधीनता के लिये कोई ठोस कार्य नहीं कर सका है।

संयुक्त राज्य संघ में भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान—यद्यपि भारत को स्वाधीनता प्राप्त किये अभी केवल आठ वर्ष हुए हैं, पर इस थोड़े से काल में ही उसने संयुक्त राज्यसंघ में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। इसीलिये उसे सुरक्षा परिषद् में भी सदस्य रूप से चुना जा चुका है, और उसकी प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित संघ की जनरल एसेम्बली की अध्यक्ष भी रह चुकी हैं।

अभ्यास के लिये प्रश्न

(१) संसार अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर तेजी से आगे बढ़ रहा है। क्यों ?

(२) संयुक्त राज्यसंघ के उद्देश्यों व संगठन पर प्रकाश डालिये।

(३) भारत ने संयुक्त राज्यसंघ के सदस्य रूप से अब तक कौन-कौन से महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं ?